हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला संख्या—१०

भारतीय दर्शन

लेखक

म० म० डा० उमेश मिश्र, एम० ए०; डी० लिट्०



उत्तर प्रदेश शासन

'राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन'

महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ



● भारतीय दर्शन

प्रथम संस्करण : १९५८

द्वितीय संस्करण : १९६४

तृतीय संस्करण : १९७०

चतुर्थ संस्करण : १९७५

● मूल्य
आठ रुपये
८-००

● मुद्रक
कैन्स एण्ड कण्टेनर्स प्रा० लि० (मुद्रण विभाग), लखनऊ

प्रकाशकीय

दर्शन के क्षेत्र में भारत का योगदान सबसे अधिक रहा है। सभ्यता के आरम्भ में ही इस देश के मानव ने "कुतः स्म जाताः कुत इयं विसृष्टिः", अपने जन्म और इस सृष्टि के चिन्तन के साथ जगत् को देखना आरम्भ किया। परिणामस्वरूप भारतीय जीवन का प्रत्येक क्रिया-कलाप कार्य-कारण की तर्कबुद्धि पर ढाला जाने लगा और पक्ष-विपक्ष के निर्णयानुसार सैद्धान्तिक मान्यताएँ निर्धारित होने लगी। विभिन्न विचारको द्वारा रुचियों के अनुसार विविध दर्शन-पद्धतियो का विकास होता रहा, जिससे हमे भौतिकवादी और परलोकवादी अथवा नास्तिक और आस्तिक दर्शनों की परम्परा उपलब्ध होती है।

दर्शन शास्त्र के परिशीलन से ज्ञान का परिष्कार होता है, विचारधारा परिपक्व होती है, अन्धविश्वासों से छुटकारा मिलता है और व्यवहार मे भ्रान्ति का अवसर नही आने पाता। इस तरह भारतीय दर्शन जीवन का आधार बन जाता है और ज्ञान-विज्ञान के विस्तार मे इससे अनुपम सहायता प्राप्त होती है। दर्शन शास्त्र की इसी उपयोगिता को ध्यान मे रखकर हिन्दी समिति के अनुरोध पर मूर्धन्य दार्शनिक विद्वान् म०म० डा० उमेश मिश्र ने भारतीय दर्शनो पर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमे विषय प्रतिपादन के तारतम्य के आधार पर सभी प्रमुख दर्शनो का परिचय सुगम भाषा मे दिया गया है। तथाकथित छः नास्तिक और छः आस्तिक दर्शनो की रूढ गणना यद्यपि कई

आमुख

अनन्तगुणसम्पन्नमखण्डं चिन्मयं शिवम् ।
जयदेवाख्यजनकं ध्यात्वा सूगाञ्च मातरम् ॥१॥
ज्ञाननिष्ठं परं नत्वा गोपीनाथगुरुं तथा ।
उमेशस्तनुते श्रेयो भारतीयं हि दर्शनम् ॥२॥

दर्शनशास्त्र बहुत ही कठिन विषय है। इसी में भारतवर्ष की मानसिक निधि सुरक्षित है। अनादि काल से ज्ञानियों ने इस निधि की खोज की है और समय-समय पर सुन्दर तथा बहुमूल्य रत्नों को इससे निकाल कर भारतवर्ष का गौरव बढ़ाया है। इसी बहुमूल्य दर्शनशास्त्र की विचारधारा के ही लिए आज भी समस्त संसार मे भारतवर्ष का मस्तक ऊँचा है।

पढ़ने के समय से ही मेरे मन में दर्शनशास्त्र का शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से अध्ययन करने की तथा वैज्ञानिक दृष्टि से मनन करने की उत्कट अभिलाषा थी। पूज्य पितृचरण महामहोपाध्याय पण्डित जयदेव मिश्र तथा गुरुवर महामहोपाध्याय डाक्टर श्री गोपीनाथ कविराज जी के उपदेश एवं आशीर्वाद से वह अभिलाषा पूर्ण हुई। संस्कृत-भाषा में लिखे हुए दर्शनशास्त्र के आकर ग्रन्थों के आधार पर विशुद्ध भारतीय दार्शनिक भावना के अनुसार किसी भी भाषा मे लिखे हुए उत्तम ग्रन्थ को न देखकर मन मे खेद था, अतएव इस प्रकार के एक ग्रन्थ को लिखने की बहुत दिनों से उत्कट इच्छा थी। उत्तर-प्रदेश-शासन द्वारा आयोजित 'हिन्दी-प्रकाशन-योजना' के अधिकारियों की कृपा से आज वह इच्छा कार्यरूप में परिणत हुई। इससे मुझे बहुत सन्तोष है। इसके लिए मैं उन अधिकारियो के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

भारतीय दर्शन के तत्त्व बहुत गूढ है। जिस प्रकार 'जीवन' को समझने के लिए उसके सभी अगों का व्यष्टि, समष्टि एवं समन्वय-रूप में (synthetically) ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनों को व्यष्टि तथा समष्टि एवं समन्वय-रूप में समझना नितान्त आवश्यक है। इनके अनुभवों

को पृथक्-पृथक् टुकडे-टुकड़े कर देने से 'आत्मा' का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नही हो सकता और न तो इसमे कोई आनन्द ही मिल सकता है। अतएव सभी दर्शनों का व्यष्टि तथा समष्टि एवं समन्वय-रूप में अध्ययन करना आवश्यक है।

उपर्युक्त कार्य को सम्पादित करने के लिए सैद्धान्तिक रूप में कुछ बातों को प्रारम्भिक अवस्था मे जिज्ञासु को स्वीकार कर लेना आवश्यक है। पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर इन सैद्धान्तिक प्रतिज्ञा-वाक्यो (premisses) का समाधान स्वयं हो जाता है—

(१) **वट-बीज-न्याय** की तरह ससार और कर्म की गति में अनादि सम्बन्ध है। ये दोनो स्वय अनादि हैं।

(२) कर्म के विना एक क्षण के लिए भी कोई नही रह सकता।

(३) कर्म करने वाले को कायिक, वाचिक तथा मानसिक, अपने प्रत्येक कर्म का, किसी न किसी रूप मे, भोग करना ही पड़ता है। इन भोगो के लिए एक या अनेक जन्म लेने पडते हे।

(४) 'जीवन' तथा 'दर्शन', इन दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है। उस परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए 'दर्शन' सैद्धान्तिक तथा 'जीवन' व्यावहारिक रूप है। दोनो मे परस्पर एक घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसको समझने से आनन्द प्राप्त होता है।

(५) 'कारण' के विना छोटी से छोटी भी घटना नही होती। हां, 'कारण' का ज्ञान सवको सदा न होना स्वाभाविक है।

(६) 'आप्तवचन' या 'आगम' को आधाररूप मे विचार के लिए मान लेना चाहिए।

इस पुस्तक मे भारतीय दर्शन की निम्नलिखित विशेषताएँ दिखायी गयी हे—

(१) इस ग्रथ के सभी अश दर्शनशास्त्र के सस्कृतभाषा मे लिखे हुए आकर ग्रन्थो के आधार पर लिखे गये हे।

(२) भारतीय दर्शनो मे परस्पर कही भी विरोध नही है। सभी दर्शनों में समन्वय अर्थात् सामञ्जस्य है। एक ही सूत्र मे सब दर्शन बँधे हुए है। ज्ञान के तथा बाह्य-जगत् के क्रमिक विकास के साथ-साथ दर्शनशास्त्र

का भी विकास हुआ है। उस विकास के क्रम को दार्शनिक विचारों के द्वारा इस ग्रन्थ मे दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

(३) भारतीय **जीवन** तथा भारतीय **दर्शन** मे **सर्वथा ऐक्य** है—एक **व्याव-हारिक** है, दूसरा **सैद्धान्तिक** है।

(४) **सभी दर्शन एक ही उद्देश्य से**, अर्थात् दुःख की चरम निवृत्ति या परमानन्द की प्राप्ति के लिए, प्रवृत्त होते है, अतएव एक ही मार्ग के सभी पथिक है।

(५) प्रत्येक दर्शन इसी दर्शन-मार्ग का एक-एक विश्राम-स्थान है। प्रत्येक विश्राम-स्थान से स्वतन्त्र रूप मे परम तत्त्व की खोज की गयी है। अतएव एक दर्शन दूसरे दर्शन से भिन्न भी है। दृष्टिकोण के भेद से परस्पर भेद होना स्वाभाविक है, किन्तु परस्पर इनमे वैमनस्य नही है। सोपान की परम्परा में एक आगे है और एक पीछे। भेद तो स्थूल दृष्टिवालो के ही लिए है।

(६) बहुत-से लोगों की धारणा है कि भारतीय दर्शन के केवल छः विभाग है, इसी लिए दर्शनों की सख्या के विचार के समय **'षड्दर्शन'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। ये छ दर्शन कौन-से है इसमे विद्वानों का एक मत नही है। प्राचीन काल से ही विद्वानों ने दर्शन की छः से कही अधिक संख्या का भी पूर्ण विचार किया है और कही छः से कम संख्या भी स्वीकार की है। वस्तुतः चरम लक्ष्य को ध्यान में रखकर मूढ़तम अवस्था से आरम्भ कर, ज्ञान के विकास के क्रम के अनुसार विचार करने से, यह स्पष्ट मालूम होगा कि दर्शनो की संख्या सीमित नही है, और न हो ही सकती है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक सर्वांगपूर्ण विचारधारा ही एक 'दर्शन' है जो अपने-अपने विश्राम-स्थान मे सर्वथा एक दूसरे से भिन्न है।

(७) मूढदृष्टि वाले स्थूलतम भौतिक सिद्धान्तों को मानने वाले जिज्ञासु को, स्थूल जगत् के तत्त्वो के सबध मे दार्शनिक विचार आरम्भ कर, चिन्मय जगत् मे पहुँच कर, स्थूल जगत् मे जो जड़ था उसे भी सूक्ष्म जगत् मे चेतन देखकर, भारतीय दर्शन की पूर्णता का स्पष्ट परिचय मिलता है। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन', इन श्रुतिवाक्यो का साक्षात् अनुभव इन दर्शनो के अध्ययन से होता है।

यही भारतीय दर्शन की पूर्णता या अखण्डत्व तथा सामरस्य है और अद्वैतवाद का स्वरूप है।

(८) भारतीय दार्शनिक तत्त्वो को विकसित करने में सभी दर्शन प्रयत्नशील हैं। अपने-अपने स्थान से तत्त्वों का विचार सबने किया है। अपने विचारो को अपने स्थान मे सुदृढ रखने के लिए तथा जिज्ञासु को अपने तत्त्वो का विशुद्ध परिचय देने के लिए, दर्शनों में परस्पर खण्डन-मण्डन देख पडता है, न कि किसी द्वेष-बुद्धि से। अतएव प्रत्येक दर्शन के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही उसका अध्ययन करना उचित है। अध्ययन के समय मे एक ही दार्शनिक विचारधारा पर ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा दृष्टि के विक्षिप्त हो जाने पर कोई भी दर्शन समझ में नही आयेगा।

(९) आजकल आरम्भ से ही तुलनात्मक अध्ययन की परिपाटी चल पड़ी है। इसके सम्बन्ध मे मेरा निवेदन है कि तुलनात्मक अध्ययन के लिए सबसे प्रथम आवश्यक है कि जिनसे जिनकी तुलना की जाती है, उनके सिद्धान्तो को स्वतन्त्र एव विशुद्ध स्वरूप मे पृथक्-पृथक् जान लेना चाहिए, जिससे तुलना करने के समय मे किसी के मत को स्पष्ट करने मे पहले भ्रान्ति न हो जाय। इसलिए मैंने इस ग्रन्थ मे प्रत्येक दर्शन के विशुद्ध रूप को स्पष्ट करने का ही केवल प्रयत्न किया है। प्रत्येक परिच्छेद के आदि और अत मे प्रत्येक दर्शन मे परस्पर सम्बन्ध दिखाने के लिए कही-कही साधारण रूप से तुलनात्मक विचार भी किया गया है, किन्तु वास्तविक तुलना पूर्ण रूप से पश्चात् की जायगी। अभी तो प्रत्येक दर्शन के दृष्टिकोण को लोग अच्छी तरह समझें, इस विचार से ही यह ग्रन्थ लिखा गया है।

'आत्मा' को देखने का प्रयत्न करते हुए ऋषियो ने अपने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न समय मे उपासना के द्वारा प्राप्त अपने-अपने अनुभवो को शब्द के द्वारा नियमवद्ध किये। उन अनुभवो को उनके विषय के अनुसार सकलित कर और उन्हे भिन्न-भिन्न नाम देकर, आचार्यो ने भिन्न-भिन्न दर्शनो को प्रवर्तित किया। इन दर्शनो की संख्या अनियत है और अनन्त हो सकती है।

'आत्मा' तथा उसके 'गुणो' के क्रमिक विकास के अनुसार क्रमवद्ध एक शृङ्खला में, गोपुच्छाकार सूत्रबद्ध 'जपमाला' के समान, उन विकसित रूपों को, गूँथ कर

इस ग्रन्थ में रखने का प्रयत्न किया गया है। जिज्ञासुओं को 'आत्मदर्शन' की खोज में, जो उनका परम ध्येय है, इस प्रणाली से अग्रसर होने में सौकर्य प्राप्त होगा और उत्साह बढ़ेगा।

दर्शनों को इस सोपान-परम्परा मे संकलित देखकर जिज्ञासु को यह कभी नही समझ लेना उचित है कि इसी सोपान-परम्परा में इन दर्शनों की अभिव्यक्ति हुई है। 'आत्मदर्शन' के क्रमिक विकसित रूप को ध्यान मे रखकर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जिज्ञासु के सौकर्य के लिए ही, दर्शनों को इस सोपान-परम्परा में यहाँ रखने का प्रयत्न किया गया है।

दर्शनशास्त्र बहुत व्यापक और गम्भीर विषय है। आत्मा या गुरुजनों के अनुग्रह से ही दर्शनों के चरम लक्ष्य का दर्शन या ज्ञान हो सकता है, तथापि साधारण रूप से इसको समझने तथा दूसरो को लिखकर समझाने के लिए पर्याप्त साधन और समय की अपेक्षा होती है। इसलिए यह ग्रन्थ अनेक अशों में अपूर्ण है। इसके लिए हम क्षमा-प्रार्थी है।

गुरुजनों के अनुग्रह से साक्षात् स्वानुभव से जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके आधार पर दार्शनिक तत्त्वों का विचार करने में मैंने कही-कही निष्पक्ष दृष्टि तथा विशुद्ध हृदय से दार्शनिकों के विचारों की समालोचना की है, कुछ अभिनव बातों की भी खोज की है, जिन्हें हमने तथ्य समझा है। विद्वानो से विनीत प्रार्थना है कि आवेश में आकर प्राचीन परम्परा को ही एकमात्र मापदण्ड समझ कर मेरे प्रयत्न को तिरस्कृत न करें। स्वस्थ चित्त से, तत्त्वैकमात्रदृष्टि से, विचार करे, तथापि यदि दोष हो, तो मुझपर अनुग्रह कर सूचित करे। मनुष्य की कृति मे दोष होना तो स्वाभाविक ही है।

इति शम्

उमेश मिश्र

'तीरभुक्ति'

प्रयाग

सं० २०१४ वि०

दूसरे संस्करण की

भूमिका

आज मुझे बहुत ही हर्ष है कि इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण अपेक्षित है। जिज्ञासु पाठकों को, विशेष कर विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ से लाभ हुआ, आनन्द हुआ, उन्होंने इसे आदर दिया, यह जानकर मुझे बहुत सन्तोष है। इसके लिए मैं सभी का कृतज्ञ हूँ।

भारतीय दर्शन जीवन, धर्म तथा ज्ञान के चरम लक्ष्य को साक्षात् चक्षु से ही दिखाने का एकमात्र साधन है। वस्तुत प्रत्यक्ष ही एकमात्र तत्त्व को दिखा सकता है और अन्य प्रमाण तो केवल व्यावहारिक साधन है। इसी लिए प्रत्यक्ष को ही सभी प्रमाणों का मूल समझना उचित है। अतएव भर्तृहरि ने भी कहा है–'आगतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते'। भूत और भविष्य सभी प्रत्यक्ष ही है। जो अभी प्रत्यक्ष है वही एक क्षण के पश्चात् भूत हो जाता है और वही पुनः कालचक्र में पडकर भविष्य होकर पुन प्रत्यक्ष-कोटि में आता है। यह कालचक्र अनादि है और इसी पर सभी ज्ञान आश्रित हैं।

अनेक दृष्टिकोण से तथा इस मध्य जो कुछ गुरुकृपा से अनुभव प्राप्त हुआ है उसके आधार पर इस ग्रन्थ मे अनेक स्थलों मे परिवर्धन तथा सशोधन मैंने किया है। आशा है, पाठकों को इनसे अधिक लाभ होगा। इति शम्।

उपकुलपतिभवन,
संस्कृत विश्वविद्यालय,
दरभङ्गा
व्यासपूर्णिमा, १८८४ शकाब्द

उमेश मिश्र

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

भारतीय दर्शन का स्वरूप 1

दार्शनिक विचार के लिए उपयुक्त देश, ३; दार्शनिक वातावरण का प्रभाव, ४; जीव की बहिर्मुखी प्रवृत्ति, ५; अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की वश्यकता, ५; **दर्शन की परिभाषा,** ५—दर्शन शब्द का अर्थ, ५; **दर्शन का** ान लक्ष्य, ६—जीवन दुख:मय है, ६; जीवन का चरमलक्ष्य, ७; जीवन ौर दर्शन का सम्बन्ध, ७; **परम-तत्त्व को देखने का उपाय,** ९—दु खनाश के ाधन, ९; परम तत्त्व के साक्षात्कार से मुक्ति, १०, तर्क की आवश्यकता, ११; ाधिकारी बनने की आवश्यकता, ११—अधिकारी को ज्ञान या परमानन्द ी प्राप्ति, ११; **आक्षेप और उनका परिहार,** १२—भारतीय दर्शन का लक्ष्य, १२; अन्धविश्वास, १३; तत्त्वों का साक्षात् अनुभव, १४; भारतीय दर्शन की प्रगतिशीलता, १४; **दर्शनों का वर्गीकरण,** १४—दर्शनशास्त्र का स्वरूप, १४, दर्शनो मे समन्वय, १५; उपनिषदो की विशेषता, १५, दर्शनो के वर्गीकरण की आवश्यकता, १५; प्रतिपक्षियों के कारण वर्गीकरण, १६; उपनिषदो के पूर्व का वर्गीकरण, १६; दर्शनों की संख्या, १७, दर्शनों की सख्या-परम्परा, १७; दर्शनसख्या का नियम, १८, **दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध,** १८—दर्शनो मे समन्वय, १८; दर्शनों मे क्रम, १९; दर्शनों में सापेक्षता, १९; दर्शनो मे दृष्टिकोण के भेद से भेद, १९, चार्वाक-भूमि, २०; समन्वय दृष्टि से भारतीय दर्शनो का ज्ञान, २१; न्याय-वैशेषिकभूमि, २१; साख्य भूमि, २२, शाकर-वेदान्तभूमि, २३, काश्मीरीय शैवदर्शन-भूमि, २४।

द्वितीय परिच्छेद

ाद में दार्शनिक विचार २७

उपक्रम, २७; प्राचीनतम प्रमाण, २७; शब्द की अवस्थाएँ, २८ ; वेद दर्शन-ग्रन्थ नही, २८, कर्म या उपासना दर्शन का अग, २८, वेद मन्त्रों के ऋषि

और देवता, २९; वेदों का नामकरण, २९; एक ही वेद से चार वेद, ३०; ऋग्वेद के मन्त्रों मे चारों वेदों के नाम, ३१; अधिकार-भेद का विचार ३१; अभय-ज्योति-रूप में आत्मा की खोज, ३२; ज्ञान के लिए आत्मसमर्पण, ३२; ज्ञान के लिए अभिमान का परित्याग, ३३; परम सुख की प्राप्ति का साधन, ३३; वेद में सृष्टि का विचार, ३४; वेद में एक व्यापक शक्ति, ३५-३६; वेद का विषय, ३७; **आचार का निरूपण, ३७**—वेद में सदाचारपालन, ३७; **कर्मवाद, ३८**—पुण्य और पाप, ३९; वेद मे कर्मगति की चर्चा, ३९; कर्मवाद का उल्लेख, ३९; कर्मफल, ४०; दूसरे के किये हुए कर्मों का भोग, ४०; दर्शन की विचारधारा, ४१; **देवता को ही आत्मा समझना, ४१**—उपासना से दु.ख-निवृत्ति, ४१; ब्राह्मण तथा आरण्यक, ४२; साधक की अतृप्ति, ४२; 'एक' की खोज, ४३; यज्ञ और विष्णु का अभेद, ४३; 'ब्रह्म-भावना' का उदय, ४३; ब्राह्मणग्रन्थ मे 'ब्रह्म' और 'आत्मा', ४३; आरण्यक मे ब्रह्म की भावना, ४४; वेदान्त के ब्रह्म की भावना, ४४; आत्म-भावना का उदय, ४४; ब्रह्म और आत्मा का अभेद, ४५; ज्ञान के विकास के साथ आत्मभावना का उदय, ४६; ब्राह्मण तथा आरण्यक में सृष्टि-विचार, ४६; मनुष्य मे ही आत्मा की अभिव्यक्ति, ४६; आरण्यक में 'पाकज-प्रक्रिया', ४७; आचारपालन का निर्देश, ४७; **उपनिषदों में दार्शनिक विचार, ४७**—उपासना दर्शन का अग, ४८; वैदिक मन्त्रों के विभाग, ४८; उपनिषद् की विशेषता, ४८; 'अभेद' की साक्षात् अनुभूति, ४८; उपनिषद् शब्द का अर्थ, ४९; अविद्यानाश के उपाय, ४९; शिष्यो की शकाओं की निवृत्ति, ४९; उपनिषद् में तत्त्वविचार, ५०; सभी दर्शनों का मूल, ५०; अधिकार-भेद का विचार, ५०; उपनिषदों का ध्येय, ५१; **उपनिषदों का वर्गीकरण, ५१**—वेदों की परम्परा, ५१; वेदो के उपनिषद्, ५२; ईश, ५२; केन, ५२; कठ, ५२; प्रश्न, ५३; मुण्ड, ५३; माण्डूक्य, ५३; गौडपाद-कारिका, ५३; तैत्तिरीय, ५४; ऐतरेय, ५४, छान्दोग्य, ५४; बृहदारण्यक, ५५; **उपनिषदों का रचनाकाल, ५५**—उपनिषद्-काल, ५५; महाभारत से पूर्व उपनिषदों की रचना, ५६; श्रुतियो का लिपिबद्ध होना, ५६; **उपनिषद् के विषय, ५७**—दार्शनिक सूत्रों का मूल, ५७; उपनिषद् का मुख्य विषय, ५७; आत्मा सब से प्रिय तत्त्व, ५८; आत्मा का स्वरूप, ५८; ब्रह्म के रूप, ५९; जीवात्मा का स्वरूप, ५९; स्वप्नावस्था, ५९; मरणकाल मे जीव का स्वरूप, ६०; वासना से दूसरे जन्म का निर्णय, ६०; कर्मानुसार भविष्य जीवन, ६०; जीवन्मुक्ति,

६०; उपनिषद् में सृष्टि-प्रक्रिया, ६१; उपनिषद् में कर्म-विचार, ६१;
आत्मसाक्षात्कार के उपाय, ६१; योगाभ्यास की अपेक्षा, ६२; आत्मज्ञान
की अनुभूति-प्रक्रिया, ६२।

तृतीय परिच्छेद

६४

भगवद्गीता में दार्शनिक विचार

उपक्रम, ६४; अर्जुन का अभिमान, ६४; अर्जुन का मोह और आत्म-समर्पण,
६४; अर्जुन की विरक्ति, ६५; भगवान् का उपदेश, ६५; ज्ञान और कर्म
का उपदेश, ६५; उपनिषद् और गीता, ६६; गीता का महत्त्व, ६६; महा-
भारत का महत्त्व, ६७; महाभारत का रचनाकाल, ६७; **गीता के प्रति**
आक्षेप, ६७—गीता-ग्रंथ, ६७; आक्षेपों के समाधान, ६८; अर्जुन की याचना,
६८; युद्ध-क्षेत्र में ही गीता का उपदेश, ६८; कृष्ण की महिमा का ज्ञान,
६९; भगवान् की प्रतिज्ञा, ६९; उपदेश ग्रहण करने की योग्यता ७०;
आत्मोपदेश के लिए उचित स्थान, ७०; उपदेश के लिए सुअवसर, ७०;
उपदेश के लिए समय, ७०; **गीता के मुख्य उपदेश, ७१**—कर्त्तव्यपालन,
७१; वस्तु का नाश नही होता, ७१; अनासक्त कर्म, ७१; भक्ति और भक्त
की महिमा, ७२; साधक के कर्त्तव्य, ७३; भगवान् का स्मरण, ७३; शोक-
मोह की निवृत्ति, ७३; योगाभ्यास की आवश्यकता, ७४; निष्काम कर्म की
महिमा, ७४; **मुक्ति की अवस्था, ७५**—उचित और अनुचित कर्म, ७५;
परागति, ७५; अपरागति, ७५; पारगति के भेद, ७६; जीवन्मुक्ति, ७६;
पदार्थों का विचार, ७६; तीन प्रकार के तत्त्व, ७६; अपरा प्रकृति, ७७;
परा प्रकृति, ७७; जीव और भगवान् में भेद, ७७; 'माया' भगवान् की
शक्ति है, ७८; दिव्यरूप, ७९; अवतार का उद्देश्य, ७९; अवतार के लिए
दो वस्तुओं की आवश्यकता, ७९; भगवान् के कर्म करने का लक्ष्य, ८०;
भगवान् के कर्म, ८०; गीता का अद्वैत-तत्त्व, ८०; वासुदेव-तत्त्व, ८०;
वर्णाश्रमधर्म, ८१; गीता वैष्णवों का आगम, ८१।

चतुर्थ परिच्छेद

८२

चार्वाक-दर्शन

उपक्रम, ८२; रुचि के अनुसार आत्मा का ज्ञान, ८२; ज्ञान मे परिवर्तन, ८२;
अतिस्थूल दृष्टि, ८३; मत के प्रवर्तक, ८३; चार्वाक मत का आरम्भ, ८३;

प्राचीन रूप, ८३; कालवाद, ८४; स्वभाववाद, ८४; 'स्वभाव' की व्यापकता, ८४; नियतिवाद, ८५; यदृच्छावाद , ८५; रामायण और महाभारत में भौतिकवाद, ८५, **साहित्य, ८६**—बृहस्पति के सूत्र, ८६; **तत्त्वों का विचार, ८७**—प्रमेय-विचार, ८७; आवरण का अभाव—'आकाश', ८८; प्रमाण, ८८; प्रत्यक्ष के भेद, ८८, मतखण्डन का अभिप्राय, ८८; प्रत्यक्ष-प्रमाण, ८९; प्रमाणो का आधार, ८९; **उत्पत्ति की प्रक्रिया, ८९**—स्रष्टा या ईश्वर, ८९; सयोग तथा समवाय, ९०; चैतन्य और जीवन की उत्पत्ति, ९०; संस्कार के द्वारा स्मृति, ९०; आचार-विचार, ९०; नास्तिक, ९०; स्वर्ग और नरक, ९१; जीवनसुख, ९१; **आत्मा का विचार, ९१**—आत्मा की खोज, ९२, आत्मा का स्वरूप, ९२, आगम, तर्क तथा अनुभव, ९२; धन ही आत्मा, ९२; पुत्र ही आत्मा, ९३; देहात्मवाद, ९३, इन्द्रियात्मवाद, ९३; प्राणात्मवाद, ९४; आत्ममनोवाद, ९४; आलोचन, ९५।

पञ्चम परिच्छेद

जैन-दर्शन ९७

ज्ञान के विकास मे जैन-दर्शन का स्थान, ९७; आस्तिक दर्शनो के साथ सादृश्य, ९८; **जैन-सिद्धान्त के प्रवर्तक, ९८**—महावीर से पूर्व का समय, ९८; आचार्य-परम्परा, ९८; महावीर, ९९; महावीर के उपदेश, ९९; पाँच व्रत, ९९, गुण-स्थान, १००, तीर्थकर, १०१; गणधर, १०२, महावीर की शिष्य-परम्परा, १०२, श्वेताम्बर और दिगम्बर, १०२, **श्वेताम्बर तथा दिगम्बर जैनो में परस्पर भेद, १०२; साहित्य, १०४**—श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आगम, १०५; पुव्व, १०५, उपाग, १०५, प्रकीर्ण, १०५; छेदसूत्र, १०५, मूलसूत्र, १०५, चूलिकसूत्र, १०५; **दार्शनिक तथा उनके ग्रन्थ, १०५**—श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आचार्य, १०५; भद्रबाहु (प्रथम), १०५; उमास्वाती, १०६, कुन्दकुन्दाचार्य, १०६, सिद्धसेनदिवाकर, १०६; सिद्धसेनगणि १०६, हरिभद्रसूरि, १०६, मल्लिषेणसूरि, १०६; मलधारि राजशेखरसूरि, १०७, **दिगम्बरसम्प्रदाय के आचार्य, १०७**—ज्ञानचन्द्र, १०७; गुणरत्नसूरि, १०७, यशोविजयगणि, १०७; कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, अकलकदेव विद्यानन्द, माणिक्यनन्दिन, प्रभाचन्द्र, अमृतचन्द्रसूरि, देवसेन

भट्टारक, लघुसमन्तभद्र, अनन्तवीर्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, श्रुतसागरगणि, धर्मभूषण, यशोविजयसूरि, १०७; **तत्त्वों का विचार**, १०७—जीवतत्त्व, १०८; जीव का स्वरूप, १०८; जीव के गुण, १०८; प्रतिक्षण परिणाम, १०९; पर्याय, ११०; अनेकान्तवाद, ११०; जीव के भेद, ११०; अजीव-तत्त्व, १११; अजीव-तत्त्व के भेद, १११; अजीव-तत्त्व के गुण, १११; धर्मास्तिकाय, १११; अधर्मास्तिकाय, ११२; आकाशास्तिकाय, ११२; पुद्गलास्तिकाय, ११२; 'शब्द' आकाश का गुण नहीं, ११३; अस्तिकाय द्रव्यो मे साधर्म्य और वैधर्म्य, ११३; काल, ११४, आस्रवतत्त्व, ११४; आस्रव का स्वरूप, ११५; आस्रव के भेद, ११५, बन्धतत्त्व, ११५; बन्ध का स्वरूप, ११५; सवरतत्त्व, ११६; सवर का स्वरूप, ११६; सवर के भेद, ११६; समितियाँ, ११६; गुप्तियाँ, ११६; व्रत, ११७; धर्म, ११७; अनुप्रेक्षाएँ, ११७; परीषह, ११७; परीषह के भेद ११८; चारित्र के भेद, ११८; निर्जरातत्त्व, ११८; निर्जरा का अर्थ, ११८; निर्जरा की प्राप्ति, ११८; निर्जरा के भेद, ११९; तपस्या के भेद, ११९; मोक्षतत्त्व, ११९; मोक्ष के भेद, ११९; **प्रमाणविचार**, १२०; दर्शन-ज्ञान के भेद, १२०; साकार-ज्ञान के भेद, १२०; प्रमाण, १२०; प्रमाण का लक्षण, १२१; प्रमाण के भेद, १२१; प्रत्यक्ष-प्रमाण, १२१; प्रत्यक्ष के भेद, १२१; मतिज्ञान, १२२; अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, १२२; श्रुतज्ञान, १२२; मति और श्रुति में भेद, १२२; पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद, १२३; केवलज्ञान, विकलज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान, १२३; परोक्ष-प्रमाण, १२४; अनुमान-प्रमाण, १२४; **पञ्चावयव** परार्थानुमान, १२४; प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, १२४; निगमन, १२५; **दशावयव** परार्थानुमान, १२५; प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतु-विभक्ति, विपक्ष, विपक्ष-प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशका, १२५; आशंका-प्रतिषेध, १२६; निगमन; हेत्वाभास, १२६; पक्षाभास, १२६; हेत्वाभास, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, १२६; दृष्टान्ताभास, १२७; दूषणाभास, १२७; शब्द-प्रमाण, १२७, **नय**, १२७—यथार्थज्ञान और नय, १२७; नय के भेद, १२८; कर्मवाद, १२८; जीव और कर्म का सम्पर्क, १२८; स्याद्वाद या अनेकान्तवाद, १२९, सत् का स्वरूप, १२९; परिणामिनित्यत्ववाद, १२९; सप्तभगीनय का उदाहरण, १३०; **आलोचन**, १३१—आत्मा अवयवी है, १३२; अभेद मे भेद, १३२; आचार के अव्यावहारिक नियम, १३२; आचार-मापक तत्त्व, १३३।

षष्ठ परिच्छेद

बौद्ध-दर्शन १३४

आचार-शास्त्र, १३४; गौतम की जन्म-कथा, १३४; गृह-त्याग, १३५; बुद्धत्व की प्राप्ति, १३५; लोक-कल्याण, १३५; आर्य-सत्य, १३६; व्यावहारिकता से कल्याण, १३६; दुःख की कारण-परम्परा, १३७; प्रतीत्यसमुत्पाद, १३७; अष्टाग-मार्ग, १३९; बुद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व की अवस्थाएँ, १३९; श्रावकपद, १४०; प्रत्येकबुद्ध, १४०; बोधिसत्त्व, १४१; सघ के नियम, १४१; बुद्ध के उपदेश, १४१; अधिकारभेद के विचार का अभाव, १४२; **पाली भाषा में बौद्ध-साहित्य, १४३**—विनयपिटक, १४३; सुत्तपिटक, १४३; पाँच निकाय, १४३, अभिधम्मपिटक, १४४; **बौद्धमत के विभाग १४४**—प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदाय १४४; स्थाविरवाद के भेद, १४४; महासांघिक के भेद, १४५; महायान और हीनयान, १४५; महायान और हीनयान के भेद, १४५; हीनयान की चार भूमियाँ, १४६; महायान की दश भूमियाँ, १४६; आध्यात्मिक विचार की परम्परा, १४७; बौद्धो का आस्तिको से भेद, १४८; **बौद्धमत के सम्प्रदाय १४९**—वैभाषिक मत १४९; सौत्रान्तिक मत, १५०; योगाचार या विज्ञानवाद, १५०; माध्यमिक या शून्यवाद, १५०।

हीनयान-सम्प्रदाय—१. वैभाषिक मत—साहित्य, तत्त्वविचार, १५१; स्कन्धों का विवेचन, १५२; आयतनो का निरूपण, १५२; धर्म का स्वरूप, १५२; धातुओ का निरूपण, १५३; धर्मों के भेद, १५३; जगत् का विषयगत विभाग, १५३; असंस्कृत धर्म, १५३; असस्कृत धर्म के भेद, १५४; प्रतिसख्यानिरोध, १५४; अप्रतिसख्यानिरोध, १५४; आकाश, १५४; संस्कृत धर्म के भेद, १५४; रूप-चित्त-चैतसिक-चित्तविप्रयुक्त, १५५-५६; निर्वाण, १५६; प्रमाण, १५६; प्रत्यक्ष १५६; प्रत्यक्ष के भेद, १५६; प्रत्यक्ष का विषय, १५७; अनुमान के भेद, १५७; स्वार्थनुमान, १५७-५८; परार्थानुमान और उसके भेद, १५८-५९; हेत्वाभास और उसके भेद, १५९-१६०; अनुभव और अनुभव के भेद, १६०; ज्ञान की प्रक्रिया, १६०; इन्द्रियो का सन्निकर्ष, १६०; आलोचन (वैभाषिक मत) १६०।

२. सौत्रान्तिक मत—अन्तर्जगत् में प्रवेश, १६१; सौत्रान्तिक मत के आचार्य, १६२; तत्त्वविचार, १६२; निर्वाण का स्वरूप, १६२; शब्द,

१६२; कार्यकारणभाव, १६२; काल, १६२; ज्ञान, १६२; परमाणु, १६२; प्रतिसंख्यानिरोध, १६३; अप्रतिसंख्यानिरोध, १६३।

महायान-सम्प्रदाय—१. योगाचार या विज्ञानवाद, १६३—योगाचार का स्वरूप, १६३; साहित्य, १६४—मैत्रेयनाथ, असग, वसुबन्धु, स्थिरमति, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, १६४; विज्ञानवाद के सिद्धान्त, १६४—विज्ञान-आलय-विज्ञान, प्रवृत्तिविज्ञान, १६५, योगज प्रत्यक्ष, १६५।

२. माध्यमिक या शून्यवाद, १६६—स्वरूप, १६६; नामकरण का उद्देश्य, १६७; साहित्य, १६७—नागार्जुन, आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, बुद्धपालित, शान्तिदेव, शान्तरक्षित, १६७-६८; शून्यवाद के सिद्धान्त, १६८—दो प्रकार का सत्य, १६८-६९; समाधि की आवश्यकता, १६९, बौद्धन्याय की चर्चा, १७०-७१, **आलोचन**—आस्तिक तथा बौद्ध-दर्शनो मे समता, १७१; बौद्ध-मत के अध.पतन के कारण, १७२-७३।

सप्तम परिच्छेद

न्याय-दर्शन १७४

न्याय-दर्शन की पृष्ठभूमि, १७४, ईश्वर तथा आत्मा का पृथक् अस्तित्व, १७४, सशय, १७५; निर्णय, १७५; तर्क की आवश्यकता, १७६; तर्क प्रमाणों का सहायक, १७७, तर्क का महत्त्व, १७७; तर्कशास्त्र की प्राचीनता, १७७; **आधुनिक न्यायशास्त्र की उत्पत्ति**—अनधिकारी बौद्धों की दशा, १७८; गौतमसूत्र की रचना, १७९; **साहित्य, १७९**—न्यायसूत्र के रचयिता, १८०; न्यायशास्त्र के पदार्थ, १८०; न्यायभाष्य, १८०, न्यायवार्तिक, १८०; न्यायसूचीनिबन्ध, १८०; तात्पर्यटीका, १८०; न्यायपरिशुद्धि, न्यायकुसुमाञ्जलि, न्यायसार, न्यायमञ्जरी, १८१, नव्यन्याय की उत्पत्ति, १८१, तत्त्वचिन्तामणि, १८२; नव्य तथा प्राचीन न्याय मे भेद, १८२; **पदार्थनिरूपण, १८२**—प्रमाण, प्रमाणों की सख्या, १८३; प्रमेयनिरूपण, १८३, आत्मा, १८४; शरीर, इन्द्रिय, १८५; अर्थ, बुद्धि, मनस्, १८६; प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्य-भाव, फल, दु.ख, अपवर्ग, १८७; मोक्षप्राप्ति की प्रक्रिया, १८८, सशय, १८८; प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, १८९; तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, १९०; छल, जाति, निग्रहस्थान, १९१, **ज्ञान और प्रमाण, १९१**—ज्ञान के भेद, स्मरणात्मक ज्ञान, १९१, अनुभवात्मक ज्ञान, यथार्थ एव अयथार्थ ज्ञान, १९२; प्रत्यक्षप्रमाण, प्रत्यक्ष के भेद, १९२; सन्निकर्ष के

भेद, १९३-९५; मीमांसकों का मत, १९६; मन, आत्मा तथा त्वगिन्द्रिय का सन्निकर्ष, १९६; मानसिक सन्निकर्ष, अलौकिक सन्निकर्ष, १९७-९८; अनुमान-प्रमाण, १९८; अनुमान की प्रणाली, १९९; अनुमान के भेद, २००-२०१; हेतु के दोषों से बचने का नियम, २०१-२०२, हेत्वाभास के भेद, २०३-२१३; उपमानप्रमाण, २१४; उपमान का स्वरूप, २१४; शब्दप्रमाण, शब्दप्रमाण स्वरूप, २१४; वाक्यार्थबोध के नियम, २१४-२१६; वाक्यों के भेद, २१६; प्रमाणों का प्रामाण्य, २१६-१७; **कार्यकारणभाव, २१७**—असत्कार्यवाद, २१७; कारण का लक्षण, २१८; अन्यथासिद्ध के उदाहरण, २१८; कारण के भेद, २१९; समवायिकारण, २१९; **सम्बन्ध का विचार, २१९**—संयोगसम्बन्ध, २१९; द्रव्य के भेद, २१९; अयुतसिद्ध और समवाय-सम्बन्ध, २१९-२२१, असमवायिकारण, २२१-२२२; निमित्तकारण, २२३; कारणो की विशेषताएँ, २२३; करण, २२३; **ईश्वर या परमात्मा, २२४**—ईश्वर के विषय मे उदयन का मत, २२४; ईश्वरसिद्धि की युक्तियाँ, २२४-२५; **आलोचन, २२६**।

अष्टम परिच्छेद

वैशेषिक-दर्शन २२७

वैशेषिक-दर्शन का महत्त्व, २२७; साहित्य, २२८—आदिप्रवर्तक कणाद, रावण, भरद्वाज, प्रशस्तपाद, वल्लभाचार्य, २२८; शकर मिश्र, २२९; न्याय-वैशेषिक-दर्शन, २२९; विश्वनाथ, अन्नम्भट्ट, वरदराजमिश्र, जगदीश, २२९; वैशेषिक-दर्शन का नामकरण, २२९; **पदार्थों का विचार, २३०**—पदार्थों के भेद, २३०-३२; दृष्टिकोण, २३२; **परमाणुकारणवाद तथा सृष्टि और संहार की प्रक्रिया, २३२**—प्रलय की अवस्था, २३२; प्रलय में जीवात्मा, २३३; सृष्टि का कारण तथा उसकी प्रक्रिया, २३३; सहार की प्रक्रिया, २३४; न्यायमत, वैशेषिकमत, २३४; ज्ञान का विचार, २३४; अविद्या के भेद, २३५; विद्या के भेद, २३५; आर्षज्ञान, २३५; कर्म, २३६; कर्म के भेद, २३६; न्याय-वैशेषिक के मतों मे परस्पर भेद, २३६-३८।

नवम परिच्छेद

मीमांसा-दर्शन २३९

मीमांसाशास्त्र का स्वरूप, २३९-४०; शास्त्र के नामकरण की युक्ति, २४०; मीमासा का दृष्टिकोण, २४०; **साहित्य, २४१**—प्राचीन आचार्य, २४१;

मीमांसाशास्त्र के विषय, २४१; शबरस्वामी, कुमारिल भट्ट, २४२; मण्डन मिश्र, प्रभाकर मिश्र, शालिकनाथ मिश्र, पार्थसारथि मिश्र, मुरारि मिश्र, २४३; खण्डदेव, गागाभट्ट, अप्पय्य दीक्षित, नारायण भट्ट, नीलकण्ठ दीक्षित, शंकर भट्ट, २४४; **सिद्धान्तों का विचार, २४४**—प्रभाकरमत, २४४, पदार्थ, २४४-४६; कुमारिलमत, २४६; पदार्थ, २४६-४७; मुरारिमिश्रमत, २४७; पदार्थ, २४७-४८; भाट्टमत—इन्द्रियाँ, २४८, **ईश्वर या परमात्मा, २४९**—ईश्वर का निराकरण, २४९; परमात्मा, २४९; जीवात्मा, २५०; प्रभाकरमत, २५०-५१; मुक्ति का स्वरूप, २५१; भाट्टमत—मुक्ति-प्राप्ति की प्रक्रिया, २५१-५२, मुक्त जीव को आत्मज्ञान नही होता, २५२; प्रभाकरमत, २५२; मुक्ति की प्रक्रिया, २५३; भाट्ट और गुरु मत में मोक्ष, २५३-५४; **प्रमाण-विचार, २५४**—धर्म, २५४; प्रमाण का लक्षण, २५४; भाट्टमत—प्रमाण के भेद, २५४-५५; प्रभाकरमत—प्रमाण के भेद, २५५; सन्निकर्ष, २५६; प्रत्यक्ष के भेद, २५६; योगज प्रत्यक्ष, २५६; अनुमान, उपमान तथा शब्द-प्रमाण और उसके भेद, २५६-५७, वेद धर्म मे प्रमाण, २५७; अपौरुषेय और स्वप्रकाश, २५७; प्रभाकरमत मे शब्दप्रमाण, २५८; उपमानप्रमाण—भट्टमत, प्रभाकरमत, २५८-५९; अर्थापत्ति और उसके भेद, २५९-६०; अनुपलब्धिप्रमाण—भट्टमत, प्रभाकरमत, २६०; सम्भवप्रमाण, २६०; ऐतिह्यप्रमाण, २६१, प्रतिभाप्रमाण, २६०; **प्रामाण्यवाद, २६१**—प्रामाण्यविचार का महत्त्व, २६०, प्रामाण्यविचार का स्वरूप, २६१-६२; मीमासको के स्वत प्रामाण्यवादी होने का कारण, २६२; भट्टमत, प्रभाकरमत, नैयायिकमत, २६२-६३, मुरारिमत, २६३-६४, **भ्रान्तिज्ञान, २६४**—प्रभाकरमत, २६४-६५; कुमारिलमत, २६५-६६; **आलोचन, २६६**; आत्मा, ईश्वर, मुक्ति, २६६ ।

दशम परिच्छेद

साङ्ख्य-दर्शन २६७

साङ्ख्य का स्वरूप, २६७-६८; 'साङ्ख्य' शब्द का अर्थ, २६८६९; साङ्ख्य की प्राचीनता, २६९, साङ्ख्यशास्त्र के रहस्य का लोप, २७१, बौद्धिक पदार्थों के चिन्तन से दूर होना, २७१, **साङ्ख्यदर्शन की भूमि, २७२**—**साङ्ख्यदर्शन के आचार्य तथा उनके ग्रन्थ २७२**—कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, २७३, पञ्चशिख के सूत्र, २७४-७५; विन्ध्यवास, विज्ञानभिक्षु, ईश्वरकृष्ण, २७६, साङ्ख्यकारिका, साङ्ख्यकारिका की टीकाएँ, २७७-८०,

तत्वों का विचार, २८०—न्याय-वैशेषिक के नित्य द्रव्य, २८०; साङ्ख्य के तत्त्व, २८०; परिणाम, २८१; गुणों का रूप, २८१; परिणाम के भेद, २८२; सृष्टि का कारण, २८३; कार्यकारण का स्वरूप, २८३; सत्कार्य की सिद्धि, २८४-८५; **तत्त्वविचार**, २८६—प्रकृति से तत्त्वों की अभिव्यक्ति, २८६-९२; बुद्धि, अहकार, २८७; गुणो का स्वभाव, २८७, अहकार का स्वरूप, २८८; इन्द्रियां, २८८-८९; तन्मात्राएँ पाँच भूत, २८९-९०; परमाणु का स्वरूप, २९०; तत्त्वों की अभिव्यक्ति, २९१-९२; साङ्ख्य के पंचभूत, २९२; व्यक्त के धर्म, २९३-९४; अव्यक्त या प्रकृति की सिद्धि, २९५-९६; अव्यक्त के धर्म, २९६-९७; **'ज्ञ' का विचार**—'ज्ञ' के धर्म, २९७; साङ्ख्य में एक पुरुष, २९७-९८; साङ्ख्य की लुप्त-कारिका, २९८; अव्यक्त और बद्धपुरुष की सिद्धि, २९८-३००; **'ज्ञ' (पुरुष)** वहुत नही है, ३००; बद्ध पुरुष बहुत है, ३००; बद्ध पुरुष की सिद्धि, ३०१-३०४, **पुरुषबहुत्ववाद** और उसका निराकरण, ३०३-३०५; साङ्ख्य मे तीन प्रकार के पुरुष, ३०५; **'ज्ञ'** के अन्य धर्म, ३०५; चेतन और जड मे परस्पर आरोप, ३०६; **प्रमाणविचार**, ३०६—प्रमाण का लक्षण, प्रत्यक्ष का लक्षण, ३०६; प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया ३०६-३०८; अनुमान, आप्तवचन, ३०८; प्रमाणो का प्रयोजन, ३०८-३०९; दूसरे के मतो का विचार, ३०९; **मुक्ति का विचार**, ३०९—पुरुष और प्रकृति का बन्धन, ३१०; सृष्टि का कार्य, ३१०; सूक्ष्मशरीर, ३११; कैवल्य की प्राप्ति, ३११, विदेह-कैवल्य, जीवन्मुक्ति, ३११-३१२; **आलोचन**, ३१२—ज्ञान, मुक्तपुरुष और प्रकृति, ३१२-१४; साङ्ख्य में ईश्वर, ३१४-१५।

एकादश परिच्छेद

योग दर्शन ३१६

योग का महत्त्व, ३१६; साङ्ख्य और वेदान्त मे योग का स्थान, ३१७-१८; **योगशास्त्र के आचार्य और ग्रन्थ**—पतञ्जलि, व्यास, ३१८; वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, भोज, रामानन्द, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, ३१९; **पदार्थविचार**, ३१९—योगशास्त्र का विषय, ३१९; चित्त की भूमियाँ, ३१९-२०; चित् और चित्त में परस्पर आरोप, ३२१; चित्त की वृत्तियाँ, ३२२; वृत्ति के भेद, ३२२; प्रत्यक्ष-प्रमाण, ३२२; विकल्प, निद्रा, स्मृति, ३२३, वृत्तिनिरोध के उपाय, ३२३; समाधि के भेद, ३२३; सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि, ३२४;

सम्प्रज्ञात-समाधि के भेद, ३२४; असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि, ३२५; असम्प्रज्ञात-समाधि के भेद, ३२५; भवप्रत्यय, षाट्कौशिक शरीर, विदेह जीव, ३२५; प्रकृतिलय, ३२६; उपायप्रत्यय, ३२६; विघ्न, ३२७, चित्तविक्षेप के कारण, ३२७, चित्त को प्रसन्न करने के उपाय, ३२७; क्लेश का स्वरूप, ३२७; क्लेश के भेद, ३२७-३२८, **योग के साधन, ३२८**—अष्टाङ्गयोग, ३२८-३२९; सयम, ३२९; **योग की भूमि, ३३०**—योगी के चार भेद—प्रथम-कल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति., अतिक्रान्तभावनीय, ३३०-३१; प्रज्ञा के भेद, ३३१-३२; समाधि के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग, ३३२; **परिणाम, ३३२**—चित्त का स्वरूप, ३३२; परिणाम का स्वरूप, ३३३; निरोध-परिणाम, ३३३; समाधि-परिणाम, एकाग्रता-परिणाम, ३३४; भूतों मे परिणाम, ३३४; धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम, अवस्थापरिणाम, ३३६; इन्द्रियों मे परिणाम, ३३५; **कैवल्य, ३३६**—योगसाधन मे विघ्न, ३३६, विवेकज्ञान, ३३६; **कर्मविचार, ३३७**—कर्म का महत्त्व, ३३७, कर्म के भेद, ३३७-३८; वासनाओ की नियमित प्रवृत्ति, ३३८; वासना के कारण—हेतु, फल, आश्रय, ३३९; आलम्बन, संस्कार, ३३९-४०; **ईश्वर, ३४०**—ईश्वर का लक्षण, ३४०; केवली से भिन्न ईश्वर, ३४१; मुक्तपुरुष से भिन्न ईश्वर, ३४१; प्रकृतिलीन पुरुष से भिन्न ईश्वर, ३४१; ईश्वर सदा मुक्त और सदा ईश्वर, ३४१-४२; ईश्वर के गुण, ३४२; ईश्वर का प्रतीक, ३४२; ईश्वर के चिन्तन से लाभ, ३४३; मुक्ति का साधन, ३४३; **आलोचन, ३४३**—सांख्य और योग के पुरुष, ३४३-४४।

द्वादश परिच्छेद

अद्वैत-दर्शन (शांकर-वेदान्त) ३४५

उपक्रम, ३४५-४६; साङ्ख्य का वास्तविक स्वरूप, ३४७; 'वेदान्त' का अर्थ, ३४७, **साहित्य, ३४८**—ब्रह्मसूत्र, ३४८; वेदान्त की आचार्यपरम्परा, ३४९; शङ्कराचार्य और उनका समय, ३४९-५०, शङ्कराचार्य की रचनाएँ, ३५०-५१, शङ्कराचार्य के शिष्यो के ग्रन्थ, ३५१, भास्कराचार्य, सर्वज्ञात्ममुनि, ३५१, वृद्ध वाचस्पति मिश्र, प्रकाशात्मा, अद्वैतानन्द, चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, अखण्डानन्द, प्रकाशानन्द, मधुसूदनसरस्वती, ३५२, ब्रह्मसूत्र के भाष्यो की सख्या, ३५३; **तत्त्वविचार, ३५३**—उपक्रम, ३५३-५४, सत्ता का स्वरूप और भेद, ३५४-५५, परिणाम और विवर्त, ३५५;

अध्यास, ३५५; ब्रह्म या आत्मा, ३५५; अज्ञान और माया, ३५६; अविद्या और माया, ३५६-५७; माया की शक्ति, ३५७-५८ सृष्टि का कारण, ३५८, चैतन्य के दो स्वरूप, ३५८; माया एक या अनेक, ३५९; समष्टिरूप अज्ञान—ईश्वर, ३५९; लीला के लिए सृष्टि, ३६०; व्यष्टिरूप अज्ञान—प्राज्ञ, ३६०-६१; आनन्दमयकोष, ३६१; भूतो की सृष्टि, ३६१; ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति, ३६२; अन्त.करणों की उत्पत्ति, ३६२; विज्ञान-मयकोष, ३६२; जीव, ३६२; मनोमयकोष, ३६३; कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति, ३६३; प्राणो की उत्पत्ति ३६३; प्राणमयकोष, ३६३; सूक्ष्मशरीर, ३६४, समष्टिरूप सूक्ष्मशरीर—सूत्रात्मा, ३६४, व्यष्टिरूप सूक्ष्मशरीर—तैजस् ३६४; पञ्चीकरण, ३६४-६५; स्थूलशरीर, ३६५; समष्टि-स्थूल-प्रपञ्च–विराट्, ३६६; व्यष्टि-स्थूलप्रपञ्च—विश्व, ३६६; अन्नमयकोष, ३६६; महान् प्रपञ्च, ३६६; अध्यास या आरोप, ३६७; अपवाद, ३६७; 'तत्त्वमसि' का अर्थ, ३६७-६८; अज्ञान का नाश, चित्रवृत्ति का नाश, ३६९; ब्रह्मसाक्षात्कार, ३६९; योगसाधना की आवश्यकता, ३६९; मुक्ति, ३६९; जीव और ब्रह्म का ऐक्य, ३६९-७०; जीवन्मुक्ति, ३७०; **प्रमाण-विचार, ३७०**—प्रमाणो की सख्या, ३७१; प्रत्यक्ष-प्रमाण, ३७१; जड़ और चैतन्य का प्रत्यक्ष, ३७१-७२; प्रत्यक्ष के भेद, ३७२; अद्वैत मे मन इन्द्रिय नही, ३७२; न्याय-वैशेषिक से भेद, ३७३; अनुमान, ३७३; **आलोचन, ३७३**—आनन्द की खोज, ३७३-७४; शङ्कराचार्य और माया, ३७४-७५; अधिकारी होना, ३७५; अद्वैतवाद का सिंहाव-लोकन, ३७५-७८।

त्रयोदश परिच्छेद

काश्मीरीय शैव-दर्शन (अद्वैत-भूमि) ३७९

नामकरण, ३८०; ब्रह्माद्वैत तथा ईश्वराद्वयवाद मे भेद, ३८०-८१; दो का नित्य सामरस्य ही अद्वैत है, ३८१; **साहित्य, ३८१**—शिवसूत्र, वृत्ति, वार्तिक, विमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञाहृदय, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, प्रत्यभिज्ञाकारिका, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, आदि ३८१; **तत्त्वविचार, ३८१**—तत्त्व, ३८१; शिवतत्त्व, ३८२; विमर्शशक्तितत्त्व, ३८३ सदाशिवतत्त्व, ३८४; ईश्वरतत्त्व, ३८४; सद्विद्यातत्त्व, ३८४; मायातत्त्व, ३८४, माया के पाँच कञ्चुक, ३८५; पुरुषतत्त्व, ३८५; प्रकृतितत्त्व, ३८५; बुद्धितत्त्व, अहंकारतत्त्व, मनस्तत्त्व,

३८५; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, ३८५; पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ३८६; पाँच तन्मात्राएँ, ३८६; पञ्चभूत, ३८६; व्युत्क्रमसृष्टि, ३८६-८७; जीवन्मुक्ति, ३८७; **आलोचन, ३८८**—ब्रह्म और माया के स्वरूप का विचार, ३८८-९०; **उपसंहार, ३९०-९१।**

भिन्न-भिन्न भूमि में तत्त्वों का क्रमिक विकास का चित्र, ३९२-९३

चतुर्दश परिच्छेद

वैष्णव-दर्शन (वैष्णव-सम्प्रदाय) ३९४

आगम और निगम, ३९४; भक्ति का महत्त्व, ३९४-९५; भक्तिशास्त्र के आचार्य, ३९५; वैष्णव-सम्प्रदाय के भेद श्रीसम्प्रदाय, हससम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय, ३९६; वैखानस, श्रीराधावल्लभी, ३९६-९७; गोकुलेश, वृन्दावनी, रामानन्दी, ३९७; हरिव्यासी, निम्बार्क, भागवत, पाचरात्र, वीर वैष्णव, ३९८।

पञ्चदश परिच्छेद

भेदाभेद-दर्शन (भास्कर-वेदान्त) ३९९

भेदाभेदवाद की परम्परा, ३९९; भास्कर, ३९९; भास्कर का सिद्धान्त, ४००; **तत्त्वविचार, ४००**—ब्रह्मतत्त्व, ४००; ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम, ४०१; परिणाम का कारण, ४०१; चिन्मय जगत्, ४०१; कार्यकारण-भाव, ४०२, जगत् मिथ्या नही है, ४०२; जीव, ४०२; जीव अणु है, ४०३; मुक्ति और उसके भेद, ४०३, जीवन्मुक्ति नही मानते, ४०३; मुक्ति-प्राप्ति की प्रक्रिया, ४०३; कर्म की आवश्यकता, ४०४, निवृत्तिमार्ग की प्रक्रिया, ४०४; योगाभ्यास, ४०४; ध्यान, धारणा एव समाधि का अर्थ, ४०४।

षोडश परिच्छेद

विशिष्टाद्वैत-दर्शन (रामानुज-वेदान्त) ४०५

श्रीसम्प्रदाय की गुरुपरम्परा, ४०५; नाथमुनि, ४०५; यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, ४०६; लोकाचार्य, वेदान्तदेशिक, श्रीनिवासाचार्य, ४०६; **तत्त्वविचार, ४०७**—चित्तत्त्व, जीवात्मा और उसके भेद, ४०७; बद्धजीव, ४०७-४०९;

मुक्तजीव, ४०९-११; नित्य-जीव, ४११; ज्ञान और आत्मा में भेद, ४११; अचित्तत्त्व, शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व, सत्त्वशून्य, ४११-१२; ईश्वरतत्त्व, ४१३; ईश्वर का स्वरूप, ४१३-१५; भगवान् की उपासना, ४१५; अभेदज्ञान मिथ्या है, ४१५; ज्ञानस्वरूपविचार, ४१५-१६; भक्ति तथा प्रपत्ति, ४१६; **प्रमाणनिरूपण,** ४१६—प्रत्यक्षप्रमाण, ४१७; प्रत्यक्ष के भेद, ४१७; भ्रम भी यथार्थज्ञान है, ४१७; चैतन्य के भेद, ४१८; अनुमान-प्रमाण, ४१८; अनुमान के अवयव, ४१८; शब्दप्रमाण, ४१८-१९; मिश्रसत्त्व, ४१९; सृष्टि-प्रक्रिया, ४१९।

सप्तदश परिच्छेद

द्वैताद्वैत-दर्शन (निम्बार्क-वेदान्त) ४२०

परिचय, ४२०; **साहित्य,** ४२०—वेदान्तपारिजातसौरभ, सिद्धान्तरत्न, दशश्लोकी, श्रीकृष्णस्तव, वेदान्तकौस्तुभ, वेदान्तकौस्तुभप्रभा, पांचजन्य, तत्त्व-प्रकाशिका, सकलाचार्यमतसंग्रह आदि, ४२०; **तत्त्वनिरूपण,** ४२१—जीवात्मा-जीव का स्वरूप, ४२१; जीव के भेद, ४२१-२२; मुक्त-जीव का भोग, ४२२; जड़तत्त्व या प्रकृति और उसके भेद, ४२२-२३; ईश्वरतत्त्व, ४२३; ईश्वर के गुण, ४२३-२४; जगत् परमात्मा का परिणाम है, ४२४; जगत् ब्रह्मस्वरूप है, ४२४, सृष्टि-प्रक्रिया, ४२४; प्राण, ४२४; रामानुज और निम्बार्कमत में भेद, ४२५।

अष्टादश परिच्छेद

द्वैत-दर्शन (माध्व-वेदान्त) ४२६

परिचय, ४२६; **तत्त्वविचार,** ४२६—**पदार्थनिरूपण,** ४२६—द्रव्यनिरूपण—द्रव्य का लक्षण, द्रव्य के भेद, ४२७; परमात्मा, ४२७-२९; लक्ष्मी, लक्ष्मी की मूर्तियाँ, ४२९-३०; जीव और उसके भेद, ४३०-३१; अव्याकृत आकाश, ४३१-३२; प्रकृति, ४३२, गुणत्रय, ४३२; महत्तत्त्व, अहंकारतत्त्व, बुद्धि-तत्त्व, ४३३; मनस्तत्त्व, इन्द्रियतत्त्व, ४३४, तन्मात्रातत्त्व, भूततत्त्व, ब्रह्माण्डतत्त्व, ४३५, अविद्यातत्त्व, ४३६; वर्णतत्त्व, अन्धकारतत्त्व, ४३७; वासनातत्त्व, स्वप्नविचार, ४३८; कालतत्त्व, प्रतिबिंबतत्त्व, ४३९; गुण-निरूपण, ४४०; कर्मनिरूपण, ४४०; सामान्य निरूपण, ४४१; विशेष—

निरूपण, ४४२; विशिष्टनिरूपण, ४४२; अंशीनिरूपण, ४४२, शक्तिनिरूपण, ४४२; सादृश्यनिरूपण, ४४३; अभावनिरूपण, ४४३; कारणविचार, ४४४; ज्ञानविचार, ४४४; सृष्टिप्रक्रिया, ४४५; दश अवतार, ४४६; प्रलय, ४४६-४७; ज्ञान का विचार, ४४७-४८; दृष्टिभेद, ४४९; मोक्षविचार, ४४९; मोक्ष के भेद, ४४९; कर्मक्षय, ४४९; उत्क्रान्तिलय-अर्चिरादिमार्ग, ४५०; भोगमोक्ष, ४५०।

एकोनविंश परिच्छेद

शुद्धाद्वैत-दर्शन (वल्लभ-वेदान्त) ४५१

उपक्रम, ४५१; ब्रह्म ही एकमात्र प्रमेय, ४५१; माया, ४५२; भगवान् की शक्तियाँ, ४५२; जीव, ४५२-५३; सृष्टिप्रक्रिया, ४५३; सृष्टि के भेद, ४५३-५४; **प्रमेयनिरूपण, ४५४**—प्रमेय के भेद, ४५४; स्वरूपकोटि, ४५४; अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव, ४५४-५५; कारणकोटि के तत्त्व, ४५६; सत्त्व, रजस्, तमस्, ४५६-५७; पुरुष, ४५७-५८; प्रकृति, ४५८-५९; प्रकृति के भेद, ४५९; महत्, अहकार, तन्मात्रा, ४६०-६१; शब्द, ४६१-६२; शब्द की नित्यता, स्फोटविचार, ४६२; शब्द की उत्पत्ति, ४६३; स्पर्श, ४६३-६४; रूप, ४६४; रस, ४६४-६५, गन्ध, ४६५; भूत—आकाश, वायु, तेजस्, ४६५-४६७; जल, पृथ्वी, ४६७; इन्द्रिय, ४६७-६८; मन, ४६८; मन के गुण, ४६८; **ज्ञान**—ज्ञान का स्वरूप और भेद, ४६८-७१; **करण, ४७१; प्रमाण, ४७१; आलोचन, ४७१-७२।**

शब्दानुक्रमणिका ४७३

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'

प्रथम परिच्छेद

भारतीय दर्शन का स्वरूप

दार्शनिक विचार के लिए उपयुक्त देश

भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थिति, इसका नातिशीतोष्ण जलवायु, घने छायादार जगलो का आधिक्य, अनेक प्रकार का प्राकृतिक सौन्दर्य, यहाँ की नदीमातृक और देवमातृक उपजाऊ भूमि, कद-मूल एव फल-फूलों तथा सुस्वादु खाद्य पदार्थो का स्वल्प ही परिश्रम से पर्याप्त मात्रा मे मिल जाना, आदि भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति ने यहाँ के रहने वालो को अनादि काल से शान्त और गभीर बना रखा है। इन्ही कारणो से ये लोग अपनी समस्त मानसिक शक्तियो को जीवन तथा विश्व की गहन और उलझी हुई समस्याओ को, मृत्यु के रहस्य को, मरने के बाद जीवात्मा की बातों को, दैवी शक्ति को तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को समझने और अज्ञानियो को समझाने मे लगा सके। यही कारण हो सकते है जिनसे भारतीयो का प्रत्येक कार्य अलौकिक तथा आध्यात्मिक भावो से परिपूर्ण है। मनुष्य के जीवन के नियमानुकूल कार्य तथा दर्शन-शास्त्रो मे सिद्धान्त-रूप मे कहे गये आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तत्त्व परस्पर इस प्रकार ओत-प्रोत है कि एक दूसरे से कभी भी पृथक् नही हो सकते। इन दोनो मे अविनाभाव सम्वन्ध है। जीवन का सादापन, उच्च विचार मे प्रेम, अन्त करण की प्रशान्त भावना, सत्यप्रियता, ससार को पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या समझना, दैवी शक्ति में श्रद्धा, भक्ति और आत्मसमर्पण, जीवन की उलझनो को सुधारने मे तत्परता, परम सुख तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए पूर्ण उत्सुकता और अदम्य उत्साह, आदि गुण साधारण रूप से प्रत्येक भारतीय के विभिन्न कार्यो मे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पाये जाते है। जीवन की झझटो से वच कर सत्य और असत्य, श्रेयस् और प्रेयस्, नि श्रेयस् और अभ्युदय, प्रिय और अप्रिय, चेतन और जड, सुख और दु ख, आदि तत्त्वों

के रहस्य को समझने के लिए सृष्टि के आरम्भ से ही भारतीय अपने जीवन की समस्त शक्तियो को लगाते चले आ रहे है। इसके लिए वेद से लेकर आज तक के सभी साहित्य साक्षी है। इसलिए भारतवर्ष की पुण्य भूमि में अनादि काल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की, विचार-धारा वहती चली आ रही है, यह कहना अनुपयुक्त न होगा।

दार्शनिक वातावरण का प्रभाव

यद्यपि उपर्युक्त आध्यात्मिक परिस्थिति का प्रभाव समस्त भारतवर्ष पर अवश्य पड़ता था तथापि इससे सभी मनुष्य एक-सा लाभ नही उठा सके होगे। कारण यह है कि किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिए ग्राहक में उसके उपयुक्त योग्यता की भी आवश्यकता होती है। सूर्य की किरण का प्रभाव यद्यपि मणि तथा मिट्टी के ढेले के ऊपर एक-सा ही पडता है, किन्तु इसका प्रतिफल भिन्न-भिन्न होता है। सूर्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर किसी प्रदेश को प्रकाशित करने के लिए ग्राहक मे भी तेजस् की मात्रा अपेक्षित होती है। मणि मे तेजस् की मात्रा है, किन्तु मिट्टी के ढेले मे नही। इसी कारण इस जगत् में रहते हुए भी अन्त करण की शुद्धि के तारतम्य के अनुसार जीवन के प्रधान लक्ष्य की ओर मनुष्य अग्रसर होता है। इसी तारतम्य के कारण एक सुखी है तो दूसरा दु.खी है, एक धनी है तो दूसरा दरिद्र है, एक ज्ञानी है तो दूसरा अज्ञानी है। देश और काल से परिच्छन्न इस जगत् मे 'आकस्मिकवाद' का किसी भी अवस्था मे वस्तुत. कोई स्थान नही है। प्रत्येक घटना के लिए कोई न कोई कारण, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे, वर्तमान रहता ही है। यद्यपि सभी घटनाओं के कारणो को सभी नही ढूंढ निकाल सकते, किन्तु फिर भी 'उच्छृङ्खलवाद' का अवलम्बन न कर ज्ञानियो द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर ही चलने से कल्याण है। उच्छृङ्खलता के कारण सन्मार्ग पर भी लोग फिसल जाते है और जीवन के लक्ष्य से दूर हो जाते है। जीवन के अनुभवो मे तारतम्य को देखकर ससार के अनादित्व मे तथा 'कर्मवाद' के रहस्य मे हमे विश्वास करना पड़ता है। यह केवल विश्वास ही नही है, यह तो वास्तव में जीवन की एक अनुभूति है। 'कर्मवाद' के सभी रहस्यो को तो बड़े-बड़े ऋषियो ने भी साक्षात् न किया होगा। सचमुच मे कर्म की गति वहुत ही गहन है, फिर भी 'कर्मवाद' के सिद्धान्तो को सभी को स्वीकार करना ही पड़ता है।

इस ससार मे आये हुए सभी मनुष्यो की प्रवृत्ति वहिर्मुखी है, और यही उचित भी है, क्योकि सासारिक सुख-दु ख के भोग के लिए ही तो जीव इस ससार मे आता

है और इस भोग के लिए बहिर्मुखी प्रवृत्ति की आवश्यकता है। परन्तु सभी प्रकार के भोगो का अनुभव करता हुआ जीव भी अपने जीवन के चरम लक्ष्य की खोज करने मे व्यग्र रहता है। ज्ञान के क्रमिक विकास के साथ-साथ परम सुख को पाने के लिए, आनन्द की प्राप्ति के लिए, विविध प्रकार के दु:खों से छुटकारा पाने के लिए, जीव सदैव चेष्टा करता रहता है। अतएव उस परमानन्द की प्राप्ति के लिए, अपने स्वरूप को, अपने अन्त:करण की वृत्तियों को एव इस व्यावहारिक जगत् के सूक्ष्म पदार्थों को समझने के लिए जिज्ञासु को सब से प्रथम आन्तरिक दृष्टि करना भी नितान्त आवश्यक है। अतएव अपनी शरीर-यात्रा के लिए अत्यन्त आवश्यक क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य सभी बाह्य क्रियाओं से अपने मन को हटा कर उसे साक्षात् या परम्परा या जीवन के परम लक्ष्य के चिन्तन मे लगाना चाहिए। जीवन के चरम लक्ष्य को तथा दर्शन-शास्त्र के तत्त्वों को अच्छी तरह समझने के लिए परिशुद्ध अन्त:करण की आवश्यकता होती है। अतएव हमें बहिर्मुखी भावनाओं से अपने मन को हटा कर, आधुनिक जगत् के वातावरण से पृथक् होकर, केवल तत्त्वजिज्ञासु के रूप मे भारतीय दर्शन की विचारधाराओं के क्रमिक विकास तथा ज्ञान और विज्ञान के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव करने के लिए तत्त्व-ज्ञान के मार्ग का पथिक बनना चाहिए।

जीव की बहिर्मुखी प्रवृत्ति

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की आवश्यकता

दर्शन की परिभाषा

'दर्शन' शब्द से हमें क्या समझना चाहिए, इसका विचार यहाँ आवश्यक है। 'दर्शन' शब्द 'दृश्' (देखना) धातु से करण अर्थ मे 'ल्युट्' प्रत्यय लगा कर बना है। इसका अर्थ है 'जिस के द्वारा देखा जाय'। यहाँ इतना और भी विचार करना उचित है कि 'देखा जाय' इस पद का साक्षात् अर्थ 'ज्ञान प्राप्त किया जाय' भी हो सकता है, या नही। ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक उपाय है, किन्तु सब से निश्चित, अर्थात् विश्वसनीय उपाय है, 'प्रत्यक्ष' (आँख से देखना)। प्रत्यक्ष के भी इन्द्रियो के भेद से पाँच भेद है, जिनमें चक्षुरूप इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वही ज्ञान सब से बढ कर प्रामाणिक होता है। इसलिए जहाँ ज्ञान की प्रामाणिकता और दृढता के सम्बन्ध मे विशेष जोर देना है वहाँ 'दर्शन' शब्द का ही प्रयोग उचित है और 'जिसके द्वारा देखा जाय'

दर्शन शब्द का अर्थ

अर्थात् जो आँख से देखा जाय, यही उसका साक्षात् अर्थ करना उचित है। देखना चक्षु के ही द्वारा हो सकता है, अन्य इन्द्रियो से नही।

कुछ लोगो का कहना है कि प्राकृतिक या बौद्धिक या आध्यात्मिक जगत् के बहुत से तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। उन्हे चक्षु के द्वारा देखना असभव है। इसलिए 'दर्शन' शब्द का 'ज्ञान प्राप्त किया जाय' यही अर्थ करना उचित है। प्रतिवादी का कहना कुछ अश मे तो सत्य है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के पदार्थ दर्शन-शास्त्र के विषय है और परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए दोनों का साक्षात्कार आवश्यक है। इसलिए चार्वाक, न्याय, वैशेषिक आदि स्थूल दृष्टि वाले दर्शनो मे स्थूल पदार्थों के तथा सांख्य, योग वेदान्त आदि सूक्ष्म दृष्टि वाले दर्शनो मे सूक्ष्म पदार्थो के देखने के लिए उपाय कहे गये है। किन्तु यहाँ यह कह देना उचित होगा कि सूक्ष्म पदार्थो के देखने के लिए प्रत्येक मनुष्य में एक विशेष चक्षु होता है, जिसे साधारणतया 'प्रज्ञाचक्षु', 'ज्ञानचक्षु', आदि लोग कहते है। गीता मे भी विश्वरूप को देखने के लिए भगवान् ने अर्जुन को 'दिव्यचक्षु' ही दिया था। बहुत ही तपस्या करने पर, या भगवान् के अनुग्रह से, इस का उन्मीलन होता है और जब एक बार यह चक्षु खुल जाता है तो फिर उस व्यक्ति को इस चक्षु के द्वारा सभी सूक्ष्म पदार्थ हथेली पर आँवले की तरह प्रत्यक्ष देख पड़ते है। 'दर्शन' के लिए हमें दोनो प्रकार के चक्षुओ की अपेक्षा होती है। स्थूल तत्त्वो को स्थूल नेत्र से तथा सूक्ष्म तत्त्वो को सूक्ष्म नेत्र से हम देखते है। यही कारण है कि उपनिषदो ने 'दृश्' धातु का ही प्रयोग किया है, और यही भाव 'भारतीय दर्शन' के 'दर्शन' शब्द मे भी है। बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष के किसी भी तत्त्व का ज्ञान निश्चित रूप से नही हो सकता है।

दर्शन का प्रधान लक्ष्य

अब मन मे जिज्ञासा होती है कि 'देखा जाय', तो 'क्या देखा जाय'? उपर्युक्त प्रश्न के समाधान करने के पूर्व हमे यह विचार करना उचित है कि किसी वस्तु को देखने के लिए पहले जिज्ञासा ही क्यो उत्पन्न होती है? बिना किसी कारण के कोई भी क्रिया नही हो सकती। अत वह कौन-सा कारण है जो मनुष्य को किसी वस्तु को देखने के लिए प्रेरित करता है? यह पहले कहा गया है कि जीव सुख और दुःख के भोग करने के लिए इस ससार में आता है। दुःख से सर्वथा पृथक्

जीवन दुःखमय है

न होने के कारण वस्तुतः शुद्ध सुख इस संसार में नहीं है। अतः यह संसार केवल दुःखमय है और जितने जीव यहाँ आते है, सभी किसी न किसी प्रकार के दुःख से आजीवन चिन्तित रहते है। इस ससार में दुःख से छुटकारा किसी भी जीव को नही है। इसी के साथ-साथ यह भी सत्य है कि दुःख किसी को प्रिय नही है एवं सभी सदैव एकमात्र दुःख से छुटकारा पाने के लिए ही प्रयत्न करते रहते हैं और जब तक दुःख से सर्वथा छुटकारा नही मिल जाता, तब तक जीव का प्रयत्न चलता ही रहता है, चाहे इसके लिए जीव को अनेक बार जन्म लेना पड़े। इसी के साथ-साथ

जीवन का चरम लक्ष्य

यह भी निश्चित है कि जिस क्षण जीव को दुःख से सर्वथा एवं सदा के लिए छुटकारा मिल जायगा, उसी क्षण जीव की समस्त क्रियाएँ स्थगित हो जायँगी तथा वह जीव सदा के लिए जन्म और मरण से मुक्त हो जायगा। यही जीव का चरम लक्ष्य है, यही दर्शन-शास्त्र का परम तत्त्व है, जिसके स्वरूप के प्रतिपादन के लिए एवं जिस पद की साक्षात् अनुभूति के लिए भारतीय दर्शनों का प्रतिपादन किया गया है।

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि हमारे 'जीवन' का तथा 'भारतीय-दर्शन' का परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। ये दोनों ही एक ही लक्ष्य को सामने रख

जीवन और दर्शन का सम्बन्ध

कर एक ही मार्ग पर साथ-साथ चलने वाले दो पथिक हैं। इन दोनो की सत्ता एक ही कारण पर निर्भर है। उस चरम तत्त्व का सैद्धान्तिक रूप हमे दर्शन-शास्त्रों मे मिलता है, किन्तु व्यावहारिक रूप तो अपने जीवन मे ही मिलता है और ये दोनों ही रूप मिल कर हमे उस परम तत्त्व के पूर्ण रूप का अनुभव कराते है। दुःख का आत्यन्तिक नाश या जन्म और मरण से सदा के लिए मुक्त होना ही तो सभी का चरम लक्ष्य है। अतएव जितने कार्य, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े, हम करते हैं, वे सब इसी एकमात्र लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही करते हैं। इसी प्रकार हमारे दर्शनों में जितनी बाते कही गयी है वे सब एकमात्र इसी चरम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं। इनके द्वारा ही हमें उस परम पद का साक्षात्कार होता है। इसी लिए इन को हम 'दर्शन' या 'दर्शन-शास्त्र' कहते हैं।

उपर्युक्त कथन को उदाहरण के द्वारा समझाना अनुपयुक्त न होगा। जब से जीव अपने पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग इस संसार में आरभ करता है, अर्थात् माता के गर्भ मे प्रवेश करता है, उसी समय से उस जीव का एक-

मात्र ध्येय है सुख-प्राप्ति और दु ख-निवृत्ति। गर्भ मे प्रवेश करते ही जिन वस्तुओ को वह जीव नही पसन्द करता, उन्हे यदि माता खाती है, तो उससे वह जीव व्याकुल हो जाता है और माता को भी कष्ट देता है। वाह्य-जगत् के मेघ के अत्यन्त कठोर गर्जन को सुनकर गर्भ मे रहने वाला जीव चौंक पडता है और बहुत कष्ट का अनुभव करता है। गर्भ से वाहर होते ही वाय की अगुलियो का कठोर स्पर्श, सूर्य का तीक्ष्ण प्रकाश, वायु का प्रवल वेग, आदि के सम्पर्क मे इस जन्म मे प्रथम बार आने के कारण तथा भूख-प्यास से उसका कोमल शरीर दु ख पाता है और रो-रो कर वह जीव उन दु ख को प्रकट करता है। इनका प्रतीकार होने पर उसे सुख मिलता है और वह शान्त हो जाता है। जीवन-यात्रा मे अग्रसर होने के साथ-साथ उस जीव की आकाक्षाएँ भी बढने लगती है, अर्थात् जिन वातो से कुछ ही दिन पूर्व उसे आनन्द मिलता था, उनसे अव उसे आनन्द नही मिलता और उनसे अधिक आनन्द देने वाले पदार्थो को पाने के लिए उसकी इच्छा होने लगती है और उन्ही के लिए वह तव चेष्टा करता है। जव तक वे पदार्थ उसे नही मिलते, तव तक उसे चैन नही पडता। उस जीव को अब केवल लेटे रहने से आनन्द नही मिलता, अव वह खिसक कर अपने हाथ-पैर को चला कर आनन्द पाना चाहता है। क्रमश. आकाश के चन्द्र को देख कर या सुन्दर मिट्टी के खिलौने से उसे अव आनन्द नही मिलता है, वह तो किसी चिरस्थायी आनन्द देने वाले पदार्थ की खोज मे व्यग्र रहता है। अपनी प्रत्येक साधारण से साधारण क्रिया मे वह आनन्द ढूँढता रहता है, जिसमे उन वस्तुओ को न पाने के कारण जो उसके मन मे दु ख है, उसका नाश हो। साथ ही साथ वह जीव भिन्न-भिन्न आनन्दो मे तारतम्य का अनुभव करता रहता है। जिस क्रिया मे जीवन को थोडा-सा अधिक आनन्द मिलता है या मिलने की आशा होती है, उसी को पाने के लिए वह जीव चेष्टा करता रहता है। इस प्रकार जीवमात्र किसी न किसी दु ख मे पीडित होकर, उससे छुटकारा पाने के लिए और आनन्द को प्राप्त करने के लिए सदैव चिन्तित रहता है और जव तक दु ख से सब दिन के लिए छुटकारा नही पाता तथा परमानन्द की प्राप्ति उसे नही होती तव तक वह इस भवचक्र मे घूमता ही रहता है और जन्म-मरण के पाश से छुटकारा नही पाता।

यही वाते दर्शन-शास्त्र के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। दर्शन-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक दर्शन मे कहे गये तत्त्वो के ज्ञान को प्राप्त करने मे भी जीव उसी परम आनन्द को ढूंढता रहता है। जिस प्रकार कोरक से क्रमश फूल का विकास होता

है, उसी प्रकार मूढ़ अवस्था से क्रमशः ज्ञान का भी विकास होता है। खान में छिपे हुए रत्न का कुछ भी मूल्य नही होता, किन्तु शाण पर चढ़ाकर उसके स्वरूप को क्रमशः विकसित करने से वही रत्न अमूल्य हो जाता है। ज्ञान की मूढ़ावस्था से आरम्भ कर, जिसका विवेचन करने वाले 'चार्वाक' कहलाते हैं, क्रमशः उस परपरा की अनेक सीढियों को पार करने के पश्चात् वही ज्ञान पूर्ण विकसित होकर परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर **'एकमेवाद्वितीयं नेह नानाऽस्ति किञ्चन', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'**, आदि उपनिषद् के वाक्यो मे कहा गया अद्वितीय तत्त्व हो जाता है, जिसका शंकराचार्य ने तथा काश्मीरीय शैव-दर्शन ने प्रतिपादन किया है। इस अद्वितीय तत्त्व अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर वह जीव अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। यही है जीवात्मा तथा परमात्मा का अभेद। किसी घर की चारो दिवालो के गिर जाने से जिस प्रकार घर के अन्दर घिरा हुआ आकाश घर के बाहर के आकाश के साथ एक हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा के अविद्यारूपी आवरण के दूर होने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ एक हो जाता है और 'पूर्ण', या 'अखण्ड' कहा जाता है, और तब इन दोनों मे जो अविद्या के कारण भेद रहता है उसका नाश हो जाता है। इस अखण्ड एव पूर्ण स्वरूप का नाश नही होता। इस अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् जीव का कभी अध पतन नही होता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीवन तथा दर्शन दोनों का मुख्य उद्देश्य एक ही है और वह है 'परमानन्द' या उसकी प्राप्ति। इसे ही चरम दु.ख-निवृत्ति या 'मोक्ष' कहते हैं। इसी को परमात्मा, परब्रह्म, आत्मा या ब्रह्म कहते है। यही है 'देखने का विषय'। अतएव श्रुति मे कहा गया है—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।'**

परम तत्त्व को देखने का उपाय

दुःखनाश के साधन

इसलिए संसार के लौकिक तथा वैदिक साधनो से दु.ख की चरम निवृत्ति को न पाकर दु.ख के नाश के अन्य साधनों को ढूँढता हुआ जिज्ञासु जब किसी ज्ञानी से पूछता है कि वह कौन-सी वस्तु है जिसके देखने से, अर्थात् पाने से सब दिन के लिए दु.ख से छुटकारा मिल जाता है ? तो उसके उत्तर मे ज्ञानी कहता है—'अरे ! आत्मा को देखो', और उसके देखने का उपाय है 'श्रवण', 'मनन' तथा 'निदिध्यासन'। तत्त्वज्ञानी से, या श्रुतियो के द्वारा, आत्मा के सम्बन्ध मे सभी बाते अनेक बार सुननी चाहिए। पूर्व-जन्म या इस जन्म की साधना के कारण जिस किसी का अन्त करण भाग्यवश परिशुद्ध हो गया

हो और उसमे पूर्ण श्रद्धा हो, तो उसे उसी क्षण परम तत्त्व की प्राप्ति हो जायगी। विलम्ब होने का तो कोई कारण ही नही है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है—**'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'**। किन्तु ऐसे श्रद्धालु अत्यन्त विरल है। अतः श्रुति के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में सुनी हुई बातो के ऊपर युक्तियों के द्वारा 'तर्क' करना चाहिए। कुतर्कों से दूर रहना चाहिए। श्रुति के द्वारा सुनी हुई बातो को सत्तर्क से प्रमाणित करना चाहिए और जब श्रवण तथा मनन इन दोनो साधनो के द्वारा जिज्ञासु एक ही निर्णय पर पहुँचता है तभी ज्ञानी के उपदेश में उसे विश्वास होता है और जिज्ञासु अपनी खोज मे विश्वासपूर्वक अग्रसर होता है।

परम तत्त्व के साक्षात्कार से मुक्ति

परन्तु यह पहले भी कहा गया है कि वस्तुत 'प्रत्यक्ष' ही एकमात्र प्रमाण है जिसके द्वारा हमे यथार्थ मे परम तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है। 'तर्क' भले ही युक्तियो से समर्थित हो, फिर भी 'तर्क' तो केवल 'वुद्धि' पर निर्भर है। वुद्धि की इयत्ता न होने के कारण किसी भी तर्क को एक अन्य सूक्ष्म तर्क करने वाला व्यक्ति अपनी सूक्ष्म वुद्धि के वल से खण्डन कर उसे अप्रमाणित सिद्ध कर सकता है और उसके स्थान मे भिन्न प्रकार के दूसरे सिद्धान्तो की स्थापना कर सकता है। इस वात को प्रमाणित करने के लिए पाश्चात्य देश के वैज्ञानिक या दार्शनिक, तर्कमात्र पर स्थिर किसी भी सिद्धान्त को हम ले सकते है, जो केवल तर्क के ऊपर निर्भर होने के कारण एक के बाद दूसरे तार्किको से खण्डित कर दिया गया है और अब भी खण्डित किया जाता है। न्यूटन के ऐटोमिक सिद्धान्त का आज क्या स्थान है और कौन कह सकता है कि आइनस्टाइन के भी सिद्धान्त कव तक अपने स्थान को स्थिर रख सकते है? जिस दिन कोई इनसे अधिक वुद्धिमान् तार्किक उत्पन्न होगा, सम्भव है, वह अपनी तीक्ष्णतर वुद्धि से पहले के सिद्धान्तों को अप्रमाणित सिद्ध कर एक दूसरा ही सिद्धान्त उनके स्थान मे स्थापित कर दे। इससे यह स्पष्ट है कि केवल 'तर्क' के द्वारा किसी वास्तविक परम तत्त्व तक पहुँचने मे हम समर्थ नही हो सकते। इसीलिए कठोपनिषद् मे कहा गया है—

'नैषा तर्केण मतिरापनेया'

इसी वात को भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे कहा है—

'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥'

यही सिद्धान्त 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इत्यादि ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भी प्रतिपादित किया है।

उपर्युक्त कथन से यह निश्चित कर लेना कि परम तत्त्व के साक्षात्कार के लिए 'तर्क' का कोई भी प्रयोजन नही है, अत्यन्त अनुचित है। 'तर्क' का एक स्वतंत्र स्थान है। उसके द्वारा प्रमाणो की पुष्टि होती है। इसलिए श्रवण और मनन के द्वारा प्राप्त सिद्धान्त का 'निदिध्यासन', अर्थात् 'सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा परीक्षा' या साक्षात्कार कर लेना परम आवश्यक है। यदि उपर्युक्त तीनों साधनो के द्वारा एक ही निर्णय पर हम पहुँचें, तो उस निर्णय को हमें प्रामाणिक मानना चाहिए। इन्हीं तीनों उपायों के द्वारा हमें आत्मा का दर्शन या साक्षात्कार होता है और तभी हम अपने जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचते हैं। यही तो भारतीय दर्शन-शास्त्र का भी परम ध्येय है। इन्ही तीनों साधनों को हम क्रमशः 'आगम' या 'आप्तवाक्य', 'तर्क' तथा साक्षात् 'अनुभव' कहते हैं।

तर्क की आवश्यकता

अधिकारी बनने की आवश्यकता

ऊपर कहा जा चुका है कि दर्शन का परम ध्येय है—परमानन्द की प्राप्ति। क्या सभी सब अवस्थाओं में इसकी प्राप्ति कर सकते है? उत्तर में यह कहना पड़ता है कि सभी जीव इसकी प्राप्ति करने के 'अधिकारी' नही हैं। प्राप्त करना तो बहुत दूर है, दुःख से व्याकुल रहने पर भी साधारण तौर पर भी लोगो की दृष्टि इस परम पद की ओर नही जाती। विरले ही ऐसे भाग्यवान् हैं जो इस पद को पाने के लिए प्रयत्न करते हैं। यही बात कठोपनिषद् में कही गयी है—

अधिकारी को ज्ञान या परमानन्द की प्राप्ति

'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः'

अतएव उस परम पद को पाने के लिए हमें उसका 'अधिकारी' बनना चाहिए। जब तक जीव वास्तविक अधिकारी नही बनेगा, तब तक उस ज्ञान की प्राप्ति वह नही कर सकता। उसकी रक्षा करना तो दूर की बात है। जिस प्रकार अच्छी तरह परिष्कृत किये हुए खेत में ही बीज बोया जाता है, और फिर सभी खेत सभी प्रकार के बीज के लिए उपयुक्त भी नही होते, तथापि यदि बलात् एक अनुपयुक्त खेत में बीज बोया जाय तो उसमें अकुर ही न निकलेगा, उसी प्रकार साधक

के लिए सर्वप्रथम अपने अन्त करण को परिशुद्ध करना अन्यन्त आवश्यक है। परिशुद्ध तथा योग्य अन्त करण मे ही जिज्ञासु बीजरूपी उपदेश को धारण करने मे समर्थ हो सकता है और तभी उससे लाभ उठा सकता है, अन्यथा ज्ञानी के उपदेश ऊसर भूमि मे बोये हुए बीज के समान नष्ट हो जायँगे। अधिकारी बनने के नियमो का पालन करने से जीव राग-द्वेष आदि दोषो से विमुक्त होकर परम तत्त्व को पाने का अधिकारी हो जाता है। अधिकार के अनुसार ही उपदेश देने से या शास्त्र की बातो को समझाने से, जिज्ञासु को वास्तविक लाभ होता है, उपदेश भी निरर्थक नही होता एव उपदेश देनेवाले ज्ञानी को भी सन्तोष होता है। दिन-रात एक साथ रहते हुए भी भगवान् ने कुरुक्षेत्र की समर-भूमि मे उपस्थित होने के पूर्व, अधिकारी न रहने के कारण ही, अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश न दिया। युद्ध के क्षेत्र मे खड़े हुए अर्जुन ने जब अपने अहकार का परित्याग कर '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**'—भाव को भगवान् के प्रति प्रकट किया, अर्थात् वस्तुत अधिकारी बने तभी भगवान् ने अर्जुन को पारमार्थिक तत्त्व का उपदेश किया।

आक्षेप और उनका परिहार

भारतीय दर्शन का लक्ष्य

हमारा वर्त्तमान जीवन कितना भी घृणित और दु.खी क्यो न हो, फिर भी हम सन्मार्ग पर चलते हुए जिस प्रकार अपने भविष्य के जीवन को उज्ज्वल और सुखमय बनाने की आशा करते है और इसी कारण विविध धार्मिक कार्य करते है, उसी प्रकार भारतीय दर्शन ससार के दु खमय जीवन से विरक्ति को दिखाता हुआ क्रमश. भविष्य के प्रकाश और आनन्दमय अवस्था के मार्ग मे हमे अग्रसर करता है। ज्यो-ज्यो इस मार्ग मे हम अग्रसर होते है, त्यो-त्यो हमारे अन्त करण का अनादि कर्म और वासनाओ से उत्पन्न मल दूर होता जाता है और क्रमश. ज्ञान विकसित होने लगता है तथा परम आनन्द का आभास मिलने लगता है।

इस मार्ग मे निराशा का कोई स्थान नही है, प्रयत्न मे विफल होने की कोई आशका नही है तथा एक जन्म मे प्रयत्न करने पर भी परम पद की प्राप्ति नही हुई और बीच ही मे मर गये तथा जो कुछ प्राप्त किया था वह भी चला गया, अग्रिम जन्म मे पुन. इसी जन्म की तरह दु खी होना पड़ेगा, इत्यादि दुर्भावनाओ का भी कोई स्थान नही है। अपने अधिकार के अनुसार साधन के द्वारा जो कुछ ज्ञान

जीव एक जन्म मे प्राप्त कर लेता है, उसका नाश मरने से नही होता। वह ज्ञान तो जीवात्मा के साथ-साथ एक जर्जर शरीर को छोड़ कर दूसरे नवीन शरीर मे चला जाता है और दूसरे जन्म मे वह जीव पूर्व जन्म के उस सचित ज्ञान के आगे ज्ञान के मार्ग में अग्रसर होता है। यह तो ज्ञानियो का अनुभूत विषय है। भगवान् ने भी गीता मे कहा है—

'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गति तात गच्छति' ।
'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन' ॥(६।४३)

अन्धविश्वास

कुछ लोगों का आक्षेप है कि भारतीय दर्शन मे 'अन्धविश्वास' का ही प्राधान्य है और दार्शनिक विद्वान् आँख मूंद कर जो कुछ वेद या अन्य प्राचीन ग्रन्थो मे लिखा है, उसे ही मानना अपना ध्येय रखते है। उससे थोडा-सा भी विचलित होना परम अनुचित समझते है। अतः भारतीय दर्शन मे मौलिकता नही है और न कही युक्ति का ही स्थान है।

यह आक्षेप निर्मूल है। पहले कहा गया है कि दार्शनिक तत्त्वों को समझने के साधन श्रवण, मनन और निदिध्यासन है। इन तीनो मे 'मनन' का स्थान किसी प्रकार सकुचित नही है। श्रुति तथा तत्त्व-ज्ञानियो का साग्रह और सानुरोध आदेश है कि युक्तियों के द्वारा जब तक किसी उपदेश या आगम या आप्तवाक्य के सम्बन्ध मे पूर्ण विचार कर निर्णय न कर लिया जाय तब तक किसी भी कथन को स्वीकार न करना चाहिए। जो कुछ हमे वेद में या शास्त्र मे उपदेशरूप मे या सिद्धान्त के रूप मे मिलता है, अथवा जो कुछ हम अपने गुरु के मुख से साक्षात् सुनते है, उसे तभी स्वीकार करना उचित है जब हमे उसके तथ्य के सम्बन्ध मे कोई भी शका न रह जाय। राग, द्वेष, आवेश या दुराग्रह को छोड़कर सत्तर्क के नियमो के अनुसार उस कथन पर पूरा विचार करना चाहिए। हाँ, इसमे एक बात है कि पाश्चात्य दार्शनिको की तरह हम केवल तर्क पर ही निर्भर नही रह सकते, जैसा पहले कहा जा चुका है। तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली मे स्नातक को उपदेश देते हुए आचार्य कहते है—'हे स्नातक! हमने जो-जो अच्छे कर्म किये है, उन्ही का तुम अनुसरण करना। मेरे निन्दनीय कर्मों का अनुसरण कभी न करना।' क्या इससे यह स्पष्ट नही है कि जिज्ञासु को अन्ध होकर किसी सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने

से आचार्य मना करते है ? उपनिषदों के अध्ययन से हमे पता चलता है कि उपनिषदो की मुख्य देन है—'तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए अच्छे प्रकार से 'तर्क' करना'। हमारे शास्त्र मे राग-द्वेप-रहित 'तर्क' का बहुत ऊँचा स्थान हे। शास्त्रों में

तत्त्वों का साक्षात् अनुभव

सिद्धान्तरूप से तत्त्वों का प्रतिपादन तो है, किन्तु प्रत्येक जिज्ञासु के लिए साधनो के द्वारा उन तत्त्वो का साक्षात् अनुभव करना आवश्यक है। दृष्टिकोण के भेद से एक अनुभव दूसरे अनुभव से भिन्न होता है, यह तो उचित ही है।

ऋषियों के सिद्धान्तों से हमे केवल परम पद के मार्ग का पता लगता है, किन्तु ज्ञान या परम पद की प्राप्ति तथा दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति तो तभी होगी, जब

भारतीय दर्शन की प्रगतिशीलता

हम उस मार्ग पर चल कर उस परम पद का साक्षात् अनुभव प्राप्त करे। श्रुतियो मे कहा गया है कि 'आत्मा' व्यापक, नित्य, चित् और आनन्द है। जिज्ञासु इसे प्रतिज्ञा-वाक्य की तरह स्वीकार कर उसका साक्षात्कार करने के लिए आगे बढ़ता है। इस प्रक्रिया से इतना लाभ होता है कि जिज्ञासु प्रत्येक पद पर स्वयं समझ सकता है कि वह कितना अग्रसर हुआ है और कितनी दूर अभी और उसे जाना है, अन्यथा वह केवल विचार-समुद्र मे तथा निविड़ अन्धकार में भटकता ही रह जायगा और किसी निश्चित तत्त्व का कुछ भी पता न लगा सकेगा। इस प्रकार यह देखा जाता है कि प्रत्येक भारतीय दर्शन पूर्ण 'प्रगतिशील' होता हुआ भी ज्ञान-मार्ग मे स्थिर होकर अपने अधिकार के अनुसार क्रमश. आगे बढता है।

दर्शनों का वर्गीकरण

अनादि काल से संसार मे दु ख है और दु.ख की निवृत्ति के लिए बड़े-बड़े ऋषियों ने बहुत तपस्याएँ की है। बाह्य और आभ्यन्तर साधनो के द्वारा ज्ञानी लोग अपनी-

दर्शन-शास्त्र का स्वरूप

अपनी तपस्या मे सफल भी हुए है। परम तत्त्व के ज्योतिर्मय स्वरूप का उन लोगो ने साक्षात्कार किया है। अपने-अपने अनुभवो को शब्दो के द्वारा लोगो के कल्याण के लिए उन्होने अपनी शिष्य-परम्परा को सिखलाया है। एक व्यक्ति-विशेष की दृष्टि के अनुसार जिस शास्त्र या ग्रन्थ में परम तत्त्व का साक्षात् प्रतिपादन किया गया हो तथा उस अनुभूति के साधन-मार्ग का निर्देश किया गया हो, वही एक 'दर्शन-शास्त्र' है। जिस व्यक्ति-विशेष ने अपनी दृष्टि से जिस स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया, वह दृष्टि-

कोण तथा उसका साधन उस व्यक्ति-विशेष के या उस साधन के नाम से सम्बद्ध हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

ऋषियों की ये अनुभूतियाँ व्यक्तिगत होने के कारण भिन्न-भिन्न होती हैं। ये भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से अनुभूत हैं। परन्तु हैं तो सभी एकमात्र परम तत्त्व के सम्बन्ध की; अतएव इनको समन्वय की दृष्टि से देखने से इनमे एक प्रकार से सोपान-परम्परा के रूप मे परस्पर सम्बन्ध देख पड़ता है। ये विभिन्न अनुभूतियाँ हमे उपनिषदों में मिलती हैं।

दर्शनों में समन्वय

उपनिषद् ही भारतीय ज्ञान का तथा दार्शनिक विचारधाराओं का मूल ग्रन्थ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जिज्ञासु लोग अपनी-अपनी शंकाओं को लेकर ऋषियों के समीप आते थे और ऋषि लोग एक-एक करके उनकी शंकाओं को तर्क-वितर्क तथा अपनी अनुभूतियों के द्वारा दूर कर देते थे, तभी परम तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का परिचय उन लोगो को मिलता था। ये विचारधाराएँ उपनिषदों के विषय हैं, ये ही उनकी विशेषताएँ हैं। ये शंकाएँ तथा इनके समाधान किसी एक क्रम से नही होते थे। इसलिए उपनिषदों मे परवर्ती शास्त्रो की तरह कोई भी विचारधारा हमें एक किसी क्रम से नही मिलती। तत्त्व के स्वरूप का विभिन्न रूप से, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से, प्रतिपादन तो सभी उपनिषदो में हमें मिलता है।

उपनिषदों की विशेषता

माया की विक्षेप-शक्ति का विस्तार प्रायः उन दिनों इतना अधिक नही था। अतएव जिज्ञासुओं का अन्त.करण इतना मलिन न था जितना प्रायः आधुनिक काल में है। यही कारण मालूम होता है कि उपनिषदों के समय मे जिज्ञासुओं को तत्त्व के सभी स्वरूपों को स्वयं समझने मे कोई विशेष बाधा न होती थी। वे उन्हें आसानी से समझ लेते थे। अतएव उपनिषदों में सभी विचार-धाराओ के रहने पर भी विचारो के क्रमबद्ध वर्गीकरण की अपेक्षा न हुई। उन्हे तत्त्व के सम्बन्ध में भिन्न दृष्टि से किये गये आक्षेपों के समाधान करने का तथा प्रतिपक्षियों के साथ तर्क-वितर्क करने का कोई विशेष अवसर न मिला। इसलिए उपनिषदों मे कहे गये तत्त्व के स्वरूपो का विश्लेषण कर भिन्न-भिन्न क्रम से पृथक्-पृथक् उनके वर्गीकरण का प्रयोजन पहले नही हुआ। विषयों का वर्गीकरण तभी होता है, जब उनके समझने मे कठिनाई होती है अथवा अन्य भी कोई प्रयोजन हो। जिस प्रकार घर में अनेक प्रकार के

दर्शनों के वर्गीकरण की आवश्यकता

युद्ध की सामग्री के रहने पर भी कोई युद्ध-काल के बिना उन वस्तुओं को एक क्रम से सुसज्जित नही करता और सभी सामग्री बिना किसी क्रम के अनेक स्थानो मे पड़ी रहती है, उसी प्रकार विभिन्न दृष्टिकोण से साक्षात् देखे हुए हमारे सभी तत्त्व तब तक उपनिषदों में ही छिन्न-भिन्न रूप मे पड़े थे, जब तक कि प्रतिपक्षियो का सामना हमे नही करना पड़ा।

प्रतिपक्षियों के कारण वर्गीकरण

किन्तु यह परिस्थिति बहुत दिनों तक न रह पायी। एक तो क्रमश. जिज्ञासुओं की भी बुद्धि मलिनतर हो चली थी तथा साथ-साथ बड़े कट्टर और तर्क-प्रवीण प्रतिपक्षियों का उदय हुआ। वेद के ऊपर आक्षेप होने लगे। वैदिक धर्म के विरुद्ध जनता में उपदेश दिये जाने लगे। प्रलोभन में पड़ कर समाज विचलित हो चला। इन विघ्नो को देख कर समय के अनुकूल वेद तथा वैदिक धर्म की रक्षा के लिए उपनिषदों में से तत्त्वों को खोज कर आक्षेपों के समाधान के लिए भिन्न-भिन्न सामग्री एकत्र की गयी। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से तत्त्वों को शृंखलाबद्ध करने का प्रयत्न होने लगा। तत्त्वों के विचारों को समन्वय की दृष्टि से, सोपान-परम्परा के रूप में शृंखलाबद्ध बना कर, प्रतिपक्षियों के साथ तर्क-वितर्क करने के लिए सब तरह से आयोजन किया गया। ये सभी बाते एक प्रकार से पुन. उपनिषदो के पश्चात् क्रमश: देखने मे आने लगी। इस रूप मे तत्त्वों को समझने मे जिज्ञासुओ को विशेष आयास नही करना पड़ा। परवर्ती दार्शनिक सूत्रो के निर्माण का यही कारण हुआ। इसी संघर्ष के समय में दर्शनों का पुन. वर्गीकरण हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है।

उपनिषदों के पूर्व का वर्गीकरण

छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय मे नारद और सनत्कुमार के संवाद से यह स्पष्ट है कि बहुत पूर्व-काल में ही, उपनिषदो के पहले भी, शास्त्रो का वर्गीकरण अवश्य था, अन्यथा नारद शास्त्रो को पृथक्-पृथक् किस प्रकार गिना सकते थे? किन्तु उन शास्त्रो का क्या स्वरूप था इसका कुछ भी परिचय इस समय हमे नही मिलता। इस समय जितने दार्शनिक शास्त्र हैं उनका वर्गीकरण तो उपनिषदों के पश्चात् ही हुआ होगा, ऐसा अनुमान होता है। बौद्धो के साथ तर्क करने के लिए अक्षपाद गौतम ने 'न्यायसूत्र' की रचना की तथा वैदिक मन्त्रो के अभिप्राय को सुरक्षित रखने के लिए जैमिनि ने 'मीमांसा-सूत्र' की रचना की। इसी प्रकार अन्य दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थों की भी रचना हुई होगी, ऐसा मालूम होता है।

अब प्रश्न यह है कि इस वर्गीकरण में कितने और कौन-कौन-से 'दर्शन' बने ? इस सम्बन्ध में 'षड्दर्शन' का नाम हम लोग सुनते आ रहे हैं। परन्तु 'षड्दर्शन' के अन्तर्गत कौन-कौन-से दर्शन गिने जाते हैं और जा सकते हैं, इसमें किन्ही भी दो विद्वानों का एक मत नही है। दूसरी बात यह है कि यह 'षड्दर्शन' शब्द बहुत पुराना नही है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि दर्शनों की संख्या न तो कभी नियत रही और न नियत हो सकती है। जिस विद्वान् को जिन दर्शनों से प्रेम या विशेष परिचय था उन्होंने उन्ही दर्शनो को 'षड्दर्शन' के अन्तर्गत मान कर या अनियत संख्या में ही गिना कर, उनका विचार किया है। उदाहरण के लिए में कुछ विद्वानो के मतो का यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ।

दर्शनों की संख्या का निर्णय

पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्न.स्तोत्र' में साख्य, योग, पाशुपत मत तथा वैष्णव; कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में साख्य, योग तथा लोकायत; हयशीर्षपञ्चरात्र तथा गुरुगीता में गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, व्यास तथा जैमिनि; 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' में शकराचार्य ने लोकायत, आर्हत, बौद्ध (वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक), वैशेषिक, न्याय, भाट्ट और प्राभाकर मीमासा, साख्य, पतञ्जलि, वेदव्यास तथा वेदान्त; ग्यारहवी सदी के पूर्ववर्ती जयन्त भट्ट ने मीमासा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, आर्हत, बौद्ध तथा चार्वाक; बारहवी सदी के हरिभद्रसूरि ने अपने 'षड्दर्शन-समुच्चय' में बौद्ध, नैयायिक, कपिल, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनि; तेरहवी सदी के जिनदत्तसूरि ने अपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' मे जैन, मीमांसा, बौद्ध, साख्य, शैव तथा नास्तिक; चौदहवी सदी के राजशेखरसूरि ने जैन, साख्य, जैमिनि, योग (न्याय), वैशेषिक तथा सौगत; प्रसिद्ध काव्यो के टीकाकार मल्लिनाथ के पुत्र ने पाणिनि, जैमिनि, व्यास, कपिल, अक्षपाद तथा कणाद; 'सर्वमतसग्रह' के रचयिता ने मीमासा, साख्य, तर्क, बौद्ध, आर्हत तथा लोकायत; माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसग्रह' मे चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ (माध्व), नकुलीश-पाशुपत, शैव, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनि, पाणिनि, साख्य, पातञ्जल और शकर; मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तबिन्दु' तथा 'शिवमहिम्न.स्तोत्र' की टीका में न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमासा, शारीरक-मीमांसा, पातञ्जल, पञ्चरात्र, पाशुपत, बौद्ध, दिगम्बर, चार्वाक, सांख्य और औपनिषद, इन दर्शनो के सम्बन्ध मे नामोल्लेखपूर्वक विचार किया है।

दर्शनों की संख्या-परम्परा

दर्शनो की इन परिगणनाओ में न तो नामो मे और न संख्या मे ही हमें कही एक मत देख पड़ता है। ऐसी स्थिति में 'षड्दर्शन' शब्द से क्या समझा जा सकता है? वस्तुतः इस शब्द का कोई भी विशेष अर्थ नही है। एक भी प्रामाणिक सिद्धान्त इस 'षड्दर्शन' शब्द के आधार पर हम स्थिर नही कर सकते।

दर्शन-संख्या का नियम

विद्वानों के द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से स्वीकृत तर्क के नियमों के अनुसार तथा निदिध्यासन के नियमो के सहारे परम लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक, उपक्रम और उपसंहार के सहित जो विचारधारा होगी, उसीको हमारा 'दर्शन' कहा जा सकता है। हमें तो एकमात्र विषय ध्यान में रखना चाहिए कि 'जिसके द्वारा परम तत्त्व को देखा जाय', वही 'दर्शन' है। इस प्रकार दृष्टि के भेद से अनेक 'दर्शन' हो सकते है। इनकी संख्या नियत नही हो सकती है।

दर्शनो में परस्पर सम्बन्ध

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि दर्शनो का एकमात्र लक्ष्य है दुःख की परम निवृत्ति या परम आनन्द की प्राप्ति। इसके लिए एक ही मार्ग है, दूसरा नही। इसीलिए जितने दर्शन है और हो सकते है, वे सब एक ही ज्ञान के पथ है। प्रत्येक दर्शन उस मार्ग की एक-एक सीढ़ी है।

दर्शनों में समन्वय

परम पद तक पहुँचने के लिए प्रत्येक सीढ़ी को पार करना ही होगा। आगे की सीढ़ी पर पैर रखने के लिए, पैर उठाने के पूर्व, पहली सीढी पर दोनो पैरों को स्थिर कर लेना अत्यावश्यक है। एक सीढ़ी पर अपने पैरों को स्थिर करने के समय में चञ्चल दृष्टि से इधर-उधर के प्रलोभन में पड़कर यदि कोई जिज्ञासु जरा-सा भी हिल-डुल जाय, तो पैर फिसल जाने का पूरा भय है और फिर भविष्य अन्धकारपूर्ण है, इसे जिज्ञासु को कभी नही भूलना चाहिए। ये सीढ़ियाँ परस्पर सम्बद्ध है। नीचे की सीढी पर स्थित जिज्ञासु ऊपर की सीढी को देख नही सकते, किन्तु ऊपर वाले तो नीचे की सीढ़ी को आसानी से देख सकते है और उनके सम्बन्ध में विशेष आलोचना भी कर सकते है। किन्तु फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि ऊपर की सीढ़ी नीचे की सीढ़ियो के आधार पर ही तो स्थित है, अतएव ऊपर वालों को नीचे वालो का तिरस्कार करना उचित नही। नीचे के आधार को दृढ रखने के लिए तथा जिज्ञासु चञ्चल होकर आगे चलने के प्रलोभन मे फँस कर नींव को दृढ़ बनाने में असमर्थ न हो जाय, इस आशंका से नीचे की सीढ़ी पर रहने वाले भी ऊपर के सम्बन्ध में विशेष आलोचना

करें तो कोई अनुचित नहीं है, किन्तु साथ ही साथ यह न भूलना चाहिए कि जाना तो है ऊपर की सीढ़ियों पर भी।

प्रत्येक सीढी तत्त्व-ज्ञान के, अर्थात् परम पद के जिज्ञासुओं की बुद्धि का क्रमिक विकास और ज्ञान-मार्ग में पद-विन्यास का क्रम है। अपने-अपने अधिकार के अनुरूप

दर्शनों में क्रम

जिज्ञासु भिन्न-भिन्न दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों को ही अपना आपेक्षिक लक्ष्य मान लेता है और जब उस आपेक्षिक तत्त्व का साक्षात् अनुभव उस जिज्ञासु को हो जाता है, तब वह उसमें परम पद को, अपने चरम लक्ष्य को, न पाकर पुनः उसकी खोज में आगे बढ़ता है और पहले से सूक्ष्मतर तत्त्व मे पहुँचता है। इसी क्रम से यदि जिज्ञासु बढ़ता जाय तो किसी-न-किसी दिन परम पद पर पहुँच ही जायगा और उसके आगे गन्तव्य पद के न रहने के कारण, जीव वहीं स्थिर हो जायगा। वहाँ से पुनः उसे लौटने की कोई आवश्यकता नही, अत वहाँ से जीव लौटता ही नही। यही मोक्ष है, यही आनन्द है, इसे ही दु.ख की चरम निवृत्ति कहते है। यही हमारे दर्शनो का परम ध्येय है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान मे रखते हुए हमे यह मालूम होता है कि ये सभी दर्शन, चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, परस्पर सापेक्ष हैं और इन मे आगे की तरफ

दर्शनो में सापेक्षता

एक के बाद दूसरे का स्थान है। परम पद तक पहुँचने के लिए प्रत्येक दर्शन की नितान्त अपेक्षा है और ये सभी दर्शन एक ही सूत्र मे बँधे हुए हैं। एक दूसरे के बिना अपने अस्तित्व का समर्थन ही नही कर सकते। आगे की अवस्था को समझने के लिए पूर्व-पूर्व की अवस्था का पूर्ण परिचय रखना नितान्त आवश्यक है। इस

दर्शनो में दृष्टि-कोण के भेद से भेद

प्रकार प्रत्येक दर्शन का दूसरे दर्शन के साथ समन्वय है। इन सब मे कोई भी वास्तविक विरोध नही है तथापि एक दर्शन दूसरे दर्शन से अत्यन्त भिन्न है। दो दर्शन कभी भी एक ही मत का प्रतिपादन नही करते और न करना उचित ही है। फिर भी स्थूल दृष्टि वालो को दर्शनो मे जो परस्पर विरोध मालूम होता है, उसका पहला कारण है समझने वालों का 'अज्ञान' और दूसरा है 'दृष्टिकोण का भेद'। पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्न.स्तोत्र' मे दार्शनिक विचार को कितने सुन्दर शब्दो मे कहा है—

'रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।'

इन बातो से यह स्पष्ट है कि सभी दर्शनो में परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य है और परमानन्द की प्राप्ति के लिए एक दूसरे के सहायक है। इन बातो के स्पष्टीकरण के लिए एक-दो उदाहरण यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

सब से प्रथम उदाहरण के लिए 'आत्मा' के सम्बन्ध मे जो कतिपय दर्शनों का विचार है, उसे हम अपने पाठको के समक्ष रखते है। 'आत्मा' को सबसे ऊँचा स्थान लोग देते है। चैतन्य आत्मा का ही गुण या स्वरूप माना जाता है। हमारी क्रियाएँ या चेष्टाएँ सभी आत्मा के अधीन मानी जाती है। आत्मा स्वतन्त्र है, किसी के अधीन नही है। ये बाते प्रायः सभी दर्शन स्वीकार करते है। ऐसी स्थिति मे 'आत्मा' के स्वरूप का क्रमिक विकास किस प्रकार हमारे दर्शनो में, समन्वय के रूप मे एक सूत्र मे परस्पर सम्बद्ध हमे मिलता है, उसका दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

अत्यन्त मूढ़ बुद्धि वाले जीव, जिनके ज्ञान का एक प्रकार से अभी कुछ भी विकास नही हुआ है, अपने स्थूल शरीर से भी भिन्न अपने 'धन' को या 'पुत्र' को, **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** इस कथन के अनुसार, 'आत्मा' मानते है। उस धन या पुत्र की वृद्धि या सुख में अपने को सुखी तथा विघटन या दु.ख मे दु.खी मानते है, यहाँ तक कि धन के नाश होने पर या पुत्र के मर जाने पर अपने को भी मृतवत् समझते है।

चार्वाक-दर्शन के अनुयायी 'आत्मा' का पूर्ववत् पृथक् अस्तित्व न मान कर कोई तो 'स्थूल शरीर' को, कोई उससे सूक्ष्म 'इन्द्रिय' को, कोई उससे भी सूक्ष्म 'प्राण' को और कोई 'मन' को ही 'आत्मा' मानते है। इन सब के मत मे 'आत्मा' है तथा जड़ है, और भिन्न-भिन्न जड़ पदार्थों के सम्मिश्रण से उसमे 'चैतन्य' उत्पन्न होता है। जिस प्रकार कुछ द्रव्यो के एकत्र करने से उस मिश्रित पदार्थ मे एक प्रकार की मादकता-शक्ति उत्पन्न होती है, यद्यपि उस मिश्रित पदार्थ के प्रत्येक द्रव्य मे पृथक् रूप से किसी एक में भी वह शक्ति न थी, उसी प्रकार उस भौतिक पदार्थ मे चैतन्य उत्पन्न होता है। 'चैतन्य' आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप नही है। जैसे कत्था, चूना और पान के पत्तो मे प्रत्येक मे लाल रग उत्पन्न करने की शक्ति नही है, किन्तु उनके

चार्वाक-भूमि

एक विशेष प्रकार के सम्मिश्रण से लाल रग उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, तेजस्, वायु और आकाश इन पाँचो पदार्थो के एक विशेष सम्मिश्रण से 'चैतन्य' उत्पन्न हो जाता है और इस सम्मिश्रण मे विघटन होते ही उसमे चैतन्य नही रहता और वह आत्मा भी नही रहता।

जिस प्रकार कोरक से क्रमश विकसित होकर फूल बाहर देख पडता है, उसी प्रकार अन्त करण से क्रमश विकसित होकर हमे 'ज्ञान' बाहर देख पडता है। ज्ञान के क्रमिक विकास के भिन्न-भिन्न स्तर के साथ-साथ हमारे दृष्टिकोण का भी क्रमिक भेद होता है। क्रमश विकसित ज्ञान का प्रत्येक स्तर ही एक 'दर्शन' है। अतएव इन्ही स्तरो पर समन्वय की दृष्टि से विचार करने से हमे भारतीय दर्शन के पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। इन्ही स्तरो मे प्रारम्भिक अवस्था में 'चार्वाक-दर्शन' का स्थान है। यह दर्शन अपनी सीमा के अन्तर्गत स्थूल शरीर से लेकर क्रमश. सूक्ष्म की तरफ अग्रसर होता हुआ इन्द्रिय, प्राण और मनस्-पर्यन्त पहुँच सका। यही तक इस दर्शन की सीमा है। अतएव स्थूल भौतिक स्वरूप को छोड़ कर तत्त्वो के सूक्ष्म स्वरूप का विचार चार्वाक-दर्शन मे नही मिल सकता।

समन्वय-दृष्टि से भारतीय दर्शनो का ज्ञान

ज्ञान के क्रमिक विकास के साथ-साथ जिज्ञासु को चार्वाक के सिद्धान्त से सन्तोष नही होता। इस सिद्धान्त से दु ख की चरम निवृत्ति नही हो सकती। साथ-साथ उन्हे यह भी अब मालूम होने लगा कि 'आत्मा' भौतिक पदार्थ से भिन्न है। इसका अस्तित्व स्वतन्त्र है। 'चैतन्य' आत्मा का एक स्वतन्त्र विशेष गुण है, यह भूतो से उत्पन्न नही हो सकता। इन भावनाओ को लेकर जिज्ञासु जब आगे खोज करता है, तब उसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'आत्मा' एक भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है। इस स्तर पर पहुँच कर जिज्ञासु को स्वतन्त्र रूप मे आत्मा के 'सत्' रूप का प्रथम बार ज्ञान होता है। इस स्तर के प्रतिपादन करने वाले 'नैयायिक' तथा 'वैशेषिक' कहलाते है और वह दर्शन 'न्याय-वैशेषिक' दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है।

न्याय-वैशेषिक-भूमि

इतना होने पर भी कुछ ऐसी बाते है जिनमें चार्वाक के साथ न्याय-वैशेषिक का बहुत विशेष अन्तर नही मालूम होता। जैसे, द्रव्यो मे पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से चैतन्य न होने पर भी, उन्ही जड़ द्रव्यो के सयोग से चैतन्य की उत्पत्ति चार्वाक मानते है, उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक मत मे 'आत्मा' एक भिन्न द्रव्य है और 'मनस्'

भी एक भिन्न द्रव्य है। इन दोनो मे पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से चैतन्य नही है। वास्तव मे ये दोनो द्रव्य 'जड' है । फिर भी इन्ही दोनो जड द्रव्यों के संयोग से 'चैतन्य' उत्पन्न होता है। हाँ, उस 'चैतन्य' का आश्रय 'आत्मा' है। मादकता-शक्ति या पान के राग के समान यह चैतन्य भी अधिक देर नही रहता। जिस प्रकार स्थूल शरीर का नाश होने के बाद, जिसे चार्वाक 'मोक्ष' कहते है, चैतन्य नही रहता, उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक के मत मे मोक्ष की अवस्था मे आत्मा में चैतन्य नही रहता। इसीलिए श्रीहर्ष ने 'नैषधचरित' मे नैयायिकों का उपहास किया है—

'गोतमो यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।'

इसी मत के समर्थन मे किसी एक भक्त की प्राचीन उक्ति भी है—

'वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम् ।
न पुनर्वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन ॥'

सांख्य-भूमि

परम तत्त्व के जिज्ञासु को उपर्युक्त सिद्धान्तों से सन्तोष नही होता। इन तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर उसके मन मे शका होती है कि विना कारण के कार्य नही होता। यदि आत्मा और मनस् मे स्वभावत. चैतन्य नही है तो इन दोनों के सयोग से भी चैतन्य नहीं उत्पन्न हो सकता। फिर आत्मा और मनस् का सयोग होते ही आत्मा मे चैतन्य कहाँ से आता है, इसे खोजना अत्यावश्यक है। इसका पता लगाने के लिए जिज्ञासु को सूक्ष्म दृष्टि की सहायता लेनी पड़ती है। बहिरिन्द्रिय के द्वारा इसका ज्ञान किसी को नही हो सकता। सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा जिज्ञासु बौद्धिक (Psychic) जगत् मे प्रवेश करता है। वहाँ उसे स्पष्ट देख पड़ता है कि जिसे अभी तक, अर्थात् न्याय-वैशेषिक-भूमि मे वह 'आत्मा' समझता था, वास्तव मे वह प्रकृति के सत्त्वगुण का एक विकार है, जिसे 'वुद्धि' या 'महत्' कहते है। यह बहुत शुद्ध है इसलिए 'चैतन्य' का प्रतिविम्ब, जो परम तत्त्व से आता है, इस पर स्पष्ट पड़ता है और इसके प्रभाव से यह 'वुद्धि' चेतन की तरह मालूम होती है। वस्तुत. चैतन्य तो एक भिन्न पदार्थ है जिसे 'पुरुष' कहते है। यह त्रिगुणातीत और निर्लिप्त है। वास्तव में यही चैतन्य 'आत्मा' कहा जा सकता है और 'वुद्धि', जिसे स्थूल दृष्टि वाले 'आत्मा' समझते है, 'प्रकृति' का सात्त्विक विकार मात्र है और जड है।

यही साख्य-दर्शन का क्षेत्र है। न्याय-वैशेषिक के जगत् से यह जगत् सूक्ष्म है और इसके अधिकाश तत्त्व चैतन्य से प्रतिविम्वित वुद्धि के द्वारा जाने जाते है।

यहाँ इतना स्मरण करा देना अनुचित न होगा कि चार्वाक ने 'आत्मा' के स्वतन्त्र अस्तित्व को नही माना, न्याय-वैशेषिक ने सब से प्रथम इसका पृथक् अस्तित्व सिद्ध कर 'आत्मा' का 'सत्' होना जगत् को बताया और पश्चात् सांख्य ने उसके 'चित्' अश का स्पष्टीकरण किया। यही ज्ञान के क्रमिक विकास का एक उदाहरण है। सास्य-दर्शन का चरम सिद्धान्त है—'विवेक-बुद्धि के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति, अर्थात् 'प्रकृति' और 'पुरुष' मे अज्ञान के कारण जो विपरीत बुद्धि थी उसे दूर कर, पुरुष को प्रकृति के प्रभाव से मुक्त कर उसे अकेला कर देना ही' सांख्य का चरम उद्देश्य है। इसी को **'विवेक-ख्याति'** भी कहते हैं। इससे दु:ख की निवृत्ति होती है। इस अवस्था में वास्तव मे रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर सत्त्वगुण अकेले पुरुष के साथ रह जाता है। इसी कारण कैवल्य प्राप्त करने पर भी अपने स्वरूप मे स्थित द्रष्टा के समान 'पुरुष' प्रकृति को देखता है। **'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः'**—(सांख्यकारिका ६५) यह 'देखना' सत्त्वगुण का धर्म है। रजोगुण तथा तमोगुण से एक प्रकार से स्थूल रूप में अलग हो जाने के कारण इस सत्त्वगुण को 'शुद्धसत्त्व' या 'खण्डसत्त्व' कहते है। इसी सत्त्वगुण के संपर्क मे रहने के कारण अभी भी पुरुष (आत्मा) के वास्तविक अखण्ड और अद्वितीय स्वरूप का ज्ञान जिज्ञासु को नही हुआ है। परन्तु यह अद्वितीय स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करना साख्य की भूमि के वाहर है। उसके लिए और भी सूक्ष्म स्तर मे प्रवेश करना आवश्यक है।

यही 'शुद्धसत्त्व' अब 'माया' के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। यह भी तीनों गुणो से युक्त है। 'शाकर वेदान्त' मे इसे 'विशुद्ध-सत्त्वप्रधाना माया' कहा है। इसके प्रभाव से अभी भी परम तत्त्व का वास्तविक स्वरूप ढका हुआ है। यह माया विचित्र है। न तो यह परम पुरुष 'ब्रह्म' के समान 'सत्' है और न खरहे के सीग की तरह 'असत्' है। इसलिए शाकर वेदान्त मे इसे 'अनिर्वचनीय' कहा है। यह अपने वैचित्र्य के कारण समस्त जगत् की सृष्टि करती है। ऐसी स्थिति मे भी यह शकर के अद्वैत मे बाधा नही करती। यह शंकर के लिए भले ही ठीक हो, परन्तु जिज्ञासु इस 'माया' के प्रभाव से 'ब्रह्म' के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करने मे समर्थ नही होता और इसी लिए दु ख से आत्यन्तिक निवृत्ति भी उसे नही मिलती है। अतएव वह इससे छुटकारा पाने के लिए 'माया' को अच्छी तरह से समझने के लिए और भी सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म जगत् मे प्रवेश करता है।

शांकर वेदान्तभूमि

विशेष खोज करने पर जिज्ञासु को यह मालूम हो जाता है कि 'कला', 'विद्या', 'राग', 'काल' तथा 'नियति' इन पाँच तत्त्वों से 'माया' घिरी हुई है। ये माया के 'कञ्चुक' कहे जाते हैं। इनका भेद करने पर 'माया' से छुटकारा मिलता है और ब्रह्मरूप 'पुरुष' तब 'शुद्धविद्या' के रूप में रह जाता है। इस अवस्था मे 'पुरुष' अपने को सूक्ष्म प्रपञ्च के साथ बराबर का समझने लगता है, जैसे 'मैं यह हूँ'। यहाँ 'मैं' और 'यह' दोनों बराबर महत्त्व के हैं। अभी भी द्वैत स्पष्ट है। अतएव जिज्ञासु अद्वैत की खोज में पुन अग्रसर होता है। इसके अनन्तर वह पुरुष उस सूक्ष्म प्रपञ्च के साथ तादात्म्य बोध करता है और 'यह मैं हूँ', ऐसा जीव को अनुभव होने लगता है। इस परिस्थिति मे 'यह' को प्राधान्य दिया गया है। इस अवस्था मे उस पुरुष या आत्मा को 'ईश्वरतत्त्व' कहते हैं। अब धीरे-धीरे 'यह' अंश 'मैं' मे लीन हो जाता है और 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति जीव की रह जाती है। फिर भी द्वैत का भान स्पष्ट है—'मैं' और 'हूँ'। इस अवस्था को 'सदा शिवतत्त्व' कहते हैं।

काश्मीरीय शैवदर्शन-भूमि

अब इस 'हूँ' को भी दूर करना आवश्यक है। इसके अनन्तर जिज्ञासु इससे भी सूक्ष्म भूमि मे प्रवेश करता है तो उसे केवल 'अहं प्रत्यय' अर्थात् 'मैं' देख पडता है। इसे 'शक्ति-तत्त्व' कहते हैं। इसी अवस्था मे परम तत्त्व का उन्मीलन होता है और जिज्ञासु को 'परम तत्त्व' के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। यही आत्मा के 'आनन्द' रूप का प्रथम बार भान होता है। यही शक्ति और शक्तिमान् की मिलनावस्था है। यह अवस्था द्वैत है या अद्वैत, यह कहना कठिन है। यह द्वैत भी है और अद्वैत भी है। यही परम पवित्र और परिशुद्ध केवल 'आनन्द' का बोध होता है। जिस समय 'आनन्द' का बोध होता है उस समय तो 'द्वैत' है, किन्तु जिस समय बोध नही रहता, वह अवस्था 'अद्वैत' है। इस आनन्द का आस्वादन मात्र होने पर भी उसका पता किसी को नही रहता। यह परम शान्त अवस्था है। अन्त मे यह भी अवस्था परम तत्त्व मे लीन हो जाती है और उसका 'परम शिवतत्त्व' के नाम से काश्मीरीय शैव-दर्शन मे विचार किया गया है।

यहाँ पहुँच कर जिज्ञासु की जिज्ञासा की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति भी हो जाती है। यही 'गन्तव्य पद' है। यही 'परम तत्त्व' है और दर्शन-शास्त्र का तथा जीवन का चरम लक्ष्य है। इसके आगे कुछ भी नही रह जाता। सूक्ष्म प्रपञ्च भी चिन्मय 'परम शिवमय' हो जाता है। इस

पद को प्राप्त कर जिज्ञासु का पृथक् अस्तित्व भी नही रहता। यही जीवन-यात्रा समाप्त होती है। अब जन्म-मरण कुछ भी नही रहता और अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने से कर्म की गति भी यही शान्त हो जाती है। यही 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' का सामञ्जस्य तथा सामरस्य है। यही भारतीय दर्शन, जीवन, धर्म और कर्म सभी का चरम लक्ष्य है। इसी के लिए भारतीय दर्शन और धर्म इतने व्यापक हैं और अनादि काल से अनेक आघातो को सहते हुए अब भी भारतीयो के हृदय में आदर्श का स्थान प्राप्त करते हैं।

इसी परम तत्त्व का 'माण्डूक्य उपनिषद्' मे—

'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्, अदृश्यम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्मप्रत्ययसारम्, प्रपञ्चोपशमम्, शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम्, चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'

इन शब्दों मे निरूपण किया है। यही आत्मा का वास्तविक साक्षात्कार होता है।

'आत्मा' के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए किस प्रकार जिज्ञासु को स्थूल जगत् से क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम एवं चिन्मय जगत् मे प्रवेश करना पड़ता है, यह उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है। ज्ञान के इस क्रमिक विकास में कही भी विरोध नही है और न शास्त्रो में वास्तविक परस्पर कोई वैमनस्य है। स्थूल दृष्टि वालों को तथा दृष्टिकोण के भेद को न समझने वालों को भेद और विरोध भले ही मालूम हो, किन्तु वस्तुत कही भी भेद या विरोध नही है। सामञ्जस्यपूर्वक एक से दूसरे का निरवच्छिन्न सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा रह नही सकता। हाँ, दृष्टिकोण के भेद से तो भेद स्पष्ट है और इस भेद का रहना भी आवश्यक है। अन्त.करण के शुद्ध हो जाने पर इस पद पर जो पहुँच जाता है वह फिर पीछे कभी भी नही लौटता। यही भारतीय दर्शन है। यही भारतीय जीवन-यात्रा है। इसे प्रत्येक जीव को चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए स्वयं अनुभव करना होता है, आँख से देखना पडता है।

अन्त मे एक और बात कह देना आवश्यक है। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत यद्यपि है तो 'दर्शन' का प्राधान्य, किन्तु ज्ञान के विकास के साथ-साथ परम पद तक पहुँचने के लिए 'कर्म' की भी पूर्ण अपेक्षा है। अन्त करण के मल को दूर कर उसे

पवित्र तथा निर्मल वनाना है, इसके लिए 'कर्म' की परम आवश्यकता है। 'कर्म' के विना ज्ञान का उदय नही हो सकता और फिर ज्ञान के विना उचित 'कर्म' भी नही हो सकता। ज्ञान और कर्म इन दोनो के सहारे जिज्ञासु अपनी यात्रा में सफल होता है। अतएव परम पद पाने के लिए 'दर्शन' के क्षेत्र मे 'कर्म' का उतना ही महत्त्व है जितना 'ज्ञान' का। इसीलिए सदाचार का पालन करना, अपने कायिक, वाचिक तथा मानसिक विचारो को परम पद पाने के योग्य वनाना, शास्त्रों मे कहे गये साधारण तथा असाधारण धर्मों का पालन करना, आहार को शुद्ध रखना, पीने की वस्तु को भी अपवित्र वस्तु के सम्बन्ध से दूषित न होने देना, इत्यादि सभी नियमो का परम पद की प्राप्ति के लिए जिज्ञासु अवश्य पालन करें। इसी के साथ-साथ यह भी न भूलना चाहिए कि बिना 'भक्ति' के, बिना आत्मसमर्पण के न तो ज्ञान ही प्राप्त होता है और न कर्म करने मे प्रवृत्ति ही होती है। अतएव तत्त्व-जिज्ञासु को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान, कर्म तथा भक्ति इन तीनो मे पूर्ण सामञ्जस्य रखना परम आवश्यक होता है। इस प्रकार 'दर्शन' को समझने के लिए हमे ससार के सभी विषयो को जानना पड़ता है। इसीलिए दर्शनों मे स्थूल 'जगत्' का भी विचार है।

इसी स्वरूप को विभिन्न दर्शनो मे हम देखते है। अव भारतीय शास्त्रो के आदि ग्रन्थ 'वेद' से प्रारम्भ कर क्रमश दर्शनो के विकास पर हम आगे विचार करेंगे।

द्वितीय परिच्छेद

वेद में दार्शनिक विचार

उपक्रम

भारतवर्ष मे 'दर्शन' अर्थात् दार्शनिक विचारधारा की उत्पत्ति किस समय हुई, इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वस्तुत. दु ख-निवृत्ति के उपाय ही तो दर्शन मे बतलाये गये है। सृष्टि के आदि से ही दु ख है और उसकी निवृत्ति के उपायों को भी उसी समय से लोग ढूंढने लगे होगे। अतएव सृष्टि के साथ-साथ दार्शनिक विचारधारा की भी उत्पत्ति माननी पडती है। यह आज भी हमें स्पष्ट देख पड़ता है कि माता के गर्भ में प्रवेश करते ही जीव सुख और दु.ख का अनुभव करने लगता है और यह भी सत्य है कि सुख और दु ख का अनुभव करना ही तो सृष्टि है। इसलिए भारतीय दर्शन की उत्पत्ति दु.ख के अनुभव के समय से, अर्थात् सृष्टि के साथ-साथ, हुई होगी, यह अनुमान होता है। दु ख के अनुभव के साथ ही साथ उसकी निवृत्ति के उपायों की खोज भी होती ही रही है। यही हमारे दर्शनों का विषय है। जिस प्रकार दु ख मे और उसकी निवृत्ति के साधनों मे क्रमिक तारतम्य होता है, उसी प्रकार दर्शनों मे भी तारतम्य है।

प्राचीनतम प्रमाण

इसके लिए हमे लिखित प्रमाण भी मिलते है। भारतवर्ष मे सबसे प्राचीन तथा विश्वसनीय लिखित प्रमाण 'वेद' है। 'वेद' का अर्थ है, 'ज्ञान' जिसे ऋषियो ने तपस्या के द्वारा 'अभय-ज्योति' के रूप मे साक्षात्कार किया था और शब्दो के द्वारा जिसे मन्त्र-रूप मे प्रकाशित किया था। ऋषियों के साक्षात् प्रत्यक्षगोचर होने के कारण इन मन्त्रो मे कही भी असत्य या अविश्वास का कोई स्थान नही है। ये मन्त्र परमात्मा के स्वरूप है और नित्य 'अभय-ज्योति' के रूप मे अभिव्यक्त होने के कारण 'अपौरुषेय' कहे जाते है। अतएव इनके सत्य होने मे तनिक भी सन्देह नही हो सकता। वेद 'श्रुति' कहलाता है और अलिखित रूप मे ही अनादि काल से गुरुशिष्य-परम्परा के द्वारा सुरक्षित रहा है। शब्दो के द्वारा इसके वास्तविक स्वरूप का निर्णय करना असम्भव है, तथापि शब्द

ही एक मात्र साधन है जिसके द्वारा अपने आन्तरिक अनुभवो का वर्णन किसी प्रकार किया जा सकता है।

शब्द की चार अवस्थाएँ है। इसके सूक्ष्मतम स्वरूप का नाम 'परा' है। इसका प्रत्यक्ष, साधारण मनुष्यों की बात तो दूर रही, बड़े-बड़े ऋषियो को भी नहीं होता। उससे स्थूल स्वरूप 'पश्यन्ती' है। इस स्वरूप में शब्द की प्रथम अभिव्यक्ति होती है। यह भी ज्ञानस्वरूप, नित्य, अविनाशी, आदि गुणो से युक्त है। ऋषियो को इस स्वरूप का प्रत्यक्ष होता है। यह चिन्मयस्वरूप है। शब्द के अव्यक्त रूप को 'परा वाक्' और व्यक्त रूप को 'पश्यन्ती वाक्' या 'वेद' कहते है। ऐसे वेद के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान तो साधारण लोगो मे नही मिलता, तथापि वेद के 'वैखरी' रूप का ज्ञान तो विद्वानो को है। यद्यपि वेद मे दुःख को दूर करने के निमित्त भिन्न-भिन्न देवताओ को प्रसन्न करने के लिए प्रधान रूप से मनुष्यो के द्वारा की गयी स्तुतियाँ ही मिलती है, फिर भी दार्शनिक विचारो का अभाव नही है।

शब्द की अवस्थाएँ

इस बात को ध्यान मे सदा रखना चाहिए कि यथार्थ मे ज्ञानस्वरूप होते हुए भी वेद कोई वेदान्तसूत्र की तरह दार्शनिक ग्रन्थ तो है नही, जहाँ केवल आध्यात्मिक चिन्तन का ही समावेश हो। ज्ञान-भण्डार मे लौकिक तथा अलौकिक सभी विषयो का सघटन रहता है और साक्षात् या परम्परा से ये सभी विषय परम तत्त्व की प्राप्ति मे सहायक होते ही है। ऊपर कहा गया है कि बिना कर्म के ज्ञान नही और बिना ज्ञान के कर्म या भक्ति नही। धार्मिक आचरण, कायिक, वाचिक और मानसिक पवित्रता, जिनके द्वारा बाह्य शुद्धि होती है और स्थूल तथा सूक्ष्म उपासनाएँ की जाती है, सभी 'कर्म' के अन्तर्गत है। इन सबो के द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है और इनसे जब अन्त.करण सर्वथा निर्मल हो जाता है, तभी उसमे ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, तत्पश्चात् परम पद की प्राप्ति होती है। इस कारण 'कर्म' अर्थात् 'उपासना' भारतीय दर्शन का प्रारम्भिक आवश्यक अग है। सभी दर्शनो ने इसे स्वीकार किया है और इसमे कोई भी मतभेद नही है।

वेद दर्शन-ग्रन्थ नहीं

कर्म या उपासना दर्शन का अग

स्थूल दृष्टि के लिए तो 'वेद' चार है। शास्त्रों ने भी यही कहा है और इनके ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद, ये चार नाम भी है। परन्तु विचार करने

से यह स्पष्ट मालूम हो जायगा कि 'वेद' तो एक[1] ही है। जैसा कहा गया है, 'वेद' ज्ञानस्वरूप है। यह परा वाक् या पश्यन्ती वाक्-स्वरूप है। तत्त्व-जिज्ञासु ऋषियों ने 'आत्मा' के स्वरूप को साक्षात् देखने के लिए तपस्या की। उसके फलस्वरूप उन्हे एक तेजोमय स्वरूप का दर्शन हुआ। उसी तेजोमय स्वरूप की ऋषियों ने स्तुति की। उसी स्तुति की अव्यक्त अवस्था 'परा वाक्' तथा व्यक्त अवस्था 'पश्यन्ती वाक्', उससे स्थूल अवस्था 'मध्यमा वाक्' तथा स्थूलतम अवस्था, जिसे मनुष्य लोग बोलते हैं, 'वैखरी वाक्' के नाम से प्रसिद्ध है। ऋग्वेद मे ही एक मन्त्र है—

वेद एक है

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥'[2]

जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। 'वैखरी' अवस्था में भी मन्त्रो मे वह शक्ति निहित है जो 'परा' रूप मे है, अन्तर इतना ही है कि वह 'वैखरी' मे स्थूल रूप में है और 'सुप्त' है। विधिपूर्वक अभ्यास के द्वारा उसे जगाना पड़ता है। जिन ऋषियो ने उस तेज स्वरूप का दर्शन किया और स्तुति की, वे अपनी-अपनी स्तुति के 'ऋषि' कहे जाने लगे और उस तेजोमय स्वरूप का जिस रूप मे जिसे भान हुआ, वह स्वरूप उस स्तुति का 'देवता' कहा जाने लगा। तेज.स्वरूप तो एक ही है और नित्य है, इसलिए 'वेद' एक ही है और नित्य है।

वेदमन्त्रों के ऋषि और देवता

ये स्तुतियाँ 'मन्त्र' कहलाती हैं। इनमे कुछ मन्त्र छन्दोबद्ध हैं और उच्च स्वर से पढे जाते हैं। उन्हे 'ऋच्' कहते हे और ऐसे मन्त्रो के सकलन को 'ऋग्वेद' कहते है। कुछ मन्त्र प्रधान रूप से गद्य मे हैं और वे धीरे-धीरे पढ़े जाते हे, उन्हे 'यजुस्' कहते हैं और इनके सकलन को 'यजुर्वेद' कहते हैं। कुछ मन्त्र छन्दोबद्ध हैं और गाये जाते हैं, उन्हे 'साम' कहते हैं और उनके सकलन को 'सामवेद' कहते हे। प्रत्येक मन्त्र का एक 'देवता' और एक 'ऋषि' है। इन मन्त्रो के द्वारा उन देवताओ की स्तुति की गयी और उससे देवता-

वेदों का नामकरण

---

१ वायुपुराण, ६१-१०४; महाभारत, शान्तिपर्व; २३१-५६-५८; सनत्सुजातवचन; वाक्यपदीय, १—५।

२ १-१६४-४५।

ओंने प्रसन्न होकर स्तुति करने वालों की कामना की पूर्ति की, यह अनुमान किया जाता है। इस प्रकार बाद में भी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए स्तुति की जाने लगी। उन्ही मन्त्रों में कुछ मन्त्र ऐसे है जो गाये जा सकते हैं। अतएव उन स्तुतियो के गान द्वारा साधकों ने देवताओं को प्रसन्न कर अपनी कामना की पूर्ति की होगी। कुछ मन्त्र ऐसे थे जो सीधे पढ़े जा सकते थे। मन्त्रों को शुद्ध स्वरूप में रखने के लिए तथा आनुपूर्विक परम्परागत पाठ की रक्षा के लिए आठ प्रकार के विधान है, जिन्हें 'विकृति' कहते हैं। ये आठ विकृतियाँ क्रमशः जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ तथा घन नाम से प्रसिद्ध हैं। अतएव घनान्त वेद का पाठ लोग कण्ठस्थ रखते आये हैं।

यह अनुमान किया जाता है कि स्तुतियों के द्वारा मनुष्यों ने अपनी कामनाओं की पूर्ति की। सम्भव है, यह भी उसी समय ध्यान में आया हो कि स्तुतियों के द्वारा देवताओं को यज्ञो में आहूत कर, उन्हें हविष् का भाग देकर प्रसन्न कर अपनी कामनाओं को सफल करें। अतएव लोग यज्ञ करने लगे और उन्ही मन्त्रों से देवताओं को आहूत किया और वे सभी मन्त्र 'यजुर्वेद' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

एक ही वेद से चार वेद

यही कारण है कि सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्र ऋग्वेद में मिलते हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि स्तुति करने वाले साधक इन मन्त्रों में से अधिकांश मन्त्रों का सांसारिक सुखभोग के लिए तथा अपने शत्रुओं के नाश के लिए प्रयोग करते थे। ऐसी स्थिति में शत्रु भी तो साधको से बदला लेने के लिए तत्पर अवश्य रहे होंगे, ऐसा अनुमान होता है। ये शत्रु मायावी थे और इनकी चाल बहुत विचित्र थी। किस रूप में साधकों पर हमला करेंगे, यह कहना कठिन था। अतएव साधको को इन शत्रुओ से अपनी रक्षा के लिए संसार के समस्त विषयो का ज्ञान रखना आवश्यक था और उन्ही बातों के अनुकूल वे स्तुतियाँ भी करते थे। ये सभी मन्त्र और संसार की सभी वस्तुओ के ज्ञान का भण्डार 'अथर्ववेद' के मन्त्रो में निहित हैं। विशेष कर इसमें शांति, वशीकरण, स्तभन, विद्वेष, उच्चाटन तथा मारण इन षट्कर्मों तथा अन्य अभिचार कर्मों के लिए भी विधान के मंत्र हैं। इस प्रकार वस्तुतः एक ही वेद के चार विभाग हुए, जिनकी परम्परा आज तक पृथक् रूप मे चली आयी है। इन चारों प्रकार के मन्त्रों का बाद में वेदव्यास ने पृथक्-पृथक् सकलन किया, जो 'संहिता' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। परन्तु वस्तुत. ये सब है एक ही। एक ही आतमस्वरूप

की, तेजोमय रूप की, स्तुति के रूप मे ये तेज.स्वरूप वेदमन्त्र प्रसिद्ध हैं। अतएव सनत्सुजात ने कहा है—

'एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः'

एक वेद को न समझे जाने के कारण उन्होने बहुत से वेद कर दिये।

निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी लिखा है—

'वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्वात् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः।' निरुक्त १,२०,२

वेद तो एक ही है, किन्तु बहुत बड़ा है और पढने मे बहुत कठिन है। इसलिए व्यास ने इसे अनेक शाखाओं मे विभक्त किया जिससे सुखपूर्वक लोग इसे पढ़ सकें और समझ सकें।

ऋग्वेद को इक्कीस, यजुर्वेद को एक सौ, सामवेद को हजार तथा अथर्ववेद को नौ शाखाओ में बांट दिया गया।

सायणाचार्य ने भी अपनी 'ऋग्वेदभाष्य-भूमिका' मे इस विषय का उल्लेख किया है और शास्त्र में भी इसके अनेक प्रमाण हैं। जो लोग पहले से ही वेद चार थे, इनकी चर्चा वेद में ही है, ऐसा कहते हैं उन्हे समझना चाहिए कि तेजःस्वरूप, अभय-ज्योति-स्वरूप 'वेद' एक ही है। उसी के वर्गीकरण करने से चार भाग हुए। यही नीचे कहा भी गया है।

इन चारों संहिताओं के ऋत्विकों के भिन्न-भिन्न नाम हैं। 'होता' ऋग्वेद के, 'उद्गाता' सामवेद के, 'अध्वर्यु' यजुर्वेद के तथा 'ब्रह्मन्' अथर्ववेद के पुरोहित कहे जाते हैं। इन चारों का उल्लेख ऋग्वेद में ही एक ही स्थान में हमे मिलता है। (२.१.२.१०.९१.) इन बातों से यह स्पष्ट है कि चारो संहिताएँ एक ही समय की है और स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न ग्रन्थ नही हैं, प्रत्युत एक ही ग्रन्थ के चार स्वरूप हैं, जो परस्पर सम्बद्ध हैं।

ऋग्वेद में चारों वेदों के नाम

यही कारण है कि अन्य तीनो सहिताओ के मन्त्र ऋक्सहिता में हमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे ही चारो वेदों के नामो का भी उल्लेख है—

'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।' ऋग्वेद, १०.९०.९।

इस मन्त्र में 'ऋच्.' से 'ऋग्वेद', 'सामानि' से 'सामवेद', 'छन्दासि' से 'अथर्ववेद' एवं 'यजुष्' से 'यजुर्वेद' समझा जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे भी 'छन्दासि' पद

से 'अथर्ववेद' का ग्रहण किया गया है। अतएव सभी सहिताएँ एक ही वेद के अन्तर्गत है, केवल कार्यभेद से वे भिन्न-भिन्न कही जाती है।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि वेद की अभिव्यक्ति ऋषियो की तपस्या के कारण हुई थी। ऋषियो की तपस्या के काल मे भेद होने के कारण इन मत्रो की अभिव्यक्ति भी भिन्न-भिन्न समय मे हुई होगी। वस्तुत अभिव्यक्ति का कोई निश्चित समय हो नही सकता। यह तो 'आत्मा' के अनुग्रह पर निर्भर है जब वह अपने भक्तों को अपनी इच्छा से अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहे—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनू स्वाम्।' (कठ० २।२३)। वेद एक ही है और तेज.स्वरूप है। वेद अनादि है और चारो सहिताएँ एक ही वेद के अंग होकर एक ही समय में थी, इत्यादि।

वेद को स्थूल दृष्टि से विद्वानो ने 'कर्मकाण्ड' और 'ज्ञानकाण्ड', इन दो भागों मे विभक्त किया है। कर्मकाण्ड मे उपासनाओ का तथा ज्ञानकाण्ड में आध्यात्मिक चिन्तनों का विशेष कर विचार है। अतएव कर्मकाण्ड के नियमो के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार से जिज्ञासु को सबसे पहले सदाचार का पालन और अन्त.करण की शुद्धि अवश्य करनी चाहिए। इनके विना कोई भी कार्य सम्पन्न नही हो सकता और न तो जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति ही हो सकती है। वेद मे जितने प्रकार के उपासना के भेदों का निरूपण है, वे सभी सब के लिए आवश्यक नही है। इन कर्मो मे कुछ तो 'नित्यकर्म' है, जिनके करने से कोई पुण्य या अपूर्व वस्तु नही मिलती, कोई धर्म नही होता, किन्तु न करने से पाप होता है, जैसे, सध्योपासना आदि; और कुछ 'काम्य' तथा 'नैमित्तिक कर्म' होते है, जिनके करने से उन कर्मो का फल मिलता है, और न करने से कोई अनुचित या पाप भी नही होता, जैसे, अश्वमेघयज्ञ करना, आदि। काम्य तथा नैमित्तिक कर्म अपने-अपने अधिकार के भेद से करना उचित है और सभी कर्म को करने की योग्यता या अधिकार सबको नही है। अतएव अपने अधिकार के अनुसार उपासना करने से ही सफलता मिलती है, अन्यथा विघ्न होता है और जिज्ञासु के प्रयत्न विफल हो जाते है। यह बात आजकल भी उसी प्रकार सत्य है और सभी को स्वीकार करनी चाहिए। किसी कार्य के योग्य यदि कोई व्यक्ति न हो, तो उस पर उस कार्य का भार कभी भी न सौंपा जाना चाहिए।

अधिकार भेद का विचार

किसी प्रकार की उपासना हो, अपने अधिकार के अनुसार जिज्ञासु को अवश्य करनी चाहिए। अन्यथा उसके अन्त करण के मल दूर नही होगे और उसमे ज्ञान

का उदय भी नही होगा तथा परम पद की प्राप्ति भी नही होगी। इसी से यह स्पष्ट है कि 'कर्मकाण्ड' भी दर्शन-शास्त्र की विचारधारा के अन्तर्गत ही है। अतएव उक्त भावना के अनुसार समस्त वेद भी दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत है, यह कहना भी अनुचित न होगा। ऐसा मानने पर भी इस स्थान पर हम विशेष रूप से साक्षात् आध्यात्मिक विचारो को ही दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत मानते है। इसलिए दार्शनिक, अर्थात् आध्यात्मिक विचारधारा की चर्चा इस प्राचीनतम ग्रन्थ मे किस प्रकार हुई है, उसी का निरूपण यहाँ हम करते है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि आध्यात्मिक विचारो का लिखित प्रमाण भारतवर्ष मे कितना प्राचीन है।

अभय-ज्योति के रूप में आत्मा की खोज

सासारिक साधनो के द्वारा अपने दु ख को दूर करने मे असमर्थ जिज्ञासु देवता की स्तुति करता है—"हे आदित्य ! मुझे दाहिने और बाये का ज्ञान नही है; मै पूर्व और पश्चिम दिशाओ को नही जानता। मेरा ज्ञान परिपक्व नही है और (ज्ञान के विना) मै मूढ और हतोत्साह हो गया हूँ। यदि आप की कृपा हो, तो मै अवश्य ही उस 'अभय-ज्योति' को प्राप्त कर सकता हूँ।[1]" इसके अनन्तर ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र मे भी इसी 'अभय-ज्योति' के लिए साधक ने प्रार्थना की है।[2] इन मन्त्रो मे परम तत्त्व को जानने के लिए जिज्ञासु ने आत्म-समर्पण किया है। विना आत्म-समर्पण के ज्ञान का उदय हो ही नही सकता। हम लोग भगवद्गीता मे स्पष्ट पढते है कि अर्जुन दिन-रात प्रत्येक अवस्था मे परब्रह्मस्वरूप भगवान् कृष्ण के साथ रहने पर भी ज्ञान को नही प्राप्त कर सके, किन्तु युद्ध-क्षेत्र मे पहुँच कर सेना को देखकर अर्जुन को विषाद ने घेर लिया और उन्होने युद्ध करने से अपने को सर्वथा असमर्थ वताया।

ज्ञान के लिए आत्मसमर्पण

परन्तु इसी के साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि अर्जुन ने अपने अभिमान का परित्याग किया। हार मान गये और अहकार को दूर कर अपने को कृष्ण भगवान् के चरणो मे समर्पित कर दिया। अहकार के परित्याग से एवं आत्मसमर्पण से विना किसी वाधा के भगवान् ने उन्हे उसी क्षण ज्ञान का उपदेश दिया और अर्जुन का मोह दूर हो गया। यही तो अहकार की पराजय तथा परा भक्ति की महिमा है।

ज्ञान के लिए अभिमान का परित्याग

---

[1] ऋग्वेद, २. २७. ११। [2] ऋग्वेद, २. २७ १४।

वैदिक सहिताओं को पढ़ने से यह मालूम होता है कि उस समय के लोग सासारिक बातो से पूर्ण अभिज्ञ थे। उन्हें क्षिति, जल, तेजस् तथा वायु के गुणो का पूर्ण परिचय था। उन्हे मृत्यु का वहुत भय था। वे दीर्घ जीवन के लिए देवताओ से विशिष्ट शक्ति की प्रार्थना करते थे।[1] किस प्रकार की उपासना से कौन-सी शक्ति प्रसन्न होती थी, यह भी उन्हे मालूम था। उनमे वड़ो के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति थी। शत्रुओं के प्रति द्वेष था। उपासना के द्वारा मनोरथ की सिद्धि में उन्हे पूर्ण विश्वास था।[2] सुख-दु:ख का, ज्ञान-अज्ञान का, नित्य-अनित्य का, अभय, अमर तथा अजर का, इस लोक एव परलोक का उन्हे पूर्ण ज्ञान था। यही कारण था कि वे लोग अभय-ज्योति.स्वरूप उस परमात्मा के ज्ञान के लिए देवताओं की स्तुति करते थे। देवताओ की उपासना मे अपने अभिमान का तिरस्कार एव

परम सुख की प्राप्ति का साधन

अहकार का नाश स्वीकार करना है, परम सुख की प्राप्ति के लिए लौकिक उपायो की असफलता को मानना है। अन्त में उपासनाओ में भी जो सूक्ष्म रूप से अहकार विद्यमान है, उसे भी अन्त करण से सर्वथा निकालना है और दैवी शक्ति के विना ये सब सफल हो नही सकते। ये सभी बाते वैदिक समय के जिज्ञासुओ को अच्छी तरह मालूम थी। उपासनाओ के अवसर पर साधक साध्य के साथ एक वन जाता था,[3] अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा के अभेद या ऐक्य-ज्ञान से ही चरम उद्देश्य की सिद्धि होती है, यह भी वे लोग जानते थे और इस ऐक्य का साक्षात् अनुभव करते थे। ये सभी भावनाएँ तत्त्व-जिज्ञासुओ के अन्त.करण मे स्पष्ट रूप से विद्यमान थी। इन वातो से यह स्पप्ट है कि दार्शनिक विचारधारा भारतवर्ष मे सृष्टि के आदि से ही विद्यमान है और जिज्ञासु दु.ख की निवृत्ति के लिए तेज.स्वरूप देवताओ के साथ उपासनाओ के द्वारा एक हो जाने के लिए तत्पर रहते थे।[4] ये तो साधारण वाते हुई। अव हम कुछ विशेष वातो का उल्लेख यहाँ करते हैं।

वेद मे जगत् की उत्पत्ति के सम्वन्ध मे भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार हैं।

---

[1] ऋग्वेद, १०. १६४. ४; अथर्ववेद, ३. २. ४ तथा २०. ९६. ९।

[2] ऋग्वेद, ८. १३. ६।

[3] यजुर्वेद, १–५,१०।

[4] यजुर्वेद, १–५, १०।

'अग्नि' से जगत् की उत्पत्ति कही गयी है, पश्चात् 'सोम' से पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिन, रात, जल तथा औषधियों की उत्पत्ति मानी गयी है। 'त्वष्टा' ने समस्त जीवों को उत्पन्न किया। 'इन्द्र' ने समस्त पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष को उत्पन्न किया। इन्होने ही तीनों लोकों को तथा जीवो को उत्पन्न किया। इसी प्रकार कभी विश्वकर्मा, कभी वरुण, आदि संसार की सृष्टि करने वाले कहे गये है।

वेद में सृष्टि का विचार

इन विभिन्न मतो का अभिप्राय ऐसा मालूम होता है कि ये सभी अर्थवादमात्र है। साधको को अपने कार्य की सिद्धि के लिए जिस किसी देवता की अपेक्षा हुई, उन्हे साधक ने सब से बडा बनाया, यहाँ तक कि उन्हे जगत् का स्रष्टा ही बना दिया। यह स्वाभाविक है। जिससे कार्य लेना है, उसकी स्तुति मे किसी प्रकार की त्रुटि करने से कार्य मे सफलता नही मिल सकती। इसलिए इन बातों से समय-समय पर भिन्न-भिन्न कार्य के लिए भिन्न-भिन्न शक्ति की प्रधानता स्पष्ट है। इसी के साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि **'एकं सत् बहुधा विप्रा वदन्ति'** इस मन्त्र के अनुसार इन देवताओ मे अभेद है, ऐसा उन लोगों का विश्वास था। इस प्रकार की अभेद-बुद्धि ऋग्वेद के मन्त्रो मे ही स्पष्ट है। (ऋग्वेद, १-७, १६४. ४६; ८:५८।)

'असत्' को विश्व का उपादान कारण माना गया है।[1] विश्वकर्मा ने बिना किसी की सहायता से विश्व की रचना की। सायणाचार्य ने तो स्पष्ट कहा है कि परमात्मा ने अपनी शक्ति से समस्त ब्रह्माण्ड को रचा। इसी शक्ति को 'माया' कहते है, किन्तु यह देव-शक्ति है, नित्य है। शाकर-वेदात की 'माया' की तरह यह 'अनिर्वचनीय' नही है।[2] यही बात तैत्तिरीय ब्राह्मण मे भी स्पष्ट कही गयी है।

नासदीय-सूक्त[3] तो दार्शनिक सूक्त ही है। इसमे सृष्टिप्रक्रिया का विशद वर्णन है। सूक्त मे कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ मे न 'असत्', न 'सत्', न 'अन्तरिक्ष' और न 'व्योम' था। मृत्यु का भी भय नही था। केवल वह 'एक' था, उसके अतिरिक्त कोई भी नही था। अधकार मात्र सर्वत्र था। जल था, प्रकाश नही था। वह 'एक' 'तपस्' से उत्पन्न हुआ, इत्यादि सृष्टि के सम्बन्ध मे ऋग्वेद मे विचार मिलता है। इस सूक्त से यह स्पष्ट है कि सृष्टि के आरम्भ मे एक कोई अव्यक्त चेतन था, जिससे कालान्तर में सृष्टि के वैचित्र्य अभिव्यक्त हुए। उस अव्यक्त चेतन

---

[1] ऋग्वेद, १०. ७२. २-४। [2] ऋग्वेद, २. ८. ९। [3] ऋग्वेद, १०.१२९।

को 'तपस्' कहा गया है। वस्तुतः यही सर्वव्यापी शक्ति है, इसी से ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति होती है। यही भावना ऋग्वेद के प्रथम मण्डल मे भी स्पष्ट है।[१]

एक व्यापक शक्ति

एक व्यापक शक्ति का वर्णन हमे वेद मे स्पष्ट मिलता है। इसी से समस्त सृष्टि होती है। यही भाव यजुर्वेद के 'पुरुषसूक्त'[२] मे भी स्पष्ट है। वेद मे इन्द्र सबसे बड़े देवता माने गये है। यही इन्द्र, सायणाचार्य के विचार में, कभी अग्नि, कभी सूर्य और कभी वायु के रूप मे वेद मे वर्णित है। अन्तरिक्ष के सभी नक्षत्र इन्ही इन्द्र के रूप है। इसीलिए वेद ने कहा है—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'[३] अर्थात् अपनी शक्तियो के द्वारा इन्द्र बहुत-से रूपों को धारण कर लेते हैं। यही कारण है कि साधक अपनी रुचि के अनुसार चाहे जिस देवता की स्तुति करे, किन्तु वे स्तुतियाँ सभी इन्द्र के प्रति होती हैं।[४] यही बात बाद को भगवद्गीता में भी भगवान् ने कही है।[५] इन बातो से यह स्पष्ट है कि वेद मे अद्वितीय, सर्वव्यापक, अव्यक्त उस 'एक' का वर्णन है, जो सर्वशक्तिमान् है, जो दुष्टों का दमन करता है तथा सज्जनो की रक्षा करता है।[६] यही 'एक' शक्ति 'विश्वकर्मा' के भी रूप मे वेद मे वर्णित है।[७]

व्यापक शक्ति

इसी व्यापक परम शक्ति का भिन्न-भिन्न नाम से वेद ने वर्णन किया है। इसी का 'अभयं ज्योति',[८] 'परम व्योमन्'[९] 'परम पद'[१०], 'अव्यक्त', आदि नाम से वर्णन किया गया है। जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का परिचय ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'द्वासुपर्णा सयुजा'[११] इत्यादि मन्त्र मे स्पष्ट है। इसी परमात्मा का साक्षात्कार करना भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य है। इसी से दुःख की चरम निवृत्ति होती है। यही यजुर्वेद ने कहा है—'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति'।[१२] यजुर्वेद मे अनेक मन्त्र है जिन मे परमेश्वर का वर्णन है जो जगत् मे अनेक रूप से

[१] ऋग्वेद, १. ३. १०-१२। [२] यजुर्वेद, १६ अध्याय। [३] ऋग्वेद, ६. ४७.से१८।
[४] ऋग्वेद, १. ७। [५] गीता, ९-२३।
[६] ऋग्वेद, ९. २३; ३. ४६; गीता ४. ८।
[७] ऋग्वेद, १०. ८१. १। [८] वही, २. २७. ११। [९] वही, १. १४३. २।
[१०] ऋग्वेद, १. २२. २०-२१। [११] वही, १०. १६४. २०। [१२] वही, ३१. १८।

अभिव्यक्त होते हैं तथा जिन के ज्ञान से जिज्ञासु को चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है और वह सर्वज्ञ हो जाता है।[1]

यद्यपि किसी दार्शनिक विषय का सागोपाग विचार एक किसी स्थान मे वेद मे नही मिलता और न वह मिल ही सकता है, किन्तु छोटे से छोटे तथा बडे से बड़े तत्त्वो के स्वरूप का साक्षात् दर्शन तो ऋषियो को हुआ था और वे सब अनुभव वेद मे व्यक्त रूप मे वर्णित हैं। उसमे लौकिक तथा अलौकिक सभी बाते हैं। स्थूलतम तथा सूक्ष्मतम रूप से भिन्न-भिन्न तत्त्वो का परिचय वेद के अध्ययन से हमे प्राप्त होता है।

वाद के न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनो के समान वेद का अपना कोई एक प्रतिपाद्य मत नही है। ऋषियो की तपस्या के फलस्वरूप आत्मतत्त्व का अपना-अपना साक्षात् अनुभव ही 'वेद' है अथवा ज्योति स्वरूप आत्मा ही तो वेद है। किसी एक विषय के सम्बन्ध मे यह कोई एक ग्रन्थ तो है ही नही। अतएव इसका अपना न कोई 'दर्शन' है और न कोई मन्तव्य। यह तो साक्षात् प्राप्त ज्ञान के स्वरूपो का सकलन है, भण्डार है। इसी से तत्त्वो को निकाल कर वाद मे विद्वानो ने अपने-अपने विचार के लिए एवं दर्शनो के निर्माण के लिए ज्ञान का सचय किया है।

वेद का विषय

आचार का निरूपण

यह कहा जा चुका है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए कर्म की आवश्यकता है। विना पवित्र कर्म के अन्त करण के मल दूर नही हो सकते और अन्त करण के शुद्ध हुए बिना अहकार दूर नही होगा और न ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। अतएव जिस वेद मे ज्ञान का इतना विचार है, उसमे पवित्र आचरण तथा शुद्ध कर्मो के लिए विचार न हो, यह सर्वथा असम्भव है। ऋषियो की तपस्या का वर्णन तथा देवताओ के प्रति की गयी स्तुतियो का वर्णन वेद मे है। ये तपस्याएँ तथा स्तुतियाँ पवित्र कर्म ही हैं, शुद्ध आचार हैं। इनमे सफलता प्राप्त करने के लिए ऋषियो को अपने छोटे तथा बडे आचरणो को पवित्र रखना अत्यावश्यक था। परम तत्त्व की

वेद में सदाचार पालन

[1] यजुर्वेद, १. १७. ९।

प्राप्ति के लिए पवित्र आहार, शुद्ध पान तथा निश्छल पवित्र विचार, ये सभी बहुत ही आवश्यक हैं। इनके बिना जिज्ञासु या ऋषि भी अपने लक्ष्य तक नही पहुँच सकते।

सामूहिक प्रार्थना मे वे लोग विशेष सामर्थ्य मानते थे।[१] साधक लोग दुष्टों का दमन करने के लिए तथा साधुओ की रक्षा के लिए देवताओं की स्तुति करते थे। वे लोग 'ऋत' को 'ज्योतिष्पति.' कहते थे और उसे बहुत ऊँचा स्थान देते थे।[२] पाप से बहुत डरते थे और उससे बचने के लिए देवताओ से प्रार्थना करते थे। असत्य बोलना बड़ा पाप समझा जाता था। ये लोग 'सूनृता वाक्' अर्थात् सत्य और प्रिय वचन बोलते थे।[३] असत्य बोलने वालो से तथा मनुष्यो की हत्या करने वालो से वे लोग घृणा करते थे।[४] लोभ, छल, अभिमान, क्रोध, क्रूरता आदि निन्दनीय कर्मों से तथा अच्छे कर्म मे विघ्न देने वाले, देवनिन्दक, चोर, दूसरो की उन्नति को न सहने वाले, ब्राह्मणों के द्वेषी तथा कृपण आदि एवं दुष्ट कर्म करने वालो से वैदिक ऋषि लोग घृणा करते थे।[५]

जो देवता उपर्युक्त पवित्र आचरण रखते थे वे 'धृतव्रत', 'नासत्या', 'सत्यपरायण', 'सत्यधर्मा', 'सत्कर्मपालक', 'सुरूपकृत्नु', आदि विशेषणो से सम्मानित किये जाते थे।[६] साधक लोग देवताओ की स्तुति करते थे, क्योंकि वे लोग हिंसा, द्वेष आदि दुर्गुणो से दूर रहा करते थे।[७] दुष्ट आचरण रखने के कारण राक्षसों से ये लोग घृणा करते थे।[८] ये लोग गाय, घोड़ा, आदि जीवों पर दया रखते थे तथा सभी जीवो की भलाई के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे। ऐन्द्रजालिक, अभिचार, चरित्र को नष्ट करने वाली चेष्टा तथा व्यभिचार आदि कर्मो से ये लोग बहुत घृणा करते थे और इन सब कर्मो के करने वालो को **'नारकीय जीव'** कहते थे।[९] वे लोग स्वयं बड़े सदाचारी और धार्मिक नियमो का कट्टर पालन करने वाले होते थे।

---

[१] ऋग्वेद, १-१७-९। [२] ऋग्वेद, १-२३-५।

[३] ऋग्वेद, १-८-८; १-२३-९, २२। [४] ऋग्वेद, १-१२५; ६-६१।

[५] ऋग्वेद, १-१५-६; १-९०२; १-९४-९; १-११५-६ इत्यादि।

[६] ऋग्वेद, १-१-५; १-१२-७; १-१५-६; २-२९-१; १-४-१०; १-४-१ इत्यादि।

[७] ऋग्वेद, १-४-४; १-१८-३ इत्यादि। [८] ऋग्वेद, १-२२-५।

[९] ऋग्वेद, ४-५-५।

यज्ञादि विशेष कर्म करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा अनुचित कर्म करने से नरक को जाना पड़ता है, इन सिद्धान्तों मे उन्हे पूरा विश्वास था।

इस प्रकार आचार-पालन मे वे सदैव तत्पर रहते थे।

कर्मवाद

अच्छे कर्म करने से पुण्य होता है और कालान्तर मे उससे सुख की प्राप्ति होती है तथा अनुचित कर्म करने से पाप और दु ख मिलता है, इस जन्म के पूर्व तथा पश्चात् भी जीव का अस्तित्व रहता है और जीवनकाल मे पूर्व-पूर्व जन्मो मे किये गये कर्मो के फलो को भोगने के ही लिए बराबर इस ससार मे जीव का आना होता है, मरने पर जीव 'देवयान' तथा 'पितृयान' मार्ग से दूसरे लोको मे जाना है, इत्यादि सिद्धान्तो के मूल मे 'कर्म की गति' है। वैदिक काल के सभी लोग थोडा-वहुत कर्म की गति को जानते थे, अन्यथा उपर्युक्त सिद्धान्तो को वे नही स्वीकार कर सकते थे। दार्शनिक विचार मे कर्म की गति की बडी महिमा है। वास्तव मे ससार की सभी घटनाएँ, जीवो की सभी चेष्टाएँ, यहाँ तक कि स्वय यह जगत्, कर्म की ही गति का फल है। देवता लोग भी कर्म के बन्धनों से परे नही हैं। अवतार लेने पर भगवान् भी कर्म के गतिचक्र मे घूमने लगते हैं। कर्म की गति बड़ी विचित्र है। इसके आदि-अन्त को जानना सरल नही है। सत्य ही कहा गया है—**'गहना कर्मणो गतिः'**।

पुण्य और पाप

कर्म की गति की चर्चा

कुछ लोगो की धारणा है कि वैदिक सहिता-ग्रन्थो मे कर्मवाद का उल्लेख नही है। हो सकता है कि 'कर्मवाद', 'कर्मगति' आदि शब्द वेद मे न हो, परन्तु सहिताओ मे कर्मवाद का उल्लेख ही नही है, यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। इसलिए 'कर्मवाद' के सम्वन्ध मे ऋग्वेद-सहिता मे जो मन्त्र है, उनका यहाँ सकेत करना आवश्यक है।

'शुभस्पति' (अच्छे कर्मो के रक्षक), 'धियस्पति' (अच्छे कर्मो के रक्षक), 'विचर्पणि.' तथा 'विश्वचर्पणि' (शुभ और अशुभ कर्मो के द्रष्टा), 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता' (सभी कर्मो के आधार) आदि पदो का देवता लोगो के विशेपण मे वेद मे प्रयोग हुआ है। यज्ञादि कर्मो का वेदो मे, विशेपतया यजुर्वेद मे, अनेक प्रकार से विधान है। इन यज्ञो के करने से यज्ञ करने वाले को उसी समय फल मिलता था,—या मरने के वाद ? स्वर्ग

कर्मवाद का उल्लेख

आदि साधक यज्ञों की समाप्ति होते ही उनका फल नही मिलता था, किन्तु मरने के बाद ही यजमान दूसरा शरीर धारण कर पूर्व-जन्म मे किये गये कर्मो का भोग करता था। कई मन्त्रो में यह स्पष्ट कहा गया है कि शुभ कर्मो के करने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। जीव अनेक बार इस ससार में अपने कर्मो के अनुसार उत्पन्न होता है और मरण को प्राप्त करता है। वामदेव ने पूर्व के अपने अनेक जन्मो का वर्णन किया है।[1] पूर्व-जन्म के दुष्ट कर्मों के कारण लोग पाप-कर्म करने मे प्रवृत्त होते है,[2] इत्यादि वेदों के मत्रों मे स्पष्ट है।

इन सभी प्रसगो से यह स्पष्ट है कि कर्म का फल होता है और एक जन्म में जो कर्म किया जाता है उसका फल दूसरे जन्म में अवश्य मिलता है तथा साधारणतया कर्म करने वाले जीव को ही अपने किये हुए उस कर्म के फल का भोग करना पड़ता है। इसी से 'आत्मा' नित्य और व्यापक है, यह भी प्रमाणित हो जाता है।

कर्मफल

पूर्व-जन्म के किय हुए पाप-कर्मो से छुटकारा मिल जाय[3], इसलिए मनुष्य देवताओ से प्रार्थना करता है। सचित तथा प्रारब्ध कर्मो का भी वर्णन मन्त्रो मे है।[4] 'देवयान' तथा 'पितृयान' मार्ग का वर्णन और किस प्रकार अच्छे कर्म करने वाले लोग 'देवयान' के द्वारा ब्रह्मलोक को तथा साधारण कर्म करने वाले चन्द्रलोक को 'पितृयान' मार्ग से जाते है, इन सभी का वर्णन मन्त्रो मे है।[5] जीव पूर्व-जन्म के नीच कर्मो के भोग के लिए किस प्रकार वृक्ष, लता, आदि स्थावर-शरीर मे प्रवेश करता है, यह भी ऋग्वेद मे हमे मिलता है।[6] **'मा वो भुजेमान्यजातमेनो'**[7], **'मा वा एनो अन्यकृतं भुजेम'**,[8] आदि मन्त्रो से यह भी मालूम होता है कि एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किये गये कर्मों का भोग किसी प्रकार कर सकता है, जिससे बचने के लिए उक्त मन्त्रों मे साधक ने प्रार्थना की है। सत्य सकल्प से आजकल भी इस प्रकार कर्मकर्ता अपने

दूसरे के किये हुए कर्मो का भोग

---

[1] ऋग्वेद, ४-२६-२७।

[2] ऋग्वेद, ७-८६-६। [3] ऋग्वेद, ६-२-११।

[4] ऋग्वेद, ३-३८-२; १-१६४-२०। [5] ऋग्वेद, ३-५५-१५; ७-३८-८।

[6] ऋग्वेद, ७-९-३; ७-१०१-६; ७-१०-२-२।

[7] ऋग्वेद, ७-५२-२। [8] ऋग्वेद, ६-५१-७

कर्म के भोग्य फल को दूसरे किसी को देता है और पाने वाला उस फल का भोग करता है।

इन उपर्युक्त प्रकरणों से यह स्पष्ट है कि 'कर्मवाद' के प्रत्येक स्वरूप से साधक लोग वैदिक काल में पूर्ण रूप से परिचित थे। यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि साधारण रूप से जो जीव कर्म करता है, वही जीव उस कर्म के फल का भोग भी करता है, किन्तु विशेष शक्ति के प्रभाव से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग कर सकता है, इत्यादि बातो से हमे यह कहने मे उत्साह होता है कि वैदिक सहिताओ मे कर्म-गति के सभी पहलुओ को लोग जानते थे।

दर्शन की विचार-धारा

इन सभी बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के भिन्न-भिन्न अगों का साधारण तथा कही-कही विशेष रूप मे भी वर्णन हमारे सबसे प्राचीन ग्रन्थ मे स्पष्ट रूप मे मिलता है। सहिता के मन्त्रो को हम लोग अपौरुषेय तथा अनादि कहते है और इन मन्त्रो मे दार्शनिक विचार पूर्ण रूप मे मिलते है, अतएव यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के विचार भी अनादि काल से हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि वेद मे कोई भी विचार वर्गीकृत नही है। इसकी आवश्यकता ही उस समय नही थी। भारतीयो का जीवन ही तो दार्शनिक है। दोनो का उद्देश्य एक है और चरम लक्ष्य तक पहुँचने का साधन भी एक ही है। भारतीय जीवन-स्रोत मे अन्य किसी धारा का मिलन नही था। किसी के साथ विरोध नही था। अतएव शान्त रूप में भारतीय दर्शन-विचारधारा, या भारतीय जीवन-स्रोत, सभी परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए अविच्छिन्न रूप से अनादि काल से बहती चली आती थी। ये सभी बाते हमे वेद के मन्त्रो मे मिलती ह।

देवता को ही 'आत्मा' समझ लेना

उपासना से दुःख-निवृत्ति

ससार-रूपी दावानल से दग्ध जिज्ञासु के दु ख की निवृत्ति का एक मात्र साधन 'आत्मा का दर्शन' है, यह उपदेश गुरु-मुख से सुन कर वह 'आत्मा' को ढूंढने लगता है। प्रारम्भिक अवस्था मे देवताओ की उपासनाओ के द्वारा तथा स्तुतियो के द्वारा दु ख की निवृत्ति देखकर जिज्ञासु इन्द्र, वरुण, पूषन्, आदि देवताओं को ही 'आत्मा' समझने लगे। वेद की सहिताओ के अध्ययन से तो इतना ही विशेप रूप मे मालूम होता है। उसके बाद

वेद का दूसरा भाग 'ब्राह्मण' है, उसमे यज्ञ के विधान का विशेष विचार है। प्रत्येक वेद का अपना-अपना ब्राह्मण है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपर्युक्त विचारों के अतिरिक्त दार्शनिक विचारों का विशेष वर्णन नही देख पड़ता, फिर भी उनका अभाव नही है। अतएव 'आत्मा' की खोज में विशेष प्रगति ब्राह्मण-ग्रन्थों में नही है।

ब्राह्मण तथा आरण्यक

ब्राह्मण-ग्रन्थों की तरह प्रत्येक वेद का अपना-अपना 'आरण्यक'-ग्रन्थ है। ये ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थो के सहायक है और यज्ञो के रहस्यों को स्पष्ट करते है। इन ग्रन्थो मे दार्शनिक विचारो का विशेष वर्णन है। यही कारण है कि कतिपय महत्त्वपूर्ण 'उपनिषद्' आरण्यक ग्रन्थो के ही भाग है। जैसे 'ऐतरेय उपनिषद्' ऐतरेय आरण्यक का, 'महानारायण उपनिषद्' तैत्तिरीय आरण्यक का, 'कौपीतकि उपनिषद्' कौपीतकि आरण्यक का भाग है। शतपथ ब्राह्मण के चतुर्थ काण्ड का कुछ भाग 'आरण्यक' कहलाता है और इसी आरण्यक के अन्तिम छः अध्याय 'बृहदारण्यक' नाम की महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। इसी प्रकार 'छान्दोग्य उपनिषद्' भी आरण्यक से मिला हुआ ग्रन्थ है। यही कारण है कि दार्शनिक अध्ययन के लिए आरण्यको का अध्ययन आवश्यक है।

साधक की अतृप्ति

यद्यपि देवताओं की स्तुति से एव यज्ञ आदि क्रियाओ से दु:ख की निवृत्ति किसी अश मे तो होती है, किन्तु संहिताओ मे बहुत-से ऐसे भी मन्त्र हमें मिलते हैं, जिनसे यह मालूम होता है कि जिज्ञासु इस प्रकार की दु:ख-निवृत्ति से सतुष्ट नही है। एक भक्त आदित्य से प्रार्थना करता है कि—

'न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्॥'

'न मुझे दाहिने का और न बाये का ज्ञान है, न मै पूर्व दिशा को और न पश्चिम दिशा को जानता हूँ। मेरी बुद्धि परिपक्व नही है और मै हताश तथा व्याकुल हूँ। यदि आप मुझे पथ का प्रदर्शन करे तो मुझे उस प्रसिद्ध 'अभय-ज्योति' का ज्ञान हो जायगा।'[1]

एक दूसरे मन्त्र में भक्त अदिति, मित्र, वरुण तथा इन्द्र से प्रार्थना करता है—

[1] ऋग्वेद, २-२७-११।

'अविते मित्र वरुणोत मृळ यद् वो वयं चकृमा कच्चिदागः ।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मानो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः ॥'

'हे देव ! आप लोगों के प्रति मैंने बहुत अपराध किया है, उसे क्षमा करें और मुझे उस 'अभय ज्योति' का वरदान दे, जिससे हमे अज्ञान क्लेश-दायक न हो'।[1]

दूसरी बात यह देखी जाती है कि सहिताओ में अनेक देवताओ का वर्णन है। उनमे प्रत्येक को सबसे महान् कहा गया है। सभी देवता वस्तुत एक-से महान् तो हो नही सकते, फिर सबसे बड़े देवता कौन है ? यह शका भक्त के मन में उत्पन्न हुई होगी। अर्थात् सबसे महत्त्वपूर्ण जो देवता होगे, वही वास्तविक 'आत्मा' होगे, इस प्रकार की भावना साधक के मन मे रही होगी। इससे स्पष्ट है कि तत्त्व-जिज्ञासा की निवृत्ति अभी भी नही हुई है और संहिताकाल मे जिज्ञासा की प्रगति बढती ही रही होगी।

'एक' की खोज

तीसरी बात यह मालूम होती है कि दु ख-निवृत्ति के लिए यज्ञ सबसे महत्त्व-पूर्ण साधन समझा जाने लगा। यज्ञ के अनेक भेद थे, किन्तु वे सभी भेद क्रमशः एक 'विष्णु-रूप' मे स्थिर हो गये और 'विष्णु' को ही 'यज्ञ' मान कर[2] उन्ही की उपासना से जिज्ञासु लोग चरम पद की प्राप्ति समझने लगे। विष्णु ही अब सर्वव्यापक देवता हो गये और अन्य देवता लोग विष्णु के ही परायण बन गये।[3] केनोपनिषद् के यक्ष तथा देवताओ के सवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि देवताओं से 'आत्मा' भिन्न है तथा देवताओ की शक्ति 'ब्रह्म' की दी हुई है। देवताओ मे स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सामर्थ्य नही है।[4] अतएव केनोपनिषद् मे कहा गया है कि जिस 'आत्मा' की खोज भक्त लोग करते हैं, वह देवताओ से भिन्न है।[5]

यज्ञ और विष्णु का अभेद

'ब्रह्म'-भावना का उदय

इस प्रकार 'ब्रह्म-तत्त्व' का परिचय हमे सब से प्रथम ब्राह्मण-ग्रन्थो मे मिलता

---

[1] ऋग्वेद, २-२७-१४।

[2] जैमिनीय ब्राह्मण, २-६८; 'यज्ञो वै विष्णुः'—तैत्तिरीय संहिता, १-७-४।

[3] तैत्तिरीय आरण्यक, १-८।

[4] खण्ड ३-४।

[5] १-५-९।

है। पहले मित्र, वृहस्पति, वायु तथा यज्ञ, इनको ही साधक लोग 'ब्रह्म' कहने लगे।[१]

ब्राह्मण-ग्रन्थ में 'ब्रह्म' और 'आत्मा'

बाद को मालूम होता है कि भक्तों ने 'ब्रह्म' से ही देवताओं की उत्पत्ति मानी। इस प्रकार 'ब्रह्म-तत्त्व' व्यापक रूप में हमें ब्राह्मण-ग्रन्थो मे मिलता है। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि ब्राह्मण-ग्रन्थो मे 'आतमा' और 'ब्रह्म' ये दो भिन्न-भिन्न तत्त्व समझे जाते थे। 'ब्रह्म' देवताओ से अभिन्न तथा उनको उत्पन्न करने वाला था। वह देवस्वरूप, सर्वव्यापक एक स्वतन्त्र तत्त्व था। 'आत्मा' को देवताओं से भिन्न एक विशेप तत्त्व माना जाता था। अब जिज्ञासु के लिए ये ही दो तत्त्व खोज के लिए थे, जिनके दर्शन से दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो सकती थी।

आरण्यक में ब्रह्म की भावना

आरण्यको मे 'ब्रह्मन्' के तीन स्वरूप कहे गये हैं। पृथ्वी आदि के रूप में 'स्थूल', मनस् आदि के रूप मे 'सूक्ष्म' तथा प्रणव के रूप मे 'शुद्ध'।[२] ज्ञानियो के लिए यह 'ब्रह्म' 'सत्' और अज्ञानियो के लिए 'असत्' है।[३] प्रणव-स्वरूप 'ब्रह्म' मे समस्त जगत् लय हो जाता है और उसी से पुन. स्थावर और जंगम-रूप में समस्त जगत् उत्पन्न होता है।[४] यह सत्य, ज्ञान और अनन्त है।[५] परम आकाश में यह अभिव्यक्त होता है और इसी के दर्शन से मुक्ति मिलती है।[६]

वेदान्त के ब्रह्म की भावना

आरण्यक के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'ब्रह्मन्' वेदान्त के 'ब्रह्म' के समान क्रमशः समझा जाने लगा। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे देवता के रूप में जो इस ब्रह्म की भावना थी, वह आरण्यक मे नही देख पड़ती। अब तो वह शुद्ध वेदान्त के 'ब्रह्म' के समान देख पडने लगा। सहिता से लेकर आरण्यक तक 'ब्रह्म' के स्वरूप का यह क्रमिक विकास है।

---

[१] शतपथ ब्राह्मण, ९-३-२-४।
[२] तैत्तिरीय आरण्यक, ७-६-८।
[३] तैत्तिरीय आरण्यक, ७-८।
[४] तैत्तिरीय आरण्यक, ८-६।
[५] तैत्तिरीय आरण्यक, ९-१।
[६] तैत्तिरीय आरण्यक, ८-२।

ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थो मे 'ब्रह्म' के स्वरूप से भिन्न 'आत्मा' का स्वरूप देख पड़ता है। 'आत्मा' के स्वरूप के साथ देवता के स्वरूप का कोई भी सम्बन्ध नही है। 'आत्मा' के स्वरूप का भिन्न-भिन्न रूप अपने-अपने ज्ञान के विकास के अनुसार लोगो ने माना है। 'शतपथ ब्राह्मण' मे मनुष्य के शरीर के मध्यम भाग के लिए 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है[१] और पुनः त्वक्, शोणित, मास और अस्थि के लिए 'आत्मा' शब्द का प्रयोग हुआ है।[२] उसी ग्रन्थ मे बाद को मनस्, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त के लिए भी 'आत्मा' शब्द आया है।[३] क्रमश जीवन की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय, इन चारो अवस्थाओ के लिए भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग उसी ग्रन्थ मे हमे मिलता है।[४] बाद को यह आकाश के साथ अभिन्न माना गया है[५] और इस प्रकार 'आत्मा' की एक पृथक् सत्ता स्वीकृत हुई।

आत्मभावना का उदय

आरण्यक-ग्रन्थो मे भी 'आत्मा' के स्वरूप के सम्बन्ध मे उपर्युक्त भावना के अतिरिक्त 'प्राण' के साथ 'आत्मा' के अभेद की भावना है।[६] इसके अतिरिक्त 'आत्मा' को 'विज्ञानमय' तथा 'आनन्दमय' भी आरण्यक मे कहा गया है।[७] इसके अनन्तर अन्त मे आत्मा को 'आनन्द' ही कह कर[८] आरण्यक ने 'आत्मा' के परम स्वरूप का परिचय दिया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' मे द्यावा पृथिवी के बीच के आकाश के साथ 'आत्मा' को अभिन्न कहा गया है।[९] 'ऐतरेय आरण्यक' मे 'आत्मा' के स्वरूप का पूर्ण परिचय दे दिया गया है। 'आत्मा' से ही लोको की सृष्टि बतायी गयी और उसके निरुपाधि तथा उपाधि-सहित स्वरूप का भी वर्णन किया गया है। बाद को चिद्-रूप पुरुष या 'ब्रह्मन्' के साथ इस 'आत्मा' को अभिन्न भी 'ऐतरेय आरण्यक' मे कहा गया है।[१०] यह भी इसी आरण्यक मे स्पष्ट कहा गया है कि शुद्ध चैतन्य को छोडकर अन्य कोई भी पदार्थ जगत् मे नही है। यही 'आत्मा' सभी देवता है तथा स्थावर और जगम जो कुछ भी इस

ब्रह्म और आत्मा का अभेद

---

[१] ७-१-१। [२] ७-१-१। [३] ७-१-१-१८।
[४] ७-१-१-१८। [५] जैमिनीय ब्राह्मण, २-५४।
[६] तैत्तिरीय आरण्यक, ९-१। [७] तैत्तिरीय आरण्यक, ९-१।
[८] तैत्तिरीय आरण्यक, ९-१।
[९] १-३-८। [१०] २-४-१, ३।

जगत् में है, सभी 'आत्मा' ही है। इसी 'आत्मा' से सृष्टि होती है, इसी में सभी पदार्थ स्थित है तथा इसी मे अन्त मे लीन भी हो जाते है।[१]

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट होता है कि 'आत्मा' का स्वरूप, ज्ञान के क्रमिक विकास के साथ-साथ, अभिव्यक्त हुआ है। 'आत्मा' के स्थूलतम तथा परिच्छिन्न रूप से प्रारम्भ कर सर्वव्यापक एव सूक्ष्मतम स्वरूप का वर्णन हमें आरण्यको मे देख पडता है। देहात्मभावना से लेकर आनन्द-स्वरूप पर्यन्त ज्ञान की सभी अवस्थाओ का निरूपण ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थो में स्पष्ट है। एक अव्यक्त अवस्था से जगत् की सृष्टि होती है और पुन: उसी अव्यक्त रूप मे वह लीन हो जाता है। इस प्रकार 'आत्मा' एक व्यापक परिशुद्ध दार्शनिक तत्त्व है, यह स्पष्ट रूप से श्रुतियो मे कहा गया है।

ज्ञान के विकास के साथ आत्मभावना का उदय

ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थो में सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार है। वहुतो ने एक व्यापक 'प्रजापति' की भावना की। इनका स्वरूप वहुत स्थूल माना गया, जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच वायु, पाँच भूत तथा मनस् के मिश्रण से बना हुआ था। पश्चात् इन्हे अग्नि के साथ अभिन्न और सर्वव्यापक वतलाया गया। सृष्टि करने के अनन्तर इनका शरीर नष्ट हो गया और इससे अन्न उत्पन्न हुआ।[२] किसी ने 'ऋत' से 'प्रजापति' की सृष्टि मानी और 'ऋत' का अर्थ यास्क ने 'यज्ञ' माना है[३] और वाद को यही 'ऋत' ब्रह्मन् के साथ अभिन्न भी वतलाया गया है।[४] कही 'असत्' से सृष्टि और कही 'जल' से भी सृष्टि कही गयी है। तैत्तिरीय आरण्यक मे असत् से सत् की उत्पत्ति मानी गयी है। 'आत्मा' ने बिना किसी की सहायता से आकाश, वायु, अग्नि आदि सभी पदार्थों को उत्पन्न किया। ऐतरेय आरण्यक ने कहा है कि सभी पदार्थों में मनुष्य की ही ऐसी सृष्टि हुई, जिसमे 'आत्मा' की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है, अतएव सब प्रकार का ज्ञान मनुष्य मे ही उत्पन्न हो सकता है। मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे ऐतरेय आरण्यक मे कहा गया है कि उत्पन्न होने

ब्राह्मण तथा आरण्यक में सृष्टि-विचार

मनुष्य में ही आत्मा की अभिव्यक्ति

---

[१] २-६-१।
[२] शतपथब्राह्मण, ७-१-४-१७, २३; ७-१-२-१, ६; ८-१-१-२३।
[३] निरुक्त, ४-१९-९।
[४] तैत्तिरीय आरण्यक. १-२३ सायणभाष्य।

वाला जीव पिता के शरीर मे 'शुक्र' के रूप मे वर्तमान है। जिस समय पिता उस बीज-रूप 'शुक्र' को माता के गर्भ में रखने की इच्छा करता है, उस समय पिता के समस्त शरीर से एकत्रित होकर वह 'शुक्र' हृदय मे आ जाता है। एक प्रकार से पिता ही अपनी स्त्री के उदर मे 'शुक्र' के रूप मे प्रवेश कर प्रथम बार जन्म लेता है और माता उसकी नौ या दस मास उदर मे रक्षा करती है। उसके बाद वह जीव गर्भ से बाहर निकल आता है। इसी प्रकार अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों मे भी सृष्टि का वर्णन है।

आरण्यक में पाकज-प्रक्रिया

'तैत्तिरीय आरण्यक' मे 'पाकज-प्रक्रिया' का भी वर्णन है।[१] जल मे विद्युत्-शक्ति की चर्चा भी आरण्यक मे है, 'विद्युत्' जल का एक रूप है।[२] प्रत्यक्ष, आदि प्रमाणो का निरूपण, मृत्यु के अनेक भेद, उनके कारण, आदि भी तैत्तिरीय आरण्यक में विस्तृत रूप मे दिये गये हैं। इन्द्रियो के कार्य तथा उनके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया का विशेष रूप से वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थो मे है।[३] इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थो के समय मे भारतीय दर्शन की विचारधारा पूर्ण रूप से लोगों मे प्रसिद्ध थी। ज्ञानियो के लिए

दार्शनिक विचार

तो ज्ञान की सभी बाते संहिता से लेकर आरण्यक पर्यन्त श्रौत ग्रन्थो मे स्पष्ट रूप मे मिलती हैं। उनके लिए क्रमिक विकास की आवश्यकता नही है। किन्तु अज्ञानियो के लिए तो क्रमशः ज्ञान के प्रत्येक स्वरूप का स्वय अनुभव करना अत्यावश्यक है। 'आत्मा' के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना

आचार पालन का निर्देश

ही तो मुख्य लक्ष्य है। उसके लिए हर तरह से अधिकारी बनना होगा, अन्यथा आत्मज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। इसीलिए जिज्ञासु को आचार का पालन भी बहुत कठोर रूप से करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ मे भी कहा गया है।[४]

---

[१] १-२।

[२] १-२४-१।

[३] तैत्तिरीय आरण्यक, १-२; १-८; ऐतरेय ब्राह्मण, पृ० ३१८, ३९२; १३९; ३१-३२; १५४, १२ आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज संस्करण।

[४] ऐतरेय ब्राह्मण १-१-६; पृ० १९२; ऐतरेय आरण्यक, पृ० १४४; शतपथ ब्राह्मण, २-५-२-२०; ९-५-१-१६; २-५-२-२०; ऐतरेय ब्राह्मण १८३-८८; १८२-८८; ४१; १५४।

उपनिषदों में दार्शनिक विचार

पहले कहा गया है कि संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक प्रधान रूप से उपासना के ग्रन्थ है। ये दार्शनिक ग्रन्थ नही है। किन्तु जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, उपासना भी तो दर्शन का ही अग है। इसके विना अन्त.करण की शुद्धि नही हो सकती, फिर ज्ञान का उदय ही नही हो सकता है। उपासना और ज्ञान का उदय, अर्थात् आत्मा का दर्शन, इन दोनों मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए कर्मकाण्ड का विचार करते हुए सहिता आदि ग्रन्थों मे 'आत्मा' के सम्वन्ध मे साक्षात् तथा परम्परारूप मे अनेक विषयो का विचार मिलता है, जिसका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। यही कारण है कि ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थो मे उपासना के विचार के साथ-साथ आध्यात्मिक विचार भी मिलते है तथा उपनिषदों मे 'आत्मा' के विचार के साथ-साथ उपासनाओं का भी विचार हमे मिलता है।

उपासना दर्शन का अंग

वैदिक मन्त्रों के चार विभाग है—सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिपद्। ये सभी 'श्रुति' कहे जाते है और इनकी प्रामाणिकता तथा सत्यता पर सभी को विश्वास है। प्रथम तीन भागो मे प्रधानतया स्तुति, यज्ञ एव उपासना का वर्णन है। गुरु के मुख से कोई उपदेश इन भागो मे नही है। ज्ञान की वाते साधारण रूप से है। इनमे तर्क का कोई स्थान नही है। किसी विषय पर तर्क-वितर्क के द्वारा विचार नही किया गया है।

वैदिक मन्त्रों के विभाग

उपनिषदो में प्रधान रूप से तर्क का स्थान है। युक्ति के द्वारा 'आत्मा' के स्वरूप का परिचय कराया गया है। उपासना का विचार भी उपनिषदो मे है, किन्तु गौण रूप से, तथा वह भी 'आत्मा' के साक्षात्कार करने के लिए है। गुरु-शिष्य के कथनोपकथन के रूप मे ज्ञान की वाते सिखायी गयी है। ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों मे 'ब्रह्म' और 'आत्मा' पृथक् तत्त्व देख पड़ते है, 'ब्रह्म' आधिदैविक तत्त्व मालूम होता है, किन्तु उपनिषदो मे ये दोनो तत्त्व अभिन्न दिखाये गये है। ब्राह्मण तथा आरण्यक मे देवताओ का प्राधान्य है, किन्तु उपनिषदो मे 'आत्मा' या 'ब्रह्म-तत्त्व' की प्रधानता है। ब्राह्मण तथा आरण्यक मे 'भेद मे अभेद' का प्रतिपादन है और उपनिपदो मे 'अभेद की साक्षात् अनुभूति' दिखायी गयी है। ब्राह्मण और आरण्यक के विचार के अनुसार लौकिक तथा पारलौकिक अस्थायी सुख और

उपनिषद् की विशेषता

अभेद की साक्षात् अनुभूति

शान्ति मिलती है, उन ग्रन्थो मे अद्वितीय परमात्मा का वर्णन है, आभास है, परन्तु सभी बहिरग की बातें है। उपनिषदों मे परमात्मा के साक्षात्कार की अनुभूति है, उनके उपदेशो के द्वारा चिरस्थायी परम सुख, शान्ति और परम-अखण्ड-आनन्द का अनुभव होता है और अपने मे ही 'आत्मा' का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयो का इन ग्रन्थों मे निरूपण है।[1]

'उपनिषद्' शब्द 'उप' एव 'नि' पूर्वक 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर बना है। 'सद्' धातु का अर्थ है नाश, गति और शिथिल करना। 'उप' का अर्थ है 'समीप' तथा 'नि' का अर्थ है 'निश्चयपूर्वक'। वह विद्या, या शास्त्र या विषय या पुस्तक जिसकी प्राप्ति से 'अविद्या' का निश्चित रूप से नाश हो, जो मोक्ष की इच्छा करने वाले को ब्रह्म या विद्या के समीप ले जाकर उसका साक्षात्कार करा दे; और जो संसार के बन्धनो को शिथिल कर दे, ये सभी अर्थ 'उपनिषद्' शब्द से निकलते हैं। परन्तु विचार करने पर यह मालूम हो जायगा कि ये सभी अर्थ वस्तुत. एक ही विषय का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन करते हैं।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

इसी अर्थ से यह भी स्पष्ट है कि उपनिषदो मे 'अविद्या' के नाश के उपाय कहे गये है और 'विद्या' या 'परब्रह्म' या 'परमात्मा' के स्वरूप का निरूपण है तथा किस प्रकार उस परब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है तथा दु ख की चरम निवृत्ति एव आनन्द की प्राप्ति हो सकती है, ये सभी बाते उपनिषद् के ध्येय विषय है। इसमे शिष्यो को समझाने के लिए युक्तियाँ दी गयी है तथा उन्हे उन युक्तियो का प्रामाण्य भी बतलाया गया है। इस से यह भी स्पष्ट है कि उपनिषद् की बातो की शिक्षा देने वाले आचार्य ब्रह्मज्ञानी थे तथा शिष्य ब्रह्म-विद्या को ग्रहण करने के अधिकारी थे। ये सभी बाते कठोपनिषद् मे यमराज एव नचिकेता के कथोपकथन से स्पष्ट होती हैं।

अविद्यानाश के उपाय

उपनिषदो के अध्ययन से यह मालूम होता है कि ब्रह्मज्ञान के लिए जितनी शकाएँ जिस प्रकार के अधिकारियो को होती थी, उन सभी शकाओ का समाधान आचार्य के मुख से किया गया है। इन शका-समाधानो में कोई क्रम नही है। कभी बहुत ही स्थूल विषयो का प्रतिपादन है और उसके बाद ही बहुत ही सूक्ष्म तत्त्व का विचार है और पुन. किसी अन्य स्थूल भाव को लेकर तत्त्व का विवेचन है। इस प्रकार उपनिषदों मे बिना

शिष्यों की शंकाओं की निवृत्ति

[1] उमेश मिश्र-हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ९५-९७।

किसी एक विशेष क्रम के तत्त्वों का विचार है। सूक्ष्म उपासनाओं के द्वारा तथा युक्तियों के द्वारा साक्षात् या परम्परा-रूप मे अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का विचार उपनिषदों मे प्रधान रूप मे है। ज्ञान की सभी बातें, स्थूल तथा सूक्ष्म, इन ग्रन्थो में मिलती हैं। बाद के दर्शन-शास्त्रो के जितने रूप हैं उन सबो का मूल तत्त्व उपनिषदो में है। किसी विशेष शास्त्र के समान तत्त्वो के विचारो का वर्गीकरण उपनिषद् में नही है। इसीलिए उपनिषद् का कोई भिन्न अपना दर्शन नही है। चार्वाक-दर्शन का भी मत उसी प्रकार उपनिषद् में कहा गया है, जिस प्रकार वेदान्त का या शून्यवादी बौद्धो का। यही कारण है कि चार्वाक से लेकर अद्वैत-दर्शन के प्रतिपादन करने वाले सभी, अपने विचारों के समर्थन के लिए, उपनिषदो के वाक्यों का सहारा लेते हैं। सभी उसे प्रमाण मानते हैं। वास्तव मे ज्ञान की बातो की यह खान है।

उपनिषद् में तत्त्वविचार

ऊपर कहा गया है कि आस्तिक तथा नास्तिक सभी अपने-अपने विचार के लिए उपनिषदों को मूल ग्रन्थ मानते हैं। हर प्रकार के विचार इन ग्रन्थों में मिलते हैं। वास्तव में उपनिषदो में भिन्न-भिन्न स्तर से स्थूल और सूक्ष्म रूप मे एक ही परम तत्त्व का प्रतिपादन तथा विचार है, इसलिए इनमे सभी प्रकार के विचार हैं। ये विचार यद्यपि बाद में एक प्रकार से दृष्टि-कोण के भेद से परस्पर विरुद्ध मत के होने के कारण परस्पर विरुद्ध समझे जाते हैं, परन्तु उपनिषदो मे किसी प्रकार इनमें कोई विरोध नही है। किसी एकमत का खण्डन और दूसरे का मण्डन उपनिषदो में नही है। सभी तत्त्वो के विचारों के प्रति उपनिषदो का समान आदर है। सभी श्रुति-वाक्य हैं। सभी वाक्यो मे एक-सा प्रामाण्य है। हाँ, एक बात ध्यान मे रखना आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न ज्ञान की विचारधारा भिन्न-भिन्न अधिकारी के लिए है तथा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से 'आत्मा' के ही स्वरूप का साक्षात् या परम्परा-रूप मे प्रतिपादन है। अत. जब श्रुति कहती है—

सभी दर्शनों का मूल

अधिकारभेद का विचार

'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्तीति'

अर्थात् इन्ही भूतो से जड़ पदार्थ से चैतन्य उत्पन्न होता है, स्थूल शरीर ही या इन्द्रिय ही या प्राण ही 'आत्मा' है, मरने के बाद कुछ भी—मै उनका पुत्र हूँ, मेरा यह खेत है, मेरा यह धन है, मै सुखी हूँ या दु खी हूँ, इस प्रकार विशेष सज्ञा, अर्थात् भेद नही रहता है,[१]

---

[१] बृहदारण्यक उपनिषद्, २-४-१२

इत्यादि, तब यह समझना उचित है कि ये बाते स्थूलतम दृष्टिकोण से देखी हुई है। पुनः जब श्रुति कहती है कि यद्यपि 'आत्मा' मे 'ज्ञान' नही, 'चैतन्य' नही; 'चैतन्य' आत्मा का आगन्तुक धर्म है, अतएव एक प्रकार से 'आत्मा' जड़ तो है, किन्तु फिर भी यह पृथ्वी आदि अन्य द्रव्यो से सर्वथा भिन्न है, तत्पश्चात् पुन. उपनिषदो मे ही कहा गया है कि आत्मा चैतन्य-स्वरूप है, किन्तु उसमे कोई आनन्द नही है, इत्यादि, तब यह समझना उचित है कि ये सभी परस्पर विरुद्ध मत के प्रतिपादन नही है, प्रत्युत उसी एक अद्वितीय, अखण्ड परब्रह्म का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचार है। इस प्रकार उपनिषदो मे दार्शनिक विचारधारा व्यापक रूप मे वर्तमान है।

उपनिषदों का ध्येय

ऊपर यह कहा गया है कि उपनिषदों का कोई अपना दर्शन नही है, कोई विशेष प्रतिपाद्य विषय नही, सभी विचारो के प्रति समान आदर है, तथापि विचार करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि दर्शन-शास्त्र का चरम लक्ष्य, अर्थात् अद्वितीय अखण्ड सत्, चित्, आनन्द परमात्मा का विचार या साक्षात्कार ही उपनिषदो का चरम ध्येय है। वास्तव मे ज्ञान तथा विज्ञान का परम लक्ष्य तो वही एक अखण्ड परम तत्त्व है, वही जीवन का भी मुख्य लक्ष्य है और उसी की प्राप्ति की अनुभूति से दु ख की चरम निवृत्ति होती है, जिज्ञासा की पूर्त्ति होती है तथा जन्म-मरण से सदा के लिए मुक्ति मिलती है। यही भेद मे अभेद की, जीवात्मा मे परमात्मा की, साक्षात् अनुभूति होती है।

उपनिषदों का वर्गीकरण

वेदों की परम्परा

ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थो की तरह ये उपनिषदे भी भिन्न-भिन्न सहिताओ से सम्बद्ध हैं। कारण यह है कि यद्यपि 'वेद' एक है, किन्तु क्रिया के भेद से ये चार भिन्न-भिन्न प्रकार के हुए। प्रत्येक मन्त्र का उसी आधार पर सकलन हुआ और उसके आचार्य भी भिन्न-भिन्न हुए। शिष्य लोग भी भिन्न-भिन्न हुए, प्रत्येक 'वेद' की एक प्रकार से अपनी स्वतन्त्र परम्परा चल पड़ी। प्रत्येक परम्परा मे भिन्न-भिन्न विचार, व्यवहार, आचार, उपासना, सभी बाते भिन्न-भिन्न हो गयी। यद्यपि परम लक्ष्य एक ही है, वहाँ तक जाने का मार्ग भी एक ही है, तथापि उस परब्रह्म परमात्मा के अनन्त रूप होने के कारण अनन्त प्रकार से भक्तो की दृष्टि उन पर पड़ी। अतएव दार्शनिक, धार्मिक तथा सामाजिक, हर बात मे ऋग्वेदीय, सामवेदीय, यजुर्वेदीय तथा अथर्ववेदीय विभाग हो गये। न केवल कर्मकाण्ड मे, अपितु ज्ञानकाण्ड मे भी दृष्टि-भेद हो गये। अतएव

ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थों की तरह ऋग्वेद के आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के विचार वाली उपनिषदे 'ऋग्वेदीय उपनिषद्' कही जाने लगी, इसी प्रकार साम-वेदीय, यजुर्वेदीय तथा अथर्ववेदीय उपनिषदो का भी वर्गीकरण हो गया।

इसी परम्परा के अनुसार 'ऐतरेय' तथा 'कौषीतकि' ऋग्वेदीय उपनिषद् है; 'तलवकार' या 'केन' तथा 'छान्दोग्य' सामवेदीय; 'सहिती', 'वारुणी', 'महानारायण', 'कठ', 'श्वेताश्वतर' तथा 'मैत्रायणी' कृष्ण-यजुर्वेदीय; 'बृहदारण्यक' तथा 'ईशावास्य' शुक्ल-यजुर्वेदीय उपनिषद् है। अथर्ववेद की लगभग सत्ताईस उपनिषदे है, जिन मे 'मुण्डक', 'प्रश्न', 'माण्डूक्य' तथा 'जावाल' विशेष महत्त्व की है। परम्परा से अनेक उपनिषदो के होने पर भी, केवल 'ईश', 'केन', 'कठ', 'प्रश्न', 'मुंड', 'मांडूक्य', 'तैत्तिरीय', 'ऐतरेय', 'छान्दोग्य' तथा 'बृहदारण्यक' ये ही दस मुख्य एव प्राचीन उपनिषदे मानी जाती है। सद मे साक्षात् या परम्परा से एक मात्र तत्त्व 'ब्रह्म' का प्रधान रूप से वर्णन है।

वेदों की उपनिषदें

इसी प्रकरण में इन दस उपनिषदो का सारांश अति संक्षेप मे कह देना अनुपयुक्त न होगा—

ईश

'ईश' उपनिषद् का पूरा नाम 'ईशावास्य' है। प्रथम मन्त्र के प्रारम्भ के अक्षरों को लेकर ही यह नामकरण किया गया है। इसमें केवल १८ मन्त्र है। दर्शन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ज्ञानोपार्जन के साथ-साथ कर्म करने की भी आवश्यकता है, इस विषय का प्रतिपादन 'ईश' में है। यही मत 'ज्ञान-कर्म-समुच्चय-वाद' के नाम से वाद को प्रसिद्ध हुआ है। वस्तुत भारतीय दर्शन मे इसी विचार का प्राधान्य है।

केन

'केन' उपनिषद् मे ब्रह्म की महिमा का वर्णन है। ब्रह्म का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता। ब्रह्म की शक्ति से सभी देवताओ में शक्ति आती है। ब्रह्म ही सर्वव्यापी एक मात्र तत्त्व है।

कठ

'कठ' वहुत रोचक तथा महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। यमराज तथा नचिकेता के सवाद से आत्म-ज्ञान की महिमा, ससार के विषयो की तुच्छता, आत्मा के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए शिष्य की परीक्षा तथा अन्त में आत्म-ज्ञान का उपदेश एव आत्मा के स्वरूप का निरूपण, ये सभी विषय वहुत ही रोचक तथा सरल मन्त्रो के द्वारा इसमे वर्णित है। किसी न किसी रूप में इनके वहुत-से मन्त्र 'गीता' में पाये जाते है।

'प्रश्न' उपनिषद् गुरु-शिष्य-सवाद के रूप मे है। सुकेशा, सत्यकाम, सौर्यायणी, कौसल्य, वैदर्भी और कबन्धी, ये ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु पिप्पलाद ऋषि के समीप हाथ में समिधा लेकर उपस्थित होते हैं और उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न करते हैं, जो परम्परा से या साक्षात् ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध मे हैं। आचार्य सभी प्रश्नो का क्रमश. उत्तर देकर शिष्यो को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हैं।

प्रश्न

'मुण्ड' उपनिषद् को 'मुण्डक' भी कहते हैं। इसके मन्त्र बहुत रोचक और सरल हैं। इसमे 'सप्रपंच ब्रह्म' का निरूपण है। अनेक लौकिक दृष्टान्तो के द्वारा ब्रह्म के सर्वव्यापी होने का वर्णन इस उपनिषद् मे बहुत ही युक्तिपूर्ण और मनोहर है।

मुण्ड

'माण्डूक्य' सब से छोटी उपनिषद् है। इसमे मनुष्य की चारो अवस्थाओ (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय) का वर्णन है। समस्त जगत् 'प्रणव' से ही अभिव्यक्त होता है। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान, सभी इसी 'ॐकार' के रूप हैं। आत्मा के चार पाद हैं, जिनके नाम—'जागरितस्थान', 'स्वप्नस्थान', 'सुषुप्तस्थान' तथा 'सर्वप्रपञ्चोपशमस्थान' हैं। प्रथम मे 'प्रज्ञा' बहिर्मुखी है, दूसरे मे अन्तर्मुखी तथा तीसरे मे एकीभूत, प्रज्ञानघन, आनन्दमय है और चेतोमुखी है। चतुर्थ का वर्णन करना असम्भव है। न अन्तर्मुखी, न बहिर्मुखी, न दोनों, न प्रज्ञानघन और न प्रज्ञा है एवं न अप्रज्ञा है। इस अवस्था मे सभी शान्त हैं। इसे ही शिवम्, अद्वैतम्, आदि शब्दो के द्वारा वर्णित किया गया है।

माण्डूक्य

इस 'उपनिषद्' का महत्त्व विशेष रूप से शकराचार्य के परम गुरु गौडपादाचार्य के द्वारा इस पर लिखी गयी कारिकाओ के कारण है। कहा जाता है कि गौडपादाचार्य के अद्वैत वेदांत का सारांश गौडपाद ने अपनी इन कारिकाओं मे बहुत ही सुन्दर रूप मे लिखा है। शकराचार्य ने कारिका के भाष्य के आरभ मे लिखा है—**वेदान्तार्थसारसंग्रहभूतम् प्रकरण-चतुष्टयमिदम्**। इससे यह मालूम होता है कि गौडपादकारिका भिन्न-भिन्न समय पर वेदान्त-सम्प्रदाय के आचार्यों के द्वारा लिखी कारिकाओ का एक सग्रहग्रन्थ है, इसीलिए इन कारिकाओ मे पुनरुक्तियाँ मिलती हैं। कतिपय विद्वानो का कहना है कि गौडपाद ने बौद्ध मत से प्रभावित होकर इन कारिकाओ को लिखा है, और यही कारण है कि उनका अनुकरण करने वाले शकराचार्य को भी कुछ लोगो ने 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। वस्तुत: यह बात ठीक नही है। अद्वैत वेदान्त के आचार्य तथा बौद्ध मत के आचार्य,

गौडपाद-कारिका

सवो ने उपनिषदों से ही मौलिक तत्त्व का ग्रहण किया है। शून्यवाद तथा अद्वैतवाद, दोनो के स्वरूप मे ज्ञान का वास्तविक भेद नही के बराबर है। दोनों ने ही चरम तत्त्व का प्रतिपादन किया है। अतएव इनमे शाब्दिक तथा आर्थिक अनेक प्रकार के साम्य मालूम होते हैं। परन्तु इसमे किसी एक का प्रभाव किसी दूसरे पर कहना उचित नही है। वस्तुतः दोनों पर उपनिषद् का ही प्रभाव है।

तैत्तिरीय

'तैत्तिरीय' उपनिषद् भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस के तीन खंड हैं—पहला 'शिक्षाध्याय' है। इसमे वर्ण तथा स्वर के सम्बन्ध मे उपदेश है। पुनः ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण है और वेद की शिक्षा के अन्त मे 'अन्तेवासी' शिष्य को आचार्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपदेश इसमे है। प्रत्येक विद्यार्थी तथा आचार्य को इन पक्तियो को कण्ठस्थ रखना चाहिए तथा अपने जीवन मे इसके उपदेश को कार्य मे परिणत करना चाहिए। ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने के पहले नियमपूर्वक श्रौत-स्मार्त कर्मो को अवश्य करना चाहिए। यही उपदेश प्रत्येक स्नातक को कण्ठस्थ रखना आवश्यक है। दूसरा खण्ड 'ब्रह्मानन्दवल्ली' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण है। पच कोषो का इस खंड मे वर्णन है। इस के बहुत-से मन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध है तथा शास्त्र मे समय-समय पर उल्लिखित होते हैं। इन्हे भी कण्ठस्थ करना आवश्यक है। तीसरा खण्ड है—'भृगुवल्ली'। भृगु के पिता वरुण ने अपने पुत्र को उदाहरणो के द्वारा ब्रह्मज्ञान का जो उपदेश दिया है, वही इस खण्ड का विषय है।

ऐतरेय

'ऐतरेय' उपनिषद् के प्रारम्भ मे सृष्टि का वर्णन है कि पहले यही एक आत्मा थी, और कुछ नही था। इसी की इच्छा से लोकों की सृष्टि हुई एवं क्रमशः अन्य वस्तुओ की भी सृष्टि हुई। दूसरे अध्याय मे मनुष्य के जन्म के क्रम का निरूपण है कि किस प्रकार माता के गर्भ मे जब जीव प्रवेश करता है तभी उसका प्रथम जन्म, गर्भ से बाहर आना उसका दूसरा जन्म तथा अपनी सन्तान को घर का भार सौप कर जब वृद्धावस्था मे वह मरता है, तो उसका तीसरा जन्म होता है। तीसरे अध्याय मे आत्मा के ज्ञान का विचार है और विज्ञान के भिन्न-भिन्न रूपों का भी निरूपण है, जिससे ज्ञान के मार्ग का क्रमिक परिचय लोगो को होता है।

'छान्दोग्य' एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा बड़ी उपनिषद् है। इसमें सूक्ष्म उपासना के द्वारा ब्रह्म के सर्वव्यापी होने का उपदेश प्रारम्भ मे है। अनेक दृष्टान्तों

के द्वारा, छोटी-छोटी कहानियों का उल्लेख कर ज्ञान की महिमा का इसमे निरूपण है। ब्रह्मज्ञान के स्वरूप का वास्तविक परिचय इसमे दिया गया है। महावाक्यों के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करने की विधि का वर्णन युक्ति तथा अनुभव के आधार पर बडी रोचकता के साथ इसमे किया गया है। इस उपनिषद् के पूर्व भी भारत मे अनेक विद्याएँ थी, जिनका उल्लेख नारद तथा सनत्कुमार के सवाद मे हमे प्राप्त होता है। नारद ने कहा—

छान्दोग्य

'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि'। (छा० उ० ७. १. २)

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण जो पाँचवाँ वेद है, वेदो का वेद, अर्थात् व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणितशास्त्र, उत्पातज्ञानशास्त्र, महाकाल आदि निधियो के ज्ञान का शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदो की विद्या, अर्थात् शिक्षा-कल्प-छन्दस्-चिति, भूततन्त्र, धनुर्वेद, ज्यौतिष गारुडशास्त्र, अर्थात् सर्पविद्या, गान्धर्व, नृत्य-गीत-वाद्य-शिल्पादि विज्ञान, इतने शास्त्र नारद ने पढे थे, अर्थात् छान्दोग्य के पूर्व उपर्युक्त शास्त्र भारत मे पढे जाते थे।

इस उपनिषद् के बहुत-से मन्त्र इतने प्रसिद्ध है कि वे वेदान्त के सभी ग्रन्थो मे अद्वैत के प्रतिपादन के लिए उद्धृत किये जाते है। बृहदारण्यक के समान यह भी बहुत ही प्राचीन तथा प्रामाणिक उपनिषद् है।

'बृहदारण्यक' सबसे बडी उपनिषद् है। अरण्य मे कहा गया इसलिए 'आरण्यक' और बहुत बड़ा होने के कारण 'बृहत्' कहा गया है। सबसे प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण भी है। आरम्भ मे कर्मकाण्ड का विचार तथा उपासना के सूक्ष्म रूप का वर्णन है, पश्चात् सृष्टि के क्रम का भी निरूपण इसमे है। अनेक लौकिक कहानियो तथा दृष्टान्तो के द्वारा आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन तथा उसके सर्वव्यापी होने का निरूपण इसमे है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण भाग 'याज्ञवल्क्य-काड' है, जिसमे याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री को ज्ञान का जो उपदेश दिया है, उसका वर्णन है। इसमे न केवल अद्वैत का ही निरूपण है, किन्तु चार्वाक-दर्शन से लेकर ज्ञान के सभी सोपानो का भी विशेष वर्णन है। इतना महत्त्वपूर्ण भाग किसी भी अन्य उपनिषद् मे नही है। ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का भी प्रतिपादन इसी उपनिषद् मे पहले-पहल

बृहदारण्यक

मिलता है। विदेह जनक की सभा में याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता का परिचय इसी उपनिषद् में हम पाते हैं। अनेक आचार्यों को तथा जिज्ञासुओं को दिये गये उपदेशो का सुन्दर वर्णन भी इस उपनिषद् मे है।

इसमे गायत्री मत्र की महत्ता का विशेष विचार है। सभी वैदिक छन्दो में 'गायत्री' प्रधान है। एक मात्र यही अपने उपासको के प्राण को त्राण करने मे समर्थ है। सभी छन्दो का यही प्राण है यही आत्मा है। इसी की उपासना से उच्चतम ब्राह्मणकुल में लोग जन्म लेते हैं। गायत्री की उपासना से ब्रह्मतेज प्राप्त होता है।

उपनिषदों का रचनाकाल

उपनिषदों की रचना कब हुई तथा किस क्रम से हुई, यह कहना अत्यन्त कठिन है। किसी आधुनिक अति तुच्छ दार्शनिक मत का वर्गीकरण तो उपनिषद् मे है नही तथा अन्य कोई आधुनिक ऐतिहासिक अन्तरंग प्रमाण भी नही है जिस के आधार पर रचनाकाल का निर्णय किया जा सके। भारतीय आस्तिक लोगों का कहना है कि वेद या श्रुति की संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक विभागों के समान उपनिषद् भी तो वेद का एक विभाग है। अतएव उन तीनों के समान ही यह भी प्राचीनतम विचारात्मक तथा उपदेशात्मक ग्रन्थ है। यही कारण है कि उन्ही के समान इसे भी 'श्रुति' कहा जाता है और उतनी ही प्रामाणिकता इस मे है, जितनी सहिता आदि में है। इस मे कोई सन्देह नही कि उपनिषदो मे जो तत्त्व की बातें हैं, वे तो त्रैकालिक सत्य हैं तथा उनके प्रवक्ता ऋषि लोग जिनके नाम इन मे हैं, वे सब आधुनिक ऐतिहासिक काल के बहुत पूर्व के हैं। कोई तत्कालीन बहिरग भी प्रमाण नही है जिससे उनके काल के निर्णय के लिए कुछ सहायता मिल सके। अतएव उपनिषद् के काल का निर्णय करने में यथार्थ में हम समर्थ नही हैं। बहुत-से पाश्चात्य तथा यहाँ के भी विद्वानो ने इस प्रश्न का अनेक प्रकार से समाधान किया है, किन्तु वह प्रामाणिक नही और न सर्वमान्य ही है। हाँ, बौद्ध ग्रन्थो के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि कुछ उपनिषदें बौद्ध काल के पूर्व की अवश्य हैं। बुद्ध का जन्म ईसा के पूर्व छठी सदी में माना जाता है। अतएव ये उपनिषदे छठी सदी के पूर्व की अवश्य हैं। इन उपनिषदो में 'छान्दोग्य,' 'बृहदारण्यक', 'केन', 'ऐतरेय,' 'तैत्तिरीय', 'कौषीतकि' तथा 'कठ' को विद्वानो ने प्राचीनतम स्वीकार किया है।

उपनिषत्काल

यहाँ एक वात और कही जा सकती है। श्रीमद्भगवद्गीता को आस्तिक भारतीय परम्परा मे 'उपनिषद्' कहते है। 'गीता' महाभारत का अश है। सभवत. महाभारत के रचनाकाल मे 'उपनिषद्' शब्द का पूर्ण व्यवहार रहा होगा। अतएव महाभारत से पूर्व ही उपनिषदो की रचना हुई होगी। महाभारत के युद्ध का समय ईसा से पूर्व तीन हजार वर्ष के लगभग कतिपय विद्वानो ने निश्चय किया है। इस स्थिति मे तो उपनिषद् का काल अवश्य तीन हजार वर्ष ईसा से पूर्व होगा, ऐसा कहा जा सकता है। इसी के आधार पर आरण्यक, ब्राह्मण तथा सहिताओ का भी काल-निर्णय किसी प्रकार किया जा सकता है।

महाभारत से पूर्व उपनिषदो की रचना

परन्तु इसी के साथ-साथ यह भी विचार करना आवश्यक है कि वेद के ये चारो अग 'श्रुति' कहे जाते है और प्रारम्भ मे हजारो वर्षो तक लिखित नही थे। गुरु-शिष्य की परम्परा मे ये सुरक्षित थे। इनके पाठो को शुद्ध रखने के लिए अनेक प्रकार के यत्न विद्वानो ने किये थे, यह भी प्रमाणसिद्ध है। अतएव यद्यपि सहिता से लेकर उपनिषद् पर्यन्त सभी उसी अनादि काल मे ऋषियो के द्वारा प्रवर्त्तित हुए होंगे, तथापि ये लिपिबद्ध वहुत वाद मे हुए है, इसमे कोई भी सदेह नही है। फिर भी बौद्ध काल के पूर्व से ही इनका लिपिबद्ध होना आरम्भ हो गया होगा, ऐसा कहा जा सकता है।

श्रुतियों का लिपिबद्ध होना

उपनिषद् के विषय

'उपनिषद्' वेद के ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत है। उपासना के लिए भी किसी-किसी उपनिषद् मे उपदेश है, किन्तु वह ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का परिचय देने के लिए है। जैसा पहले कहा गया है, उपनिषदो मे विना किसी क्रम के दार्शनिक विचार भरे है। इन्ही को मूल मान कर बाद के ज्ञानियो ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से दार्शनिक शास्त्र बनाये। 'वादरायण-सूत्रों' का तो आधार साक्षात् उपनिषद् ही है। प्रत्येक सूत्र एक-एक उपनिषद्-वाक्य का सक्षिप्त रूप है। यही कारण है कि वादरायण-सूत्र, 'वेदान्त-सूत्र' तथा उसके आधार पर रचा गया शास्त्र 'वेदान्त-दर्शन' कहलाता है और इसी लिए उपनिषद् को भी 'वेदान्त' कहते है। चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन का भी मूल तत्त्व उपनिषदो मे है। उन्ही के आधार पर अपने-अपने दार्शनिक विचारो को विद्वानो ने पल्लवित किया, इसमे कोई आश्चर्य की वात नही है। भिन्न-भिन्न दर्शन ज्ञान के भिन्न-भिन्न सोपान है और उपनिषद्

दार्शनिक सूत्रों का मूल

ज्ञान का भण्डार है। अतएव जितने प्रसिद्ध दर्शन हैं एव अन्य भी जो बनाये जा सकते हैं, सभी के मूल तत्त्व इन्ही उपनिषदो मे बिखरे हुए मिल सकते हैं।

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' है। संहिता से लेकर आरण्यक पर्यन्त जो 'ब्रह्म' आत्मा से भिन्न रूप मे प्रतिपादित है, वह उपनिषद् मे उससे अभिन्न माना गया है।[1] वास्तव मे इन दोनों के अभिन्न होने से अर्थात् दैवी तथा आध्यात्मिक, इन दोनो शक्तियों के एक होने से, 'आत्मा' के अतिरिक्त विश्व मे अब और कोई सत्-पदार्थ ही नही रहा। अब यह तत्त्व पूर्ण है। अतएव द्रष्टा और दृश्य दोनो मे अब कोई भेद नही रहा। 'आत्मन्' ही सर्वव्यापी है और विश्व के सभी पदार्थ इसी के गर्भ मे विलीन हो जाते हैं। इससे बहिर्भूत कुछ भी नही है। यही कारण है कि 'बृहदारण्यक उपनिषद्' ने कहा है[2]—

उपनिषद् का मुख्य विषय

'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः इत्यादि।'

इसी से यह स्पष्ट है कि संसार के जितने स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ हैं, सभी 'आत्मा' या 'ब्रह्म' के ही रूप हैं। जितनी वस्तुएँ ससार मे हैं, सभी का सार 'आत्मा' ही है।

आत्मा सब से प्रिय तत्त्व

उपनिषदो मे सब से विशेष महत्त्व 'आत्मा' को ही दिया गया है। कारण यह है कि इसके समान प्रिय वस्तु दूसरी नही है।[3]

इस प्रकार के 'ब्रह्म' या 'आत्मा' का लक्षण देना एक प्रकार से असम्भव है, तथापि ऋषियो ने अनेक प्रकार से इसके स्वरूप का वर्णन उपनिषदो मे किया है। यही 'आत्मा' या ब्रह्म प्राण, अपान, व्यान, उदान, इन वायुओ के रूप मे हमारे शरीर की रक्षा करता है। यही 'आत्मा' है, जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मरण से हमारा उद्धार करता है। इसी के ज्ञान से पुत्र की, धन की तथा स्वर्ग आदि लोको की प्राप्ति की इच्छा से विरक्त होकर मनुष्य परिव्राजक या सन्यासी का जीवन व्यतीत करता है।[4] आत्मा पूर्ण और अखण्ड है। यही कारण है कि सत्-असत्, छोटा-बड़ा, समीप-दूर, अन्त-बहि, आदि सभी विरुद्ध धर्मो

आत्मा का स्वरूप

---

[1] बृहदारण्यक, २-५-१९। [2] वही ४.४.५।
[3] बृहदारण्यक, ४-५-६। [4] वही, ४-५।

का यह आधार है। इसके पूर्ण और अखण्ड होने के ही कारण समान या विरुद्ध धर्मों का इसमे कोई भी विचार नही हो सकता। अतएव सभी दर्शनकारो ने इसी परम तत्त्व को विभिन्न रूप मे अपना-अपना मूल तत्त्व मान कर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न दर्शन-शास्त्रो की रचना की है।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान सब से पहले क्षत्रियो मे था और बाद को ब्राह्मणो ने इसे प्राप्त किया। इससे यह स्पष्ट है कि कोई भी इस ब्रह्म को जान सकता है, यदि वह सर्वथा अपनी तपस्या के अनुसार इस को पाने का अधिकारी है। वस्तुत. यह 'आत्मा' वेद के अध्ययन द्वारा प्राप्त नही होती और न अच्छी धारणाशक्ति के ही द्वारा। साधक जिस 'आत्मा' का वरण करता है, उस 'आत्मा' से ही यह प्राप्त की जा सकती है। उसके प्रति यह 'आत्मा' अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति कर देती है। यही उपनिषद् मे कहा गया है—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥'[1]

यह आत्मा न तो प्रवचन से, न मेधा से और न बहुत अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती है। जिस किसी को यह वरण करती है उसे ही यह मिलती है। उसे ही, अपने शरीर का ही यह आत्मा वरण करती है। यह परमात्मा का अपना ही अनुग्रह है। परन्तु 'आत्मा' का ज्ञान अन्त करण की परिशुद्धि के ही द्वारा प्राप्त होता है।[2]

ब्रह्म के रूप

'ब्रह्म' के मूर्त और अमूर्त ये दो रूप हैं। यह मर्त्य और अमर्त्य, स्थिर तथा अस्थिर (यत्), सत् (स्वलक्षण) तथा त्यत् (अवर्णनीय) है।[3] इसे ही 'परमात्मा' भी कहते हैं। यही 'परमात्मा', अविद्या के कारण बन्धन मे पडकर 'जीवात्मा' कहलाता है, पूर्व-जन्म के कर्म के अनुसार सुख और दु ख के भोग के लिए इस ससार मे आता है और जन्म-मरण से युक्त रहता है। ससार मे आने के समय अपने भोग के अनुकूल सर्वांगपूर्ण स्थूल शरीर को

जीवात्मा का स्वरूप

धारण करता है। अपने भोग के अनुकूल रहन-सहन, खाद्य और पेय आदि सभी आवश्यक सामग्री से युक्त होकर ही आता है। यह इस लोक और परलोक मे घूमता है और स्वप्नावस्था मे दोनो लोको का एक साथ ज्ञान प्राप्त करता है। स्वप्न मे भी इसे सुख और दु ख का अनुभव

[1] कठोपनिषद्, १. २. २३। [2] बृहदारण्यक, ४-४-१९।
[3] बृहदारण्यक, २-३-१।

होता है। स्वप्न मे यह स्वप्न के विषयो को देखने के योग्य एक दूसरा शरीर धारण कर लेता है, जो इसके स्थूल शरीर से भिन्न है। उपनिषद् का कहना है कि यह जीव

स्वप्नावस्था

अपने भोग के लिए स्वप्न मे स्वयं नवीन-नवीन विषयों की सृष्टि कर लेता है।[1] परन्तु वस्तुत. स्वप्न की भी सृष्टि ब्रह्म की ही है। जीवात्मा और ब्रह्म तो एक ही है।

जिस प्रकार स्थूल शरीर के अगो की शक्ति के क्षीण होने पर जाग्रत् अवस्था से स्वप्नावस्था मे जीव प्रवेश करता है, उसी प्रकार अपने जर्जर स्थूल शरीर को छोड़ कर अविद्या के प्रभाव से वह दूसरा नूतन शरीर धारण करता है। इसी शरीर के छोड़ने को 'मरण' कहते है। जीव के मरण के समय की अवस्था का वर्णन करते हुए उपनिषद्

मरणकाल में जीव का स्वरूप

कहती है कि जीव दुर्बल और संज्ञारहित हो जाता है और हृदय मे अवस्थित होता है। सबसे पहले उसका 'रूप' का ज्ञान नष्ट हो जाता है। अन्य इन्द्रियो के साथ-साथ अन्त.करण भी शिथिल हो जाता है। तव हृदय के ऊपर का भाग प्रकाशित हो उठता है। उसी प्रकाश के सहारे जीव अपने कर्म के प्रभाव के अनुसार शरीर के भिन्न-भिन्न छिद्रो

वासना से दूसरे जन्म का निर्णय

से बाहर निकल पडता है। उसके साथ-साथ उसकी 'जीवनी शक्ति' भी रहती है। उस समय भी जीव मे 'वासना' स्पष्ट रूप से भासित होती है। इसी 'वासना' के प्रभाव से जीव के भावी दूसरे जन्म के स्वरूप का निर्णय होता है।[2]

इस समय जीव ने, जैसा अपने जीवन मे, कर्म किया है, उसी के अनुसार उसको भविष्य जीवन भी होगा। अतएव इस स्वरूप को अच्छा वनाने के लिए जीवित

कर्मानुसार भविष्य जीवन

अवस्था मे उसे शुभ कर्म करना चाहिए, ज्ञान प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास करना चाहिए, एव उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थो के अध्ययन से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[3] इस प्रकार अच्छे कर्म करने से मरने पर जीव अच्छे स्वरूप को, अच्छे देश को तथा अच्छे शरीर को प्राप्त करता है। इसी से यह स्पष्ट है कि जीव इस लोक से परलोक जाता है और अपने कर्म के अनुसार सर्वत्र भोग करता है। तपस्या के कारण पुण्य के उदय होने से

---

[1] 'स्वयं निर्माय'—बृहदारण्यक, ४-३-९।

[2] बृहदारण्यक, ४-४-२। [3] शांकरभाष्य—बृहदारण्यक उपनिषद्, ४-४-२।

तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति जीवित अवस्था मे ही यदि किसी जीव को हो जाय, तो उसके ज्ञान के प्रभाव से उसकी वासना नष्ट हो जाती है, क्रियमाण कर्म का नाश हो जाता है एव सञ्चित कर्म भी शक्तिहीन हो जाता है। यह 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था है।

जीवन्मुक्ति

इस अवस्था मे प्रारब्ध कर्म के अनुसार जीव का स्थूल शरीर स्थिर रहता हे ओर पश्चात् प्रारब्ध का नाश हो जाने पर शरीर का पतन हो जाता है ओर जीवात्मा अपने स्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है। उसके वाद चरम पद की प्राप्ति होती है।[1]

सृष्टि की प्रक्रिया भी उपनिषद् मे वर्णित है। उसके अनुसार सृष्टि के आदि मे कुछ भी नही था। केवल मृत्यु थी। वाद को मन, जल, तेजस्, पृथ्वी और

उपनिषद् में सृष्टि-प्रक्रिया

अन्त मे प्रजापति की सृष्टि हुई। इसके पश्चात् सुर और असुर हुए।[2] एक दूसरे स्थान मे यह भी कहा गया है कि सवसे प्रथम पुरुष का और वाद को स्त्री का स्वरूप उत्पन्न हुआ और इन दोनो से विश्व की सृष्टि हुई।[3] इसी वात को **'द्यावा-भूमि जनयन् देव एक.'** इस मन्त्र मे कहा गया है। आकाश से सृष्टि होती है और उसी मे जगत् का लय भी होता है।[4] इस प्रकार अनेक रूपो मे सृष्टि का वर्णन है। सभी के अध्ययन से यही मालूम होता है कि सव से पहले एक अव्यक्त रुप था और और उसी से व्यक्त रूप मे जगत् की सृष्टि हुई है। यह अव्यक्त रूप ही तो 'परब्रह्म' है और समस्त जगत् इसी से उत्पन्न होता हे एव अन्त मे इसी मे लय को प्राप्त करता है। यही उपनिषद् मे कहा गया है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।
येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'[5]

अतएव ब्रह्म ही जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनो कारण है।

उपनिषदो मे भी कर्म की गति का सविस्तार वर्णन है। 'देवयान' तथा

उपनिषद् मे कर्म विचार

'पितृयान' मार्ग का वर्णन है। पुण्य-कर्मो से अच्छी योनि मे तथा पाप-कर्मो से कुत्सित योनि मे जीव को जन्म ग्रहण करना पडता है।

आत्मा के साक्षात्कार के लिए तथा ब्रह्मज्ञान के लिए जीव को कायिक, वाचिक

---

[1] **उमेश मिश्र—हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ ११२-११५।**

[2] **वृहदारण्यक, १-३-१; छान्दोग्य, २-१-१-९।**

[3] **वृहदारण्यक, १-४-१।** [4] **छान्दोग्य, १-९-१।** [5] **तैत्तिरीय उपनिषद् ३-१।**

तथा मानसिक संयम करना अत्यावश्यक है। सत्य का पालन करना, किसी की वस्तु का अपहरण न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, इन्द्रियों का निग्रह करना, हिंसा से विरक्त रहना, माता, पिता तथा अतिथियो का देवता के समान आदर करना, निन्दनीय कर्मो को न करना, ससार के विषयो को ब्रह्मज्ञान का शत्रु समझना, इत्यादि कर्मों के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए अपने अन्त.करण को हर तरह से पवित्र रखना अत्यावश्यक है।

आत्मसाक्षात्कार के उपाय

कायिक, वाचिक तथा मानसिक शुद्धि के द्वारा 'प्रत्यक्-चेतन' जो अपने में 'अहम्'-भाव के रूप मे है, उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए 'निदिध्यासन' की आवश्यकता है। अतएव योगशास्त्र के सावन की प्राप्ति करनी चाहिए। इसके लिए सब से पहले 'श्रद्धा' होनी चाहिए, पश्चात् गुरु के प्रति आत्मसमर्पण आवश्यक है। इसी के साथ-साथ 'अहम्भाव' की पराजय होती है और इसके अनन्तर ही ज्ञान का उदय होता है। ऐसा होने पर ही **'तत् त्वम् असि'**[१] का उपदेश जिज्ञासु को आचार्य देते है। अन्त करण शुद्ध होने के कारण 'जहत्' और 'अजहत्' लक्षणाओ के द्वारा साधक को 'तत्' (आत्मा) और त्वम् (जीवात्मा) के ऐक्य का ज्ञान हो जाता है। इसके पश्चात् साधक अपने ही शरीर मे **'अहम् ब्रह्म अस्मि'**[२] या **'सः अहम्'** आदि उपनिषद्-महावाक्य के उपदेश को गुरुमुख से सुनकर स्वय अपनी ही आत्मा मे 'ब्रह्म' का अनुभव करने लगता है। इस वाक्य के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर जीव **'अयम् आत्मा ब्रह्म'**[३] इस महावाक्य का अनुभव करने का अभ्यास करता है।

योगाभ्यास की अपेक्षा

आत्मज्ञान की अनुभूति-प्रक्रिया

इस अवस्था मे पहुँच कर साधक को क्रमश. 'तत्' 'त्व', 'अहम्' और 'अयम्' इन सभी भावनाओ का अपनी आत्मा के साथ अपने ही शरीर के भीतर ऐक्य का अनुभव हो जाता है। इस प्रकार जीव अपने स्वरूप का साक्षात्कार आत्मा के रूप

---

[१] छान्दोग्य, ६-८-७।

[२] बृहदारण्यक उपनिषद्, १-४-१०।

[३] बृहदारण्यक उपनिषद्, २-५-१९।

मे करने के अनन्तर, **'एकेन विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति'**[1] इस उपनिषद् महावाक्य के अनुसार, वह साधक सभी वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त कर **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**[2] की अनुभूति स्वय कर लेता है। यही उपनिपदो का रहस्य है, उपदेश है तथा चरम लक्ष्य है। इसी की अपरोक्षानुभूति से साधक दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति को प्राप्त करता है। वह बाद मे ससार-वन्धन से मुक्ति पाकर जन्म-मरण के पाश से सब दिन के लिए छुटकारा पाकर उस अनामय, सच्चिदानन्द परात्पर परम पद को प्राप्त कर इस ससार मे पुन नही आता।[3] इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्व एक ही है और उसी से सस्मत ससार की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और पुन अन्त मे उसी मे लीन हो जाती है। इसीलिए श्रुति ने कहा है—**'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'**।[4]

---

[1] पञ्चब्रह्मोपनिषद् २९-३०।

[2] छान्दोग्य, ३-१४-१।

[3] गीता, ८-२१; १५-६।

[4] छान्दोग्य, ६-१-४-६।

तृतीय परिच्छेद

भगवद्गीता में दार्शनिक विचार

उपनिपदो के द्वारा ज्ञान का विस्तार होता था। अधिकारी लोग इनके उपदेशो को आचार्यो के मुख से सुनकर उन पर तर्क-वितर्क के द्वारा मनन कर परम पद तक पहुँचने का प्रयत्न करते थे। किन्तु उपनिपद् के मन्त्र रहस्यपूर्ण हैं, इनके अर्थ को सभी सुगमता से नही समझ सकते और न तो सभी इन उपदेशो के समझने के पूर्ण अधिकारी ही हैं। इसलिए इनसे आपामर जनता को विशेष लाभ नही होता। परन्तु ज्ञान की प्राप्ति से कोई वञ्चित रह जाय, यह इष्ट नही है। इसलिए सरल रूप मे उपनिपद् की ज्ञान की वाते 'गीता' के उपदेशों के द्वारा जनता को प्राप्त होती है।

उपक्रम

उपनिपदो के उपदेशो के प्रचार के पश्चात् महाभारत का युद्ध हुआ। पाण्डवो के मुख्य योद्धा अर्जुन थे। कृष्ण भगवान् अर्जुन के रथ के सारथी थे। अर्जुन वहुत ही पराक्रमी थे। इनके समान वीर दूसरा कोई उन दिनो नही था। इनमे शक्ति, उत्साह, पौरुष और साधन, सभी पर्याप्त मात्रा मे थे, जिनके सहारे महाभारत के युद्ध मे इनकी जय निश्चित थी। सबसे वड़ी वात तो यह थी कि साक्षात् परब्रह्म परमात्मा कृष्ण के रूप मे इनके सारथी थे। पुन. जय प्राप्त करने मे शका ही क्यो हो सकती थी? इन वातो का अभिमान भी अव्यक्त रूप मे अर्जुन में अवश्य रहा होगा।

अर्जुन का अभिमान

परन्तु अभिमान की मात्रा अत्यधिक वढ गयी और युद्ध-क्षेत्र मे सुसज्जित रथ पर पहुँचते ही मोह ने अर्जुन को अभिभूत कर लिया। जिन-जिन सावनो पर उन्हे पूरा भरोसा था, वे सभी इनका साथ छोड गये। इनका प्रिय धनुष 'गाण्डीव' शक्तिहीन हो गया। अतएव पौरुषहीन हो कर, अपने अहकार की पराजय मान कर भगवान् के प्रति अर्जुन ने आत्मसमर्पण किया।

अर्जुन का मोह और आत्मसमर्पण

अर्जुन की विरक्ति

अर्जुन के मन मे एक मात्र भय और मोह था कि उनके अत्यन्त निकट के सम्बन्धी युद्ध मे मारे जायँगे। वे असख्य लोगो की मृत्यु के भय से व्याकुल हो गये थे। अपन प्रियजनो के मरणजन्य वियोग के दुःख को वह नहीं सह सकते थे। अतएव वह युद्ध नही करना चाहते थे।[1]

भगवान् का उपदेश

भगवान् कृष्ण भक्तवत्सल हैं। उनके प्रिय मित्र अर्जुन ने जब उनके प्रति आत्मसमर्पण किया, अपनी हार मानी, अर्थात् अपने अभिमान का तिरस्कार किया और अपने को उनका शिष्य बताया[2]—**'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वाम् प्रपन्नम्'**, तव भगवान् ने अर्जुन को ज्ञान का उचित उपदेश दिया। उपदेश का मुख्य विषय तो एक मात्र यह है कि 'मृत्यु' कोई अपूर्व वस्तु नही है। कोई मरता नही है। 'आत्मा' अजर और अमर है। जिस प्रकार पुराने फटे हुए वस्त्र को छोड़कर मनुष्य नवीन वस्त्र को धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा जर्जर और अकर्मण्य एक शरीर को छोड़कर दूसरे नवीन शरीर का ग्रहण करता है और उससे पुन. तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के मार्ग मे आगे बढता है।[3] अतएव अर्जुन को मृत्यु का भय करना सर्वथा अनुचित है। मृत्यु से डरना अर्जुन का अज्ञान है। इसी उपदेश के साथ-साथ और भी अनेक ज्ञान की बाते भगवान् ने अर्जुन से कही। इनके उपदेश को सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया और वे अपने कर्त्तव्य के मार्ग पर आगे बढे।[4] उपदेश सुनने के अनन्तर अर्जुन ने कहा—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥'

यही अति संक्षेप मे भगवद्गीता का साराश है।

ज्ञान और कर्म का उपदेश

इन बातो से स्पष्ट है कि उपनिषद् और गीता, इन दोनों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' के स्वरूप का निरूपण ही है। दोनो मे ज्ञानप्राप्ति के उपदेश के साथ-साथ कर्म करने का उपदेश है। गीता मे विशेपता है—निष्काम कर्म करने की। भक्ति के स्वरूप का विवेचन विशेष रूप से गीता मे है। ये वाते उपनिषदो मे भी हैं, किन्तु गीता मे सरल

[1] गीता, अध्याय १ ।
[2] गीता, २-७ ।
[3] गीता, अध्याय २ ।
[4] गीता, १८-७३ ।

तथा स्पष्ट शब्दो में इनका वर्णन है, जिससे साधारण जनता भी इन बातो को समझ सके। वस्तुतः जितनी बातें उपनिपदो मे है, वे सब गीता मे भी हैं। अतएव कहा गया है—

उपनिषद् और गीता

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥'

इसी लिए एक प्रकार से गीता भी 'उपनिपद्' कहलाती है। लोगो के लिए यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक ग्रन्थ है, जितना उपनिपद्। हर तरह के लोगो के लिए हर तरह के उपदेश गीता मे है। एक मात्र यही एक ग्रन्थ है, जिसके अध्ययन से शान्ति मिलती है और इसके उपदेश के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने से दु.ख की आत्यन्तिक निवृत्ति भी हो जाती है। यही तो भगवान् ने स्वयं कहा है—

गीता का महत्त्व

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'[1]

अर्थात् सभी धर्मो को छोड़कर एक मात्र मुझ में आत्मसमर्पण करो, मेरी शरण ग्रहण करो, और मैं तुम्हे सभी पापों से मुक्त कर दूगा। कोई चिन्ता न करो। इस ग्रन्थ के महत्त्व के सम्बन्ध में भगवान् ने स्वयं कहा है—

जो कोई मुझ में पराभक्ति रखकर इस परम गोपनीय गीता को मेरे भक्तो को सुनायेगा, वह निश्चय मुझको प्राप्त करेगा। उसके अतिरिक्त मनुष्यो में मेरा प्रिय करने वाला दूसरा कोई नही है और न हो सकता है। धर्म से युक्त जो भी हम दोनों के इस सवाद को, अर्थात् गीता को, पढेगा उसका मै इष्ट हूँ। जो कोई इस गीता के पाठ को श्रद्धा से और ईर्ष्यारहित होकर सुनेगा वह अवश्य ही मुक्त होकर दिव्य लोक को प्राप्त करेगा।[2] यही कारण है कि सभी लोग इस ग्रन्थ को साक्षात् भगवान् का उपदेश मानते है और अपनी-अपनी जीवन-यात्रा को सफल बनाने के लिए तथा चरम पद तक पहुँचने के लिए इसे पढते है। इस ग्रन्थ को पढ़ने से लौकिक तथा अलौकिक ज्ञान को लोग प्राप्त करते है।

---

[1] गीता, १८-६६।

[2] गीता, १८-६८-७१।

महाभारत के भीष्मपर्व का एक अश 'गीता' है (अध्याय २५–४२)। महाभारत को शास्त्रो मे 'पञ्चम वेद' कहा गया है। वस्तुत जनसाधारण के लिए तथा विद्वानों के लिए भी महाभारत, उपयोगिता की दृष्टि से, वेदों से भी विशेष महत्त्व का समझा जाता है और इसके वचन को श्रुति के समान ही सभी प्रामाणिक मानते है। यही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमें समस्त ज्ञान भरा है और जो इसमे नही है, वह कही नही है। इस ग्रन्थ को पढने का अधिकार सभी वर्णो को, स्त्री तथा पुरुष को एवं म्लेच्छो को भी समान रूप से है।[1]

महाभारत का महत्त्व

इसकी रचना के समय के सम्बन्ध मे बहुत-से विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत है। चिन्तामणि विनायक वैद्य, करन्दिकर, आदि विद्वानों का कहना है कि महाभारत की लड़ाई दिसम्बर ११, ३१०२ ईसा से पूर्व को आरम्भ हुई थी। प्रोफेसर अथवले का मत है कि ३०१८ ई० पू० मे लड़ाई आरम्भ हुई, प्रोफेसर तारकेश्वर भट्टाचार्य का कहना है कि १४३२-३१ ई० पू० मे लडाई आरम्भ हुई। ऐसी स्थिति मे गीता की भी रचना महाभारत के समय मे ही हुई होगी।

महाभारत का रचनाकाल

महाभारत के साथ-साथ गीता के उपदेश को भी व्यास ने ही इस रूप मे लिखा। सञ्जय ने धृतराष्ट्र को युद्ध की बाते सुनाने के अवसर पर अर्जुन को दिये गये गीता के उपदेश को भी उन्हे सुनाया। अतएव महाभारत के युद्ध के पश्चात् व्यास ने अपनी दिव्य शक्ति से महाभारत की लड़ाई की सभी बातो को जानकर इस ग्रन्थ की रचना की, चाहे वह १९०० ई० पू० या ३०१८ ई० पू० मे हुई हो।

गीता के प्रति आक्षेप

कुछ लोगो के विचार से 'गीता' के आधुनिक पाठ के सम्बन्ध मे अनेक सशय है—(१) गीता की रचना महाभारत के पश्चात् हुई और बाद को महाभारत में उसे जोड़ दिया गया। (२) गीता के उपदेश बहुत सक्षेप मे थे, बाद को उनका विस्तार किया गया। (३) गीता मे ७०० श्लोक है, यह सम्भव नही है कि इतने श्लोक पहले रहे होगे। इसके प्रमाण में भोज-पत्र पर लिखी हुई गीता की पुस्तक का उल्लेख किया जाता है। गीता की वर्तमान

गीता-ग्रंथ

---

[1] देखिए परिशिष्ट।

पुस्तक मे जो उपदेश है, वे युद्ध क्षेत्र मे, सेनाओ के बीच मे तथा इतने थोडे समय में देने के योग्य नही है। वे तो एकान्त मे, किसी शान्त आश्रम मे ही बैठकर दिये जा सकते है।

इस प्रकार के आक्षेपो के समाधान मे निम्नलिखित बाते कही जा सकती है--

आक्षेपों के समाधान

युद्ध-क्षेत्र मे आने के पहले अर्जुन को इस प्रकार का मोह, जैसा कि 'गीता' मे कहा गया है, कभी नही हुआ था। उनमे अभिमान भरा हुआ था और उन्हें अपने कर्तव्यपथ को दिखाने के लिए किसी की सहायता की अपेक्षा नही थी। अपने पौरुष पर उन्हे पूर्ण विश्वास था। इसलिए युद्ध-क्षेत्र मे उपस्थित होने के पूर्व, सर्वदा एक साथ रहते हुए भी, कृष्ण से अर्जुन ने पौरुष-प्रदर्शन के निमित्त किसी प्रकार की सहायता न माँगी। अन्य की सहायता की माँग तो अपनी पराजय स्वीकार करनी थी। अभिमान के रहते हुए अर्जुन ने कृष्ण से ज्ञान की बातो की माँग कभी भी नही की। परन्तु युद्ध-क्षेत्र मे उपस्थित होते ही अर्जुन का पौरुष हार मान गया, अहकार की पराजय हुई और मोह के वश में आकर अपने कर्तव्यपथ का निर्णय करने में असमर्थ अर्जुन ने कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया और शिष्य के रूप में कृष्ण से ज्ञान के उपदेश की याचना की।[1]

अर्जुन की याचना

अहंकार के रहते हुए ज्ञान का उदय नही होता, गुरु की कृपा नही होती तथा उपदेश ग्रहण करने की योग्यता नही होती। अतएव ज्यों ही अहकार दूर हो गया, अर्जुन ज्ञान के उपदेश को सुनने तथा मनन करने के अधिकारी हो गये, उसी क्षण कृष्ण भगवान् ने उन्हे ज्ञान का उपदेश दिया। इसमे एक क्षण भी विलम्ब नही किया जा सकता है। यह अवस्था तो युद्ध-क्षेत्र मे ही उपस्थित हुई, पहले नही। अतएव 'गीता' का उपदेश भगवान् ने अर्जुन को वही, अर्थात् युद्धक्षेत्र ही मे दिया, इसमे कोई सन्देह नही।

युद्ध-क्षेत्र में ही गीता का उपदेश

एक और बात कही जा सकती है। सम्भव है कि एक साथ रहते हुए इन दोनो मे इतनी घनिष्ठता हो गयी हो, जिसके कारण अर्जुन को कृष्ण भगवान् के शुद्ध स्वरूप का भान नही हुआ या वे उसे भूल गये थे। सस्कृत मे एक कहावत है कि 'अतिपरिचयाद् अवज्ञा'। इसीकारण युद्ध-क्षेत्र मे जाने के पूर्व कृष्ण के स्वरूप

---

[1] गीता, २-६-७।

का पूर्ण ज्ञान अर्जुन को नही था, यदि होता तो वह कुछ ज्ञान उनसे अवश्य प्राप्त कर लेते। यह बात अर्जुन ने स्वय स्वीकार की है—

'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायाऽर्हसि देव सोढुम्॥'

कृष्ण की महिमा का ज्ञान

तुम्हारी महिमा को न जानते हुए या तुम्हारे प्रति अत्यन्त प्रेम के कारण तथा अज्ञान के कारण मैंने जो तुम्हे विना सोचे समझे हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, आदि शब्दों से सम्बोधित किया एव जो हँसी की बाते अकेले मे तथा लोगो के सामने खेल मे, सोने के समय तथा भोजन के काल मे मैंने तुम्हारे साथ की, हे अच्युत! उन सब को आप क्षमा करें। आप स्थावर और जगम सभी के पालक है, पूज्य है, श्रेष्ठ है, गुरु है। आप के समान इन तीनो लोको मे दूसरा कोई नही है। आप का प्रभाव अतुलनीय है। अतएव साष्टाग प्रणाम कर आप से प्रार्थना करता हूँ कि जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के, मित्र अपने मित्र के, स्वामी अपनी स्त्री के अपराधो को क्षमा करता है, उसी प्रकार आप मेरे अपराधो को भी क्षमा कर दे।[१]

भगवान् की प्रतिज्ञा

ऐसे अवसर पर ही भगवान् की प्रतिज्ञा है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'[२]

---

[१] गीता, ११-४१-४४।
[२] गीता, १८-६६।

परम पवित्र ज्ञान का उपदेश देने के पूर्व शिष्य की परीक्षा करना अत्यावश्यक है। जब तक शिष्य सर्वात्मना ज्ञान प्राप्त करने की अपनी उत्कट इच्छा न प्रकट करे, अहकार को दूर न करे, आत्मसमर्पण न करे, यथार्थ में शिष्य न बने, तब तक गुरु का उपदेश उसे प्राप्त न होगा और उपदेश देना भी न चाहिए। यही बात हमे 'कठोपनिषद्' में यमराज और नचिकेता के दृष्टान्त मे मिलती है। इन बातो से यह स्पष्ट है कि युद्ध-क्षेत्र मे उपस्थित होने पर ही वह सुअवसर उपस्थित हुआ, जब भगवान् अर्जुन को 'आत्मा' के अमर और अजर होने का उपदेश दे सकते थे।

उपदेश ग्रहण करने की योग्यता

आत्मोपदेश के लिए उचित स्थान

एक और बात है—कृष्ण भगवान् ने भी इस अवसर को अपने हाथ से जाने न दिया। जिस प्रकार गुरु का मिलना कठिन है, उसी प्रकार सच्चे शिष्य का मिलना भी कठिन है। अतएव भगवान् ने उसी क्षण ज्ञान का उपदेश देना उचित समझा, क्योंकि सच्चे अधिकारी बन कर अर्जुन उपदेश ग्रहण करने के लिए हर तरह से उसी समय प्रस्तुत थे। सम्भव है कि इस अवसर का सदुपयोग न करने से, पुनः कोई आपत्ति आ सकती थी और कृष्ण उपदेश न दे सकते। इन बातो को मन मे रखकर भगवान् ने भी इसी अवसर पर अपना उपदेश देना उचित समझा।

उपदेश के लिए सुअवसर

रहा प्रश्न समय की अल्पता का। उसके सम्बन्ध मे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि कृष्ण साक्षात् परमात्मा के स्वरूप है। इनके ही बनाये जगत् के समस्त विषय है। इन की आज्ञा से नक्षत्र और तारे चमकते है। ये ही काल-स्वरूप है, अर्थात् देश और काल के निर्माता है। अपने वास्तविक स्वरूप का परिचय इन्होने विश्वरूप-दर्शन मे एव अन्यत्र भी अनेक प्रकार से दिया है। अतएव एक क्षण को अनन्त काल में तथा अनन्त काल को एक क्षण मे परिवर्तित करने की सामर्थ्य तो इन्ही मे है। इसलिए कौन कह सकता है कि 'गीता' के उपदेश के लिए भगवान् को कितना समय लगा होगा। उसकी माप करने वाले भी तो वही भगवान् है। अत यह प्रश्न हमारे विचार मे कोई बाधा नही दे सकता और यह प्रश्न भगवान् के स्वरूप को न जानने वाले ही कर सकते है, अन्य नही।

उपदेश के लिए समय

इन बातो को ध्यान मे रखते हुए उपर्युक्त प्रश्नो का समाधान बहुत ही सरल है। 'गीता' जिस स्वरूप मे हमारे सामने परम्परा से चली आती है, वही विश्वसनीय 'गीता' की पुस्तक है और उन्ही सात सौ श्लोको मे 'गीता' के उपदेश दिये गये है।

गीता के मुख्य उपदेश

अर्जुन को अपने कर्त्तव्य, अर्थात् दुष्टो का नाश करने के लिए युद्ध करने का उपदेश भगवान् ने तीन प्रकार से दिया है—पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक।

कर्तव्यपालन

'पारमार्थिक-दृष्टि' से कोई मरता नही है। 'आत्मा' अव्यक्त, अचल, अजर, अमर, सत्य, नित्य, अचिन्त्य, व्यापक है। जर्जर पुराने शरीर को त्यागना 'मरण' है और दूसरे अच्छे शरीर को स्वीकार करना 'जन्म' है। इस ससार मे किसी का नाश नही होता। 'आत्मा' का नाश किसी प्रकार से नही होता।[1] इन बातो को ध्यान मे रखने से यह विश्वास करना चाहिए कि कौरवो का नाश नही होगा, केवल उनका स्थूल शरीर वदल जायगा। अतएव युद्ध करने मे कोई दोष नही है।

वस्तु का नाश नहीं होता

'व्यावहारिक-दृष्टि' से मान लिया जाय कि सभी जीव मरते और उत्पन्न होते हैं, फिर भी ये सभी कौरव एक न एक दिन अवश्य मरेंगे और इस समय तुम इनके नाश मे एक निमित्त मात्र होते हो; और भी एक बात है, हे अर्जुन ! तुम क्षत्रिय हो। क्षत्रियो के लिए धार्मिक युद्ध से बढकर कोई दूसरा कल्याणप्रद कर्म नही है। इस प्रकार के युद्ध को पाकर क्षत्रिय लोग सुखी होते हैं। अतएव ऐसे युद्ध से विमुख हो जाना तुम्हारे लिए अधर्म है, अयशस्कर है और पाप है। तुम्हारी निन्दा होगी। इससे तो मरना ही अच्छा है। फिर मरने के लिए ऐसे युद्ध से अन्यत्र कौन-सा अच्छा स्थान तुम्हे मिलेगा ? इस युद्ध मे मरने से तुम्हे स्वर्ग मिल जायगा। इन बातो को सभी दृष्टिकोणों से सोचकर तुम्हे युद्ध करना उचित है।[2]

परम पद के जिज्ञासु को अपने कर्मो के फल की इच्छा कभी न करनी चाहिए। अनासक्त होकर कर्म को करते रहना चाहिए। यद्यपि 'गीता' मे अन्त मे ज्ञान को ही सबसे श्रेष्ठ कहा गया है[3] और ज्ञान की ही प्राप्ति से परम पद की प्राप्ति होती है, किन्तु कर्म और भक्ति के बिना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। बिना परा भक्ति के ज्ञान भी नही प्राप्त किया जा सकता

अनासक्त कर्म

---

[1] गीता, २-११-२५।

[2] गीता, २-२६-३८।

[3] गीता, ४-३३।

और यह भी सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म किये विना भक्ति नही मिलती। इन तीनो का परस्पर अति घनिष्ठ और एक प्रकार से अविनाभाव सम्बन्ध है।

भक्ति और भक्त की महिमा

भक्त और भक्ति की महिमा गीता मे स्वयं भगवान् ने अपने मुख से अनेक रूपो मे दिखायी है। भगवान् ने कहा है कि 'वह परम पुरुष, जिसके अन्दर सभी भूत है और जिसने समस्त विश्व का विस्तार किया है, केवल अनन्य भक्ति से मिलता है'।[1] 'जो भक्ति-पूर्वक मेरी सेवा करते हैं, उनके हृदय मे मैं निवास करता हूँ और वे भी मेरे हृदय मे रहते है।'[2] भगवान् के प्रति भक्ति होने के कारण ही अर्जुन ने विश्वरूप का दर्शन पाया।[3] इसी तरह से अनेक प्रसगों मे भगवान् ने भक्त और भक्ति की महिमा का वर्णन किया है।[4] भगवान् अपने भक्त का समस्त भार अपने ऊपर ले लेते हैं[5]—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥'

अनासक्त कर्म की महिमा 'गीता' मे वहुत अच्छी तरह कही गयी है।[6] किसी भी दशा में कर्म से च्युत न होना चाहिए, किन्तु अनासक्त होकर ही कर्म करना चाहिए।[7]

साधक को काम, क्रोध, लोभ तथा मोह से दूर रहना चाहिए।[8] सुख और दुःख में समान रूप से रहना चाहिए।[9] अपनी इन्द्रियो को तथा अन्तःकरण को अपने

---

[1] गीता, ८-२२।
[2] गीता, ९-२९।
[3] गीता, ११-५४।
[4] गीता, १४-२६; ११-२९।
[5] गीता, ९-२२।
[6] गीता, २-५५, ७१, ७२; ३-१९; ४-१९-२१।
[7] अध्याय, ४, ५, १२, १७, १८; उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ १४७-१५०।
[8] गीता, ४-१०; ५-२६; १८-५३।
[9] गीता, ४-२२।

वश मे रखना चाहिए।[1] भगवान् मे पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। भगवान् की ही प्रसन्नता के लिए कर्म करना चाहिए। भगवान् मे ही आत्मसमर्पण करना चाहिए।

साधक के कर्तव्य

ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए और भगवान् के साथ अपने को एक समझना चाहिए। जिज्ञासु या साधक पवित्र होकर एकान्त म वास करे। थोडा आहार करे। कायिक, वाचिक तथा मानसिक सयम करे और

भगवान् का स्मरण

भगवान् को छोड अन्य किसी वस्तु मे आसक्त न हो। अपने शरीर को इस प्रकार नियन्त्रित करे कि जिससे अन्तकाल मे केवल उन्ही भगवान् का स्मरण हो।[2] इसके लिए जीवन भर प्रयत्न करना चाहिए और स्मरण रखना चाहिए कि जीवन के अन्तिम क्षण मे जो भावना हृदय मे उत्पन्न होगी, वही आगे के जीवन को बनायेगी[3]—

'यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥'

शोक और मोह से जब लोग पीड़ित होते है, तब उन्हे अपने कर्तव्य का ज्ञान नही

शोक-मोह की निवृत्ति

रहता और वे अपने कल्याण के लिए कुछ भी नही सोच सकते, जैसा अर्जुन को हुआ था। उसी शोक और मोह को दूर करने के लिए 'गीता' के उपदेश है। यह बात भगवान् और अर्जुन के श्नोत्तर से प्रमाणित होती है। उपदेश देने के अनन्तर भगवान् ने अर्जुन से पूछा—

हे पार्थ ! क्या तुमने एकाग्र-चित्त से यह सब सुना ? क्या तुम्हारा मोह दूर हो गया ?

अर्जुन ने उत्तर मे कहा—

हे अच्युत ! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह दूर हो गया। मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया। मेरे मन मे कुछ भी सशय नही रहा। तुम्हारे कथन के अनुसार मै कार्य करूँगा।[4]

---

[1] गीता, २-६०-६१ ।

[2] उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ १४१-४२

[3] गीता, ८-६ ।

[4] गीता, १८-७२-७३ ।

लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्राण और अन्त.करण दोनो को एक साथ मिल कर साधना क़रनी पडती है। यौगिक साधनाओं का अभ्यास आवश्यक है, जिसमें आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, आदि अष्टाग योग की प्रक्रिया का अभ्यास नियम पूर्वक करना चाहिए।[1] यही सक्षेप में गीता के उपदेश है। इन्हे जान लेने से और कोई जानने का विपय रह ही नही जाता, यह भगवान् का अपना कथन है[2]—

योगाभ्यास की आवश्यकता

'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।'

निष्काम कर्म की महिमा बहुत बड़ी है। 'गीता' मे इसी प्रकार के कर्म करने का उपदेश है। जो कामना और अहभाव का परित्याग कर कर्म करता है उसे ही शान्ति मिलती है,[3] वही परमानन्द को प्राप्त करता है,[4] वही यथार्थ मे पण्डित है,[5] वही वस्तुतः सन्यासी है और उसे कर्मजन्य वन्धन नही मिलता,[6] वह सभी पापो से मुक्त रहता है,[7] ऐसे ही कर्म करने से अन्त.करण की शुद्धि होती है,[8] वही योग की सिद्धि को प्राप्त करता है,[9] वही सात्त्विक कर्म करने वाला होता है।[10] अतएव जो कर्म किया जाय उसके फल के लिए कभी भी इच्छा नही करनी चाहिए और वह कर्म केवल कर्तव्य की वुद्धि से ही करना चाहिए।[11] सत्त्व, रजस् और तमस् से वना हुआ मनुष्य का शरीर है। जव तक मनुष्य के शरीर मे रजोगुण रहेगा, मनुष्य को कर्म करना ही पडेगा। ऐसी स्थिति में अपने कल्याण के लिए तथा लौकिक एव पारलौकिक आनन्द की

निष्काम कर्म की महिमा

---

[1] गीता, ८-९-१३।
[2] गीता, ७-२।
[3] गीता, २-७१।
[4] गीता, २-७२।
[5] गीता, ४-१९।
[6] गीता, ४-२०।
[7] गीता, ४-२१।
[8] गीता, ५-११।
[9] गीता, ६-४।
[10] गीता, १८-२३।
[11] गीता, १८-८।

प्राप्ति के लिए भगवान् की प्रीति के लिए मनुष्य को सदैव निष्काम भावना से एवं कर्तव्य-बुद्धि से ही सभी कर्म करना चाहिए।

मुक्ति की अवस्था

यह कभी नही भूलना चाहिए कि जीव को प्रत्येक कर्म का भोग करना पडता है, चाहे वह भोग इस जन्म मे हो, चाहे दूसरे जन्म मे। जैसा कर्म होता है, वैसा ही उसका फल भी होता है। उचित और अनुचित कर्मों को पहचानने के लिए नीचे लिखी बातो का ध्यान रखना चाहिए।

उचित और अनुचित कर्म

मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य है—आत्मा का साक्षात्कार करना, परम पद को पाना, परमानन्द को पाना, इत्यादि। इन सब का एक ही अर्थ है। इनकी प्राप्ति के लिए साधना करनी पडती है। अपने जीवन के सभी कार्यों को इसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नियन्त्रित करना उचित है। अतएव जिन-जिन कार्यो के, छोटे या बडे, लौकिक या अलौकिक, करने से मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अग्रसर होता है, वे ही कार्य 'अच्छे' होते है, उन्हे ही 'पुण्य-कर्म' कहते है, उन्हे ही 'धार्मिक कर्म' कहते है और जिन कार्यो के करने से मनुष्य अपने लक्ष्य से दूर हटता है, वे 'अनुचित कर्म' है, 'पाप-कर्म' है तथा 'अधर्म के कार्य' है।

परा गति

इसके अनुसार जो लोग बहुत ही पवित्र कार्य करते है, जिन्हे ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है और जिनके कर्म 'ज्ञान' के तेज से दग्ध होकर भविष्य मे फल देने मे असमर्थ है, उन लोगो के मरने पर उनकी जीवात्मा 'देवयान मार्ग' से सूर्य की रश्मि को पकडकर ऊपर की ओर जाती है और वहाँ से लौट कर पुन. इस ससार मे नही आती है। उनके कर्मो का भोग समाप्त हो जाता है और उन्हे मुक्ति मिल जाती है। इसे **'परा गति'** कहते है।

अपरा गति

जो लोग साधारण रूप से अपना कर्म करते है, कुछ पुण्य और कुछ पाप भी करते है, उनकी मृत्यु होने पर उनकी जीवात्मा 'पितृयान मार्ग' से 'चन्द्रलोक' को जाती है और कुछ समय तक वहाँ रहकर पुन अवशिष्ट कर्म-वासनाओ का भोग करने के लिए इस ससार मे लौट आती है। इसे **'अपरा गति'** कहते है। इस मार्ग के अनेक भेद है और भिन्न-भिन्न कर्मो के अनुसार जीवात्मा भिन्न-भिन्न मार्गो से भिन्न-भिन्न लोको मे जाती है।

'परा गति' के भी कुछ भेद हैं। कोई जीव तो सीधे परम धाम में पहुँच जाते हैं और कोई अन्य लोको से होते हुए अन्त मे परम धाम पहुँचते हैं। इस मार्ग में जाने वाले जीवो को 'सद्योमुक्ति' मिलती है और किसी को 'क्रममुक्ति' भी मिलती है। इन जीवो का 'उत्क्रमण' होता है और ये सीधे ऊपर को ही जाते हैं।

परा गति के भेद

इनसे भिन्न कुछ जीव हैं जो ज्ञान प्राप्त करने पर भी इसी संसार में रहते हैं और परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। ये 'जीवन्मुक्त' कहे जाते हैं। प्रारब्ध कर्म के अनुसार जब वर्तमान शरीर सभी भोगो को समाप्त कर लेता है, तब उस शरीर का क्षय होता है और तभी वह जीवन्मुक्त जीव स्वतन्त्र होकर अनन्तधाम मे भगवान् मे मिल जाता है। ऐसे जीव जब शरीर से रहित हो जाते है, तब वे 'विदेह मुक्त' कहे जाते हैं।

जीवन्मुक्ति

पदार्थों का विचार

'गीता' कोई दर्शनशास्त्र तो है नही, फिर भी उद्देश्य इसका भी वही है, जो हमारे दर्शनो का है। इसलिए उस परम पद की प्राप्ति के लिए 'गीता' मे थोडा-सा मार्ग-प्रदर्शन है। इसमे उस परम लक्ष्य के स्वरूप का वर्णन तथा जगत् के विषयो का भी कुछ वर्णन है।

गीता मे तीन प्रकार के तत्त्वो का वर्णन है—(१) क्षर, (२) अक्षर और (३) पुरुषोत्तम। इस ससार के सभी जड-पदार्थ 'क्षर' है। इसे ही 'अपरा प्रकृति', 'अधिभूत', 'क्षेत्र' और 'अश्वत्थ' भी कहते हैं। विकारो का, करणो का तथा भूतो का यह मूल कारण है। आकाश आदि पाँच भौतिक परमाणु तथा पाँच तन्मात्राएँ 'विकार' है। मन, अहकार, बुद्धि, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एव पाँच कर्मेन्द्रियाँ 'करण' कहलाती है। इनके अतिरिक्त इनसे उत्पन्न राग द्वेष, सुख, दु ख, परमाणुओ का सघात, चेतना तथा धृति, ये 'क्षर' हैं। इन मे से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मनस्, बुद्धि और अहकार, ये आठ भगवान् की 'अपरा प्रकृति' के रूप है।[१]

तीन प्रकार के तत्त्व

[१] गीता, ७-४-५।

यह 'अपरा प्रकृति' भगवान् के साथ अनादि काल से सम्बद्ध है। यह अविशुद्ध है। इससे बन्धन की प्राप्ति होती है। प्रलय के काल मे समस्त भूत इसी मे लीन हो जाते है और इसी से पुन. सृष्टि के आरम्भ मे उत्पन्न होते है।[१] इसी 'प्रकृति' को अधिष्ठान मान कर भगवान् सृष्टि की रचना करते है।[२] इसी लिए भगवान् ने इस प्रकृति को **'मम योनिर्महद्ब्रह्म'** और अपने को **'अहं बीजप्रदः पिता'**[३] कहा है। 'यह प्रकृति' भगवान् की 'माया' से सर्वथा भिन्न है। इसी लिए भगवान् ने स्वय कहा है कि अपनी 'प्रकृति' को अधिष्ठान मान कर अपनी 'माया' की सहायता से मै ससार मे अवतार लेता हूँ[४]—

अपरा प्रकृति

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।'

'अक्षर तत्त्व' को 'जीव', 'परा प्रकृति', 'अध्यात्मा', 'पुरुष' तथा 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते है। यह 'अपरा प्रकृति' से ऊँचे स्तर का है और यही जगत् को धारण करता है।[५] भूतो का कारण,[६] भगवान् का अश[७] तथा मरने पर एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे प्रवेश करने वाली और इन्द्रियो के द्वारा विषयो का भोग करने वाली यह भगवान् की दूसरी 'प्रकृति' है। केवल अविद्या के कारण यह तत्त्व भगवान् से भिन्न देख पडता है।[८] यह 'उपद्रष्टा', 'साक्षी', 'अनुमन्ता', 'भर्ता', 'भोक्ता', 'महेश्वर' और 'परमात्मा' भी कहलाता है। जीव और भगवान् मे वास्तविक भेद न होने के कारण भगवान् के सभी गुण जीव मे भी है, परन्तु अविद्या के प्रभाव से ये गुण जीवित-दशा मे अभिव्यक्त नही होते।

परा प्रकृति

जीव और भगवान् में भेद

इनमे **'पुरुषोत्तम'** प्रधान तत्त्व है। इन्हे 'परमात्मा', 'ईश्वर', 'वासुदेव', 'कृष्ण', 'प्रभु', 'साक्षी', 'महायोगेश्वर', 'ब्रह्म', 'अधियज्ञ', 'विष्णु', 'परम पुरुष', 'परम

---

[१] गीता, ९-७।
[२] गीता, ९-८।
[३] गीता, १४३, ३-४।
[४] गीता, ४-६।
[५] गीता, ७-५।
[६] गीता, ७-६।
[७] गीता, १५-७।
[८] गीता, शकरभाष्य, १५-७।

अक्षर', 'योगेश्वर', आदि भी कहते हैं। सभी भूतों को उत्पन्न तथा नष्ट करने वाले यही है। त्रिगुणमयी 'माया' इनकी 'दैवी शक्ति' है, जो सदैव इनके साथ रहती है।

'माया' भगवान् की शक्ति है

यह 'माया' अचिन्त्य है, अतएव इसे न 'सत्' और न 'असत्' कहा जा सकता है। यह 'पुरुषोत्तम' सर्वव्यापी' है। इन्ही की प्रभा से अन्य सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती है। यह निर्गुण होते हुए सभी गुणो का भोग करने वाले है। यह साकार और निराकार दोनो ही रूप मे गीता में दिखाये गये है। यह सभी के अति निकट होते हुए भी सबसे दूर है। अखण्ड होते हुए भी सभी जीवो मे अलग-अलग विद्यमान है। यह ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानी लोग इनका दर्शन पाते है। समस्त जगत् इनमे लीन होता है। भिन्न-भिन्न पदार्थों मे जो सार वस्तु है, वह इन्ही का रूप है। त्रिगुणातीत होते हुए भी तीनो गुणो को उत्पन्न यही करते है। योगनिष्ठ ज्ञानी से यह अत्यन्त प्रेम करते है। वस्तुत. ज्ञानी इनके अपने ही स्वरूप है। गीता के सबसे विशिष्ट तत्त्व यही है। भगवान् ने स्वय कहा है कि मेरे इस स्वरूप को साक्षात् करने वाले भक्त मेरे भाव को प्राप्त करते है।[1] भगवान् का कहना है कि जगत् की सभी जड़ और चेतन वस्तुएँ 'पुरुषोत्तम' के ही स्वरूप हैं। यही तो 'उपनिषद्' मे भी कहा गया है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'गीता' मे भी कहा गया है—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।'[2]
'वासुदेवः सर्वमिति ।'[3]

इसी बात को 'गीता' मे अनेक बार अनेक रूप से भगवान् ने कहा है।[4] प्रलयकाल में समस्त जगत् 'प्रकृति' मे लीन हो जाता है और 'प्रकृति' भगवान् से अलग[5] होकर रहती है। यही भगवान् है और इन्ही की विभूति अन्त और बाह्य जगत् मे सर्वत्र है। ज्ञान-दीप के द्वारा अपने भक्तो के अज्ञान का नाश कर उनके अपराधो को भगवान् क्षमा करते हैं।

---

[1] गीता, १४-१९।
[2] गीता, ७-७।
[3] गीता, ७-१९।
[4] गीता, ६-२९-३०; ९-४।
[5] गीता, ९-४-७।

गीता के दसवे अध्याय मे भगवान् के स्वरूपो का जो वर्णन है, वह 'दिव्य' है, इसे 'विभूतियोग' के प्रदर्शन में उन्होने स्वय स्पष्ट बताया है। उन्होने अर्जुन से स्पष्ट

दिव्य रूप

कहा है कि मेरा जन्म और कर्म, सभी दिव्य हैं। इसीलिए भगवान् ने अपने 'ऐश्वरं योगम्' को देखने के लिए अर्जुन को 'दिव्य चक्षु' दिया था।[१]

अपने अवतार के सम्बन्ध मे भगवान् ने स्वयं कहा है—

अवतार का उद्देश्य

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥'[२]

अवतार के सम्बन्ध में एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि जिस प्रकार प्रत्येक जीव को इस संसार मे आने के लिए कर्म तथा पाँच भूतो की आवश्यकता होती है,

अवतार के लिए दो वस्तुओं की आवश्यकता

उसी प्रकार जब भगवान् अवतार लेने को होते हैं, तब उन्हे भी संसार मे रहने के उपयुक्त एक शरीर ग्रहण करने के लिए साधुओ की रक्षा करने की, दुर्जनो का नाश करने की तथा धर्म को स्थिर करने की इच्छा-शक्ति एव पाँच भूतों की सहायता की अपेक्षा होती है। यही बात उन्होने स्वय कही है—

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।'[३]

इसी कथन से यह भी स्पष्ट है कि 'प्रकृति' और 'माया' शब्द का गीता मे भिन्न अर्थो मे प्रयोग किया गया है।[४]

इन्ही बातो से यह भी स्पष्ट है कि भगवान् जगत् के स्रष्टा है, यह अपनी 'माया' से कभी भी अलग नही होते। यह स्वय 'आप्तकाम' है, फिर भी यह कर्म करने

[१] गीता, ११-८।

[२] गीता, ४-७-८।

[३] गीता, ४-६।

[४] उमेश मिश्र—हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० १७०-१७८।

से विरत नही होते। अपने कर्मो के द्वारा संसारी लोगो को कर्म करने की शिक्षा देने के लिए ही भगवान् स्वय कर्म करते है। यही बात भगवान् ने अर्जुन से कही है—हे पार्थ! इस जगत् मे मुझे कुछ भी करने को नही है, फिर भी मै कर्म करता हूँ। क्योकि मनुष्य मेरा ही अनुसरण करते है और मै यदि निष्क्रिय होकर बैठ जाऊँ, तो सभी कर्म करना छोड देगे, और ससार मे अनर्थ हो जायगा। इससे उत्पन्न दोष मेरे ही होगे, क्योकि जो बड़े लोग करते है, वही अन्य लोग भी अनुकरण करते है।[1]

भगवान् के कर्म करने का लक्ष्य

भगवान् स्रष्टा और साधुओ के रक्षक तथा धर्म के पालक है। वह सभी मनुष्यों को अच्छे कर्म करने का न केवल उपदेश देते है, अपितु अपने कर्मो के द्वारा आदर्श प्रस्तुत करते है। अतएव यह ससार के कल्याण के लिए मार्ग-प्रदर्शक भी है। भक्तो की रक्षा के लिए यह सर्वदा सब तरह से तैयार रहते है। ज्ञान के तो यह स्वरूप ही है। इस प्रकार पुरुषोत्तमरूप भगवान् 'कृष्ण' दार्शनिक परम तत्त्व है, सामाजिक सर्वश्रेष्ठ नियन्ता है तथा लौकिक जगत् को कल्याणपथ के प्रदर्शक है एव धर्म के पालक तथा सस्थापक भी है। इन बातो से यह स्पष्ट है कि गीता के जो 'परम तत्त्व' है वे सक्रिय तत्त्व है, वेदान्त के ब्रह्म के समान 'अवाङ्मनसगोचर' नही है। इसी लिए अद्वैत का जो रूप गीता मे है, वह एक स्वतन्त्र है और शाकर वेदान्त से सर्वथा भिन्न है।

भगवान् के कर्म

गीता का अद्वैत तत्त्व

गीता मे वासुदेव 'परम तत्त्व' है। मनुष्यरूप मे होते हुए भी यह 'दिव्य' है। एक ही समय मे अखण्ड और पूर्ण ब्रह्म होने के कारण यह निर्गुण और सगुण दोनो ही है। इन्हे अपनी शक्ति तथा स्वरूप का सदैव ज्ञान रहता है। अपने भक्त को ज्ञानमार्ग के तथा कर्तव्य के उपदेश देने के लिए सदैव यह तत्पर रहते है और अपने भक्तो के लिए कुछ छिपाते नही। यह उनके पिता है, मित्र है और सभी है। उनकी रक्षा और कल्याण का समस्त भार यह अपने ऊपर ले लेते है, वस्तुत यह उनके साथ एक हो जाते है। इनके उपदेश उत्साहपूर्ण है और मनुष्य को कर्तव्यपथ पर विश्वासपूर्वक प्रेरणा करते है। कर्तव्य का पालन किस प्रकार करना चाहिए, इस बात को भगवान् स्वय अपने कर्मो के द्वारा भक्तो को दिखा देते है।

वासुदेव-तत्त्व

---

[1] गीता, ३-२१-२४।

क्षत्रिय के लिए युद्ध करना अपना मुख्य कर्त्तव्य है, इस उपदेश से यह स्पष्ट है कि भगवान् 'वर्णाश्रमधर्म' के प्रतिपालक हैं। दूसरों के धर्म का अनुसरण करना कितना भयकर और अनर्थकारी है, यह भी भगवान् ने कहा है। अपने धर्म के लिए मरना भला है, किन्तु उसका त्याग नही करना चाहिए। भगवान् ने कहा है--

वर्णाश्रम धर्म

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥'[1]

'गीता' मे 'वासुदेव' तथा 'भगवान्' के स्वरूप का वर्णन देखकर यह मालूम होता है कि 'गीता' प्राचीन 'भागवत सम्प्रदाय' से विशेष सम्बन्ध रखती है। अतएव इसे 'वैष्णव-आगम' का ग्रन्थ कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि महाभारत के 'नारायणीय खण्ड' के अन्तर्गत गीता का पाठ है। इन बातो से यह कहा जा सकता है कि जो 'अद्वैत मत' इस ग्रन्थ मे वर्णित है, वह शाकर वेदान्त के 'अद्वैत' से भिन्न है।

गीता वैष्णवों का आगम

इस प्रकार यद्यपि गीता कोई दर्शन-शास्त्र नही, किसी दार्शनिक मत का प्रतिपादन करना इसका उद्देश्य नही, फिर भी कर्तव्यपथ को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से भगवान् ने मनुष्य-जीवन के धर्म, अर्थात् कर्तव्य का तथा दर्शन के चरम लक्ष्य का एव दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपाय का सुन्दर उपदेश इस ग्रन्थ मे दिया है। निष्पक्षपात दृष्टि से इसके उपदेशो को पढने से एव मनन करने से यह मालूम होता है कि यह जीवन की झझटो मे फँसे हुए लोगो का उद्धार करने वाला एकमात्र ग्रन्थ है। यह वास्तविक तत्त्व का प्रतिपादन करता है। अतएव इसका किसी भी मत से सम्बन्ध नही है और फिर भी यह सभी को प्रसन्न करने वाला ग्रन्थ है। यह सभी स्तर के साधको के लिए, ज्ञानियो के लिए, साधारण लोगो के लिए, एक अपूर्व ग्रन्थ है, जिसमे सभी की श्रद्धा है, भक्ति है तथा विश्वास है। इस प्रकार का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ हमारे साहित्य मे दूसरा नही है।

---

[1] गीता, ३-३५।

चतुर्थ परिच्छेद

चार्वाक-दर्शन

पहले ही कहा गया है कि जीव की सभी क्रियाएँ केवल अपने दु ख को दूर करने के लिए होती है और यह सभी को मालूम है कि 'आत्मा के दर्शन' से ही दु ख की निवृत्ति होती है। यही कारण है कि सभी 'आत्मा' की खोज करते है और उसके दर्शन के लिए साधनो को ढूढते है। कहने की आवश्यकता नही कि सभी जीवो की बुद्धि एक-सी नही होती। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार लोग 'आत्मा' की खोज करते हैं। उद्देश्य तो सभी का एक है, मार्ग भी एक ही है, परन्तु बुद्धि के विकास के भेद से तथा रुचि के भेद से एक को खटाई खा कर, तो दूसरे को मिठाई से, तीसरे को तिक्त रस से आनन्द मिलता है और दु ख की निवृत्ति मालूम होती है। अत जिससे दु ख की निवृत्ति मालूम होती है, उसे ही 'आत्मा' समझ लेना स्वाभाविक है।

उपक्रम

रुचि के अनुसार आत्मा का ज्ञान

परन्तु यह भी अनुभव का विषय है कि जिसको आज एक वस्तु से दु.ख की निवृत्ति होती है, तो कल भी पुन· उसी से उसकी दु ख-निवृत्ति होगी, यह निश्चित नही है। इसी प्रकार जिसे प्रिय होने के कारण आज हमने 'आत्मा' समझा है, वह पुन कल भी मुझे प्रिय होगा तथा उसे हम पुन. कल भी 'आत्मा' समझेंगे, यह भी निश्चित नही है। ज्ञान स्थिर नही रहता। कोरक में से जिस प्रकार पुष्प क्रमश. विकसित होता है, उसी प्रकार जीव मे भी ज्ञान का क्रमिक विकास होता है। इसलिए उस क्रमिक विकसित ज्ञान के प्रतिक्षण भिन्न होने के कारण हमारी दृष्टि भी प्रतिक्षण भिन्न होती रहती है। यह स्वाभाविक बात है। ऐसी स्थिति मे भी 'चरम लक्ष्य' एक ही एव स्थिर रहता है, यह नही भूलना चाहिए।

ज्ञान में परिवर्तन

इस प्रकार जीवन के विकास मे एक निम्नतम स्तर है जहाँ हमारी बुद्धि अत्यन्त स्थूल है। उस बुद्धि के अनुसार अत्यन्त स्थूल ही वस्तु का ज्ञान हमें प्राप्त होता है।

हमारी बुद्धि सबसे नीचे की सीढी पर खड़ी होकर 'आत्मा' की खोज मे, सुख की प्राप्ति के लिए व्यग्र है। ससार मे आने पर जीव का यह प्रथम अनुभव है और इस सीढी

अति स्थूल दृष्टि

पर खडे हो कर जो कुछ उसे अनुभव होता है उसका दिग्दर्शन यहाँ हमे कराना है। इस स्थिति मे जो ज्ञान है, उसी के अनुसार स्थलतम दृष्टि वाला दर्शन 'चार्वाक-दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार हमे केवल स्थूलतम वस्तुओ का ही ज्ञान होता है।

इस मत के आदि प्रवर्तक बृहस्पति कहे जाते है। शुक्राचार्य की अनुपस्थिति मे दानवो को बृहस्पति ने इस मत का उपदेश दिया था। यह मत पहले सूत्रो मे

मत के प्रवर्तक

रचित था। अतएव इन सूत्रो को *'बार्हस्पत्य सूत्र'* और इस दर्शन को 'बार्हस्पत्य दर्शन' भी कहते है। किसी का कथन है कि 'चार्वाक' नाम के एक ऋषि ने, जिनकी चर्चा महाभारत मे है, इस मत को चलाया। पुण्य, पाप तथा परोक्ष को न मानने वाला भी 'चार्वाक' का अर्थ है। मधुर वचन (चारु वाक्) वाला मत भी चार्वाक का अर्थ किया जाता है। 'लोकायत', 'लोकायतिक', 'बाह्य' नामो से भी यह दर्शन प्रसिद्ध है।

यह मत कब से चला, यह किसी लिखित प्रमाण के आधार पर नही कहा जा सकता, किन्तु जैसा पूर्व मे कहा गया है, यह हमारे ज्ञान के विकास का सबसे प्रथम

चार्वाक मत का आरम्भ

रूप है। ऐसी स्थिति मे यह सब से प्राचीन मत है, ऐसा कहने मे हमे कोई आपत्ति नही देख पडती। विद्वानो का कहना है कि ऋग्वेद मे[1] इस मत की चर्चा है। बृहदारण्यक मे याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को इस मत का उपदेश दिया है कि इन्ही पाँचो भूतो के मिलने से ज्ञान उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। मरने के पश्चात् ज्ञान नही रह जाता।[2]

श्वेताश्वतर उपनिषद् मे सृष्टि की उत्पत्ति के कारण के सम्बन्ध मे अनेक मत दिये गये है। इनमे से कुछ मत, जैसे 'कालवाद', 'स्वभाववाद', 'नियतिवाद' तथा

प्राचीन रूप

'यदृच्छावाद' 'भौतिकवाद' के ही प्रतिपादक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस सिद्धान्त के अनेक रूप थे और व्यापक रूप मे

---

[1] ७-८९-८।

[2] 'एतेभ्यो भूतेभ्य. समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीति' २-४-१२।

हमारे शास्त्रों में इसकी चर्चा भी पायी जाती है। इसी सम्बन्ध में उपर्युक्त 'वादों' का संक्षिप्त परिचय यहाँ देना उचित मालूम होता है।

एक प्रकार से भाग्याधीन विचार वालों का यह 'कालवाद' सिद्धान्त है। हमारे जीवन की सभी घटनाएँ भाग्याधीन ही हैं, यही इनका कथन है। युक्ति या तर्क का तथा कार्यकारणभाव का स्थान इनके मत मे नही है। शकराचार्य ने तो यहाँ 'काल' का अर्थ 'स्वभाव' या 'प्रकृति' किया है। इसके अनुसार यह कहा जाता है कि सभी कार्य अपने-अपने स्वभाव से ही होते है, किसी कार्य के होने मे किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नही होती। वरदराज मिश्र[1] आदि विद्वानो का कहना है कि सभी सामग्री के रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति नही होती है, जब तक उस कार्य के होने का 'समय' नही आता। इसमे किसी युक्ति की तथा कार्यकारणभाव की अपेक्षा नही है। इस मत का उल्लेख ईश्वरकृष्ण ने 'साख्य-कारिका'[2] मे, वात्स्यायन ने 'कामसूत्र'[3] मे, गौडपाद ने 'कारिका'[4] मे, उद्योतकर ने 'न्याय-वार्त्तिक'[5] मे किया है।

कालवाद

'स्वभाव' का अर्थ शकराचार्य ने **'पदार्थानां प्रतिनियतशक्तिः'**, अर्थात् 'प्रत्येक पदार्थ मे निहित एक अपनी शक्ति', जैसे जल मे शैत्य, अग्नि मे उष्णत्व, किया है। शकरानन्द का कहना है कि 'काल' भी स्वतन्त्र नही है। यदि अग्नि मे दहन करने की शक्ति न हो तो क्या 'काल' अग्नि से किसी को जला सकता है? अतएव 'कालवाद' की अपेक्षा 'स्वभाववाद' मे प्रगतिशील विचार है। इस मत मे भी युक्ति का कही स्थान नही है।

स्वभाववाद

एक बात इसमे विचारने की है कि यद्यपि 'स्वभाववाद' मे युक्ति का स्थान नही है और दार्शनिको ने इसका तिरस्कार भी किया है, तथापि यह देखा जाता है कि प्रारम्भ मे 'स्वभाव' पर निर्भर हो जाना और 'कार्यकारणभाव को न मानना' अनुचित तथा अप्रगतिशील विचार अवश्य है, किन्तु मनुष्य की विचारशक्ति तो सीमित है और किसी

'स्वभाव' की व्यापकता

---

[1] कुसुमाञ्जलिबोधिनी, पृ० ८ (बनारस, सरस्वतीभवन संस्करण)।

[2] कारिका, ५०।

[3] २-३५-३७।

[4] गौड़पादकारिका, ८।

[5] ४-१-२१।

वस्तु के सम्बन्ध मे विचार करते-करते अन्त मे तो 'स्वभाव' की शरण लेनी ही पडती है। अतएव यह कम महत्त्व का सिद्धान्त नही है। प्राचीन काल मे यह एक बहुत व्यापक सिद्धान्त था, इसका उल्लेख बौद्ध तथा जैनो के ग्रन्थो मे भी पर्याप्त रूप में है।[1] भट्ट उत्पल ने 'बृहत्सहिता' की टीका[2] मे भी इसकी चर्चा की है। उज्जवलदत्त ने तो इसके दो विभाग किये हैं—निसर्ग और स्वभाव।[3] 'न्यायसूत्र'[4] मे भी इसका उल्लेख है। इस प्रकार यह मत एक समय मे बहुत व्यापक था।

नियतिवाद—यह एक प्रकार से 'आकस्मिकवाद' का ही स्वरूप है। इस सिद्धान्त मे 'कृति' और 'पुरुषकार' का कोई भी स्थान नही है। सभी घटनाएँ पूर्व से ही नियत है और वे ही होती रहती है। किसी के पौरुष की अपेक्षा नही है।

यदृच्छावाद—शकराचार्य ने 'यदृच्छावाद' का आकस्मिक घटनाओ के साथ ऐक्य माना है। इस मत मे भी कार्यकारणभाव नही माना जाता। अमलानन्द सरस्वती ने इसकी 'स्वभाववाद' से भिन्न अर्थ मे व्याख्या की है।

'महाभारत[6]' मे 'देहात्मवाद' का, अर्थात् स्थूल शरीर ही 'आत्मा' है, इस मत का विस्तृत विचार है। इस मत वाले प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण मानते हैं। आगम तथा अनुमान प्रमाणो का स्थान इनके मत मे नही है। भूतो के सघटन से चैतन्य उत्पन्न होता है। स्मरणशक्ति भी भूतो के सघटन से उत्पन्न होती है। भोक्तृत्व भूतो मे है। चार्वाक का नाम महाभारत मे आया है।

महाभारत और रामायण में भौतिकवाद

'वाल्मीकीय रामायण'[7] मे लोकायतिको का उल्लेख है कि ये लोग असत्य बातो का प्रचार करते थे और अपने को ज्ञानी समझते थे। 'मनुसहिता' तथा अन्य पौराणिक ग्रन्थो मे भी इस मत का उल्लेख है।

---

[1] सरस्वतीभवनसंस्कृत स्टडीज, खण्ड २, पृ० ९७; उमेश मिश्र-हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ, २०३-२०५।

[2] १-७।

[3] न्यायकोश, पृ० ९७१ द्वितीय सस्करण।

[4] ४-१-२२।

[5] भामती-कल्पतरु, २-१-३३।

[6] शान्तिपर्व-मोक्षधर्म, २१८-२३-२९।

[7] अयोध्याकाण्ड, १००-३८-३९।

साहित्य

इस मत का कोई स्वतत्र ग्रन्थ नही मिलता। कहते है कि बृहस्पति ने इसके सिद्धान्तो को लेकर एक सूत्र-ग्रन्थ बनाया था, जिसके कुछ सूत्र हमें भिन्न-भिन्न ग्रन्थो मे मिलते है, उनका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

बृहस्पति के सूत्र—

(१) 'अथातः तत्त्वं व्याख्यास्यामः'—अब हम इस मत के तत्त्वो का निरूपण करेंगे।

(२) 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि'—पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार तत्त्व है।

(३) 'तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा'—इन्ही भूतो के सघटन को शरीर, इन्द्रिय, तथा विपय नाम दिया गया है।

(४) 'तेभ्यश्चैतन्यम्'—इन्ही भूतो के सघटन से चैतन्य उत्पन्न होता है।

(५) 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्'[1]—जिस प्रकार किण्व आदि अन्न के सघटन से मादक शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इन भूतो के सघटन से विज्ञान (चैतन्य) उत्पन्न होता है।

(६) 'भूतान्येव चेतयन्ते'—भूत ही 'चैतन्य' उत्पन्न करने का कार्य करते है।

(७) 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः'—चैतन्य-युक्त स्थूल शरीर ही 'आत्मा' है।

(८) जलबुद्बुद्वज्जीवाः—जल के ऊपर जैसे बबूले देख पडते है और शीघ्र ही आप से आप वे नष्ट हो जाते है, उसी प्रकार जीव है।

(९) 'परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः'—परलोक मे रहने वाले कोई नही होते, अतएव परलोक ही नही है।

(१०) 'मरणमेवापवर्गः'—मरण ही मोक्ष है।

---

[1] 'विज्ञानम्' के स्थान पर 'चैतन्यम्' भी कहीं-कहीं पाठ है।

(११) 'धूर्तप्रलापस्त्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्'—स्वर्ग का सुख धूर्तों के प्रलाप-जन्य सुख से भिन्न नही है, इसलिए स्वर्ग (सुख) को देने वाले तीनो 'वेद' वस्तुतः धूर्तों का प्रलाप ही हैं।

(१२) 'अर्थकामौ पुरुषार्थौ'—अर्थ और काम ये दोनो पुरुषार्थ हैं।

(१३) 'दण्डनीतिरेव विद्या' (अत्र वार्ता अन्तर्भवति)[1]—राजनीति ही एकमात्र विद्या है, इसी मे कृषिशास्त्र भी सम्मिलित है।

(१४) 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्'—प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।

(१५) 'लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः'—साधारण लोगों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

इन्ही बातो का उल्लेख पूर्वपक्ष के रूप मे हमे शास्त्रो मे मिलता है। भट्ट जयराशि के तत्त्वोपप्लव मे इस मत का विशेष विचार है।

तत्त्वों का विचार

यद्यपि उपर्युक्त सूत्रो मे ही इनके सिद्धान्तो की सभी बाते कह दी गयी है, तथापि इनकी व्याख्या की भी कुछ आवश्यकता है। अतएव इनके मन्तव्यो के सम्बन्ध मे सक्षेप मे विवेचना यहाँ की जाती है—

प्रमेय विचार

चार्वाक लोग स्थूलतम विचार वाले है। ज्ञान के विकास की प्रथम सीढी पर चढ कर ये लोग 'आत्मा' की खोज करते है। ऐसी स्थिति मे स्थूल दृष्टि से जो पदार्थ इनके सामने आते है उन्हे ही ये लोग 'प्रमेय' मानते हैं। वास्तव मे यही ठीक भी है। जो पदार्थ जिसकी दृष्टि मे आता है, उसे ही तो वह सत्य मानेगा, फिर आँख की देखी हुई वस्तु को कोई कैसे न माने? आँख ही तो सबसे अधिक विश्वसनीय देखने की इन्द्रिय है। इसलिए इनके सिद्धान्त मे पृथ्वी, जल, वायु तथा तेज ये ही चार पदार्थ ससार मे 'प्रमेय' माने जाते है। इन्ही से इस जगत् की प्रत्येक वस्तु बनती है।

किन्तु इस सिद्धान्त के समर्थको मे भी, एक ही सीढी पर रहने पर भी, क्रमशः ज्ञान का विकास होता ही रहता है। अतएव इनके अन्तर्गत भी अनेक भेदान्तर है, जिनका विचार आगे किया गया है। यही कारण है कि इनके एक दूसरे दल

---

१. 'वार्त्ता दण्डनीतिर्द्वे विद्ये'—इति बार्हस्पत्याः–काव्यमीमांसा, पृ० ४।

ने आकाश, प्राण और मनस् को भी जगत् के पदार्थों में मान लिया। इनके मत में

आवरण का अभाव आकाश

'आकाश' को 'आवरण' का 'अभाव' कहते है। यह हमारे शरीर मे नही रहता।[1] 'प्राण' और मनस्' उपनिषद् के अनुसार भौतिक पदार्थ है[2] और चार्वाक ने प्राय: इनके भौतिक होने के ही कारण इन्हे अपना पदार्थ स्वीकार किया है।

प्रमेयो का ज्ञान प्रमाण के द्वारा होता है। प्रमाण की संख्या प्रमेयो के स्वभाव पर निर्भर है। जितने ही प्रमाणो से प्रमेयो का ज्ञान हो जाय, उतनी ही सख्या में

प्रमाण

प्रमाणो को स्वीकार करना चाहिए। चार्वाको मे अति मूढ अवस्था वाले पृथ्वी, जल, वायु और तेज, ये ही चार 'प्रमेय' मानते है। इन चारो का ज्ञान एक मात्र 'प्रत्यक्ष' प्रमाण के द्वारा होता है। जिन वस्तुओ का प्रत्यक्ष नही होता, उनका अस्तित्व ये लोग नही मानते अथवा उनकी सम्भावना मात्र मानते है, परन्तु उनमे प्रामाण्य ज्ञान नही मानते। अतएव चार्वाक के लिए एक-मात्र प्रमाण 'प्रत्यक्ष' है। आकाश और मन को भी स्थूल बुद्धि से प्रत्यक्ष के द्वारा ये लोग जान लेते है।

पहले ये केवल चक्षु से देखने को 'प्रत्यक्ष' कहते थे, किन्तु ज्ञान के क्रमिक विकास

प्रत्यक्ष के भेद

से अन्य इन्द्रियो के द्वारा भी, अर्थात् कान, नाक, त्वक् तथा जिह्वा के द्वारा भी, 'प्रत्यक्ष' मानने लगे। इस प्रकार 'प्रत्यक्ष प्रमाण' पाँच प्रकार का माना जाने लगा।

यद्यपि सभी शास्त्रकारो ने एक मात्र 'प्रत्यक्ष प्रमाण' मानने के कारण चार्वाको की बहुत निन्दा की है और अनेक प्रकार से इनका खण्डन किया है, परन्तु उन लोगो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से चार्वाक के स्थान को देख कर उनके मत का तिरस्कार

मतखण्डन का अभिप्राय

किया है। दूसरी बात यह है कि अपने मत की पुष्टि के लिए और जिज्ञासुओ को श्रद्धापूर्वक अपने मत को समझाने के लिए दूसरे के मत का खण्डन करना पडता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि जिस मत का खण्डन किया है वह मत वास्तव मे अशुद्ध है। यदि

---

[1] सिद्धान्तबिन्दु, पृ० ११९, चौखम्भा संस्करण।

[2] छान्दोग्य उपनिषद्, ६-५-१।

ऐसा न किया जाय तो जिज्ञासु का मन भिन्न-भिन्न दर्शनों की ओर चले जाने से विचलित हो जायगा और उसे किसी भी दर्शन का पूर्ण ज्ञान न हो सकेगा। वस्तुत: एक दर्शन का दृष्टिकोण दूसरे के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। अतएव दोनो के सिद्धान्त मे भेद होना ही स्वाभाविक, उचित और सत्य है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

इन सब बातों के होने पर भी यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यथार्थ में सर्वथा एवं सबसे अधिक विश्वसनीय एक मात्र प्रमाण तो 'प्रत्यक्ष' ही है। जब तक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञान नही होता, तब तक उस वस्तु के सम्बन्ध मे जो ज्ञान होता है, वह सन्देह से मुक्त नही है। उसे केवल 'सम्भावित' कह सकते हैं, परन्तु विश्वसनीय तो प्रत्यक्ष होने पर ही हो सकता है। यही कारण है कि आत्मा को 'देखने' के लिए वेद ने कहा है। 'देखने' का अर्थ है 'प्रत्यक्ष प्रमाण का गोचर करना'। विना प्रत्यक्ष के, बिना साक्षात्कार के किसी वस्तु का वास्तविक ज्ञान नही होता। यही कारण है कि शकराचार्य को भी ब्रह्म को जानने के लिए 'अपरोक्षानुभूति' ही माननी पड़ी।

प्रमाणों का आधार

इसी के साथ-साथ यह भी विचार करना उचित है कि 'अनुमान' और 'उपमान' स्वतन्त्र प्रमाण नही हैं। ये 'प्रत्यक्ष' के ही आधार पर प्रमाण माने जाते हैं। 'आगम' या 'शब्द' प्रमाण तो वस्तुत 'प्रत्यक्ष' ही प्रमाण है। ऋषियो ने प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा साक्षात् अनुभव कर जो कुछ कहा है या लिपिबद्ध किया है, वही तो आज 'आगम प्रमाण' है। इस प्रकार विचारने से यह स्पष्ट है कि वस्तुत 'प्रत्यक्ष' ही एक सबसे अधिक श्रद्धा के योग्य, प्रामाणिक, सर्वतन्त्र और विश्वसनीय प्रमाण है। यही बात लोक मे भी देख पडती है।

उत्पत्ति की प्रक्रिया

स्रष्टा या ईश्वर

ये लोग प्रलय मे विश्वास नही करते। अतएव इस ससार को उत्पन्न करने के लिए स्रष्टा आदि की इन्हे अपेक्षा ही नही है। सृष्टि आप से आप या माता-पिता की परम्परा से हो जाती है। इसके लिए किसी स्रष्टा या ईश्वरेच्छा या अदृष्ट आदि के मानने की आवश्यकता नही है। घट, पट, आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे इनका कहना है कि क्षिति, जल आदि भूतो के सबसे छोटे-छोटे त्रसरेणु-रूप कणो के सस्थान-विशेष से घट आदि

पदार्थ बनते है। इनके मत मे 'सयोग' या 'समवाय' के द्वारा कणो का अवयव-अवयवी-रूप मे सघटन नही हो सकता, क्योंकि ये 'त्रसरेणु' क्षणिक है। एक क्षण के वाद ये नष्ट हो जाते है। अतएव इनसे 'अवयवी' नही वन सकता। त्रसरेणुओ के सस्थान-विशेप या केवल संघटन मात्र से ही वस्तुएँ वनती है। रूप, रस, गन्ध, आदि गुण भी पृथ्वी, जल, आदि भूतो के ही सस्थानो के द्वारा वनते है।[1]

संयोग तथा समवाय

शरीर मे जो चैतन्य या प्राण है, वह भी भूतो के सस्थान-विशेप से ही उत्पन्न होता है। इनकी उत्पत्ति यदृच्छावश होती है, किसी कारण-विशेप से नही। जिस प्रकार दो-चार वस्तुओ के मिला देने से उनमे प्रत्येक मे कोई मादकता शक्ति न रहने पर भी उनकी सम्मिलित अवस्था मे वह शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार भूतो के सघटन-विशेप मे अचानक 'चैतन्य' उत्पन्न हो जाता है। इसी से यह भी सिद्ध है कि जीवन के लिए उसके पूर्व-जीवन की आवश्यकता नही है। जिस प्रकार वर्षा के समय मे मेढक या छोटे-छोटे कीडे मकोड़े आप से आप भूतो से उत्पन्न हो जाते है, उसी प्रकार मनुष्य आदि जीवो मे भी 'चैतन्य' अचानक उत्पन्न हो जाता है।

चैतन्य और जीवन की उत्पत्ति

'त्रसरेणु' क्षणिक है, उनसे वने हुए पदार्थ या जीव के शरीर भी क्षणिक है, पुन एक क्षण के वाद पूर्व-शरीर के न रहने पर पूर्व-शरीर-जन्य कार्यो का फल या स्मरण आदि 'सस्कार' के द्वारा माना जाता है।[2]

संस्कार के द्वारा स्मृति

आचार-शास्त्र के सम्वन्ध मे इनका सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही सर्वथा निर्भर है। यही कारण है कि ये लोग 'ईश्वर', 'परलोक', 'मरने के वाद जीव का अस्तित्व', आदि नही मानते। इन्हे स्थूल शरीर की इन्द्रियो से तो ये देख नही सकते, फिर किस प्रमाण के आधार पर इनके अस्तित्व का विश्वास करे? अनुमान आदि प्रमाण विश्वसनीय नही है, अतएव ये ईश्वर आदि को नही मानते। इसीलिए इन्हे आस्तिक लोग 'नास्तिक' कहते है।

आचार-विचार

नास्तिक

---

[1] शंकरभाष्य भामती, ३-५४।

[2] न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ४३७, ४३९।

यह कहने की आवश्यकता नही है कि ये लोग ज्ञान की सोपान-परम्परा की प्रथम ही सीढी पर अभी चढे है, इसलिए इनकी दृष्टि भी तो बडी स्थूल है। ये दूर तो देख नही सकते, फिर दूर की बाते करना भी इनके लिए अनुचित है। इस स्थिति मे अपनी स्थूल बुद्धि के अनुसार जगत् का प्रत्यक्ष रूप मे इन्हे जो अनुभव होता है, उसे ही ये प्रतिपादित करते है और उतना ही प्रतिपादन करना उचित भी है। जितना ज्ञान का विकास एक शिशु को है, उतना ही इन्हे भी है। शिशुओं को परलोक या ईश्वर का ज्ञान कहाँ होता है? उन्हे पुण्य या पाप का भी कुछ ज्ञान नही होता। उन्हे अच्छे भोजन से, अच्छे खिलौने से, लुभाने वाले अच्छे सुगन्धित फूलो से, अच्छे वस्त्र से जिस प्रकार स्वर्ग-सुख मिलता है, वैसे ही इन्हे भी इन्ही अनुभवो मे 'स्वर्ग' के सुख का ज्ञान होता है। शारीरिक एव मानसिक दुःख ही इनके लिए 'नरक' है।

स्वर्ग और नरक

जिस प्रकार अति मूढ बालक 'खाओ, पीओ, मौज उडाओ' यही एक मात्र सिद्धान्त अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझता है, उसी प्रकार इनका भी——

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥'

यही एक सिद्धान्त है। पूजा-पाठ करना, वेद आदि धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन करना, दान करना, तीर्थों मे स्नान करना, सत्य बोलना, आदि सभी कर्म लोभ के कारण लोग करते है। ये लोभी पुरुषो के ढोग है। इनसे कोई प्रत्यक्ष सुख की प्राप्ति नही है और अप्रत्यक्ष सुख तो कोई है ही नही। जीवन-सुख के लिए जो कर्म हो, उसे ही ये लोग सार्थक मानते है। ये लोग उस 'कर्म' को 'धर्म' कहते है, जिससे अपनी कामना की पूर्ति हो।[1] कृषि-कर्म, पशुपालन, व्यापार, राजनीति, ये सब जीवन-सुख के लिए है,[2] अतएव इन्हे करना चाहिए।

जीवन-सुख

आत्मा का विचार

जैसा ऊपर कहा गया है, जीवमात्र दुःख की निवृत्ति के लिए, आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति के लिए या 'आत्मा' के दर्शन के लिए ही व्याकुल है। एक मात्र उसी

---

[1] षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्न की टीका, कारिका ८६, पृ० ३०८।

[2] सर्वसिद्धान्तसंग्रह, लोकायतमत, कारिका ८-१६-१८।

लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीव की सभी क्रियाएँ होती है। 'आतमा' के दर्शन से, साक्षात्कार से, दु ख की निवृत्ति होती है, यही तो वेद का एवं शास्त्रो का कहना है तथा ऋषियो का अनुभव भी है। अतएव सभी जीव 'आतमा' की खोज मे अपनी बुद्धि के अनुसार लगे रहते है।

आतमा की खोज

शास्त्र के अध्ययन के अनुसार यह कहा जा सकता है कि चार्वाको के मत में 'आतमा' का स्वरूप निम्नलिखित प्रकार का होना चाहिए---'आतमा' परतन्त्र न हो, सब से प्रिय वस्तु हो, चैतन्य रखने वाला हो, कर्म करने वाला हो, इत्यादि। यह भी सत्य है कि इनके मत मे जो 'आतमा' होगी, उसका प्रत्यक्ष अवश्य होगा। ऐसी स्थिति मे 'आतमा' भी कोई भूत या भूतो के सघटन से बना हुआ पदार्थ ही हो सकती है।

आतमा का स्वरूप

इसी के साथ-साथ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि दर्शनो के विचार-विमर्श मे 'आगम', 'तर्क' तथा 'अनुभव', इन तीनो का लोग ध्यान रखते है। यद्यपि चार्वाक-मत मे एक प्रकार से आस्तिको के आगम और तर्क का कोई भी स्थान नही है, फिर भी जो लोग आगम और तर्क को मानते है, उन्हे समझाने के लिए उनके ही आगम और तर्कों की सहायता चार्वाको ने अपने मत के स्थापन के लिए स्वीकार की है। इनको तो अपने मत के स्थापन से ही इष्टसिद्धि है, चाहे वह किसी प्रकार हो। हाँ, यह ध्यान मे सतत रखना है कि कोई विचार अपने सिद्धान्त के विरुद्ध न जाय। अतएव 'आतमा' के स्वरूप के विचार मे चार्वाको ने आस्तिको के आगम और तर्क का भी सहारा लिया है।

आगम, तर्क तथा अनुभव

ससार मे **'लौकिक धन'** को ही कुछ लोग 'आतमा' मानते है। सब से प्रिय उनके लिए ऐहिक 'धन' है। 'धन' के नष्ट होने से वे लोग शोक-ग्रस्त हो जाते है और मर जाते है। जीवन का सुख-दु ख 'धन' के होने और न होने पर ही निर्भर होता है। जिसके पास 'धन' होता है, वही स्वतन्त्र है, महान् है, सभी कर्म करने मे समर्थ है, वही ज्ञानी कहलाता है, इत्यादि बातो को देख कर **'धन ही आतमा'**[1] है, यह कहा जाता है।

धन ही आतमा

---

[1] बृहदारण्यक, १-४-८; वार्तिकामृत-सिद्धान्तबिन्दु मे उद्धृत, पृ० २०४-२०५।
वित्तात् पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात् तथेन्द्रियम्।
इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः॥---विवरण प्रमेयसंग्रह, १२।

इनसे कुछ अधिक ज्ञान वाले लोग कहते है कि 'धन' तो जड़ है, उसमे चैतन्य नही है। वह स्वय कुछ नही कर सकता है। इसलिए वस्तुत 'पुत्र' ही 'आत्मा' है। श्रुति मे भी कहा गया है—**'आत्मा वै जायते पुत्रः'**। पुत्र के सुख से पिता सुखी है और दु ख से दु.खी है। पुत्र के मरने से वह स्वय भी शोक-युक्त हो कर मर जाता है, यह ससार मे कही न कही साक्षात् देख पड़ता है। इन बातो के आधार पर **'पुत्र ही आत्मा'** है, यह कहा जाता है।

पुत्र ही आत्मा

देखा गया है कि घर मे आग लगने पर जलते हुए घर मे 'पुत्र' को छोड़ कर अपने को लोग बचाते है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुत्र से भी अधिक अपने 'शरीर' को लोग प्रिय मानते है। श्रुति भी कहती है—**'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** इत्यादि। सभी क्रियाएं तथा चैतन्य भी तो शरीर मे ही है। इसीलिए चार्वाक-सूत्र मे भी कहा गया है—

देहात्मवाद

'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः'

शरीर मे ही चैतन्य है। शरीर मे ही क्रिया होती है। शरीर के मरने पर न तो उसमे चैतन्य रहता है और न क्रिया। श्रुति ने भी कहा है—

'स वा एष अन्नरसमयः पुरुषः'[2]

'मै मोटा हूँ', 'मै दुबला हूँ', 'मै काला' या 'गौर वर्ण का हूँ', इत्यादि अनुभवो से भी **'शरीर ही आत्मा'** है[3], यही सिद्ध होता है। इसे **'देहात्मवाद'** कहते है। परन्तु यह भी मत ठीक नही है। 'इन्द्रियों' के अधीन 'शरीर' है। 'इन्द्रियाँ' ही क्रिया करती है। श्रुति मे भी यही कहा गया है—

इन्द्रियात्मवाद

'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरं प्रेत्य ऊचुः'[4]

अनुभव भी ऐसा ही है—'मै अन्धा हूँ', 'मै बहरा हूँ', इत्यादि। इन सभी अनुभवों मे 'मै' आत्मा के लिए ही आया है। इन बातो के आधार पर 'इन्द्रिय' को ही 'आत्मा' चार्वाको के एक दल ने माना है। इसे **'इन्द्रियात्मवाद'** कहते है।

---

[1] कोषीतकि उपनिषद्, १-२।

[2] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-१-१।

[3] वेदान्तसार, पृ० ९४; जीवानन्दपुत्र-संस्करण।

[4] छान्दोग्य उपनिषद्, ५-१-७।

'इन्द्रियात्मवाद' मे दो मत है—'एकेन्द्रियात्मवाद' तथा 'मिलितेन्द्रियात्मवाद'। एक शरीर मे एक ही किसी एक इन्द्रिय को 'आत्मा' मान लेना या सभी इन्द्रियो को मिला कर एक 'आत्मा' मान लेना।[१]

क्रमश ज्ञान के विकास के साथ-साथ इनकी दृष्टि भी सूक्ष्म की ओर जाती है और यह देखा जाता है कि वस्तुत 'प्राणो' के अधीन इन्द्रियाँ है। शरीर मे 'प्राणो' की प्रधानता है। 'प्राण' वायु के निकल जाने पर शरीर मर जाता है और इन्द्रियाँ भी मर जाती है और उसके रहने पर शरीर जीवित रहता है और इन्द्रियाँ कार्य करती है। अनुभव भी ऐसा ही होता है—'मै भूखा हूँ', 'मै प्यासा हूँ', इत्यादि। भूख और प्यास 'प्राण' का धर्म है। श्रुति ने भी कहा है—

प्राणात्मवाद

'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'[२]

इन बातो के आधार पर **'प्राण ही आत्मा'** है, यह भी किसी-किसी चार्वाको का मत है। इसे **'प्राणात्मवाद'** कहते है।

उक्त मत से सभी सहमत नही है। चार्वाको के एक दल का कहना है कि शरीर के समस्त कार्य 'मन' के अधीन है। यदि 'मन' निद्रा की अवस्था मे 'पुरीतत्' मे लीन हो जाता है, तो शरीर कार्य करने मे सर्वथा असमर्थ हो जाता है। 'मन' स्वतन्त्र है। यही ज्ञान को देता है। श्रुति मे भी यही कहा गया है—

आत्ममनोवाद

'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'[३]

इन बातो से यह स्पष्ट है कि **'मन'** ही **'आत्मा'** है। इसे ही—**'आत्ममनोवाद'** कहते है।

आत्मा के सम्बन्ध मे उपर्युक्त जितने सिद्धान्त कहे गये है, उनसे यह स्पष्ट है कि इनमे क्रमश स्थूल से सूक्ष्म की तरफ इन लोगो की दृष्टि बढती गयी है। धन, पुत्र,

---

[१] सिद्धान्तबिन्दु, पृ० १०७।
[२] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-२-१।
[३] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-३-१।

शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा मन, ये सभी एक न एक दृष्टिकोण से 'आत्मा' माने गये हैं और सूक्ष्मता के विचार से पूर्व-पूर्व कथित स्थूल मत का स्वय निराकरण हो गया है। परन्तु यह कभी नही भूलना चाहिए कि ये सभी मत एक सीढी पर रहने पर भी दृष्टिकोण के भेद से ही भिन्न हैं। एक सीढी पर रहने वालो मे भी क्रमिक ज्ञान का विकास तो होता ही रहता है। दूसरी सीढी पर जाने की अव्यक्त मानसिक चेष्टा तो होती ही रहती है और लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सभी विकासो का ज्ञान आवश्यक है। सूक्ष्म स्थान पर पहुँच कर पहले वाला मत अवश्य स्थूल और सब से अधिक प्रामाणिक रूप मे अग्राह्य मालूम होने लगता है, परन्तु है तो सभी ठीक।

यह 'भौतिकवाद' है। भूतो मे ही इस मत के सभी विचार निहित हैं। भूतो के परे जाने मे ये लोग असमर्थ हैं। ये तो अभी पहली ही सीढ़ी पर हैं। यही कारण है कि यद्यपि स्थूल दृष्टि से प्रत्यक्ष के द्वारा केवल चार ही भूतो का ज्ञान इनको हो सकता है, तथापि भौतिकवादी होने के कारण आकाश, प्राग और मन को भी पदार्थों मे इन्होने स्वीकार कर लिया है। 'प्राण' और 'मन' भी क्रमश. 'जलीय' पदार्थ तथा 'अन्न' से वने हैं, अतएव ये भी भौतिक हैं, यह छान्दोग्य उपनिषद् मे स्पष्ट कहा गया है[1]—

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते ।

तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।'

'आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते ।

तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः।'

अतएव ज्ञान के विकास के अनुसार क्रमश स्थूल भूत से सूक्ष्म भूत पर्यन्त इनके सिद्धान्त मे स्वीकृत होता है। भूतो के परे ये लोग नही जा सकते। इनका ज्ञानक्षेत्र भूत पर्यन्त मे ही सीमित है।

आलोचन

इस प्रकार चार्वाक-दर्शन का विचार यहाँ समाप्त हुआ। एक दर्शन की विचार-धारा का दूसरे दर्शन मे हम खण्डन पाते हैं। शास्त्रो मे इस प्रकार की एक परि-

---

[1] ६-५-१।

पाटी चली आयी है, किन्तु जैसा पूर्व मे हम कह चुके है, इस खण्डन का एक विशेप महत्त्व है। इस ग्रन्थ में हमारा उद्देश्य है भिन्न-भिन्न दर्शनो की विचारधाराओं का उन-उन दर्शनो के ही दृष्टिकोण से विचार करना, जिसमे हमे यह स्पष्ट ज्ञान हो जाय कि किम दर्शन का क्या मन्तव्य है। मुझे तो प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्तों का वास्तविक रूप में प्रतिपादन करना है। खण्डन करने का तो कोई प्रश्न ही नही उठता। वस्तुतः आजकल के विद्वानो के अनुसार खण्डन करना हम अनुचित तथा दर्शनशास्त्र के महत्त्व को भूल जाना समझते है। अपने-अपने स्थान से एवं अपने-अपने दृष्टि-कोण से सभी दर्शन परम तत्त्व ही को देखते है। मार्ग तो एक ही है। कोई आगे है, कोई पीछे और कोई बीच मे। भेद तो यही है। फिर तो खण्डन किसका? एक ही मार्ग के तो सभी पथिक है। जो आज पहली सीढी पर है, वही तपस्या के द्वारा ज्ञान के क्रमिक विकास को प्राप्त कर कल अन्तिम सीढी पर पहुँचता है, किन्तु सभी सीढ़ियां उसे अवश्य ही पार करनी पड़ती है। इसलिए चार्वाक-दर्शन का भी एक अपना स्वतन्त्र स्थान है। वस्तुत. यही तो बाद के दर्शनो की पृष्ठ-भूमि है। यदि शैशवावस्था न होती तो जरावस्था ही कहाँ से आती?

पञ्चम परिच्छेद

जैन-दर्शन

'ईश्वर' की अपेक्षा न रखने वाले दर्शनों में 'चार्वाक-दर्शन' के अनन्तर 'जैन-दर्शन' का स्थान है। जैनो के धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थो मे चार्वाक-मत का उल्लेख है।

ज्ञान के विकास में जैन-दर्शन का स्थान

दूसरी बात यह है कि चार्वाक-सिद्धान्त के अनुसार 'आत्मा' का स्वरूप भौतिक है। भूतों से पृथक् 'आत्मा' की सत्ता चार्वाकों ने नही स्वीकार की। किन्तु जैनो ने 'आत्मा' का पृथक् अस्तित्व माना है। 'आत्मवाद' का यह क्रमिक विकसित रूप है। अतएव यह स्पष्ट है कि जैन लोग ज्ञान के मार्ग में चार्वाको की अपेक्षा कुछ अग्रसर हुए हे। तथापि भौतिकवाद से सर्वथा मुक्त जैन नही हे। इनकी 'आत्मा' अलौकिक गुणो से सम्पन्न होने पर भी भौतिकता से सम्बन्ध रखती है। जैन-दर्शन मे 'आत्मा' 'मध्यम-परिमाण' की है, अर्थात् न तो यह (परम) 'अणु' परिमाण की है और न (परम) 'महत्' परिमाण की। आस्तिक-दर्शन में इन दोनो परिमाणो के अतिरिक्त परिमाण वाली वस्तुएँ अनित्य होती हे, जैसे घट, पट आदि भौतिक पदार्थ। इसलिए जैनो की 'आत्मा' भी भूतो के गुण से सम्पन्न है। इसके अतिरिक्त जैनो की आत्मा 'परिणामी' भी है। तीसरी बात यह है कि इनके जीव 'अस्तिकाय' कहलाते हे, अर्थात् जीव एक प्रकार का शरीरधारी है और यह छोटा और वडा होता रहता है एव इसके टुकडे भी किये जा सकते हे। ये सब गुण तो भौतिक पदार्थो के ही हे। अतएव यद्यपि जैन-दर्शन मे 'आत्मा' का स्थान भूतो से पृथक् है, तथापि भौतिकता से सम्बद्ध रहने के कारण चार्वाक-मत के पश्चात् निकट मे ही इस दर्शन का स्थान है, ऐसा मालूम होता है।

जैन-दर्शन एक नास्तिक दर्शन कहा जाता है और कुछ बातों मे आस्तिक दर्शनो से इस का स्वाभाविक मतभेद भी है, तथापि यह भी उसी मार्ग का पथिक है जिससे

होकर आस्तिक दर्शनो की विचारधारा बहती है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति या परम सुख की प्राप्ति, इनका भी चरम लक्ष्य है। कठोर तपस्या, साधना, आदि के द्वारा कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओ का नियन्त्रण कर अन्त.करण की शुद्धि करना एवं परमात्मा का साक्षात्कार करना, इनका भी चरम उद्देश्य है। इसी लिए जैन लोग 'सम्यक् दर्शन', 'सम्यक् ज्ञान' तथा 'सम्यक् चारित्र', इन तीन 'रत्नो' की प्राप्ति के लिए जीवन भर प्रयत्न करते है। ये सभी बाते आस्तिक दर्शनो मे भी है। अतएव यद्यपि जैनो को आस्तिक लोग 'नास्तिक' कहते है, फिर भी दार्शनिक विचार मे तथा ज्ञान के विकास मे तो जैन दर्शन भी उसी सोपान-परम्परा पर चढा है जिस पर आस्तिक लोग चढे है। भेद है स्वाभाविक दृष्टि-कोण का और एक ही मार्ग में आगे-पीछे रहने का।

आस्तिक दर्शनों के साथ सादृश्य

जैन सिद्धान्त के प्रवर्तक

महावीर से पूर्व का समय

जैन-सिद्धान्त के प्रवर्तक ऋषभदेव है। इनके साथ अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि के भी नाम लोग लेते है। जैनो का कहना है कि ये नाम ऋग्वेद[1] मे भी मिलते है। अतएव यह मत बहुत ही पुराना है। इसमे कोई सन्देह ही नही है कि सभी दर्शनों का मूल सिद्धान्त हमारे उपनिषदो मे है। उसी के आधार पर विद्वानो ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार दार्शनिक विचारो को चलाया है।

जैनो के चौबीस महापुरुष हुए है, जिन्हे वे 'तीर्थङ्कर' कहते है। उनके नाम है—आदिनाथ (ऋषभदेव), अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ या मल्लीदेवी, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा वर्धमान-महावीर। इसी आचार्य-परम्परा के द्वारा जैन-सिद्धान्त अनादि काल से सुरक्षित है।

आचार्य-परम्परा

---

[1] १-८९-६।

महावीर

वर्धमान, प्रसिद्ध महावीर, अन्तिम तीर्थङ्कर थे। इनका जन्म ईसा से पूर्व ५९९ मे हुआ था। यह तीस वर्ष की अवस्था मे परिव्राजक हुए और 'केवल-ज्ञान' की प्राप्ति के लिए व्रतो का पालन करते हुए इन्होने कठोर तपस्या की। इनका मनोरथ सफल हुआ और यह सर्वज्ञ हो गये। तभी से लोग इन्हे 'महावीर' कहने लगे। 'निर्ग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध साधुओ का एक दल था, जिसका लक्ष्य था सभी बन्धनो से मुक्त होना। उस दल के नेता महावीर हुए।

महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ थे। उन्होने बहुत-से कठोर नियमो का पालन कर अन्त करण की शुद्धि के लिए अपने शिष्यो को उपदेश दिया था। उन्ही उपदेशो के आधार पर महावीर ने अपना कर्तव्य-निश्चय किया। सर्वप्रथम इन्होने कहा कि साधुओ को भी इन्द्रिय-निग्रह कर कठोर-रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा ससार से निर्लिप्त रहना चाहिए। अन्त मे उन्होने सब साधुओ को 'दिगम्बर' रहने का आदेश दिया। उन्होने कहा कि जब तक साधु लोग वस्त्र का भी परित्याग नही कर देगे, तब तक उनके मन से अच्छे तथा बुरे का विचार दूर नही हो सकेगा एव वे लोग निर्लिप्त न हो सकेगे।

महावीर के उपदेश

किन्तु यह सभी को पसन्द नही हुआ। अतएव साधुओ मे दो दल हो गये—**'दिगम्बर'** तथा **'श्वेताम्बर'**। इस दलबन्दी से जैन-मत के बाह्यरूप मे ही भेद हुआ, किन्तु तात्त्विक विचार मे कोई परिवर्तन न हुआ।

अन्य ज्ञानियो के समान महावीर ने भी चित्तशुद्धि की बहुत आवश्यकता बतलायी, जिसके लिए उन्होने पुन सम्यक् चारित्र का सम्पादन करने का उपदेश दिया। 'केवल-ज्ञान' प्राप्त करने के लिए परिव्राजक होना, गृहस्थो से भिक्षा माँग कर जीवन का निर्वाह करना तथा निम्नलिखित नियमो का पालन करना आवश्यक है—

पांच व्रत

अहिंसा, असत्यत्याग, अस्तेयव्रत (चोरी न करने का नियम), ब्रह्मचर्यव्रत तथा अपरिग्रह (किसी प्रकार के धन को न लेना और न रखना)। इन पाँचो व्रतों का अनेक रूप से पालन करना चाहिए।[1]

---

[1] **यही तो मनु ने भी कहा है—**
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ (१०।६३)

साधुओं को अभिमान नही करना चाहिए और कायिक, वाचिक तथा मानसिक चेष्टाओं पर नियन्त्रण (गुप्ति) रखना उचित है एव मरण पर्यन्त कठिन से कठिन कष्ट को सहन करने का अभ्यास रखना चाहिए।

इस प्रकार शरीर, वचन तथा मन को वश मे लाकर साधुओं को अपनी जीवात्मा को मोक्ष के मार्ग मे अग्रसर करना चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित चौदहों **'गुणस्थानों'** का अनुभव तथा उससे प्राप्त ज्ञान का साक्षात्कार करना आवश्यक है। मोक्ष को प्राप्त करने के लिए ऊर्ध्वगतिशील जीव के स्वरूप के एक अवस्था-विशेष को **'गुणस्थान'** कहते हैं। ये 'गुणस्थान' चौदह है—

गुण-स्थान

(१) **मिथ्यात्व**—जैन के सिद्धान्त में मिथ्यात्व का विश्वास,

(२) **सास्रादन**—जैन-सिद्धान्तो मे अश्रद्धा तथा जैनेतर सिद्धान्तो मे विश्वास,

(३) **मिश्र**—जैन-सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे सत्य और असत्य दोनों भावनाओ की समानता रखना,

(४) **अविरत-सम्यक्त्व**—जैन-सिद्धान्तो मे सशय से युक्त विश्वास का उदय,

(५) **देशविरति**—मनोनिग्रह मे प्रगति,

(६) **प्रमत्त**—समय-समय पर असफल रहने पर भी अहिंसा, अस्तेय, आदि नियमो का पालन करना,

(७) **अप्रमत्त**—अहिंसा, आदि नियमो के पालन मे पूर्ण सफल रहना,

(८) **अपूर्वकरण**—अननुभूतपूर्व आनन्द और सुख का अनुभव करना,

(९) **अनिवृत्तिकरण**—क्रोध, मान, माया तथा लोभ, इन चारो 'कषायो' मे से तीसरे, अर्थात् 'माया' से रहित-सा होना,

(१०) **सूक्ष्मसाम्परायं**—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के अनुभवो से मुक्त होकर पीडा, भय, शोक, आदि से भी रहित होना,

(११) **उपशान्तमोह**—'मोहनीय' कर्मो को अपने अधिकार मे लाना,

(१२) **क्षीणमोह**—'मोहनीय' कर्मो से तथा 'कषायो' से सर्वथा विमुक्ति की अवस्था मे रहना,

(१३) **सयोगि-केवली**—सभी 'घातीय' कर्मों से विमुक्त होकर तीर्थंकर के पद की प्राप्ति के योग्य होना। इस अवस्था मे जीव को अनन्त ज्ञान, अनवच्छिन्न अन्तर्दृष्टि, अनन्त सुख तथा असीमित शक्तियाँ मिलती हैं। इस अवस्था को प्राप्त कर जीव परिव्राजक होकर लोगो को उपदेश देता है।

(१४) **अयोगि-केवली**—इस अवस्था को प्राप्त कर जीव सीधे विमुक्त होकर 'सिद्ध' कहलाने लगता है और ऊपर की ओर गति को प्राप्त करता है। ऊपर उठकर 'लोकाकाश' तथा 'अलोकाकाश' के बीच मे स्थित 'सिद्ध-शिला' मे 'जीव' वास करता है। मुक्त होने पर भी 'जीव' अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता ही है।

इन साधुओ में 'तीर्थंकर' का पद सब से बडा है। इस अवस्था को प्राप्त कर 'सम्यक् ज्ञान', 'सम्यक् वाक्', 'सम्यक् चारित्र', श्रद्धा, आदि से युक्त होकर जीव 'साधु' हो जाते हैं। किसी प्रकार का रोग एव भय इन्हे नही सताता।

तीर्थंकर

वर्षाऋतु के चार मास ये किसी एक स्थान मे अपने शिष्यो के साथ व्यतीत करते हैं, अवशिष्ट आठ मास ये एक स्थान से दूसरे स्थान मे घूम कर लोगो को जैन धर्म का उपदेश देते हैं। इनमे 'घातीय' कर्म नही रहते और ये अनन्त शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं।[1] इन मे 'मतिज्ञान', 'श्रुतज्ञान', 'अवधिज्ञान' एव 'मन पर्याय-ज्ञान' स्वभावत होते हैं। कर्म-बन्धनो से मुक्त हो जाने पर 'केवल-ज्ञान' भी इन मे हो जाता है।[2] जैनो के एक दल (दिगम्बरो) का कहना है कि स्त्री-जाति के लोग कभी तीर्थंकर नही हो सकते, उन्हे मुक्ति प्राप्त करने का अधिकार नही है।[3]

इस प्रकार महावीर ने अपने शिष्यो को उपदेश देते हुए राजगृह के समीप पावा मे, ७२ वर्ष की अवस्था मे, ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व, निर्वाण प्राप्त किया।

---

[1] द्रव्यसंग्रह, कारिका ५०।

[2] हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृष्ठ ३२-३३; पन्द्रह पूर्वभावो की भूमिका, भाग १, पृ० २४।

[3] उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० २२८; हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ० ५६-५७।

महावीर के पूर्व २३ तीर्थंकर हुए थे, किन्तु जैन धर्म को एक नियत रूप देने का श्रेय महावीर को ही है। इनके शिष्यो मे कुछ 'साधु' थे और कुछ 'गृहस्थ'। स्त्री तथा पुरुष दोनो ही इस धर्म में दीक्षित होते थे। इन लोगो का एक 'सघ' होना था और ये लोग एक आश्रम मे रहते थे, जिसे लोग 'अपासरा' कहते है।

'स्थविरावली' के अनुसार महावीर के नौ प्रकार के शिष्य थे जो 'गण' कहलाते थे। इनका एक निरीक्षक होता था, जिसे जैन लोग **'गणधर'** कहते थे। ऐसे ११

गणधर

'गणधर' थे, जिनके नाम—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डिक, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य तथा प्रभास थे। इनके अतिरिक्त गोशाल तथा जमालि भी महावीर के मुख्य शिष्यो मे थे।

महावीर की शिष्य-परम्परा

इन शिप्यो की परम्परा ३१७ ईसा के पूर्व तक चली। इनमें कतिपय शिष्यो ने 'सघ' का कार्य वहुत सुन्दर रूप से चलाया और वे वड़े प्रसिद्ध हुए। इन मे 'भद्रवाहु' का नाम विशेप-रूप से उल्लेख्य है। ३१७ ईसा के पूर्व मे इन्होने 'सघ' का कार्य अपने हाथ मे लिया और ३१० मे मगध मे वड़ा अकाल पड़ा। इसलिए 'स्थूलभद्र' के ऊपर 'सघ' का भार देकर समर्थ शिप्यो को साथ लेकर 'भद्रवाहु' दक्षिण देश को भिक्षाटन के लिए चल दिये। स्थूलभद्र ने इस मध्य मे पाटलिपुत्र मे साधुओ की एक महती सभा की जिसमे जैन धर्म के 'अगो' का सग्रह करने का प्रयत्न किया गया। वहुत दिनो के वाद भद्रवाहु लौटे और उन्हे उपर्युक्त सभा की कार्यवाही पसन्द न पडी तथा उनके परोक्ष मे स्थूलभद्र की आज्ञा से जैन साधुओ ने वस्त्र पहनना भी आरम्भ कर दिया था, यह भी भद्रवाहु को अनुचित मालूम हुआ। भद्रवाहु फिर यहाँ नही ठहरे और अपने शिष्यो

श्वेताम्वर और दिगम्वर

के साथ अन्यत्र चल दिये। इस प्रकार जैन साधुओ के दो दल हो गये—एक 'श्वेताम्वर' और दूसरा 'दिगम्बर'। भद्रवाहु ने २९७ ईसा के पूर्व मे परलोक की यात्रा की। स्थूलभद्र २५२ ईसा पूर्व तक जीवित थे।

श्वेताम्वर तथा दिगम्वर जैनों में परस्पर भेद

महावीर तथा भद्रवाहु के द्वारा चलाया हुआ 'दिगम्वर-सम्प्रदाय' लगभग ८२ ईसवी मे आकर सर्वथा 'श्वेताम्वर-सम्प्रदाय' से भिन्न हो गया। दिगम्वरो के चार मुख्य विभाग हुए—'काष्ठासघ', 'मूलसघ', 'माथुरसघ' तथा 'गोप्यसघ'। इन चारो

मे परस्पर बहुत ही साधारण भेद था। 'गोप्यसघ' श्वेताम्बरो के विचार से बहुत सहमत था।

उपर्युक्त दोनो मुख्य दलो के प्रधान-भेद निम्नलिखित है —

(१) 'श्वेताम्बरो' के अनुसार उन्नीसवे तीर्थकर 'मल्ली' स्त्री-जाति के थे; 'दिगम्बरो' का कहना है कि स्त्री-जाति इस पद की अधिकारिणी नही हो सकती, अतएव वह तीर्थकर भी पुरुष ही थे।

(२) 'दिगम्बरो' के अनुसार हिजडे तथा स्त्रियो को मुक्ति नही मिल सकती है। उन्हे मरने के पश्चात् पुरुष का जन्म प्राप्त करने पर ही मुक्ति का अधिकार हो सकता है।

'श्वेताम्बरो' का कहना है कि तपस्या के प्रभाव से सम्यक् ज्ञान स्त्रियो को भी मिल सकता है, पुन उन्हे भी मुक्ति क्यो नही मिलेगी ?

(३) 'श्वेताम्बरो' का कहना है कि महावीर विवाहित थे, 'दिगम्बर' इसे स्वीकार नही करते।

(४) 'दिगम्बरो' के मन मे 'केवल-ज्ञान' प्राप्त करने पर 'साधु' कोई वस्तु नही खाते। 'श्वेताम्बरो' का इसमे विश्वास नही है।

(५) 'दिगम्बर' का कथन है कि साधुओ को वस्त्र धारण नही करना चाहिए। 'श्वेताम्बर' के अनुसार उन्हे श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए।

(६) 'दिगम्बरो' के अनुसार तीर्थङ्करो की मूर्ति को वस्त्र नही पहनाना चाहिए और न कोई आभूषण ही उन्हे देना चाहिए। 'श्वेताम्बरो' को यह पसन्द नही है।

(७) तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के रचयिता 'उमास्वामी' नाम के जैन विद्वान् को 'दिगम्बर' लोग 'उमास्वाती' कहते थे और 'श्वेताम्बर' उन्हे 'उमास्वामी' कहा करते थे।

(८) 'दिगम्बरो' का कहना है कि पाटलिपुत्र मे स्थूलभद्र ने जो सभा की थी और जैन धर्म-ग्रन्थो का सग्रह किया था, वह सब किसी महत्त्व का नही है, क्योकि उसके बहुत पूर्व ही जैन धार्मिक ग्रन्थो का, अर्थात् 'पुव्वो' और 'अगो' का नाश हो चुका था। 'श्वेताम्बर' इसे नही स्वीकार करते।

(९) इन दोनों सम्प्रदायों मे जैनो के धार्मिक ग्रन्थो के नामों मे भेद है।

(१०) 'श्वेताम्बरो' का कहना है कि ५७ ईसा के पूर्व मे सिद्धसेन दिवाकर ने राजा विक्रमादित्य को जैन धर्म मे दीक्षित किया था, किन्तु 'दिगम्बरो' का विश्वास है कि यह दीक्षा १८७ से २७१ ईसा के पश्चात् काल मे हुई थी।

(११) 'दिगम्बरो' का तथा कतिपय 'श्वेताम्बरो' का कहना है कि केवलियों मे 'ज्ञान' और 'दर्शन' ये दोनो गुण एक ही साथ अभिव्यक्त होते है। 'श्वेताम्बरो' के मत मे ये क्रमश· उत्पन्न होते है।

(१२) 'दिगम्बर' सम्प्रदाय के साधु लोग एकान्त-वास करते है, किन्तु 'श्वेताम्बर' सम्प्रदाय वाले साधु परिव्राजक होकर एक स्थान से दूसरे स्थान मे घूमते रहते है।

इन भेदो के अतिरिक्त और भी अति साधारण वातों मे इन दोनो सम्प्रदायो मे कुछ न कुछ भेद है।[1] परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि इनके भेद नाममात्र के लिए है। वास्तविक व्यावहारिक एक मात्र भेद है—'वस्त्र का पहनना' और 'न पहनना'। इनकी वाह्य क्रियाओ मे कुछ भेद है, किन्तु तात्त्विक भेद तो कुछ भी नही मालूम होता।

साहित्य

स्थूलभद्र के प्रयत्न से पाटलिपुत्र की सभा मे धार्मिक ग्रन्थों का जो संग्रह हुआ था, वह सर्वमान्य नही हुआ, यह पूर्व मे कहा गया है। अतएव ४५४ ई० में भावनगर (गुजरात) के समीप वलभी नाम के स्थान मे दूसरी सभा देवर्धिगणि की अध्यक्षता में हुई और उसमे इन ग्रन्थो के संग्रह के लिए विचार किया गया। दुर्भाग्यवश पुन इन लोगो मे एकमत न हो सका, तथापि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के निम्नलिखित आगमिक ग्रन्थो का सग्रह किया गया है, जिन्हे अग भी कहते है। अगो के नाम ये है—

१ आयारागसुत्त (आचारांगसूत्र), २. सूयगडंग (सूत्रकृतांग), ३. थाणग (स्थानाग), ४. समवायाग, ५ भगवतीसूत्र, ६ नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा),

---

[1] उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ २४७-२५०।

७. उवासगदसाओ (उपासकदशा.), ८. अतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा), ९. अगुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपादिकदशा), १० पण्हावागरणिआइ (प्रश्नव्याकरणानि), ११. विवागसुय (विपाकश्रुतम्), १२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)। अन्तिम ग्रन्थ 'दिट्ठिवाय' अब उपलब्ध नही है।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आगम

पुव्व—'दिट्ठिवाय' मे चौदह 'पुव्वो' का समावेश था जिनके नाम है—उत्पाद, अग्राणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, अवन्ध्य, प्राणायु, क्रियाविशाल तथा लोकविन्दुसार।

इनके बारह 'उपाग' तथा दश 'प्रकीर्ण' है, जिनके नाम ये है—

उपांग—औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापणा, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निर्यावलिका, कल्पावतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका. तथा वृष्णिदशा।

प्रकीर्ण—चतु शरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, सस्तार, तण्डुलवैतालिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणितविद्या, महाप्रत्याख्यान तथा वीरस्तव।

छेदसूत्र—इनमे निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, आचारदशा, बृहत्कल्प तथा पञ्चकल्प, ये छ 'छेदसूत्र' है।

मूलसूत्र—उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक तथा पिण्डनिर्युक्ति, ये चार 'मूलसूत्र' है।

चूलिकसूत्र—नन्दीसूत्र तथा अनुयोगद्वारसूत्र, ये दोनो 'चूलिकसूत्र' कहलाते है।

दिगम्बरो ने भी इन्ही ग्रन्थो को अपनाया है। किन्तु उनके नामो मे कही-कही भेद है। सम्भव है कि ग्रन्थो के विपयो मे भी दिगम्बरो ने कुछ परिवर्तन कर लिया हो।

दार्शनिक तथा उनके ग्रन्थ

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आचार्य

भद्रबाहु (प्रथम)—(४३३-३५७ ईसा के पूर्व) 'निर्युक्ति' के रचयिता थे। ज्यौतिपशास्त्र पर 'भद्रबाहुसहिता' नाम के ग्रन्थ के रचयिता भी यही थे। **भद्रबाहु** (दूसरे) प्रथम शताब्दी मे हुए थे। इन्होने न्यायशास्त्र पर ग्रन्थ लिखा था।

उमास्वाती को दोनो सम्प्रदाय वाले वडे आदर से देखते है। दिगम्वर लोग इन्हे उमास्वामी कहते है। ईसा के पश्चात् प्रथम शताव्दी मे इनका जन्म हुआ था। दिगम्वरो का कहना है कि यह कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य थे। पाटलिपुत्र मे रहकर इन्होने 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' तथा उसकी टीका की रचना की। जैन-दर्शन का यह प्रधान और सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। इसके ऊपर वडे-वड़े विद्वानो ने टीका लिखी है। यह वहुत प्रसिद्ध तथा मान्य ग्रन्थ है।

कुन्दकुन्दाचार्य जैन-दर्शन के एक प्रमुख आचार्य थे। यह प्रथम शताव्दी मे उत्पन्न हुए और इन्होने 'समयसार', 'पञ्चास्तिकाय', 'प्रवचनसार', 'नियमसार', आदि ग्रन्थो की रचना की। यह भद्रबाहु (द्वितीय) के शिष्य थे। इनके सभी ग्रन्थ प्राकृत-भाषा मे है। इनके अतिरिक्त ८४ 'पाहुड', भिन्न-भिन्न विषयो पर, इन्होने लिखे थे।

सिद्धसेन दिवाकर वृद्धवादिसूरि के शिष्य थे। यह छठी शताब्दी मे हुए। इनको लोग 'क्षपणक' भी कहते थे। दर्शन के, विशेषकर न्यायशास्त्र के, यह वहुत बड़े विद्वान् थे। 'सम्मतितर्कसूत्र', 'न्यायावतार', आदि वत्तीस ग्रन्थ इन्होने लिखे है, जिनमे इक्कीस अभी मिलते है।

सिद्धसेनगणि (६०० ई०) भास्वामी के शिष्य तथा देवर्धिगणि के समकालीन थे। इन्होने 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' पर एक उत्तम 'टीका' लिखी है।

हरिभद्रसूरि ७०५-७७५ ई० के मध्य उत्पन्न हुए थे। इन्होने संस्कृत तथा प्राकृत मे सैकड़ो ग्रन्थ लिखे, जिनमे 'षड्दर्शनसमुच्चय', 'दशवैकालिकनिर्युक्तिटीका', 'न्यायप्रवेशसूत्र', 'न्यायावतारवृत्ति', आदि वहुत प्रसिद्ध है।

इनके पश्चात् 'नयचक्र' के रचयिता **मल्लवादी**, 'वादमहार्णव'के कर्ता **अभयदेव** (१००० ई०), 'लघुटीका' के रचयिता **रत्नप्रभसूरि** (११वी सदी), 'प्रमाणनय-तत्त्वालोकालकार' के निर्माता **देवसूरि** (१२वी सदी), 'प्रमाणमीमांसा', 'अन्ययोग-व्यवच्छेदिका', आदि के रचयिता **हेमचन्द्र** (१२वी सदी) हुए।

मल्लिषेणसूरि (१२९२ ई०) ने 'अन्ययोगव्यवच्छेद' के ऊपर 'स्याद्वादमजरी' नाम की एक टीका लिखी। इसकी वड़ी प्रसिद्धि सस्कृत साहित्य मे है। इसमे प्रमाण तथा सप्तभगीनय के सम्वन्ध मे वहुत सुन्दर विचार है। इसकी रचना १२९२ ईसवी में हुई है।

मलधारि राजशेखरसूरि (१३४८ ई०) बडे प्रसिद्ध विद्वान् हुए थे। ये जिन-प्रभसूरि के शिष्य थे। 'प्रशस्तपादभाष्य' की टीका, 'न्यायकन्दली' के ऊपर 'पजिका' नाम की टीका, 'षड्दर्शनसमुच्चय' आदि ग्रन्थ इन्होने लिखे।

दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य

ज्ञानचन्द्र (१३५० ई०), **गुणरत्नसूरि** (१४०० ई०), **यशोविजयगणि** (१६०८-१६८८ ई०) आदि अनेक विद्वानो ने भी जैन-दर्शन पर ग्रन्थ लिखे।

इनके अतिरिक्त दिगम्बर सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध **कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र,** 'अष्टशती', 'राजवार्तिक', 'न्यायविनिश्चय' आदि ग्रन्थो के रचयिता **अकलंकदेव** (७५० ई०) प्रसिद्ध विद्वान् हुए है।

विद्यानन्द, 'परीक्षामुखसूत्र' के निर्माता **माणिक्यनन्दिन्** (नवम शताब्दी), 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' के रचयिता **प्रभाचन्द्र, अमृतचन्द्रसूरि, देवसेन भट्टारक, लघु-समन्तभद्र, अनन्तवीर्य,** आदि विद्वान् ९वी-१०वी सदी मे हुए है।

'गोम्मटसार', 'लब्धिसार', 'द्रव्यसग्रह', आदि ग्रन्थो के रचयिता **नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती** ११वी सदी मे बहुत प्रसिद्ध जैन-दार्शनिक थे। **श्रुतसागरगणि, धर्मभूषण,** आदि विद्वानो ने १६वी सदी मे जैनदर्शन पर, विशेषरूप से प्रमाण के सम्बन्ध मे, ग्रन्थ लिखे। १७वी सदी मे **यशोविजयसूरि** ने अनेक ग्रन्थ लिखे।

जैन विद्वानो ने न्यायशास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन किया था और इसी पर अपने विचारो को लिखा है। इधर दो-तीन सौ वर्षों में उल्लेखयोग्य कोई विद्वान् जैन सम्प्रदाय मे प्राय नही हुए और न कोई ग्रन्थ ही विशेष महत्त्व का प्राय. लिखा गया है।

तत्त्वों का विचार

जैनो ने विश्व के प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक स्वरूपो का विचार कर सात प्रकार के मूल तत्त्वो का पता लगाया। इन्ही तत्त्वो से जगत् की समस्त वस्तुओ का परि-णाम होता है। ये तत्त्व—'जीव', 'अजीव', 'आस्रव', 'बन्ध', 'सवर', 'निर्जरा', तथा 'मोक्ष' है। इनमे 'जीव' और 'अजीव' इन दोनो तत्त्वो को 'द्रव्य' भी कहते है।

१—जीवतत्त्व

आत्मा या चेतन को संसार की दशा मे 'जीव' कहते है। इसमें 'प्राण' है। इसमे शारीरिक, मानसिक तथा इन्द्रिय-जन्य शक्ति है। शुद्धनय के अनुसार जीव में विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शन, अर्थात् निर्विकल्पक एवं सविकल्पक ज्ञान, रहता है। किन्तु व्यवहार-दशा मे कर्म की गति के प्रभाव से 'औपशमिक' (एक प्रकार का परिणाम है जिससे जीव के वास्तविक स्वरूप का आच्छादान हो जाता है), 'क्षायिक', 'क्षायोपशमिक', 'औदयिक' तथा 'पारिणामिक', इन पाँचो 'भावप्राणो' से 'जीव' युक्त रहता है, जिसके कारण 'जीव' का परिशुद्ध रूप छिप जाता है और पश्चात् वही 'भावदशापन्न प्राण' 'द्रव्य'-रूप में परिणत होकर 'पुद्गल'-रूप मे व्यक्त हो जाता है और फिर वह जीव 'संसारी' कहलाता है।

जीव का स्वरूप

एक बात ध्यान मे रखना आवश्यक है कि जैन मत मे प्रत्येक अवस्था के दो स्वरूप होते हैं—'भाव' और 'द्रव्य'। अव्यक्त की दशा को 'भाव' कहते है और व्यक्त की अवस्था मे उसे ही 'द्रव्य' कहते है। इसी प्रकार इनके मत मे प्रत्येक घटना का 'निश्चय' या 'विशुद्ध' दृष्टि से एव 'व्यावहारिक' दृष्टि से विचार किया जाता है। जैन-दर्शन 'परिणामवादी' है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु एक स्वरूप को छोडकर दूसरे स्वरूप को धारण करती रहती है। प्रत्येक वस्तु मे अनन्त 'धर्म' ये लोग मानते है और इसी कारण, धर्मो के भेद से, एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न है।

'जीव' की सभी क्रियाएँ उसके अपने किये कर्मो के फलस्वरूप है। स्वभाव से शुद्ध दृष्टि के अनुसार 'जीव' मे 'ज्ञान' तथा 'दर्शन' है, यह अमूर्त है, कर्ता है, अपने स्थूल शरीर के समान लम्बा-चौड़ा है, अपने कर्मफलो का भोक्ता है, सिद्ध है तथा ऊपर की ओर गतिशील है[1]। अनादि 'अविद्या' के कारण 'कर्म' जीव मे प्रवेश करता है और इसी 'कर्म' के सम्बन्ध से जीव 'बन्धन' मे रहता है। बन्धन की दशा मे भी 'जीव' मे चैतन्य रहता ही है। यह 'नित्य-परिणामी' है। इसमे 'सकोच' और 'विकास', ये दो गुण है, अतएव एक ही जीव हाथी के शरीर मे प्रवेश करने से हाथी के बरावर का होता है और वही चीटी के शरीर मे प्रवेश करने पर चींटी के समान छोटा भी हो जाता है। इसमे रूप नहीं है, इसलिए कोई आँख से इसे नही देख सकता, किन्तु इसका ज्ञान तो लोगो को होता ही है।

जीव के गुण

---

[1] द्रव्यसंग्रह, गाथा २।

जीव मे 'सम्यक् दर्शन' सदा न रहे, किन्तु किसी न किसी प्रकार का ज्ञान उसमे रहता ही है। बन्धन से मुक्त होने पर जीव का 'सम्यक् ज्ञान' अभिव्यक्त होता है। 'सम्यक् ज्ञान' से युक्त होने के ही कारण जीव मुक्ति की तरफ अग्रसर होता है। परिणाम के प्रभाव से या किसी विशेष शक्ति के अनुग्रह से जीव 'सम्यक् ज्ञान' को प्राप्त करता है।

अन्य द्रव्यों के समान जीव मे 'प्रदेश' होते है। इसमे 'अवयव' भी होते है, इस लिए यह 'अवयवी' कहलाता है। इसके प्रदेशों को 'पर्याय' कहते है। इसी लिए जीव भी 'अस्तिकाय' (शरीरप्रदेशो से युक्त कहाने वाला) कहा जाता है।[1]

प्रतिक्षण परिणाम

जीव मे प्रतिक्षण परिणाम होता है, अतएव उसमे एक क्षण मे जो स्वरूप उत्पन्न होता है, वह दूसरे क्षण मे बदल कर भिन्न धर्म को धारण कर लेता है। ऐसी स्थिति मे भी जीव का जो एक अपना स्वाभाविक स्वरूप है, वह तो सभी क्षणो में स्वभावत वर्तमान ही रहता है। इस प्रकार 'उत्पाद', 'व्यय' तथा 'ध्रौव्य' ये तीनो प्रतिक्षण जीव मे भी रहते ही है। यह सब 'काल' के प्रभाव से होता है। अतएव 'जीव' भी एक प्रकार का 'द्रव्य' है।[2]

प्रत्येक जीव मे स्वभाव से 'अनन्त ज्ञान', 'अनन्त दर्शन' तथा 'अनन्त सामर्थ्य', आदि गुण रहते है, किन्तु 'आवरणीय' कर्मो के प्रभाव से इनकी अभिव्यक्ति नही होती। 'जीव' के मुख्य गुण दो ही है—'चेतना' या 'अनुभूति' तथा 'उपयोग' (चेतना का फल)। 'उपयोग' के दो भेद है—'ज्ञानोपयोग' तथा 'दर्शनोपयोग'। 'ज्ञानोपयोग को 'सविकल्पक' तथा दूसरे को 'निर्विकल्पक' ज्ञान कहते है। अर्थात् जीव मे मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय तथा केवल, एव तीन 'विपर्यय', अर्थात् कुमति, कुश्रुत तथा विभङ्गावधि, ये आठ सविकल्पक ज्ञान है। इनमे केवल-ज्ञान 'क्षायिक' कहा जाता है, क्योकि यह कर्मो के नाश होने के बाद अभिव्यक्त होता है और यह शुद्ध ज्ञान भी है।

---

[1] द्रव्यसंग्रह, २३-२४—'जीव' में अन्य चार द्रव्यों के समान 'प्रदेश' होते है। 'लोकाकाश' के जितने अंश को एक पुद्गलरूप 'अणु' व्याप्त करता है, उसे ही 'प्रदेश' कहते है।

[2] पञ्चास्तिकाय, गाथा ९, १२, १३।

दिव्य, मानुष, नारकीय तथा तिर्यक् ये चार 'जीव' के परिणाम है, जिसे 'पर्याय' कहते है।[1] 'पर्याय' पुनः दो प्रकार का होता है—द्रव्यपर्याय तथा गुणपर्याय।

पर्याय

भिन्न-भिन्न द्रव्यों में जो ऐक्य-बुद्धि का कारण है, वह 'द्रव्य-पर्याय' है। जड़ द्रव्यो के संघटन से जो उत्पन्न होता है, उसे 'समानजातीय द्रव्यपर्याय' कहते है, जैसे 'स्कन्ध' आदि, एव एक चेतन तथा दूसरा जड़, इन दोनो के संघटन से जो उत्पन्न होता है, जैसे मानुष शरीर, उसे 'असमानजातीय द्रव्यपर्याय' कहते है। इन सबो मे जीव और पुद्गलो का सघटन होने के कारण, विशुद्धि नही है। ये 'द्रव्यपर्याय' है।

द्रव्यों के गुणो में जो परिणाम के कारण परिवर्तन हो, उसे 'गुण-पर्याय' कहते है, जैसे आम के रूप मे। कच्चे आम का एक रूप होता है और पकने पर उसी आम का रूप बदल जाने पर वह दूसरा रूप हो जाता है, फिर भी वह 'आम' तो रहता ही है। यह 'गुण-पर्याय' का उदाहरण है। इसी प्रकार मनुष्य के ज्ञान में भी परिवर्तन होता है, जिसे मति, श्रुत, अवधि, आदि कहते हैं। ये भी ज्ञान-रूप गुण के पर्याय हैं।

अनेकान्तवाद

दिव्य रूप या नारकीय रूप या मानुषीय रूप, कोई भी रूप जीव धारण कर ले, फिर भी वह 'जीव' तो रहता ही है। जीवत्व-रूप 'भाव' का नाश कदाचिदपि नही होता। अतएव शरीर का मरण होता है, न कि 'जीव' का। यही एक प्रकार का जैनो का '**सद्भाववाद**' कहा जा सकता है। इसलिए यह भी कह सकते है कि 'पर्याय' का परिणाम होता है, न कि 'द्रव्य' का। 'द्रव्य' तो एक प्रकार से नित्य है। वह अपने 'ध्रौव्य स्वरूप' को कभी नही छोड़ता हाँ, पर्याय-रूप में वह अनित्य भी है। यही जैनो का प्रसिद्ध '**अनेकान्तवाद**' है।

जीव के भेद

साधारण रूप मे 'बद्ध' और 'मुक्त' के भेद से 'जीव' दो प्रकार का है। बद्ध या ससारी जीव पुनः 'त्रस' (जंगम) तथा 'स्थावर' के भेद से दो प्रकार का है। स्थावर जीवो मे एकमात्र इन्द्रिय—'त्वक्-इन्द्रिय', होती है और क्षिति, जल, तेज, वायु तथा वनस्पति-जगत् ये सभी 'स्थावर' जीव है।

जिन जीवों मे एक से अधिक इन्द्रिया है, वे 'त्रस' कहलाते हैं। मनुष्य, पक्षी, जानवर, देवता, नारकीय लोग, ये सभी 'त्रस' जीव है। इन मे पाँचो इन्द्रियाँ होती

---

[1] पञ्चास्तिकाय—तत्त्वदीपिका, गाथा १६।

है।[1] जो जीव पृथिवी के स्वरूप को धारण करते है, उन्हे 'पृथिवीकाय', जैसे—पत्थर, जो जलीय स्वरूप को धारण करते है, उन्हे 'अप्काय', जैसे—सेमार, कहते है। इसी प्रकार 'वायुकाय' तथा 'तेज काय' भी होते है।

२—अजीव-तत्त्व

जैनो के मत मे दूसरा तत्त्व है—'अजीव'। अजीवो मे जिनके शरीर होते है, वे 'अजीव-काय' कहलाते है। ये बहुत व्यापक होते है और इनमे अनेक 'प्रदेश' होते है। 'अजीव' के पाँच भेद है जिनमे 'धर्म', 'अधर्म', 'आकाश', तथा 'पुद्गल', इन चारो में अनेक 'प्रदेश' होते है। इसलिए ये 'अस्तिकाय' कहलाते है। पाँचवाँ अजीव-तत्त्व है—'काल'। इसमे एक ही 'प्रदेश' है। इसलिए यह 'अस्तिकाय' नही है।

अजीव-तत्त्व के भेद

ये सभी द्रव्य है। स्वभावत इनका नाश नही होता। पुद्गल को छोडकर अन्य अजीव द्रव्यो मे रूप, स्पर्श, रस और गध नही होते । पुद्गलो मे रूप, स्पर्श, रस और गन्ध होते है।[2] धर्म, अधर्म तथा आकाश, ये एक ही एक है, किन्तु पुद्गल तथा जीव, प्रत्येक अनेक है। प्रथम तीनो मे क्रिया नही है, किन्तु पुद्गल और जीवो मे क्रिया है। काल में क्रिया नही है। यह एक स्थान से दूसरे स्थान को नही जाता है।

अजीव-तत्त्व के गुण

धर्म, अधर्म तथा जीव मे से प्रत्येक मे असख्य 'प्रदेश'[3] है। आकाश मे अनन्त 'प्रदेश' है। 'अणु' मे 'प्रदेश' नही होता। अतएव यह अनादि, अमध्य, अप्रदेश कहा जाता है। ये द्रव्य लोकाकाश[4] मे बिना किसी रुकावट के घूमते है।

'धर्मास्तिकाय'—यह न तो स्वय क्रियाशील है और न किसी दूसरे मे ही क्रिया उत्पन्न करता है, किन्तु क्रियाशील जीव और पुद्गलो को उनकी क्रिया मे साहाय्य

---

[1] पञ्चास्तिकाय, गाथा ११०, ११२, ११४-१७।

[2] तत्त्वार्थ, ५-१-४।

[3] आकाश के उतने स्थान को 'प्रदेश' कहते है जितने को एक 'परमाणु' व्याप्त कर सके।

[4] लोक=जिस स्थान में सुख तथा दु.ख का ज्ञान हो उसे 'लोक' कहते है, जहां बिना किसी रोक के सभी द्रव्य रह सकें उसे 'आकाश' कहते है। इसलिए जहां जीव, धर्म, अधर्म, काल तथा पुद्गल रहें, वही 'लोकाकाश' है।

करता है,[1] जिस प्रकार चलती हुई मछली को उसके चलने में 'जल' सहायता करता है। इसमें रस, रूप, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श का अत्यन्त अभाव है। लोकाकाश में व्यापक रूप में यह रहता है। परिणामी होने के कारण इसमे उत्पाद तथा व्यय होने पर भी, यह अपने स्वरूप का परित्याग नही करता। अतएव यह नित्य है। गति और परिणाम का यह कारण है।

अधर्मास्तिकाय—जो जीव तथा पुद्‌गल विश्राम की दशा में है, जैसे पृथ्वी, उसे विश्राम के लिए उस दशा मे 'अधर्मास्तिकाय' सहायता देता है। यह धर्म के विपरीत है। धर्म के समान इसमें भी रस, रूप, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श का अत्यन्त अभाव है। यह अमूर्त स्वभाव का है। यह भी लोकाकाश मे व्यापक-रूप से रहता है। यह स्वभावतः सर्वव्यापक है तथा नित्य है।[2]

धर्म और अधर्म न होते तो 'लोकाकाश' में जीव और पुद्‌गलों मे गति तथा स्थिति के सहायक कौन होते ? तथा 'अलोकाकाश' मे जीव और पुद्‌गल के स्वाभाविक गति और स्थिति के अभाव के कारण कौन होते ? ये दोनों, 'धर्म' और 'अधर्म', एक साथ लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में रहते है।

आकाशास्तिकाय—जीव, धर्म, अधर्म, काल तथा पुद्‌गलो को अपनी-अपनी स्थिति के लिए जो स्थान दे, वही 'आकाश' है।[3] इसी को 'लोकाकाश' कहते है। जहाँ उपर्युक्त द्रव्यो को रहने का स्थान न हो, वह 'अलोकाकाश' है। 'लोकाकाश' में असंख्य तथा 'अलोकाकाश' मे अनन्त 'प्रदेश' है।

पुद्‌गलास्तिकाय—जो संघटन तथा विघटन के द्वारा परिणाम को प्राप्त करे, वही 'पुद्‌गल' नाम का अजीव द्रव्य है। इसमें रूप, स्पर्श, रस तथा गन्ध है। यह सीमित और आकृति (=मूर्त) रखने वाला द्रव्य है।[4] मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रुक्ष, ये आठ प्रकार के 'स्पर्श' 'पुद्‌गल' मे होते है। तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर तथा कषाय, ये पाँच प्रकार के 'रस' इसमें होते है। इसमें सुरभि और असुरभि

---

[1] द्रव्यसंग्रह, १७।

[2] पञ्चास्तिकाय, ८५।

[3] पञ्चास्तिकाय, ९०।

[4] द्रव्यसंग्रह, १५।

दो प्रकार के 'गन्ध' हैं। कृष्ण, नील, लोहित, पीत तथा शुक्ल ये पाँच प्रकार के 'रूप' पुद्गल में होते हैं।'[1]

पुद्गल के अनेक भेद हैं। जीव की प्रत्येक चेष्टा पुद्गलों के रूप मे अभिव्यक्त होती है। कर्म के रूप मे भी पुद्गल होते हैं और इन्ही 'कर्म-पुद्गलों' के सम्पर्क से जीव 'वद्ध' होता है। अनादि जीव के साथ कर्म भी अनादि काल से रहता है।

पुद्गल के अणु और स्कन्ध, ये दो 'आकार' होते है। द्रव्य के सबसे छोटे टुकडे को 'अणु' तथा द्रव्य के संघात को 'स्कन्ध' कहते है। दो अणुओ के सघटन से 'द्विप्रदेश' तथा 'द्विप्रदेश' एवं एक 'अणु' के सघटन से 'त्रिप्रदेश', आदि क्रम से स्थूल, स्थूलतर तथा स्थूलतम 'द्रव्य' वनते है। अमृतचन्द्रसूरि का कहना है कि इसी प्रकार सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम 'आकार' के भी 'पुद्गल-द्रव्य' होते हैं।

शव्द, वन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, सस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, आतप, ये सभी पुद्गल के ही परिणाम हैं।[2] यहाँ यह ध्यान मे रखना है कि 'शब्द' न तो आकाश का गुण है और न आकाश के स्वरूप का ही है। इसका कारण है कि 'आकाश' अमूर्त द्रव्य है और यदि 'शब्द' इसका गुण या इसके स्वरूप का होता, तो यह कभी भी सुनने मे नही आता।[3]

'शब्द' आकाश का गुण नहीं

ये सभी द्रव्य अजीव और अचेतन हैं। इनमें सुख और दु ख का ज्ञान नही है। पुद्गल को छोडकर अन्य सभी अस्तिकाय-द्रव्य 'अमूर्त' (असीमित आकार वाले) है। जीवमात्र चेतन द्रव्य है। पुद्गल मे स्वभाव से ही स्पर्श, रस, गध तथा रूप है और अमूर्त द्रव्यो मे ये नही है। यद्यपि स्वभाव से ही जीव 'अमूर्त' है, तथापि कर्म-बन्धन के कारण यह 'मूर्त' भी है।[4] स्वभाव से बिना गति के होने पर भी 'जीव' पुद्गलो के सम्पर्क से गतिमान् हो जाता है और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे जाता है।

अस्तिकाय द्रव्यों में साधर्म्य और वैधर्म्य

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, ५-२३।

[2] द्रव्यसंग्रह, १६।

[3] पञ्चास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, ७९।

[4] पञ्चास्तिकाय, ९७।

पुद्गल तथा अन्य द्रव्यों के परिणामो का कारण 'काल' है। 'काल' का अभाव कभी नही होता, अतएव पुद्गल मे सदैव गति रहती है। यह 'समय' भी कहलाता है। 'समय' की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ, जैसे घटा, मिनट, दिन, रात आदि, इसके रूप हैं। यद्यपि 'समय' निश्चयकाल का एक रूप है, तथापि जीव और पुद्गलो की गति के द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण 'परिणाम-भव' कहलाता है। 'समय' क्षणिक है और यह 'काल-अणु' भी कहलाता है। 'काल-अणु' एकमात्र प्रदेश को व्याप्त करता है, इसलिए इसके 'काय' नहीं है। ये 'काल-अणु' समस्त लोकाकाश में भरे रहते है। ये परस्पर नही मिलते। प्रत्येक 'काल-अणु' दूसरे से अलग रहता है। ये अदृश्य, अमूर्त, अक्रिय तथा असख्य है। 'निश्चयकाल' नित्य है और द्रव्यो के परिणाम मे सहायक होता है। यह 'समय' का आधार है।

काल

३—आस्रवतत्त्व

जीव तथा अजीव इन दोनो तत्त्वो का विचार पहले हो चुका है। अब 'आस्रव' आदि पाँच तत्त्वो का विचार यहाँ किया जाता है। ये पाँच बन्धन तथा मुक्ति से सम्बन्ध रखते है।

अनन्त काल से इस जगत् मे जीव और पुद्गल, ये दोनो द्रव्य लोकाकाश मे वर्तमान है। इन्ही के साथ-साथ जीवो के किये हुए 'कर्म' भी है और अनादि 'अविद्या' के सम्पर्क से क्रोध, मान, माया तथा लोभ, ये चार 'कषाय' भी जीव के साथ-साथ है। जीव जो कर्म करता है, उसका फल भी 'सस्कार' के रूप मे पुद्गलो के साथ-साथ विद्यमान रहता है। अब विचारणीय विषय यह है कि उन कर्मो के फलो के साथ जीव का किस प्रकार सम्बन्ध होता है। कर्म-पुद्गल जड होने के कारण स्वय जीव मे प्रवेश नही कर सकते। अतएव कोई क्रियाशील तत्त्व होना चाहिए, जो इनको सम्बद्ध करे। जैनो ने काय, वचन तथा मन मे क्रिया मानी है, जिसे ये 'योग' कहते है।[1] इन्ही क्रियाओ के द्वारा कर्म-पुद्गल जीव मे प्रवेश करता है। अर्थात् कर्म-पुद्गलो के जीव मे प्रवेश करने के पूर्व उपर्युक्त क्रियाओ के द्वारा जीव के प्रदेशों मे एक प्रकार का 'स्पन्दन' उत्पन्न होता है। इन स्पन्दनो को क्रमश 'काययोग', 'वाग्योग' तथा

[1] तत्त्वार्थसूत्र, ६-१।

'मनोयोग' कहते है। कर्म-पुद्गलों का जीव मे 'योग' के द्वारा प्रवेश करने को 'आस्रव' कहते है। इस प्रकार 'आस्रव' के सम्पर्क से जीव कर्म-बन्धन में पड़ जाता है। अतएव 'आस्रव' बन्धन का एक कारण है।

आस्रव का स्वरूप

कर्म-पुद्गलो के जीव मे प्रवेश करने के पूर्व जीव के भावो मे एक प्रकार का परिवर्तन होता है, उसे 'भावास्रव' कहते है। पश्चात् जीव मे कर्म-पुद्गलो का जो प्रवेश होता है, उसे 'द्रव्यास्रव' कहते है। जिस प्रकार तेल से लिप्त शरीर पर घूलि राशि चिपक कर जमा हो जाती है, उसी प्रकार कर्मपुद्गल जीव पर चिपक जाते है। तेल से लिप्त होना 'भावास्रव' तथा उस पर घूलि राशि का चिपक जाना 'द्रव्यास्रव' कहा जा सकता है।

आस्रव के भेद

बयालीस प्रकार से कर्म-पुद्गल जीव मे प्रवेश करता है। अतएव 'आस्रव' के बयालीस भेद है, जिनमे काययोग, वाक्योग, मनोयोग, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चार कषाय तथा अहिंसा, अस्तेय, असत्य भाषण, आदि पाँच व्रतो का पालन न करना, ये सत्रह विशेष महत्त्व के 'आस्रव' है। इनके अतिरिक्त पचीस छोटे-छोटे 'आस्रव' होते है। ये सभी बन्धन के कारण है।[1]

४—बन्धतत्त्व

उपर्युक्त प्रक्रिया को ही 'बन्ध' कहा जा सकता है। जीव मे कर्म-पुद्गलो के प्रवेश होने के पूर्व उसमे 'भावास्रव' उत्पन्न होता है, उसके पश्चात् जीव मे जो 'बन्धन' उत्पन्न होता है, उसे ही 'भावबन्ध' कहते है। बाद को कर्म-पुद्गलो का प्रवेश होने पर जीव मे 'द्रव्यास्रव' उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् जीव मे जो 'बन्धन' हो जाता है, उसे 'द्रव्यबन्ध' कहते है। 'आस्रव' के सम्पर्क से जीव का वास्तविक स्वरूप नष्ट हो जाता है और वह बन्धन मे फँस जाता है।[2]

बन्ध का स्वरूप

इन दोनो तत्त्वों के अतिरिक्त जीव को बन्धन मे डालने वाला मिथ्यात्व, अविरति तथा जितने तपस्या के लिए नियम कहे गये है उनका न पालन करना, आदि सभी जीव के लिए बन्धन के कारण है। साथ ही साथ कर्म तो है ही।

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, ६-१-६; ७-१।

[2] पञ्चास्तिकाय, १४७।

५—संवरतत्त्व

अन्य दर्शनो की तरह जैन-दर्शन का भी चरम लक्ष्य है—वन्धनों से मुक्ति पाकर परम आनन्द को पाना। इसके लिए जब तक कार्मिक पुद्गलो का सम्बन्ध जीव से नही छूटेगा, तब तक जीव बन्धन से मुक्त नही हो सकता। अतएव कार्मिक पुद्गलों का जीव मे प्रवेश करने तथा उसके कारणों को रोकना आवश्यक है। इसी रोकने को 'संवर' कहते हैं। अर्थात् 'आस्रव' तथा 'बन्ध' को जो रोकता है, उसे ही 'सवर' कहते है। जो जीव राग, द्वेष, मोह से रहित हो कर सुख तथा दु ख मे साम्य की भावना प्राप्त कर, विकारों से रहित हो जाता है, उसकी आत्मा मे कर्म-पुद्गलो का प्रवेश तथा उससे उत्पन्न बन्धन नही होते।

संवर का स्वरूप

'संवर' मे भी पूर्ववत् जीव के राग, द्वेष तथा मोहरूप विकारो का पहले निरोध होता है, उसे 'भावसवर' कहते है। इसके पश्चात् कर्म-पुद्गलो का प्रवेश जब निरुद्ध हो जाता है, तब उसे 'द्रव्यसवर' कहते हैं। कर्म-पुद्गलों का प्रवेश एक बार बन्द हो जाने पर पुन. भविष्य मे भी बन्द ही रह जायगा। क्रमश. जितने कर्म-पुद्गल जीव मे चले गये थे, उनका जब नाश हो जायगा, तब जीव बन्धनो से मुक्त हो जायगा।

संवर के भेद

कर्म के प्रवेश को रोकने के लिए बासठ उपाय कहे गये है। इनमे पाँच वाह्य उपाय है, जिन्हें 'समिति' कहते है। 'ईर्या-समिति' (चलने-फिरने के नियमो का पालन), 'भाषा-समिति' (बोलने के नियमों का पालन), 'एषणा-समिति' (भिक्षा माँगने के नियमो का पालन), 'आदान-निक्षेपणा-समिति' (धार्मिक कार्य के लिए भिक्षा मे से कुछ अश को बचाना) तथा 'प्रतिस्थापना-समिति' (भिक्षा या दान को अस्वीकार करना), इनके भेद है।[1]

समितियाँ

कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रिया को 'योग' कहते है। इनकी सहायता से कर्मपुद्गल आत्मा मे प्रवेश करते है। उसे रोकने के लिए 'योग' के प्रशस्त निग्रह को 'गुप्ति' कहते है।[2] 'कायगुप्ति' (शारीरिक व्यापार का निरोध), 'वाग्गुप्ति' (बोलने के व्यापार का निग्रह) तथा 'मनोगुप्ति' (सकल्प आदि मन के व्यापार का निरोध), ये तीन 'गुप्ति' के भेद है।

गुप्तियाँ

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, ९-५।

[2] तत्त्वार्थसूत्र, ९-४।

इसको ध्यान में रखना चाहिए कि 'समिति' में 'सत्क्रिया' का प्रवर्तन मुख्य है और 'गुप्ति' मे 'असत्क्रिया' का निरोध मुख्य है।

व्रत—'अहिंसा', 'सत्य', 'अस्तेय', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'अपरिग्रह', इन पाँचों व्रतों के पालन से आत्मा में कर्म-पुद्गलों का प्रवेश रुक जाता है।[1]

धर्म—क्षमा, मृदुता, सरलता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, औदासीन्य तथा ब्रह्मचर्य, ये दस उत्तम 'धर्म' है। इनके पालन से आत्मा मे कर्म का प्रवेश रुकता है।[2]

अनुप्रेक्षाएँ

साधको को मुक्ति पाने के लिए निम्नलिखित बारह 'अनुप्रेक्षाओ' से, अर्थात् भावनाओ से, युक्त रहना आवश्यक है। 'अनित्य' (धर्म को छोडकर सभी वस्तु को अनित्य मानना), 'अशरण' (सत्य को छोडकर दूसरा कोई भी शरण नही है), 'ससार' (जीवन-मरण की भावना), 'एकत्व' (जीव अपने कर्मों का एकमात्र भागी है), 'अन्यत्व' (आत्मा को शरीर से भिन्न मानना), 'अशुचि' (शरीर एवं शारीरिक वस्तुओ को अपवित्र मानना), 'आस्रव' (कर्म के प्रवेश की भावना), 'सवर' (कर्म के प्रवेश के निरोध की भावना), 'निर्जरा' (जीव मे प्रविष्ट कर्मपुद्गलो को बाहर निकालने की भावना), 'लोक' (जीवात्मा, शरीर तथा जगत् की वस्तुओ की भावना), 'बोधिदुर्लभत्व' (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र को दुर्लभ समझने की भावना) तथा 'धर्मानुप्रेक्षा' (धर्म-मार्ग से च्युत न होना तथा उसके अनुष्ठान मे स्थिरता लाने की भावना), इन धर्मों का सदा अनुचिन्तन करना ही 'अनुप्रेक्षा' है।

परीषह

बहुत कठोर तपस्या से 'सवर' मे सफलता मिलती है और इसके लिए साधको को कठोर नियमो का पालन करना पड़ता है। कठिनाइयो का सहन करना उचित है। उमास्वामी ने कहा है—मुक्ति-मार्ग से च्युत न होने के योग्य और कर्मों के नाश के लिए सहन करने योग्य जो हो, वे 'परीषह' कहलाते है।[3]

---

[1] कुछ लोग 'व्रत' को इस सूची में नहीं सम्मिलित करते।

[2] तत्त्वार्थसूत्र, ९-६।

[3] तत्त्वार्थसूत्र, ९-८।

क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नत्व (नग्नता को समभाव-पूर्वक सहन करना), अरति, स्त्री, चर्या (एकान्त वास करना), निषद्या (आसन से च्युत न होना), शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल (तपस्या करने के समय में चाहे कितना भी मल शरीर पर हो फिर भी उससे घबड़ाना न चाहिए और न स्नान आदि करना चाहिए), सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये 'परीषह' के बाईस भेद हैं।

परीषह के भेद

'सामायिक-चारित्र' (समभाव मे रहना), 'छेदोपस्थापना' (गुरु के समीप मे अपने पूर्व-दोषो को स्वीकार कर दीक्षा लेना), 'परिहारविशुद्धि', 'सूक्ष्मसपराय' (लोभ के अंश को छोड़ कर क्रोध आदि कषायो का उदय न होना) एव 'यथाख्यात' (सभी कषायो का निरोध होना), इन पाँच चारित्रो का सम्पादन करना आवश्यक है।

चारित्र के भेद

६—निर्जरातत्त्व

इन बासठ उपायो के पालन के द्वारा 'आत्मा' मे कर्मपुद्गलो के प्रवेश को रोकने से मुक्ति का मार्ग कण्टक-रहित हो जाता है। इन्हे रोकने से नये पुद्गलो का प्रवेश तो न होगा, किन्तु जब तक उन पुद्गलो का, जो पहले से ही आत्मा मे चिपक गये हैं, नाश न हो जायगा, तब तक मोक्ष नही मिल सकता। बन्धन के बीज उन कर्मपुद्गलों का भी नाश अत्यावश्यक है। इस नाश की प्रक्रिया को 'निर्जरा' कहते हैं।

निर्जरा का अर्थ

इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए पूर्व-कथित नियमो का पालन करते हुए साधक को कठोर तपस्या करनी पडती है। इस अवस्था में निदिध्यासन की बडी आवश्यकता है। राग, द्वेष, आदि दुर्गुणो का बिना सर्वथा परित्याग हुए इस अवस्था तक कोई नही पहुँच सकता। इन सभी क्रियाओ से नितान्त निर्मल अन्तःकरण वाला जीव अपने शरीर मे ही स्थित 'आत्मा' का दर्शन कर सकता है। यही 'आत्मसाक्षात्कार' या परम पद है, यही दर्शन का चरम लक्ष्य है। यहाँ पहुँच कर साधक के दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और दर्शन, जीवन एव धर्म के अन्तिम लक्ष्य का साक्षात् अनुभव होता है।

निर्जरा की प्राप्ति

इस 'निर्जरा' के भी दो भेद हैं—'भावनिर्जरा' और 'द्रव्यनिर्जरा'। भावावस्था मे साधक की आत्मा मे कर्मो के नाश करने की भावना उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् आत्मा मे प्रविष्ट उन कर्मपुद्गलों का वास्तविक नाश होता है। उसे 'द्रव्यनिर्जरा' कहते हैं।

निर्जरा के भेद

भावावस्था मे भी जब भोग होने के पश्चात् कर्मपुद्गलो का स्वयं नाश हो जाता है, तो उसे 'सविपाक' या 'अकाम' 'भावनिर्जरा' कहते हैं। किन्तु भोग की समाप्ति होने के पूर्व ही तपस्या के प्रभाव से यदि उन कर्मो का नाश किया जाय, तो वह 'अविपाक' या 'सकाम' 'भावनिर्जरा' कहलाता है।

'अविपाक-भावनिर्जरा' के लिए कठोर तपस्या की आवश्यकता होती है और इसमें छ. बाह्य तथा छ अतरंग क्रियाओ का सम्पादन करना आवश्यक होता है। अनशन, अवमोदार्य (भोजन मे नियन्त्रण करना), वृत्तिसंक्षेप (अल्पाहार), रसत्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेश, ये छ. **'बाह्य तपस्याएँ'** हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (साधुसेवा), स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (विषयविराग) तथा ध्यान, ये छ **'अन्तरंग तपस्याएँ'** हैं।[1]

तपस्या के भेद

७—मोक्षतत्त्व

राग, द्वेष तथा मोह के कारण 'आस्रव' होता है और तभी जीव बन्धन मे फँस जाता है। तपस्या के द्वारा तथा नियमो के पालन करने से राग, द्वेष, आदि का नाश हो जाता है। फिर 'सवर' तथा 'निर्जरा' के द्वारा 'आस्रव' का नाश होता है। इस प्रकार कर्मपुद्गलो से मुक्त होने से 'जीव' सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा हो कर मुक्ति का अनुभव करने लगता है। इस अवस्था को 'भावमोक्ष' या 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। वास्तविक मोक्ष के पूर्व की यह अवस्था है। इस परिस्थिति मे चार 'घातीय कर्मो का, अर्थात् 'ज्ञानावरणीय', 'दर्शनावरणीय', 'मोहनीय' एव 'अन्तराय' का, नाश हो जाता है। इसके पश्चात् क्रमश चार 'अघातीय कर्मों' का, अर्थात् 'आयु', 'नाम', 'गोत्र' तथा 'वेदनीय' का, भी नाश हो जाता है। तभी 'द्रव्यमोक्ष' की प्राप्ति होती है।

मोक्ष के भेद

इस प्रकार जब 'जीव' मुक्त हो जाता है तब वह सभी कर्मो से तथा औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा भव्यत्व भावो से भी मुक्त हो जाता है।

---

[1] **तत्त्वार्थसूत्र, ९, १९-२०।**

अपनी स्वाभाविक गति के कारण वह ऊर्ध्वगति का हो जाता है और ऊपर लोक की सीमा पर्यन्त पहुँच जाता है। अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय के न रहने के कारण 'जीव' लोक के परे नही जा सकता[१] और न पुन. वहाँ से लौट कर वह संसार में ही आता है। 'मुक्त जीव' परमात्मा के साथ एक नही हो जाता। वह 'सिद्धशिला' मे अनन्तकाल के लिए वास करता है।

प्रमाण-विचार

पहले कहा जा चुका है कि 'जीव' में स्वभाव से ही निर्विकल्पक (दर्शन) तथा सविकल्पक ज्ञान है। निर्विकल्पक, अर्थात् दर्शन या निराकार ज्ञान, चार प्रकार का है—चक्षु, अचक्षु (अर्थात् चक्षु से भिन्न इन्द्रियो के द्वारा), अवधि (अर्थात् देश और काल से परिच्छिन्न ज्ञान, जिसे जीव साक्षात् प्राप्त करता है) तथा केवल (अर्थात् विश्व की सभी वस्तुओ का निराकार दर्शन)।

दर्शन-ज्ञान के भेद

साकार ज्ञान के 'मति' (अर्थात् इन्द्रिय और मन के द्वारा उत्पन्न साकार ज्ञान), 'श्रुत' (शव्द तथा अन्य चेष्टाओं के द्वारा उत्पन्न साकार ज्ञान), 'अवधि' (सीमित वस्तुओ का साकार ज्ञान, जिसे 'जीव' बिना किसी इन्द्रिय या मन की सहायता से स्वय उत्पन्न करता है), 'मन पर्याय' (अर्थात् दूसरो के भावनाओं का साकार ज्ञान) तथा 'केवल' (अर्थात् समस्त विश्व का साकार एवं असीमित ज्ञान, जिसे 'जीव' साक्षात् प्राप्त करता है), ये पाँच भेद है। इन्हें ही 'सविकल्पक ज्ञान' कहते है।

साकार-ज्ञान के भेद

ये पॉच प्रकार के उपर्युक्त ज्ञान 'प्रत्यक्ष' तथा 'परोक्ष' प्रमाण के भेद से दो प्रमाणों के अन्तर्गत है। उमास्वाती का कहना है कि वह यथार्थ ज्ञान, जिसे जीव बिना किसी की सहायता से स्वय प्राप्त करता है, 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रमाण 'स्वत प्रमाण' है, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण मे स्वय, विना किसी अन्य की सहायता से, प्रामाण्य है। इसमे जीव स्वतन्त्र रूप से साक्षात् ज्ञान को प्राप्त करता है।[२]

प्रमाण

---

[१] तत्त्वार्थसूत्र, १०-५।

[२] परीक्षामखसूत्र, २-१-४।

सिद्धसेन दिवाकर ने यह स्पष्ट कहा है कि 'प्रमाण' तो वही 'ज्ञान' है जो अपने को तथा दूसरो को बिना किसी रुकावट के प्रकाशित करे (**स्वपराभासि**)। अतएव 'प्रत्यक्ष' तथा 'परोक्ष' दोनो ही प्रमाण अपने को एव दूसरे को भी प्रकाशित करते हैं। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए जैनो को इन्द्रियो की तथा मन की अपेक्षा नही होती। अतएव यह सदा वस्तु के यथार्थ ज्ञान को ही उत्पन्न करता है। यही कारण है कि 'अवधि', 'मन पर्याय' तथा 'केवल', ये ही तीन वास्तव मे प्रत्यक्ष के भेद माने गये हैं। प्रमाण कभी मिथ्या नही होता। जो ज्ञान मिथ्या होता है, वह प्रमाण ही नही होता।

प्रमाण का लक्षण

यद्यपि जैनो ने दो ही प्रमाण माने हैं, तथापि किसी-किसी ग्रन्थ मे चार प्रमाणो का भी उल्लेख है। अर्थात् उन लोगो के मत मे प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य तथा आगम, ये चार प्रमाण है।[1]

प्रमाण के भेद

उपर्युक्त पाँच प्रकार के ज्ञानों मे 'मति' और 'श्रुत' ज्ञानो का आधार इन्द्रियाँ हैं। अतएव एक प्रकार से ये तो 'परोक्ष' हैं, किन्तु 'अवधि', 'मन पर्याय' तथा 'केवल', इन तीनो प्रकार के ज्ञान मे तो जीव स्वतन्त्र रूप से, अर्थात् बिना किसी की सहायता से, ज्ञान प्राप्त करता है, अतएव ये 'प्रत्यक्ष' हैं।

१—प्रत्यक्ष प्रमाण

यह प्रत्यक्ष ज्ञान पुन 'पारमार्थिक' तथा 'व्यावहारिक' (साव्यावहारिक या लौकिक) भेद से दो प्रकार का है। जो कर्म के प्रभाव से मुक्त हो तथा स्वतन्त्र रूप से अपने को प्रकाशित करे, वह 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' है। इसके द्वारा जगत् के सभी विषय सर्वदा भासित होते हैं। वास्तविक प्रत्यक्ष तो यही है। किन्तु जिस ज्ञान के लिए जीव को इन्द्रियो की चेष्टाओ पर तथा मन पर निर्भर रहना पडता है, उसे जैनो ने 'व्यावहारिक प्रत्यक्ष' कहा है। 'व्यावहारिक प्रत्यक्ष' भी दो प्रकार का है—जिस मे इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से असाधारण कारण हो तथा जिस मे मन स्वतन्त्र रूप से कारण हो। यहाँ यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि जैन लोग 'मन' को इन्द्रिय नही मानते।

प्रत्यक्ष के भेद

---

[1] भगवतीसूत्र, ५-३-१९२; अनुयोगद्वारसूत्र।

बाद के जैन दार्शनिकों ने व्यावहारिक दृष्टि से 'मति' और 'श्रुत' को भी प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत माना है और इन्द्रियो के द्वारा तथा मन के द्वारा जो ज्ञान जीव को प्राप्त होता है, वे सभी 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' है। इनसे भिन्न जो ज्ञान है, वह 'परोक्ष ज्ञान' है।

मतिज्ञान—'मतिज्ञान' चार प्रकार का है—

(१) **'अवग्रह'**—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रथम अवस्था का ज्ञान, जिसे सम्मुग्ध, आलोचन, ग्रहण, अवधारण, आदि भी कहते है, 'अवग्रह' कहलाता है।

(२) **'ईहा'**—प्रत्यक्ष ज्ञान के क्रमिक विकास मे द्वितीय क्षण मे उत्पन्न होने वाला यह ज्ञान है। इस अवस्था में जीव को दृश्य विषय के गुणो का परिचय जानने की इच्छा होती है। इसे ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा, जिज्ञासा, आदि भी कहते हैं।

(३) **'अवाय'**—दृश्य वस्तु का निश्चय रूप से प्राप्त ज्ञान (ईहित-विशेषनिर्णय)।

(४) **'धारणा'**—प्रत्यक्ष ज्ञान की यह अन्तिम अवस्था है। इसमे दृश्य वस्तु का पूर्ण ज्ञान हो जाता है, जिस का सस्कार जीव के अन्त.करण पर निहित हो जाता है।

श्रुत ज्ञान—आगमो के द्वारा तथा आप्त वचनो से जो ज्ञान प्राप्त हो, उसे **'श्रुत'** ज्ञान कहते है। 'मतिज्ञान' होने के पश्चात् ही 'श्रुत ज्ञान' होता है। इसके दो भेद है—**'अंगवाह्य'**, अर्थात् जिस का उल्लेख 'जैनागम' (अगो) मे न हो तथा **'अंगप्रविष्ट'** अर्थात् जिस का उल्लेख 'अगो' में हो।

मति और श्रुत में भेद——'मति' और 'श्रुत' इन दोनो मे ये आपस के भेद है—

(१) 'मतिज्ञान' मे प्रत्यक्ष के विषय की उपस्थिति आवश्यक है, किन्तु 'श्रुत ज्ञान' मे भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी प्रकार के विषय रहते है।

(२) जैनागम से सम्बद्ध होने के कारण 'श्रुतज्ञान' 'मतिज्ञान' की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है।

(३) 'मतिज्ञान' में परिणाम का प्रभाव रहता है, किन्तु 'श्रुत ज्ञान' तो आप्त-वचन होने के कारण परिणाम से परे है और विशुद्ध है।[1]

'आत्मा' के स्वाभाविक गुणों का अवरोध करने वाले 'घातीय' तथा 'अघातीय' कर्मों के प्रभाव के हट जाने के पश्चात् 'जीव' स्वयं, बिना किसी इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा से, ज्ञान प्राप्त करता है। वही ज्ञान 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान' है। इसके दो भेद हैं-

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद

(१) **केवलज्ञान**—इस अवस्था में 'घातीय' तथा 'अघातीय' कर्मों का प्रभाव दूर हो जाता है, 'जीव' सम्यक् दर्शन का अनुभव करने लगता है तथा समस्त जगत् के कार्यों को साक्षात् देखता है। इसे **'सकल'** भी कहते हैं। राग, द्वेष तथा मोह से रहित अर्हंतों में ही यह ज्ञान होता है।

(२) **'विकलज्ञान'**—इसमें सीमित तथा विषय के एक अंश का ही ज्ञान रहता है। इस के दो भेद हैं—

(क) **'अवधिज्ञान**—ज्ञान के आवरणों के हट जाने पर जो ज्ञान 'स्वभाव' से ही देवताओ तथा नारकीय लोगों में हो एव मनुष्य तथा निम्नस्तर के जीवो मे 'प्रयत्न' से हो तथा जो सम्यक् दर्शन-जन्य हो, वही **'अवधिज्ञान'** कहा जाता है।

(ख) **'मनःपर्यायिज्ञान'**—सम्यक् चारित्र के द्वारा ज्ञान के आवरणो को दूर करने पर जो ज्ञान उत्पन्न हो तथा जो अन्य पुरुषों के मन मे वर्तमान सीमित आकार की वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त करे, वही **'मनःपर्यायज्ञान'** है।[2] यह ज्ञान साधुओ को ही प्राप्त होता है। **'अवधिज्ञान'** तो सभी को हो सकता है। **'मन पर्यायज्ञान'** परिशुद्ध तथा सूक्ष्म है।[3]

मति तथा श्रुत के द्वारा सभी द्रव्यो का ज्ञान प्राप्त होता है। रूपवत् अर्थात् 'मूर्त' द्रव्य 'अवधिज्ञान' का विषय है। रूपवत् 'सूक्ष्म' द्रव्य मन पर्यायिज्ञान का विषय है।

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, १—२०।

[2] प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, २-२२।

[3] तत्त्वार्थसूत्र, १-२६।

इन चारो अवस्थाओ मे द्रव्यों के परिणाम से उत्पन्न विषयो का, अर्थात् पर्यायो का, ज्ञान नही होता, किन्तु 'केवल' ज्ञान का सभी द्रव्य तथा उनके पर्याय विषय है। मति तथा श्रुत के द्वारा 'रूपी' तथा 'अरूपी' सभी द्रव्य जाने जा सकते है, किन्तु उनके सभी पर्यायो का ज्ञान नही हो सकता।'

२—परोक्ष प्रमाण

जैनो के मत मे दूसरा प्रमाण है—'परोक्ष'। 'हेतु' के द्वारा 'साध्य' वस्तु के ज्ञान को **'परोक्ष'** तथा उस ज्ञान की प्रक्रिया को 'अनुमान' कहते है। 'स्वार्थ' तथा 'परार्थ' के भेद से **'अनुमान'** दो प्रकार का है। अनेक दृष्टान्तों को देख कर अपने मन मे अपने को समझाने के लिए किये गये अनुमान को 'स्वार्थानुमान' कहते है। जैसे, अनेक स्थानो मे धूम को वह्नि के साथ अनेक बार देख कर देखने वाला मन मे निश्चय करता है कि—'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ आग है'। इसी नियत रूप मे हेतु और आग इन दोनो के एक साथ रहने को 'व्याप्ति' कहते है। बाद को कही जाते हुए एक पर्वत मे धूम को देखकर उसे पूर्व मे 'व्याप्ति' के द्वारा निश्चित धूम तथा वह्नि के सम्बन्ध का स्मरण होता है और पुनः उस व्याप्ति-विशिष्ट धूम को पर्वत मे देखकर वह निर्णय करता है कि पर्वत मे वह्नि है। यही **'स्वार्थानुमान'** है। इस प्रक्रिया मे 'पर्वत' 'पक्ष' है। पर्वत मे रहने वाला धूम 'पक्षधर्म' है। धूमत्व से विशिष्ट धूम का पर्वत-रूपी पक्ष मे रहना 'पक्षधर्मता' कहा जाता है। इस प्रकार अनुमान मे 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता', ये दोनो आवश्यक हैं।

अनुमान-प्रमाण

पञ्चावयव परार्थानुमान—जब यही बात दूसरो को समझाने के लिए लायी जाती है, तो उसे **'परार्थानुमान'** कहते है। इस मे जिन पाँच वाक्यों के द्वारा निर्णय किया जाता है, उन वाक्यो को अनुमान के 'अवयव' कहते है। जैसे—

(१) **प्रतिज्ञा**—पर्वत मे वह्नि है,

(२) **हेतु**—क्योकि (पर्वत मे) धूम है,

(३) **दृष्टान्त**—जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है (व्याप्ति), जैसे—रसोई घर में,

(४) **उपनय**—जो धूम बिना वह्नि के नही रहता, वह (अर्थात् व्याप्ति-विशिष्ट धूम) पर्वत मे है,

---

' तत्त्वार्थसूत्र, १-२७-३०।

(५) **निगमन**—इसलिए पर्वत में वह्नि है।

दशावयव परार्थानुमान—भद्रबाहु ने 'दशवैकालिकनिर्युक्ति' में 'दश-अवयव' वाले अनुमान का उल्लेख किया है, जिस का स्वरूप है—

(१) **प्रतिज्ञा**—हिंसानिरोध सबसे बड़ा पुण्य है,

(२) **प्रतिज्ञा-विभक्ति**[१]—हिंसानिरोध जैन तीर्थकरों के मत में सब से बड़ा पुण्य है,

(३) **हेतु**—हिंसानिरोध सब से बडा पुण्य है, क्योंकि जो हिंसा का निरोध करता है, वह देवताओं का प्रियपात्र होता है, और उनका आदर करना मनुष्यो के लिए धार्मिक कार्य है।

(४) **हेतु-विभक्ति**[१]—हिंसा के निरोध करने वालों के अतिरिक्त अन्य कोई भी पुण्य-लोकों मे रहने की आज्ञा नही पाते।

(५) **विपक्ष**—परन्तु जो जैन तीर्थकरो से घृणा करते है और हिंसा करते है, वे देवताओ के प्रिय है और उनका आदर करना मनुष्यो के लिए धार्मिक कार्य है। यज्ञो मे हिंसा करने वाले स्वर्ग मे रहते है।

(६) **विपक्ष-प्रतिषेध**—हिसा करने वालों की जैन तीर्थंकर निन्दा करते है। वे उनके आदरपात्र नही है और न तो वे देवताओ के ही प्रियपात्र सचमुच मे है।

(७) **दृष्टान्त**—आर्हत एव जैन साधु लोग स्वय अपना भोजन इस भय से नही बनाते कि कही उसमे हिंसा न हो जाय। वे लोग गृहस्थो के यहाँ भोजन प्राप्त करते है।

(८) **आशंका** (दृष्टान्त की सत्यता मे सन्देह का होना)—गृहस्थ लोग जो भोजन बनाते है वह तो आर्हत तथा जैन साधु लोगो के लिए भी बनाते है, फिर उसमे जीवहिंसा होने से उन गृहस्थो को तथा आर्हत एव जैन साधुओ को भी उस पाप का भागी होना पड़ेगा। इसलिए उपर्युक्त दृष्टान्त ठीक नही है।

---

[१] **'विभक्ति' का अर्थ है अवच्छेदक=व्यावर्त्तक=सीमित करने वाला।**

(९) **आशंका-प्रतिषेध**—आर्हत एवं जैन साधु भिक्षा के लिए, अपने आने का सवाद गृहस्थों को नही देते और न तो वे कभी किसी एक नियत समय मे उनके यहाँ भिक्षा के लिए जाते है। इसलिए उनके लिए गृहस्थ भोजन वनाते है, ऐसा कहना ठीक नही है। तस्मात् उस पाप से आर्हत एव साधुओ का कोई भी सम्बन्ध नही है।

(१०) **निगमन**—इसलिए हिंसानिरोध सवसे वड़ा पुण्य है।

हेत्वाभास

उपर्युक्त अनुमान के स्वरूप मे प्रधान रूप से 'पक्ष', 'साध्य' तथा 'हेतु', ये तीन पद होते है। 'साध्य' वह है, जिसे सिद्ध किया जाय, जैसे—उक्त अनुमान में 'अग्नि' या 'पुण्य'। जिस आधार मे साध्य का होना सिद्ध किया जाय, उसे 'पक्ष' या 'आश्रय' कहते है, जैसे 'पर्वत' या 'हिंसा-निरोध' तथा साध्य को सिद्ध करने के लिए दिये गये कारण को 'हेतु' कहते है। इन तीनो के सम्वन्ध मे यदि कोई विघटन हो जाय तथा इन में से कोई भी नियम के प्रतिकूल हो जाय, तो 'अनुमान' मे दोष आ जाते है और वे दोष '**हेत्वाभास**' आदि के नाम से प्रसिद्ध होते है। यहाँ पर कुछ दोषो का उल्लेख किया जाता है—

(१) **पक्षाभास**—'साध्य' का आधार यदि किसी कारण दूषित हो जाय या असम्भव हो तो उसे 'पक्षाभास' कहते है, अर्थात् यद्यपि वह आधार 'पक्ष' के समान मालूम होता है, किन्तु वास्तव मे वह 'पक्ष' नही है। जैसे—घट पुद्गलो से वना है। यहाँ 'साध्य' को ही 'पक्ष' वना दिया गया है।

(२) **हेत्वाभास**—यह तीन प्रकार का है—

(क) **'असिद्ध'**—वह है जो सिद्ध नही है। जैसे—
यह सुगन्धित है, क्योकि यह आकाश का कमल-फूल है।
यह वाक्य अशुद्ध है, क्योकि आकाश मे फूल होता ही नही।

(ख) **'विरुद्ध'**—अग्नि शीतल है, क्योकि यह द्रव्य है।
यह वाक्य प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। 'अग्नि' कभी 'शीतल' नही होती।

(ग) **'अनैकान्तिक'**—जैसे—सभी वस्तुएँ क्षणिक है, क्योकि वे सत् है।

इस वाक्य का उलटा भी कहा जा सकता है—

'सभी वस्तुएँ नित्य हैं, क्योंकि वे सत् है।'

यह वाक्य शुद्ध नही है, क्योंकि दोनो बाते एक साथ शुद्ध नही हो सकती।

(३) दृष्टान्ताभास एव (४) दूषणाभास भी 'हेत्वाभास' के भेद[1] है।

३—शब्द-प्रमाण

'परोक्ष प्रमाण' के अन्तर्गत 'शब्द-प्रमाण' भी एक 'प्रमाण' है। प्रत्यक्ष के विरुद्ध न होकर जो ज्ञान शब्द के द्वारा उत्पन्न हो, वह 'शब्द-प्रमाण' है। 'लौकिक' तथा 'शास्त्रज' के भेद से यह दो प्रकार का है।

इन्ही प्रमाणो के द्वारा जैनो के मत में अविद्या का नाश, आनन्द की प्राप्ति तथा व्यावहारिक ज्ञान में सत्यासत्य का निर्णय होता है।

नय

अन्य दर्शनों की तरह जैन मत में भी प्रमाणो के द्वारा तत्त्वों का ज्ञान होता है, जैसा ऊपर कहा गया है। इस के अतिरिक्त जैन लोग दृष्टि के भेद से, जिसे वे **'नय'** कहते है, तत्त्वो के ज्ञान की विशेष रूप से पुष्टि करते है। इसलिए जैन-दर्शन मे **'नय'** का भी एक अपना स्वतन्त्र स्थान है। जैनो ने प्रत्येक वस्तु मे अनेक 'धर्म' माने है। उन मे से जब किसी एक 'धर्म' के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाय, जैसे 'नित्यत्व' धर्म के द्वारा 'आत्मा आदि वस्तुएँ नित्य हैं' ऐसा निश्चय करना हो, तो वह 'नय' के द्वारा होता है। यहाँ केवल एक अश का बोध होता है, किन्तु जब अनेक 'धर्म' के द्वारा किसी वस्तु का अनेक रूप से निश्चय किया जाय, तो वह प्रमाण के द्वारा निश्चय होता है। यहाँ अनेक अंशों का बोध होता है। इस प्रकार 'प्रमाण' तथा 'नय' इन दोनो के द्वारा किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है।[2]

यथार्थ ज्ञान और नय

---

[1] न्यायावतार, २१-२८।

[2] प्रमाणनयैरधिगमः—तत्त्वार्थसूत्र, १-६।

'नय' के दो मुख्य भेद है—'निश्चय नय' तथा 'व्यावहारिक नय'। 'निश्चय नय' के द्वारा तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। तत्त्वो के स्वाभाविक जितने नित्य गुण है उन्ही के स्वरूप का परिचय निश्चय नय के द्वारा होता है। 'व्यावहारिक नय' के द्वारा विषयों का सांसारिक दृष्टि से ज्ञान प्राप्त होता है।

नय के भेद

इन के अतिरिक्त जैन मत मे भिन्न-भिन्न अंश को भिन्न-भिन्न दृष्टि से जानने के लिए अनेक 'नयो' का उल्लेख है, जिन मे 'द्रव्यार्थिक' तथा 'पर्यायार्थिक' एवं इन के प्रभेद 'नैगम', 'सग्रह', 'व्यवहार', 'ऋजुसूत्र', 'शब्द', आदि अनेक है।[1]

जैसा पूर्व मे कहा गया है, जैनों ने प्रत्येक वस्तु मे अनेक 'धर्म' माने है और किसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए न केवल उस के अनेक धर्मों का ही प्रमाण के द्वारा ज्ञान अपेक्षित होता है, किन्तु एक धर्म का भी एक दृष्टि से ज्ञान अपेक्षित होता है। अभिप्राय है—तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना। अतएव उसे एक दृष्टि से एवं अनेक दृष्टि से, दोनो तरह से देख कर निर्णय करना आवश्यक है। इसलिए 'प्रमाण' तथा दृष्टिकोण, अर्थात् 'नय', इन दोनों का ज्ञान तत्त्वो के ज्ञान के लिए अत्यन्त अपेक्षित है।

वाद

१—कर्मवाद

जो विद्वान् या दर्शनशास्त्र परलोक मानते हैं, मृत्यु के पश्चात् 'आत्मा' की स्थिति को स्वीकार करते है तथा 'आत्मा' को नित्य मानते हैं, वे सभी 'कर्मवाद' को विना स्वीकार किये रह नही सकते। जैसा पहले कहा गया है, जिस प्रकार अविद्या के सम्पर्क से 'जीव' जन्म और मरण से युक्त रहता है और अपनी अविद्या का नाश कर मुक्ति पाने के लिए संसार मे आया करता है, उसी प्रकार अनादिकाल से 'कर्म' भी जीव के साथ रहता ही है। वास्तव मे 'कर्म' के ही कारण 'जीव' को वार-वार जन्म लेना पड़ता है। जीव और कर्म का सम्पर्क ही तो एक प्रकार से 'अविद्या' है। जीव कर्म करता है और उस कर्म के फल को भोगना उसके लिए आवश्यक होता है। विना भोग किये कर्म के

जीव और कर्म का सम्पर्क

---

[1] विनयविजय उपाध्याय—नयकर्णिका, जैन प्रकाशन मन्दिर, आरा संस्करण।

बन्धन से जीव को छुटकारा ही नही मिल सकता। इन बातों से यह स्पष्ट है कि 'कर्म' ही बन्धन का एक मुख्य कारण है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चारों 'कषायो' से जो जीव का अनादि सम्पर्क है, वह भी 'कर्म' के ही कारण होता है। इसलिए कुछ विद्वानो ने 'कर्म' को ही 'अविद्या' कहा है।

जीव के सम्पर्क मे आने वाली सभी वस्तुओं के साथ उस जीव के कर्मों का सम्बन्ध रहता है। जैन मत मे पुद्गल अनेक प्रकार के होते है और उन्ही मे कर्मों से सम्पर्क रखने वाले पुद्गल 'कर्म-पुद्गल' कहे जाते है, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।

२---स्याद्वाद या अनेकान्तवाद

जैनो के मत मे प्रत्येक 'सत्' या 'द्रव्य' पदार्थ परिणामी है, अर्थात् एक धर्म को छोड कर दूसरा धर्म ग्रहण करता रहता है। यह 'सत्' का स्वभाव है। इसलिए प्रत्येक 'सत्' का उत्पाद तथा व्यय (नाश) भी सर्वदा होता ही रहता है। परन्तु इस प्रकार परिणामशील होने पर भी 'सत्' पदार्थ का 'अपनापन' कभी भी नष्ट नही होता। वह उत्पाद मे तथा व्यय मे भी सदैव वर्तमान रहता है। इसे 'ध्रौव्य' कहते है। अर्थात् प्रत्येक 'सत्' पदार्थ मे 'उत्पाद', 'व्यय' एव 'ध्रौव्य' ये तीनो 'धर्म' है। जैसे 'घट' मिट्टी से उत्पन्न होता है और उसका नाश होता है। उत्पत्ति और नाश इन दोनो अवस्थाओं मे 'मिट्टी' का अपनापन अर्थात् 'तद्भाव' तो रहता ही है। इसे ही 'ध्रौव्य' कहते है। स्वरूप मे परिवर्तन होता है, किन्तु उसका 'तद्भाव' तो सदा, सभी अवस्था मे विद्यमान रहता है।

'सत्' का स्वरूप

ऐसी स्थिति मे जब किसी तत्त्व का विचार करना हो, तो उसके अनेक धर्मों का विचार करना चाहिए। तभी उस वस्तु के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त हो सकता है। अर्थात् जैनो के मत मे शकर के वेदान्त के समान 'सत्' नित्य नही है; या बौद्धो की तरह उत्पाद तथा विनाश से युक्त प्रतिक्षण मे नाश होने वाला नही है, या साख्य वालो के समान चेतन पुरुष के रूप मे कूटस्थ तथा अचेतन प्रकृति के रूप मे परिणामी नही है; या न्याय-वैशेषिक के समान परमाणुरूप मे नित्य तथा कार्य-रूप मे अनित्य नही है।

३---परिणामिनित्यत्ववाद

वस्तुत इनके मत मे 'सत्' न केवल कूटस्थ तथा क्षणिक ही है या केवल नित्य तथा अनित्य ही है या चेतन तथा अचेतन ही है, किन्तु यह '**सभी**' है। अतएव इस

में 'उत्पाद', 'विनाश' तथा 'ध्रौव्य', ये तीनो गुण सदैव वर्तमान है, अर्थात् एक ही वस्तु एक ही क्षण मे 'है' भी और 'नही' भी है, फिर भी दोनो अवस्थाओ मे उनका 'अस्तित्व' तो है ही। इन परस्पर विरुद्ध गुणो को एक साथ जैन लोग प्रत्येक द्रव्य या सत् मे विद्यमान मानते है। इसी कारण इस विचारधारा को 'परिणामि-नित्यत्ववाद' या 'अनेकान्तवाद' लोग कहते है।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि तत्त्वो के वास्तविक ज्ञान के लिए अन्य दर्शनो के समान जैन-मत मे भी व्यावहारिक ज्ञान की एव सासारिक अनुभव की अपेक्षा है। जैन-मत मे चेतन तथा अचेतन सभी द्रव्यो मे अनन्त धर्म है। जैसे—आत्मा मे सत्, नित्यत्व, अमूर्तत्व इत्यादि अनेक 'धर्म' है। ये 'धर्म' किसी एक वस्तु की अपेक्षा से 'आत्मा' मे है और साथ ही साथ किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से नही भी है। इसी प्रकार अपने गुणो की अपेक्षा से 'आत्मा सत् है', किन्तु घट के गुणो की अपेक्षा से उसी समय 'आत्मा असत्' भी है। अतएव एक वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए ससार की सभी वस्तुओं का स्वरूप, उस विशेप वस्तु के सम्बन्ध में, जानना पडता है।

सप्तभंगी नय का उदाहरण

इस प्रकार एक वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य वस्तुओ की सम्भावना की परीक्षा भी करनी आवश्यक है। इसी बात को जैन लोगो ने **'स्यात्'**, अर्थात् 'हो सकता है', इस रूप मे विचार किया है। वस्तु मे अनन्त धर्म होने पर भी जैनो ने उस वस्तु मे केवल सात प्रकार की सम्भावनाओ का विचार किया है। इसी से समझ लेना चाहिए कि अन्य प्रकारो की भी सम्भावना हो सकती है। इसी को **'सप्तभंगीनय'** अर्थात् निश्चय पर पहुँचने के लिए किसी बात का सात प्रकार से विचार करना, जैनों ने कहा है। इन्ही सातों प्रकार के सम्भावित वाक्यों के स्वरूप उदाहरण सहित नीचे दिये जाते है—

(१) **'स्यात् अस्ति द्रव्यम्'**—एक किसी दृष्टि से वस्तु की सत्ता हो सकती है।

(२) **'स्यात् नास्ति द्रव्यम्'**—दूसरी किसी दृष्टि से उसी समय उसी वस्तु की सत्ता नही भी हो सकती।

(३) **'स्यात् अस्ति च नास्ति च द्रव्यम्'**—तीसरी दृष्टि से उसी समय वस्तु की सत्ता हो सकती है और नही भी हो सकती।

(४) 'स्यात् अवक्तव्यं द्रव्यम्'—चौथी दृष्टि के विचार से वही वस्तु अवक्तव्य है, क्योंकि एक ही समय मे उसकी सत्ता का अस्तित्व और अदर्शन दोनो कहे जाने के कारण शब्दो के द्वारा ठीक-ठीक उसके स्वरूप का निर्वचन नही हो सकता।

(५) 'स्यात् अस्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्'—पाँचवी दृष्टि के विचार से वही वस्तु एक ही समय में हो सकती है और फिर भी अवक्तव्य रह सकती है।

(६) 'स्यात् नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्'—छठी दृष्टि के विचार से वही वस्तु एक ही समय मे नही भी हो सकती है और फिर भी अवक्तव्य रह सकती है।

(७) 'स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्'—सातवी दृष्टि के विचार से वही वस्तु एक ही समय मे हो सकती है, नही भी हो सकती है और तथापि अवक्तव्य रह सकती है।

इन सभी अवस्थाओ मे 'द्रव्य', 'क्षेत्र', 'काल' तथा 'भाव', इन स्वरूपों को लेकर भिन्न-भिन्न अवस्था की सम्भावना की जा सकती है और वस्तु का पूर्ण परिचय प्राप्त करने की चेष्टा की जा सकती है।[1] यही इस **'स्याद्वाद'** या **'अनेकान्तवाद'** का उद्देश्य है।

जैन-दर्शन मे यह एक अपूर्व विचार है। इसी को लेकर इस दर्शन को कोई **'स्याद्वाददर्शन'** भी कहते हैं।

आलोचन

अन्य दर्शनो की तरह जैन-दर्शन भी मुख्य रूप मे आचार-विचार से ही उत्पन्न हुआ। मालूम होता है कि पूर्व मे इन लोगो का विशेष ध्यान देहशुद्धि, अन्त करण-शुद्धि, आदि मे ही था। बाद को उस मत के विद्वानो ने इसे भी आध्यात्मिक रूप देकर एक सर्वांगपूर्ण दर्शन बनाया।

---

[1] उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ ३०१-३०४।

चार्वाको के अनन्तर जैनो ने 'आत्मा' के स्वरूप के सम्बन्ध मे बहुत दूर तक विचार किया है। उसके चैतन्य रूप की प्राप्ति का मार्ग भी दिखाया है। किन्तु जैसा पहले कहा गया है, इस आत्म-विचार मे भौतिकवाद का लेश अवश्य रह गया। यही कारण है कि 'आत्मा' मे 'देह-परिमाण' वे मानते है एवं उसमे 'संकोच' तथा 'विकास', ये दोनो परस्पर विरुद्ध धर्म भी उन्होने माने है।

इसके अतिरिक्त जड़ पदार्थो की तरह आत्मा में 'प्रदेशो' की स्थिति मान कर उसे अवयवो से युक्त जैनो ने माना है। शरीर के टुकड़े करने के साथ-साथ 'आत्मा' के भी टुकडे किये जा सकते है और शरीर से पृथक् शरीर के टुकड़ों के साथ-साथ 'आत्मा' के भी टुकड़े पृथक् हो जाते है और फिर शरीर के अंगो की पुष्टि की तरह 'आत्मा' के अंग भी पुष्ट हो जाते है। मालूम होता है कि 'आत्मा' अपने कटे हुए अंगों के साथ उसी प्रकार सम्बद्ध रहती है, जिस प्रकार कमल-नाल के टूट जाने पर भी एक पतले सूत से उसके दोनों टुकड़े सम्बद्ध रहते है।

आत्मा अवयवी है

ये सभी बातें भौतिक पदार्थ में पायी जाती हैं। अतएव कहा जा सकता है कि जैनो की 'आत्मा' को भौतिक स्वरूप से सर्वथा छुटकारा नही मिला है। किसी अंश मे तो 'आत्मा' बहुत ऊँचे स्तर तक पहुँच गयी है, परन्तु उपर्युक्त अंशो मे वह भूतो के सम्बन्ध से बहुत दूर नही हट पायी है।

दर्शनो के तात्त्विक विचार का मुख्य ध्येय तो होना चाहिए 'भेद मे अभेद' का ज्ञान, किन्तु जैन-सिद्धान्त मे 'अभेद' का या 'एकत्व' का कही स्थान नही है। 'भेद' तो निम्न स्तर मे पाया जाता है। अतएव यह दर्शन ऊँचे स्तर तक हमें नही पहुँचाता।

अभेद में भेद

आचार का तथा तपश्चर्या का बहुत कठोर विचार जैन-दर्शन मे है। यह तो उचित ही है। इससे अन्तःकरण की शुद्धि होती है। किन्तु इन लोगो ने जिन कठोर नियमो तथा व्रतो का विधान किया है, उनका साधारण रूप से पालन नही किया जा सकता। ये नियम मनुष्यो के ही लिए तो बने है। इन्हे यह देखना चाहिए था कि नियम ऐसे हो जिनका पालन करने की सम्भावना हो। असम्भव नियमो से लाभ नही होता। उनके पालन में शिथिलता आ जाती है। यही कारण है कि जैन-मत मे कुछ साधु' है और अधिक लोग 'गृहस्थ' है। गृहस्थो के लिए नियमो का पालन अनिवार्य नही

आचार के अव्यावहारिक नियम

है। परन्तु क्या साधु लोग मनुष्य नही है ? क्या वे उतने कठोर व्रतो, जैसे 'केश-लुञ्चन' आदि का पालन प्रसन्नता से या उत्साह से करते है ? मालूम होता है कि जैन लोग व्यवहार में वहुत पटु नही थे, अतएव इन्होने अव्यावहारिक नियमो का विशेष विधान किया है।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि आचार के स्तरो की परीक्षा के लिए एक सब से ऊँचा 'आचार-मापक-तत्त्व' का होना उचित है। उसे 'ईश्वर' कहे या न कहे, किन्तु विना एक उच्चतम 'मापक-तत्त्व' के, किस आधार पर वुरे और भले का, सत्य और असत्य का, उचित और अनुचित का, निर्णय किया जा सकता है ?

आचार-मापक-तत्त्व

तीर्थङ्करों को 'ईश्वर' के समान इन्होने माना है, किन्तु वे 'ईश्वर' तो नही हो सकते। मनुष्य की ही देह को उन्होने धारण किया है। 'ईश्वर' के समान शक्ति-शाली भी वे हो सकते है, किन्तु 'ईश्वर' नही हो सकते। फिर मनुष्य-शरीर धारण करने के कारण ये लोग सव के लिए सर्वथा दोषरहित 'आचार-मापक-तत्त्व' नही कहे जा सकते। अतएव आचार के नियमो की माप भी एक विशिष्ट 'मापक-तत्त्व' के विना ठीक से नही हो सकती।

एक ही समय मे अनेक साधक सिद्ध होकर तीर्थङ्कर के पद को प्राप्त कर सकते है। तो क्या एक समय मे भिन्न-भिन्न तीर्थङ्करो के रूप मे भिन्न-भिन्न अनेक 'ईश्वर' हो सकते है ? ऐसी स्थिति मे एक ही समय मे आचार-मापक अनेक तत्त्वो का अस्तित्व मानना पड़ेगा, फिर सव के लिए नियम भी भिन्न-भिन्न होगे और जीवन विघ्नपूर्ण हो जायगा।

इन वातो को ध्यान मे लाने से यह कहा जा सकता है कि जैन-मत मे वहुत ऊँचे स्तर के विचार नही है और ये लोग व्यवहार मे वहुत पटु नही है।

षष्ठ परिच्छेद

बौद्ध-दर्शन

जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन भी प्रारम्भ मे आचार-शास्त्र के ही रूप का था। बाद को बुद्ध के शिष्यो ने आध्यात्मिक रूप देकर उसे एक दार्शनिक शास्त्र बनाया। विचार करने से यह कहा जा सकता है कि दर्शन-शास्त्र के दो अग है—एक आचार या कर्मकाण्ड तथा दूसरा ज्ञानकाण्ड या आध्यात्मिक चिन्तन। इनमे पहले आचार के ही नियमो का पालन करना आवश्यक है। तत्पश्चात् आध्यात्मिक चिन्तन का अवसर आता है। उपासना के द्वारा अन्त करण की शुद्धि होने पर ही आध्यात्मिक विचार को समझने की शक्ति मनुष्य मे आ सकती है। अतएव अन्य दर्शनो की तरह बौद्ध-दर्शन का भी बीज कर्मकाण्ड मे निहित है।

आचार-शास्त्र

इस मत के आदि प्रवर्तक गौतम का जन्म ५६३ ईसा के पूर्व वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी वन मे हुआ था। इनकी माता 'माया देवी' इनके जन्म के सात ही दिन पश्चात् मर गयी। इसलिए गौतम का पालन-पोषण उनकी विमाता ने किया। इनके पिता शुद्धोदन शाक्यो के अधिपति थे। गौतम के जन्म के समय के ग्रहो का विचार कर ज्योतिषियो ने कहा था कि यह अपने जीवन के आरम्भ मे ही दु खी, ज्वरी, मृत-शरीर तथा परिव्राजक के कष्ट को देखकर, पर-दु ख से दु खी होकर, घर-द्वार छोड कर तपस्या के लिए जगल को चले जायेंगे। पिता ने बहुत प्रयत्न किया कि उपर्युक्त दयनीय अवस्था का दृश्य इनके सामने न आवे, किन्तु होनहार को कौन टाल सकता था ? गौतम का विवाह एक क्षत्रिय राजा की लडकी 'यशोधरा' से हुआ और उससे एक पुत्र का जन्म भी हुआ।

गौतम की जन्म-कथा

गौतम बहुत दुर्बल प्रकृति के व्यक्ति थे। इन्हे दूसरो का भी दु ख सह्य नहीं होता था, फिर अपने दु ख की तो बात ही क्या ! यह ससार दु खमय है। दु ख

के भोग के लिए ही जीव यहाँ आते है और उन्हे धैर्य धारण कर दु ख का भोग करना चाहिए। भोग से ही पूर्व-जन्म के प्रारब्ध कर्मो का नाश होता है और पश्चात् दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है। परन्तु गौतम का हृदय बहुत दुर्बल था या कहा जाय कि जो होनहार था वही हुआ। अतएव दु ख से व्याकुल होकर उन्तीस वर्ष[1] की अवस्था मे एक रात को गौतम घर को छोड और राजसुख का परित्याग कर, दु ख-नाश के उपाय को ढूँढने के लिए जगल को चल दिये। घर छोडने के अव्यवहित पूर्व समय मे उन्होंने अपनी स्त्री के घर के द्वार पर जाकर एक बार अपनी स्त्री को तथा अपने नवजात शिशु को देख लिया।

गृह-त्याग

इन बातो से यह स्पष्ट है कि गौतम ने केवल पर-दु ख को न सह सकने के कारण घर छोडा, न कि यज्ञो मे हिसा को देखकर, जैसा आजकल के पाश्चात्य-शिक्षा-सम्पन्न विद्वान् समझते है।[2] उरुवेला के जगल मे जाकर छ वर्ष तक इन्होने कठोर तपस्या की। किन्तु गौतम को अपनी तपस्या से सन्तोष नही हुआ और वहाँ से उठ कर बोध-गया मे एक पीपलवृक्ष के नीचे आकर पुनः तपस्या करने लगे। यहाँ आते ही तपस्या के प्रभाव से जन्म-जन्मान्तरो के मल के दूर हो जाने से उनका अन्त करण पवित्र हो गया और बोधि अर्थात् ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई। वह प्रबुद्ध हुए। उनका दु ख दूर हो गया और अपने उद्देश्य की प्राप्ति मे वे सफल हुए। इसके बाद वे 'बुद्ध' कहे जाने लगे और वह पिप्पलवृक्ष 'ज्ञान-वृक्ष' हो गया एव सभी उसकी पूजा करने लगे। गौतम एक प्रकार से 'जीवन्मुक्त' हो गये।

बुद्धत्व की प्राप्ति

तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त कर या जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँच कर कुछ लोग शरीर को छोड देते है और परमात्मा के साथ एक हो जाते है, किन्तु कुछ लोग 'आप्तकाम' होने पर भी ससार को कल्याण-मार्ग पर ले जाने के लिए शरीर की तब तक रक्षा करते है जब तक उनके 'प्रारब्ध-कर्म' के भोग पूर्ण नही हो जाते या जब तक उनकी इच्छा रहती है। बुद्ध ने भी स्वयं ज्ञान

लोक-कल्याण

---

[1] एकूनतिंसो वयसा सुभद्द यं पव्वजि किं कुसलानुएसि—महापरिनिब्बानसुत्त, २२१।

[2] प्रोफेसर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३५४; वि० च० लाहा—बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृ० ११३; महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य—बेसिक कनसेप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ७-८।

प्राप्त कर अपने को दुःख से विमुक्त कर दूसरो को भी अपने अनुभवों के द्वारा दुःख से विमुक्त करने के लिए अपने शरीर की रक्षा की। उसका नाश नहीं किया।

आर्य-सत्य

बुद्ध को विश्वास था, और इसके बाद उन्हे साक्षात् अनुभव भी प्राप्त हो गया था कि (१) ससार दुःखमय है **(सर्वं दुःखम्)**; (२) दुःखो का कारण है **(दुःखसमुदयः)**; दुःख से पीड़ित होकर उसके नाश करने के उपायो को लोग ढूँढा करते है, अर्थात् (३) उन्हे विश्वास है कि दुःख का नाश होता है **(दुःखनिरोधः)** तथा (४) दुःखों के नाश के लिए उपाय भी है **(दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्)**। इन्ही चार बातो को लोगों को समझाने के लिए तत्त्वज्ञान होने पर भी बुद्ध ने अपने शरीर की रक्षा की। ये ही चार 'आर्य सत्य' है।

इसी उद्देश्य से बुद्ध ने सारनाथ आदि स्थानो मे जा कर लोगो को उपदेश दिया। विद्वान् लोग तथा ज्ञानी पुरुष जिज्ञासुओ को अपने अनुभव का ही उपदेश देते है और उसी से दूसरो का भी कल्याण होता है। बुद्ध ने भी यही किया। उन्होंने स्वय दुःख से व्याकुल होकर उसके नाश के लिए उपायो को ढूँढा था। ससार के माया-जाल मे लोग इस प्रकार फँसे हुए है कि शीघ्र यह भी नही समझते कि दुःख है तथा उसका कारण क्या है। अतएव बुद्ध ने अपने अनुभव का उपयोग किया और लोगो को समझाया कि दुःख है और उससे सर्वदा के लिए छुटकारा पाने के लिए, दुःख को उत्पन्न करने वाले कारणो को समझ कर, उनका नाश करना उचित है।

व्यावहारिकता से कल्याण

एक बात यहाँ ध्यान मे रखना आवश्यक है कि बुद्ध को तत्त्वज्ञान हो गया। उन्हे 'आतमा' का साक्षात्कार हो गया, परन्तु 'आतमा' के साक्षात्कार को जीवन का मुख्य लक्ष्य समझ कर भी लोगो के कल्याण के लिए तथा उन्हे उचित मार्ग पर ले जाने के लिए बुद्ध ने 'आतमा' के सम्बन्ध मे अपने उपदेशो मे कुछ भी नही कहा। उन्हे व्यावहारिक जगत् का पूर्ण ज्ञान था और व्यावहारिकता के साथ चलने से ही सर्व साधारण की भलाई होगी, इसका उन्हे पूर्ण विश्वास था। यह भी उनके मन मे निश्चित था कि कर्तव्य-पथ पर चल कर उपासना के द्वारा तपस्या की सहायता से अन्तःकरण की शुद्धि पहले लोग करे, पश्चात् 'आत्मा' के सम्बन्ध मे सभी बाते स्वय लोग समझ जायँगे। इसलिए बुद्ध ने लोगों को कर्म करने की शिक्षा पहले दी। आत्मा आदि तत्त्वो के सम्बन्ध मे, अर्थात् ससार नित्य है या अनित्य ? आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न ? यह

मूर्त है या अमूर्त ? मृत्यु के वाद आत्मा रहती है या नही ? आदि रहस्यमय प्रश्नों के पूछे जाने पर वह स्वय मौन रहते थे। इसका कारण स्पष्ट है—सभी लोग इतने सूक्ष्म विपय को नही समझ सकते, फिर उन्हे इस प्रकार का उपदेश देना बेकार है। प्रत्युत रहस्यपूर्ण उपदेश देने से लोग अज्ञता के कारण और भी व्यस्त हो जायँगे। वे उलटी वाते समझ लेगे एवं बुद्ध को पक्षपाती कहकर उनके साथ विवाद उपस्थित कर देगे, इन कारणों से वुद्ध ने मौन रहना पसन्द किया। आरम्भ मे तो उपासना तथा अन्य तपस्या के उपदेश से ही लाभ हो सकता है, अतएव वुद्ध ने पहले उन वातो का उपदेश दिया जिनका उन्हे स्वय अनुभव हुआ था और जो साक्षात् लोगों के कल्याण के लिए थी।

सबसे पहले उन्होने सबको यह समझाया कि ससार दु खमय है। कोई भी जीव दु ख से मुक्त नही है तथा दु ख किसी को प्रिय नही है। उससे छुटकारा पाने के लिए सब को प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए दु ख के कारण को जानना आवश्यक है, बिना कारण के कार्य नही होता और कारण के नाश के बिना कार्य का नाश भी नही हो सकता। इसलिए सभी को दु.ख के कारणो को जानना चाहिए और उनके नाश के लिए उपाय ढूँढना चाहिए।

दुःख की कारण-परम्परा

इसमे कोई सन्देह नही कि हमारे दु ख का मूल कारण 'अविद्या' है, जिसकी अद्भुत शक्ति से कारणो की एक परम्परा हो जाती है। इस कारण-परम्परा को **'प्रतीत्य-समुत्पाद'**—'एक वस्तु की प्राप्ति होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति' कहते है, अर्थात् एक कारण के आधार पर एक कार्य उत्पन्न होता है, जो अविद्या का एक स्वरूप है तथा जो पुन कारण होकर एक भिन्न कार्य को उत्पन्न करता है। इस प्रकार कार्य-कारण की क्रम-परम्परा मे सभी अग कार्य-कारण-रूप से बद्ध हैं। यह परम्परा निम्नलिखित स्वरूप की है—

प्रतीत्यसमुत्पाद

(१) **अविद्या से संस्कार,**

(२) **संस्कार से विज्ञान,**

(३) **विज्ञान से नाम-रूप,**

(४) नाम-रूप से षडायतन, अर्थात् मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ,

(५) षडायतन से स्पर्श,

(६) स्पर्श से वेदना,

(७) वेदना से तृष्णा,

(८) तृष्णा से उपादान (राग),

(९) उपादान से भव (ससार मे होने की प्रवृत्ति),

(१०) भव से जाति,

(११) जाति से जरा और

(१२) जरा से मरण।

इन बारहो के स्वरूपो का विचार करने से यह स्पष्ट है कि ये सभी बुद्ध के चार आर्यसत्यो से ही अभिव्यक्त होते है। इनमे से कुछ भूतपूर्व कारण है और वर्तमान मे कार्यरूप मे है तथा कुछ वर्तमान मे कारण है और कुछ भविष्य मे कार्य होने के लिए है। इनमे से प्रथम और द्वितीय ('अविद्या' तथा 'सस्कार') दूसरे 'आर्यसत्य' से सम्बद्ध है और पूर्व-जन्म से सम्बन्ध रखने वाले वर्तमान जन्म के कारण है और ये 'दु ख-समुदय' के स्वरूप है। 'जाति' और 'जरा-मरण' ये वर्तमान जीवन मे रह कर भविष्य जीवन के कारण है तथा बीच वाले वर्तमान जीवन मे कारण और कार्य दोनो रूपो मे विद्यमान है। इन्ही कार्य-कारणो की परम्परा मे ससार-चक्र चलता रहता है। इसे 'भवचक्र' भी कहते है। जब तक जीव इस 'भवचक्र' से मुक्त नही होता, तब तक उसके दु.ख का नाश नही होता। इस दु ख का निरोध अत्यावश्यक है। यह भी बुद्ध ने शिक्षा दी कि दु ख नित्य नही है। नित्य तो कुछ भी नही है। फिर इस दु ख के नाश के लिए उपाय है। उस उपाय के द्वारा दु ख-नाश कर जीव अपने जीवन के परम पद की प्राप्ति कर सकता है और जन्म-मरण से सब दिन के लिए उसे छुटकारा मिल जाता है। यही बात बुद्ध ने कही है—

चतुन्नं अरिआ सच्चानं यथाभूतं अदस्सना,
संसरितं दीघमद्धानं तासु तास्वेव जातिसु ।
तानि एतानि दिठ्ठानि भव नेत्ति समूहता,
उच्छिन्नं मूलं दुक्खस्स नत्थि दानि पुनब्भवोति ॥[१]

---

[१] महापरिनिब्बानसुत्त, २-४९ ।

इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बुद्ध ने अपने अनुभव के अनुसार लोगों को उपदेश दिया। दु ख-निरोध के मार्ग को कहते हुए उन्होंने **'अठ्ठंगिकं मग्गम्'** (अष्टाग-मार्ग) का भी उपदेश दिया। उनका विश्वास था कि कायिक, वाचिक तथा मानसिक साधना के विना दु ख का निरोध नही हो सकता। अतएव उस प्रकार की साधना के लिए प्रत्येक साधक को—

अष्टांग-मार्ग

(१) **'सम्मा-दिठ्ठि'** (सम्यक् दृष्टि, अर्थात् आर्यसत्यों का ज्ञान),

(२) **'सम्मा-संकप्प'** (सम्यक् सकल्प, अर्थात् राग, द्वेष, हिंसा तथा ससारी विषयो के परित्याग के लिए दृढ निश्चय),

(३) **'सम्मा-वाचा'** (सम्यक् वाक्, अर्थात् मिथ्या, अनुचित तथा दुर्वचनों का परित्याग एवं सत्य-वचन की रक्षा),

(४) **'सम्मा-कम्मन्त'** (सम्यक् कर्मान्त, अर्थात् हिंसा, परद्रव्य का अपहरण, वासना की पूर्ति की इच्छा का परित्याग कर अच्छा कर्म करना),

(५) **'सम्मा-आजीव'** (सम्यक् आजीव, अर्थात् न्यायपूर्ण जीविका),

(६) **'सम्मा-वायाम'** (सम्यक् व्यायाम, अर्थात् बुराइयो का नाश कर अच्छे कर्म के लिए उद्यत रहना),

(७) **'सम्मा-सति'** (सम्यक् स्मृति, अर्थात् लोभादि को रोक कर चित्त-शुद्धि) तथा

(८) **'सम्मा-समाधि'** (सम्यक् समाधि, अर्थात् चित्त की एकाग्रता)। इन आठों आचरणो का पवित्रता से पालन करना आवश्यक है। इनके पालन से अन्त करण की शुद्धि होती है और ज्ञान का उदय होता है। बुद्ध ने इन्ही आचरणो का पालन करते हुए कठोर तपस्या की थी। इस अश मे किसी भी मत मे भेद नही है। इसके विना तो सिद्धि हो ही नही सकती।

इन नियमो को पालन करते हुए साधक क्रमश. अपने लक्ष्य तक पहुँचने मे अग्रसर होते है और प्रत्येक स्थिति मे दोपो से मुक्त होते चलते है। बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व साधक के लिए तीन विशेप अवस्थाएँ होती है—'श्रावक', 'प्रत्येक-बुद्ध' तथा 'वोधिसत्त्व'। इन तीनो अवस्थाओ को प्राप्त कर अन्त मे 'बुद्धत्व' की प्राप्ति होती है। इन तीनो अवस्थाओ का सक्षेप मे परिचय नीचे दिया जाता है—

बुद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व की अवस्थाएँ

(१) **श्रावक-पद**—इस अवस्था मे साधक त्रिविध क्लेशों से, अर्थात् अज्ञान, विविध वाधाएँ एव भ्रान्ति से युक्त रहता है। किन्तु वुद्धत्व पाने की प्रवल इच्छा उसमे होती है। अतएव वह अपने आचार्य के समीप जाकर उपदेश ग्रहण करता है। इस अवस्था मे भी निर्वाणपद को पाने के लिए चार भिन्न-भिन्न अवस्थान्तर है—

(क) **स्रोतापन्न**—इस अवस्था मे साधक की चित्तवृत्ति संसार से विरक्त होकर निर्वाण की तरफ ले जाने वाली चित्तवृत्ति की धारा मे सम्मिलित हो जाती है। एक वार इस धारा में पड जाने से पुन पीछे हटने की आशका नही रहती।

(ख) **सकृदागामी**—अर्थात् एक वार (इस ससार मे) आनेवाला साधक। इस भूमि मे इन्द्रिय-लोलुपता तथा दूसरे को हानि पहुँचाने की इच्छा, इन दोनो वन्धनो को नाश करता हुआ साधक अपने लक्ष्य पद की प्राप्ति के लिए अग्रसर होता है। इस अवस्था मे 'आस्रवो' (क्लेशो) का नाश करना आवश्यक होता है। इस मार्ग के साधक एक ही वार ससार मे आते है।

(ग) **अनागामी**—इस भूमि मे उपर्युक्त दोनो वन्धनो से मुक्त होकर साधक आगे वढता है। मरने पर वह पुनः संसार मे लौटकर नही आता। वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

(घ) **अर्हत्**—इस पद की प्राप्ति की इच्छा वाले साधक को रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य तथा अविद्या, इन वन्धनों का नाश कर क्लेशो से विमुक्ति मिलती है। इस भूमि मे आकर साधक को तृष्णा से शान्ति मिलती है।

अर्हत् पद तक पहुँचने के साथ श्रावको को इन चार अवस्थाओं की साधना करनी पड़ती है। यहाँ पहुँच कर साधक ज्ञाननिष्ठ हो जाते है। हीनयान वौद्धो का मुख्य लक्ष्य इसी पद की प्राप्ति है।

(२) **प्रत्येक-बुद्ध**—पूर्व-जन्म के अच्छे सस्कार के कारण जिस साधक को 'प्रातिभ चक्षु' का स्वत. उन्मीलन हो जाता है, किसी दूसरे के उपदेश

का सहारा नही लेना पड़ता, वही 'प्रत्येक-बुद्ध' कहलाता है। वह अर्हत्-भूमि से ऊँचे स्तर पर स्थित रहता है। वह ज्ञानी तो हो जाता है, किन्तु दूसरों के दु खों को दूर नही कर सकता।

(३) **बोधिसत्त्व**—इस भूमि का साधक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता है और साथ ही दूसरो के दुःखों की निवृत्ति करने के लिए तत्पर रहता है। 'बोधिसत्त्व' न केवल अपना कल्याण चाहता है, किन्तु दूसरो के दु ख का नाश करने के लिए भी उद्यत रहता है। दूसरों का कल्याण करना इस साधक की विशेषता है। महायान सम्प्रदाय मे इस अवस्था तक साधक पहुँचता है। अतएव यह ऊँचे स्तर की अवस्था है।

इन भूमियो को प्राप्त कर साधक 'बुद्धत्व' की प्राप्ति करता है।

इस प्रकार बुद्ध ने लोगों को उपदेश दिया। उन्होने अपने शिष्यों का एक **'संघ'** बनाया जिसमे पाँच सौ साधक थे। उन सबों के लिए 'शिक्षा' के दस नियमों को बनाया। वे नियम है—

संघ के नियम

अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सत्य, धर्म मे श्रद्धा, मध्याह्नोत्तर भोजन का निषेध, विलास से विरक्ति, सुगन्धित द्रव्यो का निषेध, सुखप्रद शय्या तथा आसन का परित्याग तथा सुवर्ण या चाँदी आदि मूल्यवान् वस्तुओं को अस्वीकार करना।

इनका पालन करना सब के लिए अनिवार्य था। साथ ही साथ बुद्ध ने सब से कहा —भिक्षुओ ! देखो, सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। सब का नाश होगा। अपनी मुक्ति के लिए स्वय सब को उद्योग करना चाहिए—

'हन्द दानि भिक्खवे ! आमन्तयामि वो वयधम्मा संखारा अप्पमादेन संपादेथा'[1]

बुद्ध के उपदेश

बुद्ध के उपदेशो के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि ये उपदेश प्राचीन ऋषियो के उपदेश से किसी भी प्रकार भिन्न नही थे। इसलिए जनता मे इनका पूर्ण आदर हुआ। इनसे पूर्ण प्रभावित होकर बुद्ध के कहे हुए मार्ग को लोगो ने अनुसरण किया। यद्यपि बुद्ध ने घर-द्वार छोड़ कर जंगल मे तपस्या के लिए चले जाने के निमित्त लोगो से नही कहा, फिर भी लोगो ने उन्ही के मार्ग का अनुसरण किया और भिक्षुक तथा भिक्षुणी बनकर जगलो को चले गये।

---

[1] महापरिनिब्बानसुत्त, २३५।

बुद्ध के उपदेश मे एक दोष यह मालूम होता है कि उन्होने 'अधिकार-भेद' का विचार नही किया। सभी दु खी थे। सभी अपने-अपने दु.ख के नाश की इच्छा रखते थे। अतएव सब के कल्याण के लिए बुद्ध ने आपामर को अपने अनुभवो की शिक्षा दी। फल यह हुआ कि बाल, वृद्ध और आतुरों को छोड़ कर सभी इनके उपदेश से प्रभावित होकर घर-द्वार को छोड़कर जगल को चले गये। समाज मे कार्य करने वाला, माता-पिता की सेवा करनेवाला, कोई भी न रहा होगा। इससे समाज की बड़ी हानि हुई होगी।

अधिकार-भेद के विचार का अभाव

जो लोग बुद्ध के विचारो से प्रभावित हुए थे, उनमे से बहुत-से तो भावुकता के कारण तरंग मे आकर दु ख-निवृत्ति के उपाय को ढूँढने गये। बुद्ध की तरह एक प्रकार से ससार से विरक्त तो सभी थे नही। अतएव जब उनका तरग शान्त हुआ, तब वे लोग शिथिल हो गये। बुद्ध के वचन तो लिखित थे नही, अतएव वे अपनी रुचि के अनुसार उन उपदेशो का अर्थ लगाकर भिन्न-भिन्न मार्ग का अनुसरण करने लगे होगे। यही कारण था कि बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके 'सघ' मे अनेक भेद हुए और बुद्ध मत की अनेक शाखाएँ हो गयी, जिनका उल्लेख 'कथावस्तु' आदि पाली के ग्रन्थो मे हमे मिलता है। यदि अधिकारी का विचार कर उपदेश दिया जाता, तो सम्भव था कि इस प्रकार समाज और जगल दोनो जगह कोलाहल न होता।

उपर्युक्त बातो के लिए उन प्रमाणभूत ग्रन्थो का आधार हमने लिया है जिन्हे लोग विश्वस्त रूप से बुद्ध के वचन मानते है।[1] इस प्रकार शिष्यो को उपदेश देते हुए, अकल्याण-मार्ग से उन्हे बचाते हुए, अस्सी वर्ष की अवस्था[2] मे कुशीनारा मे ४८३ ईसा के पूर्व, बुद्ध ने निर्वाण पद की प्राप्ति की।

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने अन्त.करण की शुद्धि के लिए, आचार-विचार के नियमों के पालन के लिए तथा दु.ख से छुटकारा पाने के लिए भक्तों को उपदेश दिया। आध्यात्मिक विचारो के सम्बन्ध मे वे चुप रहा करते थे। उनके उपदेश लिखित नही थे। परन्तु उनके मुख्य शिष्य तीन थे—उपालि, आनन्द तथा महाकश्यप। इन लोगो ने बुद्ध के उपदेशो को यथावत् स्मरण रखा। बहुत दिनो तक ये उपदेश शिष्य-परम्पराओ के द्वारा सुरक्षित रहे, बाद को महाराज अशोक के समय मे २४७ ई०

---

[1] विंटरनिट्ज़—हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर—भाग २, पृष्ठ २-३।

[2] असीतिको मे वयो वत्तति—महापरिनिब्बानसुत्त, ७७।

पूर्व, पाटलिपुत्र की तीसरी सभा मे ये सभी उपदेश एकत्रित किये गये और लंका में आ कर ईसा के पूर्व पहली सदी में सभी लिखे गये।

पाली भाषा में बौद्ध साहित्य

वुद्ध के शिष्यो ने उनके वचनों को तीन भागों मे विभक्त किया था—'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' तथा 'अभिधम्मपिटक'। ये तीनों 'त्रिपिटक' के नाम से प्रसिद्ध है।

'विनयपिटक' उपालि को कण्ठस्थ था। इसमे आचार-विचार के नियमों का वर्णन है। इसी के आधार पर 'सघ' के सभी भिक्षु-भिक्षुणी दिन-प्रति दिन कार्य करते थे। विनय की वातों को लेकर 'सुत्तविभंग', 'खन्धक', 'परिवार' तथा 'पातिमोक्ख' लिखे गये। 'सुत्तविभग' के 'पाराजिक' तथा 'पाचित्तिय' एवं 'खन्धक' के 'महावग्ग' तथा 'चुल्लवग्ग' विभाग हुए।

'सुत्तपिटक' आनन्द को कण्ठस्थ था। इसमे **'धम्म'** के सम्बन्ध में समय-समय पर वुद्ध ने जो उपदेश दिये थे एव दृष्टान्तो के द्वारा लोगों को समझाया था, उनका सग्रह है। इस के पाँच वड़े विभाग है जो **'निकाय'** के नाम से प्रसिद्ध है।

(१) **दीघनिकाय**—इसमे प्राचीन दार्शनिक मतो का उल्लेख है। जैनों के आचार्यो का भी वर्णन है। इसके तीन मुख्य भाग है—'शीलखन्ध', 'महावग्ग' तथा 'पाटिकवग्ग'। 'महापरिनिव्वानसुत्त' भी 'दीघनिकाय' के अन्तर्गत है।

(२) **मज्झिमनिकाय** ।

(३) **संयुत्तनिकाय** ।

(४) **अंगुत्तरनिकाय** तथा

(५) **खुद्दकनिकाय**—इसके अन्तर्गत 'धम्मपद', 'उदान', 'इतिवुत्तक', 'सुत्तनिपात', 'थेरगाथा', 'थेरीगाथा', 'जातक', आदि सोलह ग्रन्थ हं। इसके कुछ ग्रन्थ बहुत ही उपादेय है और बुद्ध के वचनों के प्रामाणिक सग्रह है। बर्मा के वौद्धो की परम्परा के अनुसार, 'मिलिन्दपण्ह', 'सुत्तसग्रह', 'पेटकोपदेश' तथा 'नेत्तिपकरण', ये भी चार ग्रन्थ 'खुद्दक' के अन्तर्गत है।

बहुतो का कहना है, और बुद्ध के चरित से उचित मालूम भी होता है, कि वुद्ध के वचन साक्षात् या परम्परा-रूप मे इन्ही दोनो पिटकों मे पाये जाते है। उन्होने

आध्यात्मिक उपदेश तो दिया ही नही, फिर उनके आध्यात्मिक वचनों का सग्रह का होना ठीक नही जँचता। मालूम होता है कि अभिधम्मपिटक के विषयो का सग्रह उनके शिष्यो का है। फिर भी यह बौद्ध-मत का प्रसिद्ध सग्रह है।

'अभिधम्मपिटक'—काश्यप को इस संग्रह का श्रेय दिया जाता है। इस 'पिटक' मे आध्यात्मिक दृष्टि के द्वारा बुद्ध के वचनो के आधार पर विवेचनपूर्ण दार्शनिक विचार है। इस पिटक के सात विभाग है—'धम्मसगणि', 'विभग', 'कथावत्थु', 'पुग्गलपञ्ञत्ति' (पुद्गलप्रज्ञप्ति), 'धातुकथा', 'यमक' तथा 'पट्ठान' (प्रस्थान)। बौद्ध-दर्शन के ज्ञान के लिए इन ग्रन्थो का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है।

बौद्ध मत के विभाग

प्राचीन बौद्ध सम्प्रदाय

पूर्व मे कहा गया है कि बुद्ध के द्वारा स्थापित 'सघ' के लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से बुद्ध के वचनो का अभिप्राय लगाकर एक प्रकार से परस्पर भिन्न मतो का प्रतिपादन करने लगे और इसी कारण बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर इस मत मे अनेक भेद हो गये। प्रारम्भ मे इनके दो प्रधान भेद हुए—**'महासांघिक'** तथा **'स्थविरवाद'**।

'महासाघिक' लोग तर्क से कार्य लेने लगे। जैसे—उनका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य मे बुद्धत्व प्राप्ति करने की शक्ति स्वाभाविक रूप से निहित है। समय पाकर संयोग से सभी बुद्ध हो सकते हैं। 'स्थविरवाद' के लोग परम्परा के निर्वाहक थे। वे अपने मन से परम्परा मे कुछ भी परिवर्तन नही चाहते थे। एक प्रकार से ये लोग 'रूढ़िवादी' कहे जा सकते है। इनके अनुसार बुद्धत्व-शक्ति स्वभावत. सभी मे नही होती। यह तो तपस्या से उत्पन्न होती है। इस मत के अनुयायी लोगो का केन्द्र 'काश्मीर' था। यही परिशुद्ध बौद्ध-मत समझा जाता था। महासाघिको का केन्द्र 'मगध' था।

स्थविरवाद के भेद—'स्थविरवाद' के अन्तर्गत मुख्य दो भेद थे—'हैमवन्त' तथा 'सर्वास्तिवाद'। बाद को सर्वास्तिवाद के नौ विभाग हुए—'वात्सीपुत्रीय', 'धर्मोत्तर', 'भद्रयानिक', 'सम्मितीय', 'छान्दागारिक', 'महीशासक', 'धर्मगुप्तिक', 'काश्यपीय' तथा 'सौत्रान्तिक'। इस प्रकार 'स्थविरवाद' के अन्तर्गत ग्यारह मत हो गये।

महासांघिक के भेद—इसी तरह 'महासांघिक' के अन्तर्गत नौ भेद हुए—'एकमहासांघिक', 'एकव्यावहारिक', 'लोकोत्तरवाद', 'कौरुकुल्लका', 'बहुश्रुतीय', 'प्रज्ञप्तिवाद', 'चैत्यशैल', 'अवरशैल' तथा 'उत्तरशैल'।

महायान और हीनयान

ये मत-भेद बढ़ते ही गये और बाद को नये-नये वाद उत्पन्न होने लगे। परस्पर राग और द्वेष के कारण 'संघ' के लोगो मे पूर्ण अशान्ति थी। महासांघिक मत का विशेष प्रचार होने लगा। अन्त मे थेरवादियो ने वैशाली की सभा मे महासांघिको का बहुत अनादर किया और उन्हें 'संघ' के बाहर निकाल दिया। यद्यपि महासांघिको का आदर विशेष होता था, परन्तु थेरवादियो के अपमान को वे लोग नही भूले। इसी कारण ये दोनो दल बहुत प्रबल होकर पृथक् रूप मे अपने-अपने विचारो के प्रचार में लगे। बदला लेने की दृष्टि से महासांघिको ने स्थविरवादियो को **'हीनयान'** और अपने को **'महायान'** सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध किया। **'महायान'** का अर्थ है—निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रशस्त मार्ग और **'हीनयान'** का अर्थ है निर्वाण पद की प्राप्ति के लिए नीच या अनुपयुक्त मार्ग।

महायान और हीनयान का भेद

ये दोनो बौद्ध-मत के मुख्य भेद हुए, जो आज भी उसी रूप मे भिन्न होकर प्रसिद्ध है। प्रगतिशील विचार के होने के कारण **'महायान'** को अश्वघोष, नागार्जुन, असग, आर्यदेव तथा वसुबन्धु, आदि बड़े-बड़े विद्वानो ने अपनाया। इससे इसका महत्त्व बहुत ही बढ गया। **'हीनयान'** का प्रभाव भी बढता गया। कुछ 'महायान' के लोग 'हीनयान' मे मिल भी गये। यह परस्पर मिलन और भेद बहुत दिनो तक चला और इन दोनो की अनेक शाखाएँ एव प्रशाखाएँ होती गयी। इन सब मे प्रधान रूप से 'महायान' के दो मुख्य भेद हुए—**'विज्ञानवाद'** या **'योगाचार'** तथा **'माध्यमिक'** या **'शून्यवाद'**। 'हीनयान' के भी दो मुख्य भेद हुए—**'वैभाषिक'** तथा **'सौत्रान्तिक'**।

इन दोनो का मूल तत्त्व मे भेद नही है, किन्तु अवान्तर विषयो मे कुछ-कुछ भेद अवश्य है। जैसे—

१ 'हीनयान' के साधक लोग 'अर्हत्' पद को ही अपना चरम लक्ष्य मानते है। इस पद पर पहुँच कर साधक ज्ञाननिष्ठ हो जाता है।

'महायान' के साधक 'बोधिसत्त्व' की अवस्था तक पहुँचते है और दूसरो के कल्याण करने की शक्ति को प्राप्त करते है।

२ 'हीनयान' मे 'स्रोतापन्न', 'सकृदागामी', 'अनागामी' तथा 'अर्हत्' ये ही **चार भूमियाँ** मानी जाती है, किन्तु 'महायान' मे **दसभूमियाँ** है। असङ्ग ने अपने 'दशभूमिशास्त्र' मे इन भूमियो का विशद वर्णन किया है। इन के नाम है—

दशभूमि

(१) **मुदिता**—इस भूमि मे बोधिसत्त्व के हृदय मे लोगो के कल्याण की विशेष इच्छा उत्पन्न होती है, जिससे उसका हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। 'करुणा का उदय' इस भूमि की विशेपता है और इसमे दृढ होने के लिए साधक अनेक प्रकार की चेष्टा करता है।

(२) **विमला**—साधक के कायिक, वाचिक तथा मानसिक पापो का नाश इस भूमि मे होता है। इस स्थिति मे **'शीलपारमिता'** का अभ्यास साधक विशेप रूप से करता है।

(३) **प्रभाकरी**—इस भूमि मे आकर साधक ससार के 'सस्कृत' धर्मो को तुच्छ समझने लगता है। इस अवस्था मे काम-वासना तथा तृष्णा क्षीण होने लगती है और साधक का स्वभाव निर्मल हो जाता है। यहाँ **'धैर्य-पारमिता'** का विशेष अभ्यास साधक करता है।

(४) **अर्चिष्मती**—इस भूमि मे साधक अष्टांगमार्ग का अभ्यास करता है। उसके हृदय मे दया तथा मैत्री का भाव जाग उठता है और वह **'वीर्यपारमिता'** का अभ्यास करता है।

(५) **सुदुर्जया**—इस अवस्था मे पहुँचकर साधक का चित्त समता को प्राप्त करता है और वह जगत् से विरक्त हो जाता है। यहाँ **'ध्यानपारमिता'** का विशेप रूप से साधक अभ्यास करता है।

(६) **अभिमुक्ति**—यहाँ आकर साधक सब तरह से समता का अनुभव करता है, सब पर असाधारण दया-दृष्टि रखता है तथा **'प्रज्ञापारमिता'** का विशेप अभ्यास करता है।

(७) **दूरंगमा**—इस भूमि मे पहुँच कर बोधिसत्त्व ज्ञान के मार्ग मे अग्रसर हो जाता है और एक प्रकार से सर्वज्ञ हो जाता है।

(८) **अचला**—यहाँ पहुँच कर साधक समस्त जगत् को तुच्छ समझने लगता है और अपने को सबसे परे समझता है।

(९) **साधमती**—इस अवस्था मे साधक लोगों के कल्याण के लिए उपायों को सोचता है और सब को धर्म का उपदेश देता है।

(१०) **धर्ममेघ**—इस भूमि मे पहुँचकर साधक समाधिनिष्ठ हो जाता है और बुद्धत्व को प्राप्त करता है। महायान सम्प्रदाय के साधको की यह अन्तिम अवस्था है। यहाँ पहुँचकर वे निर्वाण की प्राप्ति करते है।

इन भूमियो मे उत्तरोत्तर ऊँचे स्तर है और ये क्रमश साधको को निर्वाण-पद पर पहुँचाने मे सहायक होते है। एक भूमि की प्राप्ति करने पर ही दूसरी भूमि मे साधक पहुँच सकता है।

इनके अतिरिक्त निर्वाण के सम्बन्ध मे तथा अन्य विषयों के सम्बन्ध मे भी भेद है, जो बाद मे कहे जायँगे।

'महायान' तथा 'हीनयान' के अन्तर्गत जो प्राचीन सम्प्रदाय है उनके मतो मे बहुत भेद है, उनका उल्लेख 'कथावत्थु' आदि ग्रन्थो मे विस्तृत रूप से मिलता है। परन्तु वे मत अब प्रचलित नही है। अब तो केवल चार ही मुख्य भेद है, जिनका विवरण आगे दिया जायगा।

इतना और कह देना अनुचित न होगा कि यद्यपि बुद्ध ने आध्यात्मिक प्रश्नो का साक्षात् समाधान नही किया, फिर भी वे सभी प्रश्न सब के मन मे रहते ही थे।

आध्यात्मिक विचार की परम्परा

उनके 'सघ' के लोग समय-समय पर उन प्रश्नो पर चिन्तन करते ही रहे होगे। बाद को जितने सम्प्रदाय हुए, सब ने जगत्, ईश्वर, सृष्टि तथा आत्मा के सम्बन्ध में अपना-अपना विचार प्रकट किया, यह तो पाली के ग्रन्थो के अध्ययन से स्पष्ट है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन सम्प्रदाय वालो के सिद्धान्त बहुत प्रौढ न थे। वे लोग बहुत दूर तक विचार करने में समर्थ नही थे। अतएव उन मतो की शाखाएँ नष्ट हो गयी। किन्तु उन्ही की परम्परा मे 'महायान' तथा 'हीनयान' हुए और इनके मत बहुत प्रसिद्ध हुए। 'महायान' तथा 'हीनयान' सम्प्रदायो के अनुयायी बडे-बडे विद्वान् हुए और उन्होने बहुत से ग्रन्थ लिखे जो अभी तक हमे प्राप्त है। इसी कारण ये सम्प्रदाय अभी तक जीवित है।

बुद्ध के उपदेश उपनिषदो के उपदेशों के आधार पर ही थे। श्रोताओ को कुछ भी भेद नही मालूम पड़ा और बड़े प्रेम से श्रद्धापूर्वक वे उनके अनुगामी हुए। बुद्ध का

हृदय पवित्र था, ज्ञान से प्रकाशित था और लोगो के प्रति करुणा से आर्द्र था। यही कारण था कि लोगो ने उनके ज्ञान की पूजा की और उन्हे एक अवतार भी मान लिया।

बौद्धो का आस्तिकों से भेद

परन्तु अनेक कारण-वश बुद्धमत के अनुयायी अपने को आस्तिक मत के लोगो से पृथक् समझने लगे। ये लोग वेद को न मान कर बुद्ध के ही वचन को अपना आगम समझते थे। अज्ञानी लोग तो वेद की निन्दा भी करने लगे, यज्ञ से घृणा करने लगे और उसे अधार्मिक कहने लगे। संस्कृत भाषा की अपेक्षा पाली भाषा से उनका विशेष प्रेम था। आस्तिको की तरह ये लोग 'आत्मा' को नही मानते थे। 'ईश्वर' का भी इन्होने निराकरण किया। इस प्रकार का पार्थक्यभाव बढ़ कर द्वेष मे परिणत हो गया। यद्यपि आचार-विचार के सम्बन्ध मे बुद्ध के उपदेश सर्वथा आस्तिको के लिए मान्य थे, अहिंसा आदि धर्मो का पालन भारतवर्ष मे बहुत पहले से ही था, तथापि उनके अनुयायी अनेक प्रकार से कलह को उत्पन्न कर अपने को स्वकल्पित एक **'बौद्ध संस्कृति'** के अनुयायी कहने लगे। इन बातो से आस्तिको के साथ इन अनुयायियो का वैमनस्य बढता गया।

बौद्ध-दर्शन का एक विशेष महत्त्व है। इसमे सन्देह नही कि सभी दर्शनों का परम लक्ष्य एक ही है। भेद है केवल दृष्टिकोण का। परन्तु ये लोग ईर्ष्यावश तथा आवेश मे आकर एक दूसरे से घृणा करने लगे। दूसरे के सिद्धान्त के रहस्य को न समझ कर उसका खण्डन करने लगे। तत्त्व-दृष्टि को भूल जाने से लौकिक दृष्टि को अवलम्बन करने से आस्तिक तथा नास्तिको के दो प्रबल दल बन गये। शास्त्र-विचार मे कलह होने लगा, जय-पराजय होने लगी तथा मत के खण्डनो के लिए ग्रन्थ लिखे जाने लगे। गौतमरचित 'न्यायसूत्र' को बौद्धो ने अपना शत्रु मान कर उसे अनेक प्रकार से नष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया। खण्डन के लिए ग्रन्थो की रचना तथा शास्त्रार्थविचार मे जय-पराजय के उद्घोषो के द्वारा इन दोनो दलो मे कलह बढ़ता ही गया और अन्त मे बौद्ध-मत को तथा उसके अनुयायियो को भारतवर्ष का परित्याग कर अन्यत्र शरण लेनी पड़ी।

आश्चर्य की बात तो यह है कि बाहर से आये हुए विदेशियो को किसी न किसी रूप मे भारतीयो ने अपना लिया, किन्तु अपने देश के इन बौद्धो को भारतीयों ने ही अपने देश मे नही रहने दिया। इसका मुख्य कारण मालूम होता है—

बौद्धो का अपने को एक पृथक् सस्कृति का अनुयायी समझना तथा आस्तिकों के प्रति घृणाभाव रखना।

बौद्ध-मत के सम्प्रदाय

'महासाघिक' तथा 'स्थविरवादी' के मतभेद से इनकी अनेक शाखाएं तथा प्रशाखाएँ हुई। इनके मतो मे वडे वैचित्र्य थे। परन्तु ये सब सिद्धान्त आगे नही वढ पाये। 'महायान' और 'हीनयान' सम्प्रदायो ने भिन्न रूप धारण किये और वाद को बौद्ध-मत ने परिशुद्ध दार्शनिक क्षेत्र मे प्रवेश किया।

इनके चार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हो गये और इन सवो ने विश्व के पदार्थों की 'सत्ता' के सम्वन्ध मे अपने विचार प्रकट किये। 'हीनयान' की दो शाखाएं हुई— **'वैभाषिक'** तथा **'सौत्रान्तिक'**। महानिर्वाण के पश्चात् तीसरी सदी मे 'वैभापिक' मत की तथा चौथी सदी मे 'सौत्रान्तिक' मत की सिद्धि हुई। 'महायान' की भी दो शाखाएँ हुई— **'योगाचार'** या **'विज्ञानवाद'** तथा **'माध्यमिक'** या **'शून्यवाद'**। ऐतिहासिक विचार से 'माध्यमिक' 'योगाचार' की अपेक्षा प्राचीन मत है, किन्तु दार्शनिक तत्त्व के विचार को ध्यान मे रखने से यह स्पष्ट है कि 'माध्यमिक' मत सवसे अन्तिम, अर्थात् चरम कोटि के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। अतएव दार्शनिक ग्रन्थ मे दार्शनिक विचार के क्रम को ध्यान मे रखकर **वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार** तथा **माध्यमिक,** इसी क्रम से इनके मतो का विचार किया जाता है।

प्रत्येक मत के विशेष विवरण देने के पूर्व इन चारो के विशिष्ट विचारो का क्रमिक सम्वन्ध दिखाने के निमित्त इनके दृष्टिकोणो का यहाँ पहले ही दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है।

वैभाषिक-मत

वैभाषिक-मत मे जिस जगत् का इन्द्रियो के द्वारा हमे अनुभव होता है उसकी 'वाह्य-सत्ता' है। इसका हमे प्रत्यक्ष और कभी-कभी अनुमान से भी ज्ञान प्राप्त होता है। इस जगत् की सत्ता चित्तनिरपेक्ष है, साथ ही साथ हमारे अन्दर चित्त तथा उसकी सन्तति की भी स्वतन्त्र 'सत्ता' है। अर्थात् जगत् एव चित्तसन्तति दोनो की सत्ता पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से वैभापिक-मत मे मानी जाती है। यह सत्ता प्रतिक्षण मे वदलती रहती है, अर्थात् ये लोग 'क्षणभगवाद' को स्वीकार करते है। वस्तुत 'क्षणभगवाद' को तो सभी बौद्ध मानते है।

सौत्रान्तिकों का कथन है कि 'वाह्यसत्ता' तो है अवश्य, किन्तु इसका ज्ञान हमे ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा, नही होता। 'चित्त' मे स्वभावत. कोई आकार वौद्ध नही मानते। यह शुद्ध और निराकार है। किन्तु इस 'चित्त' मे आकारो की उत्पत्ति तथा नाश होता ही रहता है। ये 'आकार' चित्त के अपने धर्म तो है नही। ये है वाह्य जगत् की वस्तुओं के 'आकार'। इस प्रकार चित्त के आकारों के द्वारा 'वाह्य-सत्ता' का ज्ञान हमे अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है, यह 'सौत्रान्तिको' का मन्तव्य है। 'वैभाषिको' की तरह 'क्षणभंगवाद' को ये भी मानते है।

सौत्रान्तिक-मत

इन दोनो के सिद्धान्तो का विचार करने से यह स्पष्ट है कि वाह्य जगत् की सत्ता तो दोनो मानते है, किन्तु दृष्टि के भेद से एक के लिए **'चित्तनिरपेक्ष'** और दूसरे के लिए **'चित्तसापेक्ष'**, अर्थात् अनुमेय सत्ता है। दूसरी वात ध्यान मे रखने की है कि सौत्रान्तिक-मत मे सत्ता की स्थिति बाह्य से अन्तर्मुखी हो गयी।

योगाचार के मत मे 'वाह्यसत्ता' का सर्वथा निराकरण किया गया है। इनके मत मे 'चित्त' मे अनन्त विज्ञानो का उदय होता रहता है। ये 'विज्ञान' परस्पर भिन्न होते हुए भी वासना-सक्रमण के कारण एक दूसरे से सम्वद्ध है, परन्तु फिर भी सभी स्वतन्त्र है। ये 'विज्ञान' स्वप्रकाश है। इनमे अविद्या के कारण ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय के भेद की कल्पना हम कर लेते है। इस मत मे बाह्य जगत् की सत्ता नही है। ये लोग केवल चित्त की सन्तति की सत्ता को मानते है और सभी वस्तुओ को ज्ञान के रूप कहते है। इन के मत मे यह 'विज्ञान' या 'चित्त-सन्तति' क्षणभगिनी है।

योगाचार या विज्ञानवाद

इस प्रकार क्रमश वाह्य जगत् की 'स्वतन्त्र-सत्ता', पश्चात् 'अनुमेय-सत्ता', तत्पश्चात् वाह्य जगत् का निराकरण और सभी वस्तु को विज्ञान-स्वरूप मानना, इस प्रकार क्रमिक अन्तर्जगत् की तरफ तत्त्व के यथार्थ अन्वेषण मे वौद्ध लोग लगे थे।

अन्त मे 'विज्ञान' का भी निराकरण **शून्यवाद-मत** मे किया गया। इस प्रकार वाह्य और अन्त सत्ता दोनो का 'शून्य' मे विलयन कर दिया गया। यह 'शून्य' एक प्रकार से अनिर्वचनीय है। यह सत् और असत् दोनो से विलक्षण है तथा सत् और असत् ये दोनो स्वरूप शून्य के गर्भ मे निर्वाण को प्राप्त किये हुए है। यह अभावात्मक नही है एव अलक्षण है। 'अविद्या' के कारण इसी शून्य से समस्त जगत् की अभिव्यक्ति होती है।

माध्यमिक या शून्यवाद

इस प्रकार 'प्रत्यक्ष वाह्य सत्ता' से 'अनुमेय बाह्य सत्ता', उसे 'अन्त विज्ञानमात्र-सत्ता' और पुन 'शून्य' मे निर्वाण की सत्ता को देख कर यह कहा जा सकता है कि वौद्ध-दर्शन मे नि.स्वभाव, अनिर्वचनीय, अलक्षण, आदि शब्दों के द्वारा निरूपण किया गया 'शून्य' ही 'परम तत्त्व' है। यही **महानिर्वाणपद** है। यही पहुँचकर साधक 'परम पद' की प्राप्ति करते है। इसके परे कोई गन्तव्य पद नही है। इस 'शून्य' मे विलयन होने के उद्देश्य से आरम्भ मे ही क्षणभगवाद को बौद्धो ने स्वीकार किया।

इस प्रकार चारो सम्प्रदायों मे समन्वय का प्रदर्शन कर अब अति सक्षेप मे इनका विशेष विवरण आगे दिया जाता है।

हीनयान सम्प्रदाय

१. वैभाषिक-मत

स्थविरवादियों (वैभाषिकों) का केन्द्र काश्मीर था। इस मत का प्रतिपादन करने के लिए वहुत थोडे ग्रन्थ मिलते है। इस मत के सिद्धान्तो को ग्रन्थवद्ध करने का प्रथम प्रयत्न महानिर्वाण के तीन सौ वर्ष पश्चात् **कात्यायनी-पुत्र** ने किया। उन्होने 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' नाम का एक ग्रन्थ सस्कृत भापा मे लिखा। यह सग्रहरूप ग्रन्थ है। इसके छ भाग है, जिनमे तत्त्वो का वहुत विस्तृत विचार है। इसके वहुत पश्चात् इस पर 'विभाषाशास्त्र' नाम की एक व्याख्या लिखी गयी। इसकी वहुत प्रसिद्धि हुई और इस मत के लोगो ने इसी ग्रन्थ के आधार पर अपने विचारों का प्रचार किया। इसी से यह मत **'वैभाबिक'** कहा जाने लगा।

साहित्य

इस मत के सिद्धान्त के निरूपण मे सबसे उत्तम पुस्तक **वसुबन्धु** (२८३-३६३) द्वारा लिखित **'अभिधर्मकोश'** है। वैभाषिक-मत का सर्वागपूर्ण विचार इस ग्रन्थ मे है। इसकी अनेक टीकाएँ है। **'वसुबन्धु'** पश्चात् काल सौत्रान्तिक-मत के आचार्य हो गये। इनके वडे भाई **'असंग'** योगाचार मत के आचार्य थे। इनके अतिरिक्त वसुबन्धु के समकालीन **संघभद्र** का 'न्यायानुसार' तथा 'समयप्रदीपिका' एव **धर्मकीर्त्ति** का 'न्याय-विन्दु' आदि वैभाषिक सम्प्रदाय के सुप्राप्य मुख्य ग्रन्थ है।

तत्त्वविचार

जगत् का विषयिगत विभाग—इस मत मे तत्त्वो का विचार दो दृष्टियो से किया जाता है—'विषयगत' तथा 'विषयिगत'। 'विषयिगत' दृष्टि से समस्त जगत् तीन भागो मे विभक्त किया जाता है—**'स्कन्ध'**, **'आयतन'** तथा **'धातु'**।

'स्कन्ध' पाँच है—'रूप', 'वेदना', 'संज्ञा', 'संस्कार' तथा 'विज्ञान'। **'रूप-स्कन्ध'** का जगत् के समस्त भूत एव भौतिक पदार्थो के अर्थ मे बौद्ध-दर्शन मे प्रयोग किया गया है। वास्तविक रूप मे 'रूप' का प्रयोग स्थूल जड भूतो के लिए होता है, जिस से जीव का स्थूल शरीर बनता है। 'वेदना' आदि चार स्कन्धो का मन तथा मानसिक वृत्तियो के लिए प्रयोग किया जाता है। ये ही पाँच स्कन्ध एक प्रकार से जीव के अवयव है।

स्कन्धों का विवेचन

'आयतन'—वस्तुओ का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से नही होता, उनके लिए किसी आधार की अपेक्षा होती है। इन्द्रियो के द्वारा विषयो का ज्ञान होता है। अतएव इन्द्रियाँ तथा उनके विषय 'ज्ञान' के आधार है, अर्थात् उत्पत्ति के स्थान है। इन्ही आधारो को **'आयतन'** कहते है। मन को लेकर छ इन्द्रियाँ है और छ उनके विषय है। इस प्रकार बारह **'आयतन'** के भेद होते है। इन्ही बारह 'आयतनो' को आधार के रूप मे लेकर 'ज्ञान' उत्पन्न होता है। इनके द्वारा जिस वस्तु की सत्ता का ज्ञान न हो, उसके अस्तित्व को ये लोग स्वीकार ही नही करते। अतएव बौद्ध मत मे 'आत्मा' की सत्ता ही नही मानी जाती, क्योकि न तो इसका ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा हो सकता है और न यह किसी भी इन्द्रिय का विषय है।

आयतनों का निरूपण

यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है कि बौद्ध-दर्शन में **'धर्म'** शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक है और इसका अर्थ भी कुछ विचित्र है। भूत और चित्त के उन सूक्ष्म तत्त्वो को **'धर्म'** कहते है जिनके आघात तथा प्रतिघात से समस्त जगत् की स्थिति होती है, अर्थात् यह जगत् 'धर्मो' का एक संघातमात्र है। ये सभी 'धर्म' सत्तात्मक है तथा 'हेतु' से उत्पन्न है। प्रत्येक धर्म अपनी पृथक् सत्ता रखता है। सभी स्वतन्त्र है। ये सभी क्षणिक है, प्रत्येक क्षण मे बदलते रहते है। परिणाम के कारण ये 'धर्म' स्वय विनाश को प्राप्त हो जाते है। कहा जाता है कि 'सर्वास्तिवाद' मे धर्मो की सख्या पचहत्तर है।

धर्म का स्वरूप

'मन आयतन' को छोड़ कर प्रथम ग्यारह **'आयतनो'** मे प्रत्येक मे एक-एक 'धर्म' है और 'मन आयतन' मे चौसठ धर्म है। इसलिए 'मन आयतन' को 'धर्मायतन' कहते है।[1]

---

[1] **मैक्गवर्न-मैन्युअल ऑफ बुद्धिस्ट फिलासफी, भाग १, इन सभी बातो के लिए देखना चाहिए।**

'धातु' शब्द हमारे शास्त्रो मे भिन्न-भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध-दर्शन मे 'धातु' शब्द का अर्थ 'स्वलक्षण', अर्थात् स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला, किया जाता है।

धातुओ का निरूपण

वसुबन्धु ने धातुओ को ज्ञान के 'अवयव', अर्थात् वे सूक्ष्म तत्त्व जिनके समूह से ज्ञान की सन्तति की उत्पत्ति होती है, कहा है। इनकी सख्या अठारह है—छ इन्द्रियाँ, छ इन्द्रियो के विषय तथा छ इन्द्रियो के विषयो से उत्पन्न विज्ञान।

इन्द्रिय	विषय	विज्ञान
(१) चक्षुर्धातु	(७) रूपधातु	(१३) चक्षुर्विज्ञान (चाक्षुष ज्ञान)
(२) श्रोत्रधातु	(८) शब्दधातु	(१४) श्रोत्रविज्ञान (श्रावण ज्ञान)
(३) घ्राणधातु	(९) गन्धधातु	(१५) घ्राणविज्ञान (घ्राणज ज्ञान)
(४) रसनाधातु	(१०) रसधातु	(१६) रासनविज्ञान (रासन ज्ञान)
(५) कायधातु	(११) स्प्रष्टव्यधातु	(१७) कायविज्ञान (स्पार्शन ज्ञान)
(६) मनोधातु	(१२) धर्मधातु	(१८) मनोविज्ञान (अन्तर्हृदय के भावो का ज्ञान)

इनमे से प्रथम बारह तो 'आयतन' ही है। इन्द्रिय और उनके अपने-अपने विषयो के सम्पर्क से छ विशेष 'विज्ञान' उत्पन्न होते है। इन सब को मिलाकर धातुओ की सख्या अठारह होती है। इनमे से, जैसा पहले कहा गया है, छठे और बारहवे को छोडकर अवशिष्ट दस धातुओ मे, प्रत्येक मे, एक-एक 'धर्म' है। धर्मधातु मे चौसठ 'धर्म' है। सब मिलाकर सर्वास्तिवाद के मत मे पचहत्तर 'धर्म' होते है। यह जगत् का 'विषयिगत' विभाग हुआ।

जगत् का विषयगत विभाग—अब 'विषयगत दृष्टि' से जगत् के धर्मो का विभाजन किया जाता है। इन धर्मो के दो भाग किये जाते है—**'असंस्कृत धर्म'** तथा **'सस्कृत धर्म'**। बौद्ध-दर्शन मे 'सस्कृत' तथा 'असस्कृत' शब्दो का अर्थ एक विचित्र रूप से किया जाता है।

धर्मो के भेद

'असंस्कृत' शब्द का अर्थ है—नित्य, स्थायी, शुद्ध तथा किसी हेतु या कारण की सहायता से जो उत्पन्न न हो। 'असस्कृत धर्मो' मे परिवर्तन नही होता। 'असस्कृत धर्म' किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए सघटित नही होते।

इसके विपरीत **'संस्कृत धर्म'** होते हैं जो हेतु-प्रत्यय के द्वारा वस्तुओ के सघटन से उत्पन्न होते हैं। 'सस्कृत धर्म' अनित्य, अस्थायी तथा मलिन होते हैं।

असंस्कृत धर्म के भेद—सर्वास्तिवाद के अनुसार **'असंस्कृत धर्म'** तीन हैं—'प्रतिसख्यानिरोध'; 'अप्रतिसख्यानिरोध' तथा 'आकाश'।

(१) **'प्रतिसंख्यानिरोध'**—**'प्रतिसंख्या'** शब्द का अर्थ है, 'प्रज्ञा' और उसके द्वारा जो निरुद्ध हो उसे **'प्रतिसंख्यानिरोध'** कहा जाता है। अर्थात् 'प्रज्ञा' के द्वारा सभी 'सास्रव', अर्थात् राग, द्वेष, आदि धर्मो का जो पृथक्-पृथक् विसयोग है, वही **'प्रतिसंख्यानिरोध'** है।[1] इसके उदय होने से राग तथा द्वेष का निरोध हो जाता है और इस क्रम से पृथक्-पृथक् अन्य सभी सास्रव-धर्मो का भी निरोध हो जाता है।

(२) **'अप्रतिसंख्यानिरोध'**—'प्रज्ञा' के विना ही जो निरोध हो, उसे **'अप्रतिसंख्यानिरोध'** कहते हैं। अर्थात् 'अप्रतिसख्यानिरोध' वह अवस्था है जब विना 'प्रज्ञा' के, 'स्वभाव' से ही, सास्रवधर्मो का निरोध हो जाय। सास्रवधर्म हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं। यदि उन हेतुओ का नाश हो जाय तो ये सभी धर्म स्वय, अर्थात् 'प्रज्ञा' के विना ही, निरुद्ध हो जायँगे।[2] इस प्रकार जो धर्म निरुद्ध होगे वे पुन उत्पन्न नही होंगे।

'प्रतिसख्यानिरोध' मे निरोध का ज्ञानमात्र रहता है, वास्तविक निरोध तो 'अप्रतिसख्यानिरोध' मे ही होता है।

(३) **'आकाश'**—आवरण के अभाव को 'आकाश' कहते हैं।[3] कहा गया है—**'आकाशम् अनावृति:'** अर्थात् 'आकाश' न किसी का अवरोध करता है और न स्वयं किसी से अवरुद्ध होता है। यह नित्य और अपरिवर्तनशील है। यह भाव-रूप है।

संस्कृत धर्म के भेद—**'संस्कृत धर्म'** के चार भेद हैं—'रूप', 'चित्त', 'चैतसिक' तथा 'चित्तविप्रयुक्त'। पुन. 'रूप' के ग्यारह, 'चित्त' के एक, 'चैतसिक' के छियालीस तथा 'चित्तविप्रयुक्त' के चौदह प्रभेद हैं।

---

[1] अभिधर्मकोश, १-६।

[2] अभिधर्मकोश, १-६।

[3] अभिधर्मकोश, १-५।

(१) **रूप**—जगत् के भूत और भौतिक पदार्थों के लिए बौद्ध-दर्शन मे **'रूप'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् 'रूप' वह पदार्थ है जो अवरोध उत्पन्न करे। बाह्येन्द्रिय पाँच (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा काय), इनके पाँच विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्प्रष्टव्य) तथा 'अविज्ञप्ति',[१] ये ग्यारह 'रूप' के प्रभेद है। इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं जो अभिधर्मकोश मे दिये गये है।[२]

(२) **चित्त**—बौद्ध-दर्शन मे 'चित्त', 'मन', 'विज्ञान' आदि शब्द एक ही अर्थ मे प्रयोग किये जाते है।[३] इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषय, इन दोनो के आघात तथा प्रतिघात से **'चित्त'** उत्पन्न होता है। जिस समय इस आघात तथा प्रतिघात का नाश होता है उसी समय 'चित्त' का भी नाश होता है। वैभाषिक-मत मे 'चित्त' ही एक मुख्य तत्त्व है। इसी मे सभी सस्कार रहते है। यही 'चित्त' इस लोक तथा परलोक मे आता-जाता रहता है। यह हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है। अतएव इसकी सत्ता स्वतन्त्र नही है। यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। वस्तुत. यह एक है, किन्तु उपाधियों के कारण इसके भी अनेक प्रभेद है।

(३) **चैतसिक**—'चित्त' से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले मानसिक व्यापार को **'चैतसिक'** या **'चित्तसंप्रयुक्तधर्म'** कहते है। इसके छियालीस प्रभेद है।[४]

---

[१] जगत की विचित्रता 'कर्म' से उत्पन्न होती है। 'चेतना' तथा 'चेतनाजन्य' ये दो प्रकार के कर्म होते हैं। मानसिक कर्म को 'चेतना' तथा कायिक एवं वाचिक कर्म को 'चेतना-जन्य' कहते हैं।

पुनः 'विज्ञप्ति' तथा 'अविज्ञप्ति' के भेद से 'चेतनाजन्य कर्म' दो प्रकार के है। प्रत्येक कर्म का फल होता है। जिस कर्म का फल प्रकट रूप में होता है, उसे 'विज्ञप्ति' कहते है, किन्तु जिस कर्म का फल कालान्तर में अज्ञात रूप में होता है, उसे 'अविज्ञप्ति' कहते हैं। फल देने के पूर्व यह 'कर्म' अदृष्ट-रूप में रहता है—अभिधर्मकोश, ४-१-७।

[२] अभिधर्मकोश, १-९-१०।

[३] अभिधर्मकोश, २-३४।

[४] अभिधर्मकोश, २-३४।

(४) चित्तविप्रयुक्त—जो धर्म न तो रूप-धर्मों मे और न चित्त के धर्मों मे परिगणित हो, उन्हे 'चित्तविप्रयुक्त धर्म' कहते है। इनकी सख्या चौदह है।[1]

निर्वाण

'निर्वाण' जीवन की एक वह स्थिति है जिसे अर्हत् लोग सत्य मार्ग के अनुसरण से प्राप्त करते है। इसका कोई कारण नही है। यह स्वतन्त्र, सत् और नित्य है। इसका चित्त और चैतसिक से कोई भी सम्बन्ध नही है। अभिधर्मकोश मे इसे 'सोपधिशेषनिर्वाणधातु' की प्राप्ति कहा गया है। यह ज्ञान का आधार है। यह एक है। सभी भेद इसमे विलीन हो जाते है। अतएव कहा गया है—'निर्वाण शान्तम्।'[2]

यह आकाश की तरह अनन्त, अपरिमित तथा अनिर्वचनीय है। यह भावरूप है। 'मग्ग' के अनुसरण करने मे सास्रवधर्मों का नाश होने पर इसकी प्राप्ति होती है। स्थविरवादियो ने इसे एक प्रकार से 'असस्कृत धर्म' मे ही अन्तर्भूत कर लिया है।

प्रमाण

जिसके द्वारा 'सम्यग् ज्ञान' होता है, वैभाषिक लोग उसे **'प्रमाण'** कहते है। वे दो 'प्रमाण' मानते है—'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान'। वस्तुत इन दोनो प्रमाणो को ही 'सम्यग् ज्ञान' कहा गया है[3] और 'सम्यग् ज्ञान' से ही सभी पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।

प्रत्यक्ष

कल्पना तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान **'प्रत्यक्ष'** है। 'प्रत्यक्ष ज्ञान' चार प्रकार का होता है—

(१) **'इन्द्रियज्ञान'**—इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न ज्ञान।

(२) **'मनोविज्ञान'**—इन्द्रियज्ञान के विषय के अनन्तर, विषय के सहकारी तथा समनन्तर-प्रत्यय-रूप इन्द्रियज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान[4]।

---

[1] अभिधर्मकोश, २-३५-३६।

[2] क्लेशशून्या चित्तसन्ततिर्मुक्तिरिति वैभाषिकाः—सेतु पृ० २६।

[3] न्यायबिन्दु १-२।

[4] बौद्ध-दर्शन में ज्ञान के चार कारण (प्रत्यय) होते हैं—(क) 'घट' जो विषय है, इसे 'आलम्बन-प्रत्यय' कहते है, (ख) 'आलोक', जिसके बिना इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान हो नहीं होगा। अतएव यह 'सहकारी-प्रत्यय' है, (ग) 'इन्द्रिय', इसे 'अधिपति-प्रत्यय' कहते हैं। (घ) वह मानसिक 'वृत्ति' जिसके अभाव में देखते रहने पर भी ज्ञान नहीं होता। इसे 'समनन्तर-प्रत्यय' कहते हैं। यह वस्तुतः 'मन' ही है।

अतएव विषय और विज्ञान इन दोनो से 'मनोविज्ञान' उत्पन्न होता है ।

(३) 'आत्मसंवेदन'—अर्थात् चित्त और चैतसिक धर्मो का, अर्थात् सुख-दुःख आदि का अपने स्वरूप मे प्रकट होना। यह आत्म-साक्षात्कारि, निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञान है। तथा

(४) 'योगिज्ञान'—प्रमाणो के द्वारा दृष्ट, अर्थात् सद्भूत, अर्थ का चरम सीमा तक ज्ञान होना।

प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय 'स्वलक्षण' है, अर्थात् जिस विषय के सान्निध्य एव असान्निध्य से ज्ञान के प्रतिभास मे भेद हो, वही 'स्वलक्षण' है और वही प्रत्यक्ष का विषय है। वही 'परमार्थ सत्' है, क्योकि उसी के द्वारा वस्तु मे अर्थ-क्रिया की सामर्थ्य है।

प्रत्यक्ष का विषय

अनुमान के भेद—अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थ तथा परार्थ। **स्वार्थानुमान** मे लिंग (हेतु) 'अनुमेय' मे रहता है (जैसे—'पर्वत मे वह्नि है' इस अनुमान-वाक्य मे 'वह्नि' अनुमेय है), 'सपक्ष' मे रहता है ('रसोई घर' सपक्ष है) और 'विपक्ष' मे नही रहता है ('जलाशय' विपक्ष है)। हेतु के इन तीनो बातो को ध्यान मे रखकर जो 'ज्ञान' प्राप्त किया जाय वह **'स्वार्थानुमान'** कहा जाता है। इसीलिए धर्म-कीर्ति ने कहा है—

'तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्'[1]

अर्थात् अनुमेय में त्रिरूप लिंग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे **'स्वार्थानुमान'** कहते है। ध्यान मे रखना चाहिए कि **'ज्ञान'** को 'स्वार्थानुमान' और **'कथन'** को 'परार्थानुमान' कहा गया है। **परार्थानुमान** मे वाक्यो के, अर्थात् अवयवो के, द्वारा दूसरों को अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। अर्थात् 'त्रिरूपलिङ्ग का कहना' **परार्थानुमान** है, जैसा धर्मकीर्ति ने कहा है—

'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्'[2]

---

[1] न्यायबिन्दु, द्वितीय परिच्छेद, ३।

[2] न्यायबिन्दु, तृतीय परिच्छेद, १।

वचनो के द्वारा 'त्रिरूपलिङ्ग' के 'कथन' को 'परार्थानुमान' कहते है। ये तीनों रूप ये हैं--

'अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये च'[1]

(१) अनुपलब्धि--किसी वस्तु का मिलना 'उपलब्धि' और न मिलना 'अनुपलब्धि' है। जैसे--

किसी एक विशेष स्थान मे घट नही है, क्योकि घट के उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त[2] होने पर भी उस की वहाँ 'अनुपलब्धि' है। यहाँ 'अनुपलब्धि' हेतु के कथन के द्वारा अनुमान किया गया है।

(२) स्वभाव--जो पदार्थ अपने हेतु की अपेक्षा कर ही विद्यमान होता है और हेतुसत्ता से भिन्न अन्य किसी हेतु की अपेक्षा नही रखता, वह 'स्वसत्तामात्रभावी' साध्य है। उस 'स्वसत्तामात्रभावी' साध्य में जो हेतु है, वही 'स्वभाव-हेतु' कहा जाता है। जैसा धर्मकीर्ति ने कहा है--

'स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः'[3]

जैसे--

यह वृक्ष है,
क्योकि यह शिंशपा (शीशम) है।

यहाँ 'शिंशपा' होने के ही कारण यह 'वृक्ष' है।

(३) कार्य--('साध्य' के) कार्य को देख कर उस साध्य की उपलब्धि का अनुमान करना। जैसे--

यहाँ अग्नि है,
क्योकि यहाँ धुआँ है।

यहाँ 'धुआँ' कार्य है। इस से अग्निरूप साध्य का अनुमान होता है।

---

[1] न्यायबिन्दु, द्वितीय परिच्छेद।

[2] स्वभाव से ही कहीं पर घट की विद्यमानता है। अर्थात् कहीं एक विशेष स्थान में घट का रहना स्वभाव से ही निश्चित है, अन्य किसी कारण से नहीं। अतएव 'उपलब्धि' घट का एक स्वाभाविक लक्षण हुआ, अर्थात् 'घट' 'उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त' है।

[3] न्यायबिन्दु, तृतीय परिच्छेद।

इन तीनो प्रकार के हेतुओ मे 'स्वभाव' और 'कार्य' 'वस्तु' के साधन है, अर्थात् 'वस्तु' की उपस्थिति को बताते है और 'अनुपलब्धि' प्रतिषेध का निरूपण करती है।[1]

स्वभाव से प्रतिबद्ध होने पर ही साधन-रूप अर्थ साध्य-रूप अर्थ का निरूपण करता है। अतएव इन तीनो के अतिरिक्त साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु नही है।

'परार्थानुमान' के दो भेद है—'साधर्म्यवत्' और 'वैधर्म्यवत्'। इन दोनो के अर्थ में कोई भेद नही है, भेद है केवल प्रयोग मे।

'हेत्वाभास'

ऊपर कहा गया है कि 'हेतु' मे पक्षधर्मत्व आदि तीन बाते रहनी चाहिए। अतएव हेतु के इन तीनो रूपो मे किसी प्रकार से विघटन या सन्देह होने पर वह 'हेतु' **हेत्वाभास** कहा जाता है और उससे 'अनुमेय' की सिद्धि नही होती।[1]

हेत्वाभास के भेद—बौद्ध-मत मे तीन प्रकार के 'हेत्वाभास' होते है—**'असिद्ध'**, **'विरुद्ध'** तथा **'अनैकान्तिक'**।

(१) **असिद्ध**—प्रतिपाद्य तथा प्रतिपादक मे से धर्मीसम्बन्धी एक रूप (पक्ष-धर्मत्व) के असिद्ध होने से अथवा उस मे सन्देह उत्पन्न होने से, **'असिद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' कहा जाता है। जैसे—

शब्द अनित्य है,
क्योकि वह चाक्षुप है।

यहाँ 'चाक्षुषत्व' हेतु 'असिद्ध' है।

(२) **विरुद्ध**—दो रूपो के, अर्थात् 'सपक्ष' मे सत्त्व के और 'विपक्ष' मे असत्त्व के, विपरीत सिद्ध हो जाने पर **'विरुद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' होता है। जैसे—

शब्द नित्य है,
क्योकि शब्द मे कृतकत्व है।

'कृतकत्व' और 'नित्यत्व', ये परस्पर विरुद्ध है क्योकि 'कृतकत्व' 'अनित्य' में रहता है।

---

[1] **न्यायबिन्दु, तृतीय परिच्छेद।**

(३) **अनैकान्तिक**—एक रूप के विपक्ष मे असत्त्व की असिद्धि होने से 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास होता है। जैसे—

शब्द अनित्य है,

क्योकि वह प्रमेय है।

यहाँ 'प्रमेयत्व' रूप हेतु 'सपक्ष', अर्थात् 'अनित्य' एवं 'विपक्ष', अर्थात् 'नित्य' दोनो मे रहता है। इसलिए यह **'अनैकान्तिक'** हेत्वाभाव है।

इन तीनो हेत्वाभासो के भी अनेक प्रभेद है। ग्रन्थ के विस्तार के भय से ये भेद और प्रभेद यहाँ छोड दिये गये है।

अनुभव

अनुभव के भेद

वैभाषिक-मत मे **अनुभव** दो प्रकार के है—'ग्रहण' तथा 'अध्यवसाय'। ज्ञान की प्रथम अवस्था मे इन्द्रियो के द्वारा निराकार रूप मे जो भान होता है, उसे **'ग्रहण'** कहते है। इसे हम 'निर्विकल्पक' ज्ञान के समान कह सकते है। वही ज्ञान जब साकार रूप मे भान होता है, तब उसे **'अध्यवसाय'** कहते है। इस को 'सविकल्पक' ज्ञान कह सकते है।

ज्ञान की प्रक्रिया

ज्ञान की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे यह जानना चाहिए कि इन्द्रियाँ वाह्य जगत् के साथ सम्पर्क मे आकर उससे एक प्रकार के संस्कार को ग्रहण करती है। उन सस्कारो के साथ वे चित्त को प्रवुद्ध कर उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति करा देती है। इसके बाद 'चित्त' मे विभिन्न ज्ञानो का उदय होता है।

इन्द्रियो का सन्निकर्ष

इन्द्रियां जड़ है। चक्षु, मनस् तथा श्रोत्र दूर से ही अपने-अपने विषयो का ज्ञान प्राप्त करते है। विषय के साथ वाह्य सम्बन्ध इनमे नही देख पडता, किन्तु अन्य इन्द्रियो को ज्ञान की उत्पत्ति के लिए अपने-अपने विषय के साथ सयुक्त होना आवश्यक है। ये सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो का आश्रय है (आश्रयश्चक्षुरादय.)। यही कारण है कि इन्द्रियो के दोप से ज्ञान मे भी भेद होता है।

आलोचन

'वैभापिक-मत' की प्रथम उल्लेख करने की युक्ति है कि हम सभी ससारी जीव है। ससार मे आते ही हमे सबसे पहले तो वाह्य जगत् का ही दर्शन होता है।

उसे हम स्थिर वस्तुरूप मे देखते है। साधारण तौर पर उसकी सत्ता को कभी अस्वीकार नही कर सकते। संसार की सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष के विषय है। हाँ, उन वस्तुओ को परिवर्तनशील भी हम देखते है। साथ ही साथ हम अपने मन मे भी स्वतन्त्र रूप से भावो का उदय और विलय भी देखते है। उनकी सत्ता बाह्य जगत् से निरपेक्ष है, अर्थात् बाह्य और अन्तर्जगत् की दोनो सत्ताएँ परस्पर निरपेक्ष रूप से जीव के सामने प्रथम उपस्थित होती है। अतएव इनका तिरस्कार करने मे हमे कोई युक्ति नही देख पडती है। वैभाषिक-मत मे इन दोनो सत्ताओं का समान रूप से विचार होता है। इसके पश्चात् क्रमश. इन सत्ताओ के स्वरूप पर विशेष विचार करने के अनन्तर इनके अन्य धर्मो का भी ज्ञान होता है और साधक एक स्तर से दूसरे स्तर मे परम तत्त्व की खोज मे प्रवेश करता है। अन्ततोगत्वा शून्य तत्त्व मे इसी क्रम से साधक पहुँचता है।

२. सौत्रान्तिक-मत

उपर्युक्त बातो को ध्यान मे रखकर जब साधक अन्तर्जगत् की ओर ध्यान ले जाता है, तो उसे चित्त और चैत्तिक विषयो मे विशेष आनन्द मिलता है। उन धर्मो के सम्बन्ध मे विशेष अनुभव प्राप्त करने से यह भान होने लगता है कि वास्तविक तत्त्व से चित्त का, बाह्य-जगत् की अपेक्षा, विशेष सम्बन्ध है। अतएव साधक अन्तर्जगत् का पक्षपाती हो जाता है। परन्तु साधक ज्ञान के इतने ऊँचे स्तर तक नही पहुँच सका है, जिसके कारण वह बाह्य जगत् से अपना सम्बन्ध सर्वथा छुडा सके। अविद्या के प्रभाव से अभी भी उसे जगत् की सत्ता मे विश्वास है। परन्तु धीरे-धीरे वह यह समझने लगता है कि अन्तर्जगत् की सत्ता स्वतन्त्र है और बाह्य जगत् की सत्ता चित्त मे उत्पन्न होने वाले धर्मो के ऊपर निर्भर है। इस प्रकार साधक बाह्य जगत् से क्रमश अन्तर्जगत् मे प्रवेश करने लगता है। यह अवस्था वैभाषिक की अवस्था से सूक्ष्म है। इसी स्थिति का विचार हमे **'सौत्रान्तिक-मत'** मे देख पडता है।

अन्तर्जगत् में प्रवेश

पूर्व मे सौत्रान्तिक लोग वैभाषिको के साथ-साथ स्थविरवाद सम्प्रदाय के अन्तर्गत थे, किन्तु दृष्टिकोण के भेद के कारण पश्चात् ये लोग एक दूसरे से पृथक् हो गये। कहा जाता है कि सौत्रान्तिको को विश्वास हो गया कि बुद्ध के साक्षात् उपदेश 'सुत्तपिटक' मे है। अतएव ये लोग 'सुत्तपिटक' के अनुगामी हो गये और तदनुकूल अपना नाम भी रख लिया। 'अभिधम्मपिटक' तथा 'विभाषा' मे इन लोगो को श्रद्धा नही रही।

इस मत का साहित्य वहुत ही अल्प मिलता है। हुएनसाग ने कुमारलात को इस मत का आदि प्रवर्तक माना है। कुमारलात के शिष्य श्रीलाभ थे। **धर्मत्रात,** **बुद्धदेव** तथा **यशोमित्र** इस मत के समर्थक आचार्य हुए हैं। इनमे से **यशोमित्र** की लिखी हुई अभिधर्मकोश की 'स्फुटार्था' नाम की वहुत विस्तृत व्याख्या मिलती है। सौत्रान्तिक मत का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही मिलता। 'सर्वसिद्धान्तसग्रह' आदि अन्य ग्रन्थों में 'वाह्यार्थ की अनुमेयता' के सम्बन्ध मे इनके मत का उल्लेख है। उसके आधार पर निम्न-लिखित सिद्धान्तो का उल्लेख किया जा सकता है।

सौत्रान्तिक-मत के आचार्य

तत्त्वविचार

सौत्रान्तिकों का कहना है कि 'निर्वाण' असस्कृत धर्म नही हो सकता, क्योंकि यह मग्ग के द्वारा उत्पन्न होता है और यह असत् है, अर्थात् यह क्लेशो का अभाव-स्वरूप तथा कषायो का नाशस्वरूप है। दीपक के निर्वाण के समान ही यह भी **'निर्वाण'** है। इस अवस्था में धर्मो का अनुत्पाद रहता है। इस पद पर पहुँच कर साधक उस आश्रय की प्राप्ति करता है जिसमें न कोई क्लेश हो और न कोई नवीन धर्म की प्राप्ति ही हो।[1]

निर्वाण का स्वरूप

इनका कहना है कि उत्पन्न होने के पूर्व तथा विनाश होने के पश्चात् **'शब्द'** की स्थिति नही होती, इसलिए यह अनित्य है।

स्वभावत. सत्ता को रखने वाले दो वस्तुओ में **'कार्य-कारणभाव'** ये लोग नही मानते।

'वर्त्तमान' काल के अतिरिक्त 'भूत' और 'भविष्यत्' काल को ये लोग नही मानते।

इनका कहना है कि दीपक के समान **'ज्ञान'** अपने को आप ही प्रकाशित करता है। यह अपने प्रामाण्य के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नही रखता। ये **'स्वतः प्रामाण्यवादी'** हैं।

इनके मत मे **'परमाणु'** निरवयव होते हैं। अतएव इनके एकत्र संघटित होने पर भी ये परस्पर संयुक्त नही होते और न इनका परिमाण ही वढता है, प्रत्युत इनमे 'अणुत्व' ही रहता है।

---

[1] **"निर्विषयां चित्तसन्तति सौत्रान्तिका मुक्तिमाहुः"** **पदार्थधर्मसंग्रहसेतु, पद्मनाभ मिश्र-रचित, पृ० २६**

किसी वस्तु का 'नाश' किसी कारण से नही होता। वह वस्तु स्वत. विनाश को प्राप्त कर लेती है।

वैभाषिको की तरह ये 'प्रतिसख्यानिरोध' तथा 'अप्रतिसख्यानिरोध' मे विशेष अन्तर नही मानते। इनका कहना है कि 'प्रतिसख्यानिरोध' मे प्रज्ञा के उदय होने से भविष्य मे उस साधक को कोई भी क्लेश नही होगा। क्लेशो का नाश हो जायगा। 'अप्रतिसख्यानिरोध' का अभिप्राय है कि क्लेशो का नाश होने पर पुन' दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायगी और भवचक्र से वह साधक मुक्त हो जायगा।

महायान-सम्प्रदाय

१. योगाचार या विज्ञानवाद

विज्ञानवादियो के दार्शनिक स्वरूप का साधारण परिचय पहले ही दे दिया गया है। सौत्रान्तिक-मत मे स्थिति को प्राप्त कर साधक पुन जब विचार करता है, तो उसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि वास्तव मे संसार की सभी वस्तुएँ केवल 'ज्ञान' की ही आकार है। जिस प्रकार की भावना चित्त मे उदित होती है, वही एक आकार धारण कर बाह्य जगत् मे देख पड़ती है। बाह्य जगत् है या नही, इस का भी प्रमाण तो 'ज्ञान' ही है। ये सभी आकार 'चित्त' के धर्म है। ये अनन्त है और क्षणिक होते हुए भी प्रत्येक अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। यह तो अविद्या का प्रभाव है कि ये चैत्तधर्म भिन्न-भिन्न रूप धारण करते है।[1] ये सब स्वप्रकाश और निरवयव है। इस प्रकार बाह्य अर्थो की सत्ता का निराकरण कर एकमात्र 'चैत्तधर्मो' का अवलम्बन कर विज्ञानवादी अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते है।

यह मत **योगाचार** के नाम से भी प्रसिद्ध है। 'योगाचार' शब्द का वास्तविक अर्थ मालूम नही है। योगसिद्धि के लिए साधक को जिन आचरणों की अपेक्षा होती है, उन्ही की अपेक्षा परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए भी होती है। वस्तुत: आध्यात्मिक विचार का तो 'विज्ञानवाद' मे ही अन्त हो जाता है। **'शून्यवाद'** में तो सभी पदार्थो के अलक्षण, अनिर्वचनीय, नि स्वभाव **'शून्य'** मे विलीन होने के कारण उनका विचार तो हो नही सकता। अतएव योग की प्रक्रियाओ का अनुसरण करना इसी 'विज्ञानवाद' के लिए विशेष उपयुक्त है। सम्भव है, इसी प्रकार के अर्थ को प्रकट करने के

---

[1] लंकावतारसूत्र, ३-४०।

लिए इस मत का नाम **'योगाचार'** भी पडा हो। इसके समर्थन मे यह भी कहा जा सकता है कि **'मैत्रेयनाथ'** इस मत के आदि प्रवर्तक थे। वे स्वय बहुत वड़े योगी थे और उन्होने विज्ञान के स्वरूप को साक्षात्कार करने के लिए यौगिक प्रक्रिया का ही अनुसरण किया था। हो सकता है, इसी से यह नाम पडा हो।

साहित्य

मैत्रेयनाथ इस मत के आदि प्रवर्तक थे। इन्होने कई ग्रन्थ लिखे, किन्तु वे उपलब्ध नही है। उनके कुछ ग्रन्थों के नाम है—'महायान-सूत्रालकार', 'धर्मधर्मता-विभग', 'मध्यान्तविभग', 'महायान-उत्तरतन्त्र', 'अभिसमयालंकारकारिका' तथा 'योगाचारभूमिशास्त्र'।

असंग—वसुबन्धु के वड़े भाई थे। कहा जाता है कि मैत्रेयनाथ ने ही इन्हें इस मत की शिक्षा दी। ये वड़े भारी विद्वान् थे। 'पञ्चभूमि', 'अभिधर्मसमुच्चय', 'महायानसंग्रह', 'प्रकरण-आर्यवाचा', 'सगीतिशास्त्र', 'वज्रच्छेदिका', आदि इनके अनेक ग्रन्थ है।

वसुवन्धु अपने भाई असंग के प्रभाव से जीवन के अन्तिम दिनो में विज्ञानवादी हुए और 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' (प्रसिद्ध 'विंशतिका' तथा 'त्रिंशतिका') नाम का ग्रन्थ लिखा। 'लकावतारसूत्र' भी इसी मत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त **स्थिरमति, दिङ्नाग** और **धर्मकीर्ति** भी योगाचार के पोषक गिने जाते हैं।

विज्ञानवाद के सिद्धान्त

वस्तुत· विचार करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि भारतीय दर्शनशास्त्र मे अपने दृष्टिकोण से 'चित्त' को परम तत्त्व कहने वाला एक मात्र मत है **विज्ञानवाद** का। यही बात 'लकावतारसूत्र' में कही गयी है—'चित्त' की ही प्रवृत्ति तथा मुक्ति होती है। 'चित्त' ही उत्पन्न होता है और 'चित्त' का ही निरोध होता है। यही एक मात्र तत्त्व है। अन्य सभी वस्तुएँ एक मात्र 'चित्त' की ही विकल्प है। विज्ञान के लिए भी यही 'चित्त' ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय-रूप मे उपस्थित रहता है। अविद्या के कारण ये भिन्न मालूम होते हैं।

'विज्ञान' के अनेक भेद हैं, किन्तु मुख्य रूप मे दो ही है—

(१) प्रवृत्तिविज्ञान तथा (२) आलयविज्ञान।

आलयविज्ञान को केवल 'चित्त' भी कहते है, क्योकि विज्ञानवाद मे 'चित्त' शब्द से प्रधानतया 'आलयविज्ञान' का ही ग्रहण होता है। **'तथागतगर्भ'** भी इसे कहते है। 'आलय' का अर्थ है 'घर', अर्थात् 'चित्त'। इसमें जीव के कायिक, वाचिक तथा मानसिक सभी विज्ञानो के वासनारूप बीज एकत्रित रहते है। ये बीज 'आलयविज्ञान'-रूप 'चित्त' मे इकट्ठे किये जाते है और ये शान्त भाव से आलय मे पडे रहते है एव समय आने पर व्यवहार-रूप मे जगत् मे प्रकट होते है। पुन इसी मे उनका लय भी हो जाता है। एक प्रकार से यही 'आलयविज्ञान' व्यावहारिक 'जीवात्मा' है। इसकी सन्तति इह लोक और परलोकगामिनी होती है। इसी मे सभी ज्ञान होते है।

आलयविज्ञान

इस मत मे सभी वस्तुएँ क्षणिक है। अतएव 'आलयविज्ञान' भी क्षणिक विज्ञानो की सन्तति मात्र है। प्रतिक्षण यह परिवर्तित होता रहता है। इसमे शुभ तथा अशुभ सभी वासनाएँ रहती है। इन वासनाओ के साथ-साथ इस 'आलय' मे सात और भी 'विज्ञान' है, जैसे—'चक्षुर्विज्ञान', 'श्रोत्रविज्ञान', 'घ्राणविज्ञान', 'रसना-विज्ञान', 'कायविज्ञान', 'मनोविज्ञान' तथा 'क्लिष्टमनोविज्ञान'। इन सब मे मनोविज्ञान आलय के साथ सदैव कार्य मे लगा रहता है और साथ ही साथ अन्य छ विज्ञान भी कार्य मे लगे रहते है। व्यवहार में आने वाले ये सात विज्ञान **'प्रवृत्तिविज्ञान'** कहलाते है। ये 'आलयविज्ञान' से ही उत्पन्न होते है और उसी मे लीन हो जाते है। वस्तुत 'प्रवृत्तिविज्ञान' 'आलयविज्ञान' पर ही निर्भर है। ये सभी क्षणिक है और परिवर्तनशील है।

प्रवृत्तिविज्ञान

विज्ञानवादी **'योगज प्रत्यक्ष'** को एक पृथक् प्रमाण मानते भी है और नही भी। इनका कहना है कि अति सूक्ष्म वस्तुओ का यथार्थ ज्ञान देने वाली यह एक विचित्र शक्ति मात्र है **(अप्रमेयवस्तूनामविपरीतदृष्टिः)**। यह कोई भिन्न प्रमाण नही है।

ये लोग भी व्यवहार के लिए दो प्रकार के 'ज्ञान' मानते है—**"ग्रहण"** तथा **'अध्य-वसाय'**। इसी को 'साक्षात्कारि प्रभा' तथा 'परोक्ष ज्ञान' या 'प्रत्यक्ष' तथा 'अनुमान' भी कहते है।[1]

ये **मन** को एक पृथक् 'इन्द्रिय' नही मानते। वह भी तो विज्ञानो की एक सन्तति ही है। इस सन्तति मे पूर्व-पूर्व क्षण उत्तर-उत्तर क्षणो का कारण (उपादान) है।[2] ये लोग व्यवहारदशा मे 'परत प्रामाण्यवादी' है।

---

[1] **"चित्तवृत्तिनिरोधो मुक्तिरिति योगाचारः" पदार्थधर्मसंग्रहसेतु, पृ० २६**

[2] **वाचस्पति मिश्र—न्यायकणिका, पृ० १२०, पण्डित संस्करण।**

२. माध्यमिक या शून्यवाद

बौद्ध-दर्शन **'माध्यमिक-मत'** मे अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है। निर्वाण के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हमे इसी स्तर पर पहुँचने से होता है। यही परम शान्ति मिलती है तथा दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। बुद्ध के उपदेश का परम लक्ष्य इसी स्तर की प्राप्ति रही है।

स्वरूप

जिस विज्ञानमय जगत् का प्रतिपादन योगाचार ने किया था उसका भी यही अन्त हो जाता है। तत्त्वदृष्टि से न तो बाह्य सत्ता है और न अन्तःसत्ता ही है। सभी शून्य के गर्भ मे विलीन हो जाते है। यह न सत् है और न सत् से विलक्षण है। वस्तुतः यह 'अलक्षण' है। विज्ञानवाद यद्यपि एकमात्र 'चित्त' को ही परम तत्त्व मानता है, तथापि विचार करने से यह स्पष्ट है कि यह द्वैत का प्रतिपादन करता है। 'चित्तसन्तति' या 'विज्ञानसन्तति' एक नहीं है। यह अनन्त है। अभेद का स्वरूप विज्ञानवाद मे तत्त्वदृष्टि से नही मिलता और जब तक अद्वैत-तत्त्व की प्राप्ति नही होती, तब तक साधक की जिज्ञासा की निवृत्ति नही हो सकती और न कोई दर्शन-शास्त्र के अन्तिम स्तर तक पहुँच ही सकता है।

यह अद्वैत-तत्त्व **'शून्यवाद'** मे प्रतिपादित किया गया है। इस मत में 'शून्य' ही एकमात्र तत्त्व है। इसी के सम्बन्ध मे नागार्जुन ने कहा है—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥[1]

न सत् है, न असत् है, न सत् और असत् दोनो है, न दोनो से भिन्न ही है। इस प्रकार इन चारो सम्भावित कोटियो से विलक्षण ही एक तत्त्व है, जिसे माध्यमिकों ने अपना **'परम तत्त्व'** कहा है। इसीलिए तो इस तत्त्व को 'अलक्षण' कहा है। नागार्जुन ने इसी **'शून्यता'** को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' भी कहा है—

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तं प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा॥[2]

---

[1] माध्यमिक-कारिका, १-७।

[2] माध्यमिक-कारिका, २४-१८।

बुद्ध न अपने जीवन मे **'मध्यम मार्ग'** का अनुसरण किया था, न तो वे तपस्वी हो कर जंगल में ही अपने जीवन का अन्त करना चाहते थे और न संसारी हो कर ही रहना पसन्द करते थे। उन्होने ज्ञान प्राप्त कर संसार के लोगो के कल्याण के लिए अपना जीवन लगाया। इसी लिए 'मध्यम मार्ग' का अनुसरण करना उन्होंने अपने जीवन का चरम लक्ष्य वनाया। अतएव इस मत की **'माध्यमिक'** नाम से लोगो ने प्रसिद्धि की। शून्यवाद मे बुद्ध के द्वारा कहे गये चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। 'शून्य' को ही इस मत मे परम तत्त्व माना गया है, इसलिए इसे 'शून्यवाद' भी कहते हे।

नामकरण का उद्देश्य

इन लोगो का कहना है कि 'स्वलक्षण' ही वास्तविक 'तत्त्व' है। इसलिए जो किसी उपादान से उत्पन्न होता है, वह दूसरे पर निर्भर रहता है। उसमे 'स्वलक्षण' नही हे। अतएव एक प्रकार से वह 'उत्पत्ति' उत्पत्ति ही नही है, अर्थात् वह 'शून्य' है।[1] इसी लिए उपर्युक्त कारिका मे नागार्जुन ने **'शून्यवाद'** को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहा है।

साहित्य

नागार्जुन—इसमें कोई सन्देह नही कि इस मत के आधार पर अनेक ग्रन्थ सस्कृत मे लिखे गये, किन्तु वे उपलब्ध नही हैं। **'नागार्जुन'** इस मत के प्रधान सस्थापक थे। यह ईसा के बाद दूसरी सदी में उत्पन्न हुए थे। 'माध्यमिक-कारिका', 'युक्तिषष्टिका', 'शून्यतासप्तति', 'विग्रहव्यावर्तनी', 'प्रज्ञापारमिता-शास्त्र', आदि अनेक ग्रन्थ इन्हो ने लिखे हे।

आर्यदेव—इनके पश्चात् **'आर्यदेव'** हुए। इनके ग्रन्थो मे 'चतु शतक' का नाम उल्लेखनीय है। **बुद्धपालित** (५वी सदी) ने भी वहुत-से ग्रन्थ लिखे।

चन्द्रकीर्ति—छठी सदी मे **'चन्द्रकीर्ति'** हुए। 'माध्यमिकावतार', 'प्रसन्नपदा', 'चतु शतक-व्याख्या', आदि इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हे।

शान्तिदेव—शान्तिदेव (७वी सदी) ने 'शिक्षासमुच्चय', 'सूत्रसमुच्चय', 'बोधिचर्यावतार', आदि ग्रन्थो की रचना की। इनमे अन्तिम ग्रन्थ बहुत ही उपादेय है।

---

[1] **"यः प्रत्ययाधीनः स शून्य उक्तः"—माध्यमिक-कारिका, २४।**

शान्तरक्षित—शान्तरक्षित ने ७वी सदी मे 'तत्त्वसग्रह' तथा 'माध्यमिकालंकारकारिका' लिखा। ये ग्रन्थ बहुत ही उपादेय है।

शून्यवाद के सिद्धान्त

अन्य दर्शनो की तरह **शून्यवाद** मे भी दो 'सत्ता' मानी जाती है—'सवृति-सत्य' तथा 'परमार्थ-सत्य'।[1] कैसे भी अद्वैतवादी हो, यदि ससार मे उन्हें रहना है, शरीर धारण करना है और ससार की वस्तुओ से व्यवहार चलाना है; तो उन्हे 'व्यावहारिक सत्ता' या 'लोकसत्य' या 'सवृति-सत्य' मानना ही पड़ेगा।

दो प्रकार का सत्य

'संवृति-सत्य' पारमार्थिक-स्वरूप का आवरण करने वाला है। इसी को अविद्या, मोह, विपर्यास आदि भी कहते है। 'सवृति' दूसरे पर निर्भर रहती है (प्रतीत्यसमुत्पन्नवस्तुरूप) और ऐसी वस्तु तुच्छ होती है। यह 'सवृति' दो प्रकार की है—'तथ्यसवृति' या 'लोकसवृति' एव 'मिथ्यासवृति'।

संवृति-सत्य

तथ्यसंवृत्ति—जो वस्तु या घटना किसी कारण से उत्पन्न होती है तथा जिसे सत्य मानकर ससार के सभी लोगो के द्वारा सभी व्यवहार होते हे, उसे **'लोकसंवृति'** कहते है, अर्थात् जहाँ तक संसार के व्यवहारो का सम्बन्ध है, घटना को सत्य मान कर ही व्यवहार होता है। अतएव एक प्रकार से यह भी लोक में 'सत्य' है।

मिथ्यासंवृति—जो घटना किसी कारण से उत्पन्न होती हैं, किन्तु उसे सभी लोग सत्य नही मानते, उससे सभी व्यवहार नही चलाते, उसे **'मिथ्यासंवृति'** कहते है।

नागार्जुन ने **'परमार्थ-सत्य'** को 'निर्वाण' के समान कहा है। यह सत्य सभी धर्मों से रहित है तथा निस्स्वभाव है। इसी को 'शून्यता', 'तथ्यता', 'भूतकोटि', 'धर्मधातु', आदि भी कहते है। 'निस्स्वभावता' ही वस्तुतः परमार्थसत्य है।[2] यह नाम-रूप से एव विषय-विषयी-भाव से रहित है। यह काय, वाक् तथा मनस् के द्वारा अगोचर है, अतएव शब्दो के द्वारा

परमार्थ-सत्य

---

[1] **माध्यमिककारिका, २४-१४; बोधिचर्यावतार, ९-२।**

[2] **बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृष्ठ ३५४।**

इस सत्य का निरूपण नही किया जा सकता।[1] यह अज्ञेय, अदेशित, यावदक्रिय, आदि के नाम से कहा जाता है, परन्तु है यह अनिर्वचनीय। स्वानुभूति के द्वारा इसका अनुभव ज्ञानियो को होता है।

संवृतिसत्य की आवश्यकता—उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि 'संवृतिसत्य' तुच्छ है, फिर इसे किसी प्रकार स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या है? इसके उत्तर मे नागार्जुन ने स्पष्ट कहा है—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥[2]

व्यवहार की सहायता के विना परमार्थ का ज्ञान नही हो सकता और परमार्थ को विना जाने हुए निर्वाण को नही प्राप्त किया जा सकता। 'पारमार्थिक तथ्य' अनिर्वचनीय है, अवाङ्मनसगोचर है। उसका ज्ञान ससारी वस्तुओ के द्वारा ही होता है। असत्य के द्वारा सत्य का एव माया के द्वारा परम तत्त्व का ज्ञान होता है। कहा गया है—

'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते'

इसलिए 'सवृतिसत्य' को स्वीकार करना पडता है।[3]

समाधि की आवश्यकता—स्वानुभूति के द्वारा ही 'पारमार्थिक सत्य' का ज्ञान हो सकता है। इसके लिए 'शमथ', अर्थात् चित्त की एकाग्रता-रूप समाधि, की आवश्यकता है। इस समाधि के अभ्यास से 'प्रज्ञा' का उदय होता है, साधक समाहित-चित्त होता है और उसी से उसे परम तत्त्व की अनुभूति होती है। समाधि के लिए वैराग्य अपेक्षित है एवं 'दान', 'शील', 'क्षान्ति', 'वीर्य', 'ध्यान' तथा 'प्रज्ञा', इन छ 'पारमिताओ' का ज्ञान तथा अभ्यास करना चाहिए। इन अभ्यासो के विना परम तत्त्व, अर्थात् 'शून्यता' का ज्ञान नही हो सकता।

इन सभी के लिए मुख्य कर्तव्य है—**'शमथ'** की सेवा (तपश्चरण)। उसके विना न तो ज्ञान होगा और न दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही होगी। यही शान्तिदेव ने कहा है—

---

[1] बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृष्ठ ३६३, ३६७।

[2] माध्यमिककारिका, २४-१८।

[3] बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ३६५; माध्यमिककारिका, २४, १७।

शमथेन विपश्यनासु युक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या ॥[१]

इस प्रकार ज्ञान तथा कर्म दोनो के द्वारा 'शून्य' की अनुभूति साधक कर सकता है। इनमे भी प्रथम 'शमथ' का ही अभ्यास करना उचित है, उसके द्वारा 'प्रज्ञा' का उदय होता है। यही 'बुद्ध' का चरम लक्ष्य था। इस विषय को 'शून्यवाद' मे ही आकर लोग अनुभव कर सकते है।

बौद्धन्याय की चर्चा

भारतीय न्यायशास्त्र की उन्नति वस्तुत. बौद्धो के साथ आस्तिकों के तर्क-वितर्कों का परिणाम है। प्रमाणशास्त्र के ऊपर इनके ग्रन्थ बडे महत्त्व के हैं। उनमे से कतिपय आचार्यों का नाम तथा उनके ग्रन्थो की चर्चा मात्र यहाँ की जाती है, जिस से हमारे पाठको के मन मे उसे विशद रूप से जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो।

दिङ्नाग—**प्रमाणसमुच्चय**, धर्मकीर्त्ति—**प्रमाणवार्त्तिक**, प्रज्ञाकरमित्र—**वार्त्तिकालङ्कार**, ज्ञानश्री—**निबन्धसंग्रह**, रत्नकीर्ति—**निबन्धसंग्रह**, यामारि—ये आचार्य तथा इनके ग्रन्थ बौद्धन्याय के मुख्य ग्रन्थ कहे जाते है।

भारतवर्ष मे 'न्यायशास्त्र' का बहुत ऊँचा स्थान है। इसे 'आन्वीक्षिकी' कहते है। उपनिषदो मे 'वाकोवाक्य' के नाम मे इसका उल्लेख है। बुद्ध के उपदेशों को सुन कर तरग मे आ कर जब लोग घर-द्वार छोड जगल मे भिक्षु बन कर रहने लगे, क्रमश. आवेग के शान्त होने पर वे लोग अपने पथ से विचलित हो गये। समाज को छोड कर तपस्या के लिए जगल की शरण ली। वहाँ भी सफलता न मिली। इतस्ततः भटकने लगे। उपहास के भय से समाज में न लौट सके और न कोई सिद्धि ही प्राप्त कर सके। समाज मे लाने के लिए विद्वानों के प्रयत्न को असत्तर्क से विफल करने मे ये लोग परम चतुर थे। सत्तर्क के द्वारा इनके असत्तर्कों का खण्डन करने के उद्देश्य से तथा साथ-साथ तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के निरूपण के लिए ही उसी समय **'गौतम'** ने वर्तमान 'न्यायसूत्र' की रचना की। 'वाद', 'जल्प', 'वितण्डा', आदि उपायो के द्वारा बौद्धो के विचारो का खण्डन होने लगा। उसी समय से बौद्ध तथा आस्तिको मे तर्क के आधार पर शास्त्रविचार आरम्भ हुआ।

---

[१] बोधिचर्यावतार, ८-४।

यह तर्क-वितर्क-परम्परा दसवी सदी तक निरवच्छिन्न चली आयी। इसमे भाग लेने वाले बौद्ध विद्वान् नागार्जुन, असग, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील, रत्नकीर्ति, रत्नाकर, आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके ग्रन्थ भारतीय तर्कशास्त्र के सुदृढ स्तम्भ हैं। इनको पढ कर बौद्धों के ठोस पाण्डित्य का परिचय हमें मिलता है। खेद है कि उनकी साम्प्रदायिकता के साथ-साथ उनका पाण्डित्य भी भारत से लुप्त हो गया। परन्तु ध्यान मे रखने की आवश्यकता है कि बाद के दर्शनशास्त्रो के अध्ययन से हमे यह स्पष्ट मालूम होता है कि बौद्ध और बौद्धेतर की तार्किक-विचार-धारा ने भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन को वहा कर काल के अनन्त और अगाध गर्भ में सदा के लिए डुबो दिया। विद्वानों की दृष्टि शुष्क तार्किक दृष्टि हो गयी, परस्पर खण्डन-मण्डन मे ही उनकी समस्त मानसिक शक्ति लग गयी, तत्त्व-विचार गौण हो गया, शान्तिप्रिय भारतीयो की दृष्टि सदा के लिए बहिर्मुखी हो गयी और एक प्रकार से अशान्ति का राज्य स्थापित हो गया। व्यक्तिगत रूप मे आध्यात्मिक विचार तो सदैव रहा है, किन्तु अधिकाश लोगो की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी न हो सकी। भारतवर्ष मे शान्ति की धारा पुन. न वह सकी।

आलोचन

आस्तिक तथा बौद्ध-दर्शनों में समता

उपर्युक्त बातो का मनन करने से यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः बौद्ध-दर्शन उसी तत्त्व का निरूपण करता है जिसे हम आस्तिक दर्शनों में पाते हैं। भेद है—केवल उसके विशेष विवरण मे। उद्देश्य भी तो दार्शनिक विचारों का एक ही है—**'दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति'**।

दार्शनिक परम तत्त्व की खोज के लिए भी जिज्ञासा दु ख के अनुभव से ही आरम्भ होती है और दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति के साथ-साथ उस जिज्ञासा की निवृत्ति भी होती है। इन वातों मे किसी मत मे कोई भी भेद नही मालूम होता। जिस प्रकार आस्तिक दर्शनों में दृष्टिकोण के भेद से ही परस्पर भेद है, उसी प्रकार एक दृष्टिकोण बौद्धों का भी है। सभी तो एक ही मार्ग के पथिक हैं, कोई आगे है तो कोई पीछे।

शंकर के 'अद्वैतवाद' तथा नागार्जुन के 'शून्यवाद' में तो केवल शब्दों में ही भेद मालूम होता है। व्यवहार से लेकर परमार्थ तक दोनों का विचार एक-सा ही है। दोनो के ही लिए ससार तुच्छ है, अविद्या का व्यामोह है, तथापि इसी के सहारे परम

तत्त्व की अनुभूति हो सकती है। दोनो मतो मे परम तत्त्व अवाङ्मनसगोचर है। दोनो ही परम पद की प्राप्ति के साथ-साथ परमानन्द-तत्त्व मे लीन हो जाते है। इसी लिए नागार्जुन ने कहा भी है—'प्रपञ्चोपशमं शिवम्'।

अन्त मे एक वात कह देना उचित है कि वौद्ध-दर्शन भी भारतीय दर्शन है और वौद्ध की सस्कृति भारतीय सस्कृति ही है। इसमे वडे-वड़े विद्वान् हुए जिनकी ठोस विद्वत्ता का प्रमाण उनके ग्रन्थ ही है। परन्तु यह मानी हुई वात है कि तर्क-वितर्कों के द्वारा वाद को वौद्ध-दर्शन का वहुत विस्तार हुआ। इस मत के अनेक आचार्य हुए जिन्होने अपने-अपने नवीन विचारो को समय-समय पर प्रकाशित किया। इसी कारण वौद्धमत मे भी अनेक अवान्तर भेद है। इन सव का विचार विस्तार के भय से इस ग्रन्थ मे नही किया जा सका। प्राचीन परम्परा के अनुसार वौद्धो के मुख्य सिद्धान्तो के आधार पर तत्त्वदृष्टि से दार्शनिक विचार-धारा के क्रमिक विकास को ध्यान मे रखकर आध्यात्मिक विचारो का ही सक्षेप मे यहाँ विवरण दिया गया है।

वौद्धमत के अध पतन के कारण

इन सभी वातो के रहने पर भी वौद्धो का अधःपतन भारतवर्ष मे ही हुआ, इसके कारण स्थूल दृष्टि वालो के लिए निम्नलिखित हो सकते है—

(१) अनधिकारी लोगो को उपदेश देना।
(२) 'सघ' मे प्रवेश के नियमो मे शिथिलता।
(३) बुद्ध के उपदेशो को लिपिवद्ध न करना।
(४) 'सघ' के सदस्यो मे वैमनस्य तथा असन्तोष।
(५) अपने को भारतीय सस्कृति के अन्तर्गत न समझना और पृथक् होकर रहना।
(६) 'सघ' के सदस्यो मे प्रतीकारपरता की भावना।
(७) वेद, वर्णाश्रमधर्म तथा सस्कृत-भाषा की तरफ औदासीन्य तथा अवहेलना।
(८) सस्कृत-भाषा के स्थान मे पालि-भाषा को अपनाना।
(९) 'ईश्वर' के अस्तित्व का उद्घोष-पूर्वक खण्डन करना।

(१०) एक नित्य 'आत्मा' को न मानना ।

(११) अन्त में अधिकार, सम्पत्ति तथा प्रभुता के लिए प्रयत्नशील होना ।

(१२) तान्त्रिक सिद्धियो को प्राप्त कर लौकिक विषयों मे सलग्न होना ।

(१३) आस्तिक विद्वानो से सम्पन्न मिथिला की सीमा पर बौद्धमत का प्रचार करना ।

(१४) विदेशी लोगो के आक्रमण ।[१]

(१५) साम्प्रदायिकता की अत्यधिक भावना जिसके कारण उन की विद्वत्ता ने भी साम्प्रदायिकता का स्वरूप धारण कर लिया ।

[१] उमेश मिश्र-बौद्धमत के अधःपतन का कारण—जर्नल, गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिटचूट, भाग ९, खण्ड १, पृष्ठ १११-१२२; उमेश मिश्र—'हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी', भाग प्रथम, पृष्ठ ४९८ ।

सप्तम परिच्छेद

न्याय-दर्शन

पूर्व के परिच्छेदो मे कहा गया है कि 'ईश्वर' तथा 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व को कुछ दार्शनिको ने नही माना। इन्हे न मानने के लिए इन मतो के आदि प्रवर्तको की

न्यायदर्शन की पृष्ठभूमि

द्वेष-बुद्धि, अज्ञता, घृणा, आदि ही कारण थे, यह कहना बहुत उचित न होगा। मेरी समझ मे तो उनके दृष्टिकोण का ही यह फल था कि उन्हे 'ईश्वर' तथा 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व को मानने की आवश्यकता ही नही हुई। किन्तु व्यावहारिक जगत् मे अविद्या के प्रभाव से, निरपेक्ष भाव से, गूढ तत्त्वों के रहस्य को समझने मे सभी समर्थ नही हो सकते। उन्हे प्रति दिन व्यवहार के लिए 'ईश्वर' और 'आत्मा' की अपेक्षा होती

ईश्वर तथा आत्मा का पृथक् अस्तित्व

है। इनके बिना साधको की जीवनयात्रा प्रगतिशील नही हो सकती तथा इनके अस्तित्व को स्थूल जगत् मे पृथक् रूप से न मानने से साधारण लोग धर्म-कर्म से च्युत हो कर पाप-पुण्य के विचार को छोड देंगे और समाज भ्रष्ट हो जायगा। अतएव यह आवश्यक है कि सर्वसाधारण के कल्याण के लिए, 'आत्मा' तथा 'ईश्वर' का पृथक् अस्तित्व माना जाय। इस बात को ध्यान मे रखते हुए तत्त्व की खोज में साधक की दार्शनिक विचार-धारा अग्रसर होती है।

यद्यपि चार्वाको के अनन्तर बौद्धों की विचार-धारा ने एक विशिष्ट रूप धारण किया और उसे चरम सीमा तक ले जा कर 'निर्वाण' या 'शून्य' मे लय कर दिया, तथापि यह विचार-परम्परा साधारण लोगों के दृष्टिकोण को सन्तुष्ट नही कर सकी। सभी 'विज्ञानवाद' तथा 'शून्यवाद' के तत्त्वो को समझने में समर्थ नही है। इतने ऊँचे स्तर तक उनकी दृष्टि नही पहुँच सकती। अतएव साधारण जन को इनके दार्शनिक विचारो से विशेष लाभ नही हुआ। तस्मात् साधारण लोगो की दृष्टि

से जो दार्शनिक विचारधारा प्रवर्तित होती है, उसी का विचार 'न्याय-दर्शन' में किया गया है।

अज्ञान ने अनादिकाल से 'आत्मा' को मोह मे डाल रखा है। यही मोह से घिरी हुई 'आत्मा' 'वद्ध-जीव' या 'जीवात्मा' कहलाती है। अविद्या के प्रभाव से मनुष्य को दु.ख से सर्वथा के लिए छुटकारा पाने के लिए वास्तविक तत्त्व की खोज मे तथा उसे समझने मे 'सन्देह' उत्पन्न होता है। इसी 'सशय' को दूर करने के लिए मनुष्य के मन में तत्त्वज्ञान की विशेष जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वह तर्क-वितर्क करना आरम्भ करता है। विना 'सशय' के 'तर्क' हो ही नही सकता। इसी लिए वात्स्यायन ने कहा है—

संशय

'नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे'[1]

अर्थात् जिस वस्तु की कभी भी उपलब्धि न हो तथा जिस वस्तु के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से ज्ञान हो गया हो, उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे 'तर्क' नही किया जाता, फिर तर्क किया जाता है कहाँ ? जिस विषय के ज्ञान के सम्बन्व मे 'सशय' हो, उसी को निश्चित रूप से जानने के लिए 'तर्क' किया जाता है। इसी लिए गौतम ने 'न्यायसूत्र'[2] मे 'निर्णय' का लक्षण करते हुए कहा है—

निर्णय

'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः'

अर्थात् 'सशय' करने के पश्चात् 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' के द्वारा, अर्थात् अपने पक्ष का स्थापन एव पर-पक्ष के साधनो के खण्डन के द्वारा, पदार्थ का निश्चय करना 'निर्णय' कहा जाता है। इस से स्पष्ट है कि 'सशय' उत्पन्न होने पर ही 'निर्णय' किया जाता है, अन्यथा नही।

आप्तवचनो को सुन कर तथा श्रुतियो मे पढ कर जिज्ञासु को 'ज्ञान' प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न स्तर के लोगो के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उपदेश गुरुजन देते है तथा उपनिषदो मे भी ऐसे ही उपदेश पाये जाते है। जैसे—छान्दोग्य उपनिषद् मे एक ही मन्त्र मे कहा गया है—

---

[1] न्यायभाष्य, १-१-१।

[2] १-१-४१।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत',
'असदेवेदमग्र आसीत',
'तस्मात् असतः सज्जायत इति'।[1]

इससे स्पष्ट है कि एक ने 'सत्' से सृष्टि कही, दूसरे ने 'असत्' से। अब जिज्ञासु के मन में एक ही विषय के सम्बन्ध मे परस्पर विरुद्ध मत को सुन कर 'संशय' उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि 'वास्तविक तत्त्व' क्या है? एक साथ 'सत्' और 'असत्' दोनों तो हो नही सकते। इसके पश्चात् प्रमाणों के द्वारा तथा 'तर्क' की सहायता से निर्णय पर पहुँचने के लिए जिज्ञासु चेष्टा करता है। इससे मालूम होता है कि 'निर्णय' के लिए 'संशय' और 'तर्क', इन दोनों की आवश्यकता होती है।

परम तत्त्व को या किसी लौकिक तत्त्व को भी समझने के लिए 'तर्क' की बड़ी आवश्यकता होती है। इसी लिए श्रुति ने भी 'मनन' को बहुत ऊँचा स्थान दिया।

तर्क की आवश्यकता

बिना 'मनन' के 'आत्मा' का साक्षात्कार ही नही हो सकता और 'आत्मा' का साक्षात्कार ही तो दर्शनशास्त्र का लक्ष्य है। बुद्धि के विकास के लिए 'तर्क' की अपेक्षा होती है। बुद्धि के ही बल से संसार की वस्तुओं का, सूक्ष्म भावनाओ का तथा अचिन्त्य परम तत्त्व का भी 'ज्ञान' हमें होता है, और इस कार्य में 'तर्क' बहुत सहायक होता है।

जीवन मे यह देखा जाता है कि कभी आपस मे और कभी विपक्षियो के साथ विचार-विनिमय किया जाता है। कभी सत्य बात के समर्थन के लिए और कभी असत्य के खण्डन के लिए हम 'प्रमाणो' की सहायता लेते है। किन्तु व्यवहार मे प्रमाणो के साथ-साथ हमे 'तर्क' भी देना पड़ता है। वस्तुतः किसी सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए हमे (१) 'आप्तवाक्य' या 'श्रुति' या 'आगम', (२) 'तर्क' तथा (३) 'साक्षात् स्वानुभव', इन तीनो की अपेक्षा होती है। इन्ही को 'श्रवण', 'मनन' और 'निदिध्यासन' के नाम से श्रुति ने कहा है। इसे ध्यान में रखना चाहिए कि 'तर्क' कोई स्वतन्त्र प्रमाण नही है, केवल 'तर्क' से ही हम किसी निर्णय पर पहुँच भी नही सकते और इसीलिए कठोपनिषद् मे कहा गया है—

'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[2]

---

[1] छान्दोग्य, ६-२-१।
[2] १-२-९।

केवल 'तर्क' के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। शंकराचार्य ने 'तर्काप्रतिष्ठानात्', इत्यादि ब्रह्मसूत्र[1] के भाष्यमें 'तर्क' का तिरस्कार भी किया, वाक्यपदीय[2] में भर्तृहरि ने 'तर्क' के परिवर्तित हो जाने की सभी सम्भावनाएँ भी बतायी, किन्तु यह निश्चित है कि बिना 'तर्क' की सहायता से हम निर्णय पर नही पहुँच सकते, 'तर्क' प्रमाणो का सहायक है।[3]

तर्क प्रमाणो का सहायक

'तर्क' को प्रधान रूप से ध्यान में रखकर जगत् के पदार्थों का विशेष विचार 'न्यायशास्त्र' या 'तर्कशास्त्र' में किया गया है। अभी तक एक प्रकार से आस्तिक लोग इतने श्रद्धालु होते थे कि श्रुतियो के वचन को आँख मूद कर मान लेते थे और उस पर 'तर्क' करना अनुचित समझते थे। यद्यपि श्रुति में ही यह बारबार कहा गया है कि बिना 'मनन' किये किसी बात को स्वीकार नही करना, चाहे वह श्रुति हो या आप्तवचन हो, तथापि विपक्ष मत के उपस्थित हुए बिना लोगो की दृष्टि 'तर्क' की तरफ विशेष नही जाती थी। साधारण रूप से 'तर्क' तो सभी करते ही थे, किन्तु शास्त्र मे इसका सागोपाग विचार तब तक नही हुआ, जब तक बौद्धो के साथ इन लोगो का विचार विमर्श आरम्भ नही हुआ।

तर्क का महत्त्व

'तर्कशास्त्र' बौद्धो के पहले भी था और वह बड़ा व्यापक था। इसके भिन्न-भिन्न प्राचीन नाम है। विद्या की सख्या गिनाने में 'आन्वीक्षिकी'[4] विद्या का प्रथम ही उल्लेख है। उपनिषद्[5], रामायण[6], महाभारत[7], मनुस्मृति[8], गौतमधर्मसूत्र[9] और अर्थशास्त्र[10] मे भी इसका स्पष्ट उल्लेख है। प्राचीन काल मे भी यह शास्त्र 'हेतुशास्त्र', 'हेतुविद्या', 'तर्कविद्या',

तर्कशास्त्र की प्राचीनता

---

[1] २-१-११।

[2] १-३४।

[3] 'प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्कः'—न्यायभाष्य, १-१-१।

[4] 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता', इत्यादि।

[5] बृहदारण्यक, २-४-५; छान्दोग्य, ७-१-२।

[6] अयोध्याकाण्ड, १००-३९।

[7] शान्तिपर्व, १८०-४७।

[8] ७-४३।

[9] ११-३।

[10] १-२, ७।

'तर्कशास्त्र', 'वादविद्या', 'न्यायविद्या', 'न्यायशास्त्र', 'प्रमाणशास्त्र', 'वाकोवाक्य', 'तक्की', 'विमसी', आदि नामों से प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन ग्रन्थो में इस शास्त्र के कुछ सिद्धान्तो की चर्चा तो अभी भी विशद रूप से मिलती है, किन्तु उस प्राचीन 'तर्कशास्त्र' का सर्वागपूर्ण स्वरूप क्या था, इसका पता हम लोगो को नही है।

आधुनिक न्यायशास्त्र की उत्पत्ति

'वौद्ध-दर्शन' के प्रकरण मे यह कहा गया है कि वौद्ध लोग आस्तिक सिद्धान्तो के विरुद्ध अपने मत का प्रतिपादन करते थे। इसी के निरोव मे पुन. न्यायशास्त्र की रचना हुई। इसे समझाने के लिए वौद्धकालीन इतिहास के स्वरूप का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराना यहाँ आवश्यक है।

अनधिकारी बौद्धो की दशा

ईसा के पूर्व ६ठी शताब्दी मे वुद्ध ने ज्ञान प्राप्त कर अपना उपदेश लोगो को सुनाया। उनके सुन्दर उपदेश सुन कर लोग मुग्व हो जाते थे और वौद्धवर्मावलम्वी वन जाते थे। वुद्ध की भव्य आकृति, प्रभावशाली उपदेश तथा तत्त्वो की उनकी अपनी साक्षात् अनुभूति के प्रभाव से यद्यपि वहुतो ने वौद्धवर्म को स्वीकार कर अपने घर-द्वार को छोड दिया और भिक्षु तथा भिक्षुणी वन कर जगल मे रहना स्वीकार कर लिया, किन्तु उनके व्यवहार से तथा शास्त्र के प्रमाणों से यह मालूम होता है कि वे सभी इस धर्म को स्वीकार करने तथा उसके कठोर नियमो के पालन करने के योग्य नही थे। उपदेश को सुन कर उससे मुग्ध होकर आवेश मे आकर लोगो ने वौद्ध-धर्म को स्वीकार तो कर लिया था, किन्तु वास्तव मे वे दु ख से घवरा नही गये थे और न हृदय से ससार से विरक्त ही हुए थे। इसलिए जव उनके हृदय का आवेग क्रमश. कम हो गया तव वे सव उस धर्म के कठोर आचरण का अनुसरण न कर सके और आलसी वन कर बिना किसी लक्ष्य के इधर-उधर भटकने लगे। मालूम होता है कि लज्जा और उपहास के भय से पुन. अपने समाज मे लौट कर आने का साहस उन्होने नही किया। उन्हे उस प्रकार मार्ग-भ्रष्ट होते देख कर समाज और पडोस के प्रतिष्ठित विद्वानों ने उन्हे अपने घर लौटने के लिए वहुत समझाया होगा, किन्तु उन सव ने पुन. कौटुम्विक जीवन मे आना स्वीकार नही किया।

उन्हे वेकार भटकते देखकर समाज के लोग उन्हे समझाने के लिए प्रतिष्ठित विद्वानो को अपने साथ लेकर जाते थे। इन लोगो के साथ वे सव अनेक तर्क-वितर्क

करते थे। तर्क की बातो को छोड़ कर अन्य वातों को वे मानते भी नही थे। यही अवसर था जब कि गौतम ने एक सर्वांगपूर्ण 'तर्कशास्त्र' की रचना की। इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यह विपक्षियों के मत के खण्डन के लिए प्रधानतया वनाया गया था। अतएव इस में 'वाद', 'जल्प', 'वितण्डा', 'हेत्वाभास', 'छल', 'जाति' तथा 'निग्रहस्थान', इन विषयों का विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। अन्य दर्शनों की तरह 'न्यायशास्त्र' भी 'मोक्षशास्त्र' है तथा 'दु:खनिवृत्ति' या 'नि:श्रेयस् की प्राप्ति' इस शास्त्र का भी चरम लक्ष्य है। फिर भी इस मे 'वाद' आदि उपर्युक्त विषयो का समावेश किसी विशेष कारण से ही हुआ होगा, इसमे सन्देह नही। वह कारण था—वौद्धो के मत का खण्डन करना।

गौतमसूत्र की रचना

यह ग्रन्थ वहुत प्रसिद्ध और विपक्षियों के मत के खण्डन के लिए एक अमोघ अस्त्र का काम देने लगा। इस का परिणाम यह हुआ कि बौद्धों ने नाना प्रकार से इस ग्रन्थ को नष्ट करने का प्रयत्न किया। स्वकल्पित सूत्रों को गौतम के सूत्रों में मिला कर प्रचार करना, इस ग्रन्थ के कुछ अंशो को निकाल कर हटा देना, सूत्रो को उलट-पुलट देना, आदि अनेक प्रकार से ये लोग ग्रन्थ को दूषित करने लगे। इसलिए आस्तिक विद्वानों को इस ग्रन्थ की विशेष रक्षा करनी पड़ी। अनेक बार सूत्रो का उद्धार किया गया। अन्त मे वृद्ध वाचस्पति मिश्र (प्रथम) ने 'न्यायसूचीनिबन्ध' नाम का एक ग्रन्थ लिखा, जिसमे न्यायसूत्रो के शुद्ध पाठ का उद्धार किया और सूत्रो को, प्रकरणो को तथा अक्षरो तक को, गिन कर लिपिबद्ध किया। इसी से हमे मालूम होता है कि '**न्यायसूत्र**' में ५ अध्याय, १० आह्निक, ८४ प्रकरण, ५२८ सूत्र, १९६ पद तथा ८३८५ अक्षर है। इस प्रकार की आपत्ति अन्य किसी भी दर्शन के सम्बन्ध में सुनने मे भी नही आती।

इस प्रकार आज जो '**न्यायशास्त्र**' या '**न्यायसूत्र**' हमारे सामने है उसकी उत्पत्ति हुई, यह अनुमान किया जाता है।

साहित्य

आधुनिक न्यायशास्त्र के प्रवर्तक गौतम थे जो ईसा के पूर्व ६ठी सदी मे मिथिला में उत्पन्न हुए थे। इन्होने स्थूल जगत् के तत्त्वों पर विचार किया और उनके ज्ञान के लिए प्रमाणों का निरूपण किया। इन का एकमात्र ग्रन्थ है '**न्यायसूत्र**'। यद्यपि

इस ग्रन्थ का लक्ष्य है नि श्रेयस् या परम तत्त्व की प्राप्ति, तथापि विशेष रूप से यह प्रमाणो के द्वारा तर्क करने की शिक्षा देना है। इसी लिए इस शास्त्र के 'न्यायशास्त्र', 'तर्कशास्त्र', आदि नाम है। इस ग्रन्थ के ही आधार पर समस्त न्यायशास्त्र का विस्तृत साहित्य लिखा गया है।

न्यायसूत्र के रचयिता

इस ग्रन्थ या शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है 'प्रमाण' और 'प्रमेय' के विशेष ज्ञान से नि श्रेयस् को प्राप्त करना, किन्तु जब तक 'संशय', 'प्रयोजन', 'दृष्टान्त', 'सिद्धान्त', 'अवयव', 'तर्क', 'निर्णय', 'वाद', 'जल्प', 'वितण्डा', 'हेत्वाभास', 'छल', 'जाति' तथा 'निग्रहस्थानो' का विशेष रूप से 'ज्ञान' नहीं होगा, तब तक 'प्रमेय' का ज्ञान अच्छी तरह से नही हो सकता। अतएव गौतम ने कहा है कि उपर्युक्त सोलह पदार्थो के तत्त्वज्ञान से मुक्ति मिलती है। इस शास्त्र मे इन सोलहो पदार्थो के लक्षणो की प्रमाणों के द्वारा परीक्षा की गयी है।

न्यायशास्त्र के पदार्थ

पूर्व मे इस ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी थी, किन्तु वात्स्यायन का 'भाष्य' सब से प्राचीन व्याख्या है, जो आज उपलब्ध है। इनका समय सम्भवत ईसा के पूर्व दूसरी सदी कहा जा सकता है। 'भाष्य' के ऊपर उद्योतकराचार्य ने अति विस्तृत 'वार्तिक' लिखा, जिसमें उन्होंने कहा है कि दिङनाग आदि बौद्ध कुतार्किको के ज्ञान को दूर करने के लिए मैंने यह ग्रन्थ लिखा है[1]। ६ठी सदी मे यह उत्पन्न हुए थे। बौद्धमत का इस ग्रन्थ मे बहुत प्रौढ खण्डन है।

भाष्य

वाचस्पति मिश्र (प्रथम) मिथिला के बहुत बडे विद्वान् थे। इन्होने सभी दर्शनो पर टीकाएँ लिखी है। **'न्यायसूचीनिबन्ध'** की रचना शाके ८९८, अर्थात् ९७६ ई० मे इन्होने की। इन्हे विद्वान् लोग 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहते है। उद्योतकर के 'वार्त्तिक' पर **'तात्पर्यटीका'** इन्होने लिखी है। इसके मंगलाचरण मे वाचस्पति ने लिखा है—

इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम् ।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ॥

---

[1] कुतार्किकज्ञाननिवृत्तिहेतुः—मंगलाचरण।

इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध नैयायिको के द्वारा 'न्यायशास्त्र' की बहुत दुर्दशा हुई थी और वाचस्पति ने बौद्धो के मत का खण्डन कर 'न्यायशास्त्र' की रक्षा करने के ही लिए **तात्पर्यटीका** लिखी थी। इसी से यह भी स्पष्ट है कि बौद्धो के साथ इन लोगो का कितना शास्त्र-विचार चला करता था।

दसवी सदी में मिथिला के 'करिओन' गाँव मे **उदयनाचार्य** का जन्म हुआ था। इनके समान प्रौढ विद्वान् भारतवर्ष मे बहुत विरले ही हुए है। इन्होने 'तात्पर्यटीका पर '**परिशुद्धि**' नाम की बहुत विस्तृत व्याख्या लिखी है। '**न्यायकुसुमांजलि**' मे इन्होंने बौद्धो के मत का खण्डन कर 'ईश्वर' की पृथक् सत्ता का और '**आत्मतत्त्वविवेक**' में 'आत्मा' की पृथक् सत्ता का अकाट्य युक्तियों के द्वारा निरूपण किया। ये इनके अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है। बौद्धो के मत के खण्डन मे ये बहुत निपुण थे।

मध्य-काल मे **भासर्वज्ञ** बहुत अच्छे नैयायिको मे गिने जाते थे। इनका '**न्याय-सार**' एक अपूर्व ग्रन्थ है, उस पर इन्होने स्वय एक टीका भी लिखी है।

ग्यारहवी सदी मे **जयन्तभट्ट** वडे प्रौढ नैयायिक हुए। इन्होने कतिपय न्यायसूत्रो पर '**न्यायमंजरी**' नाम की एक वड़ी टीका लिखी है। इनके अतिरिक्त अनेक विद्वानो ने न्यायसूत्र पर टीकाएँ लिखी है, जिन मे कुछ तो अभी तक अप्रकाशित है।

प्राचीन न्याय का वरदराज मिश्र-रचित **तार्किकरक्षा** एक अपूर्व ग्रन्थ है। मल्लि-नाथ ने इस पर सुन्दर टीका लिखी है।

इसी समय न्यायशास्त्र के इतिहास में एक बहुत वडा परिवर्तन हुआ। बारहवी सदी में **गंगेश उपाध्याय** एक अद्वितीय विद्वान् मिथिला मे हुए। इन्होने 'गौतमसूत्र'

नव्यन्याय की उत्पत्ति

मे से '**प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि**'[1] केवल एक मात्र सूत्र लेकर 'तत्त्वचिन्तामणि' नाम का एक विस्तृत ग्रन्थ लिखा। इस मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन चारो प्रमाणों मे से प्रत्येक प्रमाण के ऊपर भिन्न-भिन्न खण्ड मे बहुत विस्तृत विचार है। प्रमाणसूत्र के आधार पर इस ग्रन्थ के लिखे जाने के कारण, इसे **प्रमाणशास्त्र** का मुख्य ग्रन्थ कह सकते है। इस ग्रन्थ की लेखन-शैली एक नवीन ढग की है। इस शैली से, ज्योति शास्त्र को छोड कर, प्राय. अन्य सभी शास्त्रो की, विशेष कर व्याकरण तथा दर्शन की, लेखन-परिपाटी पूर्ण प्रभावित हुई। यह नवीन शैली '**नव्यन्याय**' के नाम से प्रसिद्ध हुई। '**तत्त्वचिन्तामणि**' नव्यन्याय का आदि ग्रन्थ माना गया। इसके पूर्व के 'न्यायसूत्र' के ऊपर लिखे गये सभी ग्रन्थ '**प्राचीनन्याय**' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

---

[1] १-१-३

'तत्त्वचिन्तामणि' के ऊपर गणेश के पुत्र **वर्द्धमान** ने **'प्रकाश'** नाम की टीका लिखी। तत्पश्चात् **पक्षधर मिश्र** (१५ वी सदी) ने **'आलोक'**, वासुदेव मिश्र ने 'न्यायसिद्धान्त-सार', **रुचिदत्त मिश्र** (१६वी सदी) ने **'प्रकाश'**, रघुपति, भगीरथ, महेश ठक्कुर, आदि विद्वानो ने साक्षात् या परम्परा-रूप मे 'तत्त्वचिन्तामणि' पर ग्रन्थ लिखे।

बाद को पक्षधर मिश्र के शिष्य **रघुनाथ शिरोमणि** ने इस शास्त्र का प्रचार बगाल मे किया और 'नवद्वीप' इसका केन्द्र बनाया गया। यहाँ **मथुरानाथ, जगदीश, गदाधर,** आदि बडे विद्वान् हुए, जिन्होने 'तत्त्वचिन्तामणि' का विशेष अध्ययन कर उस पर विस्तृत टीकाएँ लिखी।

इस ग्रन्थ के ऊपर साक्षात् तथा परम्परा-रूप मे आज तक जितने ग्रन्थ लिखे गये हैं तथा लिखे जा रहे है, उतने प्राय. किसी अन्य शास्त्र पर नही। इसका कारण है—

नव्य तथा प्राचीन-न्याय में भेद

बौद्धो के साथ प्रतिवाद। 'नव्यन्याय' के अध्ययन से बुद्धि बहुत तीक्ष्ण होती है, तर्क करने की सामर्थ्य बहुत बढ जाती है तथा बोल-चाल की दार्शनिक परिपाटी में विद्वान् प्रौढ़ हो जाते हैं। इसके साथ-साथ इस शास्त्र ने संस्कृत-विद्या के अध्ययन की दृष्टि ही परिवर्तित कर दी। तर्क-प्रधान होने पर भी **'प्राचीनन्याय'** का मुख्य लक्ष्य था 'मुक्ति', किन्तु **'नव्यन्याय'** का मुख्य उद्देश्य है 'शुष्क तर्क करना'। जो साधन था वही साध्य हो गया। **'प्राचीनन्याय'** का अध्ययन लोग भूल गये। **'नव्यन्याय'** के अध्ययन मे एक प्रकार का आनन्द है तथा शास्त्रार्थ-विचार मे जय-पराजय के लिए तर्क का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। यद्यपि **'प्राचीनन्याय'** मे भी 'वाद' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक के प्रमेय प्रधान रूप से जय-पराजय के लिए थे, किन्तु बाद को उनका उपयोग जितना नव्यन्याय मे होने लगा उतना प्राचीनन्याय में नही था। आधुनिक युग मे भी जितने बुद्धिमान् विद्यार्थी होते थे, सभी नव्यन्याय को ही पढते थे। इसी शास्त्र के पढ़ने वालों का विद्वन्मण्डली मे आदर होता आया है। आज भी वह आदर पूर्ववत् है, यद्यपि उच्च कोटि के विद्वानो का आज पूर्ण अभाव है।

पदार्थ-निरूपण

विचार के लिए सभी शास्त्रों का एक अपना-अपना स्वतन्त्र क्षेत्र है। अपने-अपने दृष्टि-कोण से विश्व को देखते हुए चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लोग अग्रसर होते हैं। प्रत्येक दृष्टिकोण से जितनी दूर तक जिज्ञासु की दृष्टि जाती है, उतनी दूर मे स्थित विषयो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर ही साधक लोग उससे आगे

जाने के लिए पैर उठा सकते है, ऊपर की दूसरी सीढ़ी पर चढ सकते हैं। प्रत्येक दर्शन में उतने ही विषयो पर, लक्षण और परीक्षा के द्वारा प्रमाण तथा तर्क के आवार पर, विचार किया गया है। तदनुसार न्यायशास्त्र मे भी उपर्युक्त 'प्रमाण' आदि सोलह पदार्थो के ज्ञान से नि.श्रेयस् की प्राप्ति होती है, ऐसा गौतम ने कहा है। उन पदार्थों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

प्रमाण—मन तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के जिस व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, उसे ही 'प्रमाण' कहते हैं।

उपर्युक्त वातो से यह स्पष्ट है कि वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान के लिए 'प्रमाण' होते हैं। इसलिए शास्त्र मे निर्णीत विषयो का यथार्थ ज्ञान जितने 'प्रमाण' से हो सके,

प्रमाणों की संख्या

उतने ही प्रमाणो की सख्या को उस शास्त्र मे मानने की आवश्यकता होती है। अतएव यदि सभी वस्तुओं का ज्ञान एक ही प्रमाण से हो जाय तो दूसरे प्रमाण को मानने की आवश्यकता नही है। इसी लिए **'चार्वाक'** ने एक मात्र 'प्रत्यक्ष' को प्रमाण माना है; **वैशेषिक** तथा **बौद्धों** ने 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' को; **सांख्य** ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा 'शब्द' को; प्रभाकर मिश्र मीमांसक **(गुरुमत)** ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'शब्द', 'उपमान' तथा 'अर्थापत्ति' को; **कुमारिल भट्ट** मीमासक तथा **वेदान्तियों** ने 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान', 'शब्द', 'अर्थापत्ति' तथा 'अभाव' को एव **पौराणिकों** ने उपर्युक्त छ: के अतिरिक्त 'संभव' और 'ऐतिह्य' को भी 'प्रमाण' माना है।

न्यायशास्त्र के 'प्रमेयो' को जानने के लिए चार ही प्रमाणों की आवश्यकता होती है। अतएव 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' तथा 'शब्द', इन चारो को न्यायशास्त्र ने 'प्रमाण' माना है।[1]

'प्रमाण' के द्वारा जिन पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वे ही **'प्रमेय'** कहे जाते हैं, अर्थात् जो पदार्थ यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हो, वे 'प्रमेय' हैं। 'आत्मा', 'शरीर',

प्रमेय-निरूपण

'इन्द्रिय', 'अर्थ', 'बुद्धि', 'मनस्', 'प्रवृत्ति', 'दोष', 'प्रेत्यभाव', 'फल', 'दु:ख' तथा 'अपवर्ग', ये बारह **'प्रमेय'** न्यायशास्त्र मे माने जाते हैं[2]। इनका सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

---

[1] न्यायसूत्र, १-१-३।

[2] न्यायसूत्र, १-१-९।

(१) आत्मा—ज्ञान का जो अधिकारण हो, वही 'आत्मा' है। सभी का द्रष्टा, सभी का भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य तथा सर्वव्यापक 'आत्मा' है।[1] बाह्य इन्द्रियों के द्वारा 'आत्मा' का प्रत्यक्ष नही होता। मानसिक प्रत्यक्ष भी सभी नही मानते। अतएव इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख तथा ज्ञान-रूप लिंग (हेतु) के द्वारा 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। 'आत्मा' शब्द यहाँ जीवात्मा के लिए आया है। यही 'बद्ध आत्मा' है। सुख-दु:ख के वैचित्र्य के कारण प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्मा है, वही उस शरीर के सुख-दु:ख की भोक्ता है। मुक्त होने पर भी 'जीवात्मा' एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप मे भिन्न ही रहती है। इसी से स्पष्ट है कि नैयायिक लोग मुक्ति की दशा में भी अनेक जीवात्मा मानने वाले हैं।[2] न्यायमत मे ज्ञान का अधिकरण होने पर भी 'जीवात्मा' स्वभाव से ज्ञान रहित है, अर्थात् स्वभावत वह जड़ है। इसमें स्वभाव से चैतन्य नही है। मन के विशेष सयोग से उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म है। यही कारण है कि श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधचरित'[3] मे नैयायिको का उपहास करते हुए कहा है—

'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्'।

और एक किसी भक्त ने भी कहा है—

'वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम्।
न पुनर्वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन'॥[4]

---

[1] न्यायभाष्य, १-१-९।

[2] उमेश मिश्र—कनसेप्शन ऑफ मैटर, परिच्छेद ११, पृ० ३७२-३७६।

[3] सर्ग १७, श्लोक, ७५।

[4] आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक में कोई अन्तर नहीं है। मुक्तावस्था में जीवात्मा सकल दुःखो से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित रहती है। उस समय उसमें ज्ञान, सुख आदि भी नहीं रहते। अतएव वह एक प्रकार से प्रस्तर के समान जड़वत् पड़ी रहती है। उसमें कोई आनन्द नहीं, कोई रस नहीं, फिर साधक ऐसी अवस्था की प्राप्ति के लिए क्यो कष्ट उठावे। यही यहां भक्त की प्रार्थना का अभिप्राय है।

ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग और विभाग, ये जीवात्मा के **'गुण'** हैं।[१] मनुष्य के कायिक, वाचिक तथा मानसिक बुरे और भले कार्यो से उत्पन्न बुरे और भले 'सस्कार' आत्मा मे रहते हैं और ये 'सस्कार' मरने के समय जीवात्मा के साथ एक स्थूल शरीर को छोड कर दूसरे मे प्रवेश करते हैं। इनके ही प्रभाव से जीवात्मा भोग करती है। आत्मा मे परम महत् (सब से बडा) 'परिमाण', अर्थात् 'विभुत्व' है।

यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि 'जीवात्मा' विभु, सर्वव्यापी है। इसी लिए यह कही जाती तो है नही, फिर 'एक शरीर को छोड कर जीवात्मा दूसरे में प्रवेश करती है', यह किस प्रकार कहा जा सकता है ? समाधान मे यह कहना चाहिए कि 'सस्कार' आत्मा मे रहता है, 'आत्मा' व्यापक है, अतएव प्रत्येक जीवात्मा के सभी 'सस्कार' सर्वत्र रहते हैं। नैयायिक 'मन' मे तो 'सस्कार' स्वीकार करते नही। परन्तु स्थूल शरीर मे रहते हुए 'मन' के साथ 'जीवात्मा' का सम्बन्ध होने पर 'जीवात्मा' के वे 'सस्कार' उद्बुद्ध होते हैं, तभी उस 'जीवात्मा' मे भोग होता है। वस्तुत एक शरीर को छोड कर दूसरे शरीर मे प्रवेश 'मन' करता है। तथापि स्थूल बुद्धि वालो को समझाने के लिए 'जीवात्मा' के साथ 'सस्कार' जाता है, यह कहा जाता है। अतएव 'जीवात्मा' शब्द से यहाँ 'मन' समझना चाहिए।

(२) **शरीर**—'शरीर' दूसरा प्रमेय है। हित की प्राप्ति और अहित को दूर करने के लिए जो क्रिया की जाय, उसे 'चेष्टा' कहते हैं। जिसमे यह चेष्टा रहे या जिसमे इन्द्रियाँ रहे या जिसमे जीवात्मा को सुख-दु ख का अनुभव हो, वही **'शरीर'** है। इसे 'भोगायतन' भी कहते हैं।[२]

(३) **इन्द्रिय**—बाह्य जगत् के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द, इन विषयो का जिससे ज्ञान हो, उसे ही **'इन्द्रिय'** कहते हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—**बाह्येन्द्रिय** और **अन्तरिन्द्रिय**। बाह्येन्द्रिय के पुन दो भेद हैं—

[१] प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ७०।

[२] न्यायसूत्र, १-१-११।

ज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र एवं कर्मेन्द्रिय—वाक्, हस्त, पाद, जननेन्द्रिय तथा मल के बाहर होने की इन्द्रिय। अन्तरिन्द्रिय केवल 'मन' है।

'ज्ञानेन्द्रियाँ' क्रमशः तेजस्, जल, पृथिवी, वायु तथा आकाश, इन्ही पाँचो भूतो के स्वरूप है।

(४) अर्थ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द, ये ही पाँच न्यायमत में 'अर्थ' कहलाते है। ये क्रमशः तेजस्, जल, पृथिवी, वायु, तथा आकाश के 'विशेष गुण' है।[1]

न्यायभाष्यकार ने 'सुख तथा सुख का कारण' एवं 'दु:ख तथा दु:ख का कारण' इस अर्थ मे भी 'अर्थ' शब्द का प्रयोग किया है।[2]

वैशेषिक मत में तो द्रव्य, गुण तथा कर्म, इन तीनों को 'अर्थ' कहते है।[3]

(५) बुद्धि—न्यायमत में बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान, ये तीनो पर्याय-वाचक शब्द है।[4]

(६) मनस्—इसे अन्तरिन्द्रिय कहते है। सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, आदि 'आत्मा' के गुणो का ज्ञान 'मन' के द्वारा होता है। 'मन' अणु-परिमाण का है। अतएव एक समय मे यह मन एक ही स्थान पर रहता है। आत्मा तथा इन्द्रिय के साथ बिना मन का सम्बन्ध हुए 'ज्ञान' नही उत्पन्न होता। अतएव एक साथ एक ही 'ज्ञान' क्रमश. उत्पन्न होता है।

मन नित्य है। एक शरीर मे एक ही मन रहता है। मरने के समय यह शरीर से बाहर निकल जाता है, जिसे 'उपसर्पण' कर्म कहते है। वस्तुतः 'मन' के निकलने को ही 'मरण' कहते है। दूसरे शरीर मे वही 'मन' प्रवेश करता है, जिसे 'अपसर्पण' कर्म कहते है। मोक्ष की दशा मे भी

---

[1] न्यायसूत्र, १-१-१२-१४।

[2] १-१-१ ।

[3] वैशेषिकसूत्र, ८-२-५।

[4] न्यायसूत्र, १-१-१५।

जीवात्मा के साथ एक 'मन' रहता ही है। यही 'मन' मोक्षावस्था मे एक आत्मा को दूसरी आत्मा से पृथक् रखता है और इसी के कारण जीवात्मा और परमात्मा अलग-अलग रहते है। इसी के कारण मोक्षावस्था में भी न्यायमत में 'आत्मा' अनेक है।

(७) प्रवृत्ति—कायिक, वाचिक तथा मानसिक जो क्रिया होती है, उसके आरम्भ को 'प्रवृत्ति' कहते है।

(८) दोष—जिसके कारण 'प्रवृत्ति' हो वही 'दोष' है। राग, द्वेष या मोह के कारण हमारी सभी प्रवृत्तियाँ होती है। इसलिए राग, द्वेष तथा मोह को 'दोष' कहते है।

(९) प्रेत्यभाव—मरने के पश्चात् दूसरे शरीर मे जीवात्मा की स्थिति को 'प्रेत्यभाव' कहते है। 'परलोक' का होना इसी से प्रमाणित हो जाता है। इसी को फिर से जीवात्मा की उत्पत्ति भी कहते है।

(१०) फल—सुख और दु ख का सवेदन होना ही 'फल' है। अपने अनुकूल भाव को 'सुख' तथा प्रतिकूल को 'दु ख' कहते है। हमारी क्रियाओ के सुख या दु.ख ही फल है।

(११) दुःख—इसे ही पीड़ा, ताप, क्लेश, आदि भी कहते है। सबको स्वय इनका अनुभव होता है। इस संसार मे कोई भी जीव दु.ख से रहित नही है एव हमारी क्रियाओ के फल को भी दु ख से कभी मुक्ति नही है। अतएव न्यायशास्त्र मे सुख को 'दु ख' के ही अन्तर्गत कहा है।

(१२) अपवर्ग—'अपवर्ग' मोक्ष को कहते है, अर्थात् जीवात्मा के इक्कीस प्रकार के दु ख तथा दु.ख के कारण जब नष्ट हो जायँ, तभी वह जीवात्मा 'मुक्त' कहलाती है, अर्थात् इक्कीस प्रकार के दु खो की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही 'मोक्ष' है। शरीर, मनस् को लेकर छ इन्द्रियाँ तथा उन इन्द्रियो के छ रूप, रस आदि विषय एव उनके रूपज्ञान, रसज्ञान आदि छ. ज्ञान तथा सुख एवं दु ख, इन इक्कीसो से दु ख उत्पन्न होता है। इन्ही के आत्यन्तिक नाश को 'मोक्ष' कहते है।

शास्त्र को पढकर उसके मर्म को समझने से जगत् के सभी पदार्थो का ज्ञान प्राप्त होता है। उन सभी पदार्थों मे नाना प्रकार के दोषो को देखकर साधक ससार से

विरक्त होकर 'मोक्ष' की इच्छा करता है। पश्चात् गुरु के उपदेश से योगशास्त्र में कहे गये 'अष्टाग योग' का अभ्यास कर 'ध्यान' तथा 'समाधि' में पूर्ण परिपाक को प्राप्त कर साधक 'आत्मा' का साक्षात्कार करता है। साथ ही साथ उसके अविद्या, अस्मिता (आत्मा और अनात्मा को एक मानना), राग, द्वेष तथा अभिनिवेश (मृत्युभय),[1] ये पाँच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। पश्चात् वह निष्काम कर्म करता है जिससे भविष्यत् में उसके कर्मजन्य 'सस्कार' नही उत्पन्न होते, अर्थात् 'कर्म' 'सचित' नही होते। पूर्व-पूर्व जन्मों के कर्मजन्य संस्कारों के या संचित कर्मों के ज्ञान को योगाभ्यास के प्रभाव से प्राप्त कर, उन कर्मों के भोगने के योग्य भिन्न-भिन्न शरीरो को 'काय व्यूह' के द्वारा उत्पन्न कर, कर्मो के भोग मे तीव्रता को बढ़ा कर, सभी भोगों को भोग लेने के पश्चात् पूर्व-कर्मों का नाश हो जाने से, भविष्यत् काल में होने वाले शरीरों के अभाव में, जब वर्तमान शरीर का मरण होता है, तभी इक्कीस दु खों की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है और साधक 'मुक्त' हो जाता है।[2] इसी बात को गौतम ने भी कहा है—मिथ्याज्ञान का नाश होने से राग, द्वेष, आदि दोषों का नाश होता है, पश्चात् 'प्रवृत्ति' नहीं होती, फिर 'जन्म' ही नही लेना पड़ता और अन्त मे दु ख का नाश होने से 'मुक्ति' मिलती है।[3]

मोक्षप्राप्ति की प्रक्रिया

इन्ही बारहो प्रमेयो के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए न्यायशास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है। इन्ही के ज्ञान के द्वारा इस जगत् के पदार्थों का तत्त्वज्ञान हो जाता है और पश्चात् साधक 'आत्मा' की खोज मे अग्रसर होता है। परन्तु इनके यथार्थ ज्ञान के लिए 'सशय' से लेकर 'निग्रहस्थान' पर्यन्त चौदह पदार्थों का एवं प्रमाणों का भी ज्ञान आवश्यक है। अतएव अति सक्षेप में इनका भी विवरण यहाँ देना आवश्यक है।

३ **संशय**—किसी एक वस्तु में यदि दो भिन्न पदार्थों के समान धर्म पाये जायँ और उन दोनो को परस्पर पृथक् कर देने वाला एक भी धर्म न पाया जाय, तो उसमे **'संशय'** उत्पन्न होता है। जैसे—अन्धकार के कारण एक खड़ी हुई लम्बायमान वस्तु मे शाखा-पत्र-रहित वृक्ष (स्थाणु) तथा पुरुष के होने

---

[1] पातञ्जल योगसूत्र, २-३-९।

[2] न्यायसूत्र तथा भाष्य, ४-२-३८-४६; केशव मिश्र—तर्कभाषा, पृष्ठ ९१-९२, पराञ्जपे का संस्करण।

[3] न्यायसूत्र, १-१-२।

का 'सन्देह' होता है। 'संशय' मे समान बल वाले दो प्रकार के उभय-कोटि ज्ञान साधक के सामने उपस्थित होते हैं। 'संशय' के बिना कोई तर्क आरम्भ नही होता और न तो कोई निर्णय ही किया जा सकता है। न्यायशास्त्र में यही इसका महत्त्व है।

४ **प्रयोजन**—जिससे प्रेरित होकर कार्य करने में लोग प्रवृत्त हों, उसे 'प्रयोजन' कहते हैं।

५ **दृष्टान्त**—इसे 'उदाहरण' भी कहते हैं। किसी बात के साधन के लिए इसका उद्धरण दिया जाता है। जिस बात मे पक्ष और विपक्ष दोनों दलों का एक मत हो, वही दृष्टान्त के रूप में उद्धृत हो सकता है।

६ **सिद्धान्त**—प्रमाणों के द्वारा किसी बात को मान लेना कि 'यह ऐसा है,' इसे ही '**सिद्धान्त**' कहते हैं।

७ **अवयव**—अनुमान की प्रक्रिया मे जितने वाक्यो का प्रयोग करना पड़ता है, वे सब '**अवयव**' कहलाते है।

विचार करने पर मालूम होता है कि ये अवयव-रूपी वाक्य सब न्यायमत में स्वीकृत प्रमाणो के प्रतीक हैं।

'अनुमान' के दो भेद होते हैं—'स्वार्थानुमान' (अपने लिए अनुमान करना) तथा 'परार्थानुमान' (दूसरो को समझाने के लिए अनुमान करना)।

परार्थानुमान मे पाँच वाक्य होते है, जैसे—

(१) **प्रतिज्ञा**—पर्वत मे आग है। यह 'शब्द' प्रमाण है।

(२) **हेतु**—क्योंकि (पर्वत मे) धूआँ है। यह 'अनुमान' प्रमाण है।

(३) **उदाहरण या दृष्टान्त**—जैसे रसोई घर, जहाँ धूम के साथ आग देखी जाती है। यह 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है।

(४) **उपनय**—'जहाँ धूम है वहाँ आग है', इस प्रकार के अविनाभाव-सम्बन्ध से युक्त 'धूम' पर्वत मे है। यह 'उपमान' प्रमाण है।

(५) **निगमन**—अतएव पर्वत में आग है—इस वाक्य मे सभी प्रमाणों का एक ही विषय मे सामर्थ्य का प्रदर्शन होता है।

इन पाँचों वाक्यों में न्यायमत के सभी प्रमाणों का एकत्र समावेश है। अतएव इन पाँचो अवयवो के समूह को **'परम न्याय'** कहते है। इसी लिए वात्स्यायन ने कहा है कि 'प्रमाणो के द्वारा अर्थ की परीक्षा ही न्याय' है।[1]

८ **'तर्क'**—तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रमाणो का सहायक 'तर्क' कहलाता है।

९ **निर्णय**—किसी विषय के सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष को लेकर विचार करने के पश्चात् जिस विषय पर दोनो पक्षो का विचार स्थिर हो जाय, उसे **'निर्णय'** कहते है। यही तो तत्त्वज्ञान है। 'निर्णय' पर पहुँच जाने से एक पक्ष का विचार माना जाता है, दूसरे का खण्डित हो जाता है।

१० **वाद**—तत्त्वजिज्ञासा के लिए दो या उनसे अधिक व्यक्तियो के बीच में जो 'कथा'[2] अर्थात् पक्ष और प्रतिपक्ष के रूप में विचार-विनिमय हो, उसे **'वाद'** कहते है। इसमे हार-जीत का विचार नही रहता। जैसे—गुरु तथा शिष्य के बीच में शास्त्र के सम्बन्ध मे कोई विचार हो।

११ **जल्प**—जिस **'कथा'** के द्वारा वाक्यो के सन्दर्भ में दो या उनसे अधिक व्यक्ति पक्ष तथा प्रतिपक्ष का अवलम्बन कर एक पक्ष का साधन तथा दूसरे पक्ष का खण्डन करे एवं छल, जाति और निग्रहस्थान का जिस 'कथा'-सन्दर्भ मे प्रयोग किया जाय, उसे **'जल्प'** कहते है।

१२ **वितण्डा**—जिस 'जल्प' में किसी भी पक्ष का स्थापन न किया जाय, उसे **'वितण्डा'** कहते हैं। 'वितण्डा' को अवलम्बन करने वाले **'वैतण्डिक'** कहलाते हैं। ये सभी के पक्षो का खण्डन करते है, किन्तु अपना कोई भी सिद्धान्त या पक्ष स्वीकार नही करते। जैसे श्रीहर्ष-रचित 'खण्डनखण्ड-खाद्य' में श्रीहर्ष ने अपने को 'वैतण्डिक' के रूप में दिखाया है।

१३ **हेत्वाभास**—'हेतु' के समान मालूम हो, किन्तु उस हेतुवाक्य मे कोई न कोई दोष अवश्य हो, उसे **'हेत्वाभास'** कहते हैं।

---

[1] न्यायभाष्य, १-१-१।

[2] **अनेक वक्ताओं के मध्य में पूर्व तथा उत्तर-पक्ष के रूप में प्रयोग किये गये वाक्यों के सन्दर्भ को 'कथा' कहते हैं।**

१४ छल—किसी वक्ता के कथन के अभिप्राय को उलट कर उस वाक्य के अर्थ को अनर्थ मे परिवर्तित कर देना 'छल' है।

१५ जाति—साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा किसी वाक्य मे दोष बताना 'जाति' कहलाता है। एक प्रकार से यह मिथ्या उत्तर देना है।

१६ निग्रहस्थान—किसी वाक्य-सन्दर्भ मे वादी तथा प्रतिवादी के विपरीत ज्ञान एव अज्ञान को 'निग्रहस्थान' कहते है।

इन सोलह पदार्थों का सब तरह से ज्ञान प्राप्त करने से नि श्रेयस् की प्राप्ति होती है, अर्थात् न्यायशास्त्र के अनुसार 'परम तत्त्व' का ज्ञान होता है। इन पदार्थो मे 'जल्प' से लेकर 'निग्रहस्थान' पर्यन्त जितने पदार्थ है, उनका मुख्य लक्ष्य है—विपक्षियो के प्रतिपादन में दोष का उद्घाटन करना और उनका खण्डन करना तथा अपने सिद्धान्त की रक्षा करना। मालूम होता है कि बौद्धो के साथ तर्क-वितर्क करने के लिए ही गौतम ने न्यायशास्त्र में इन पदार्थों का समावेश किया।

ज्ञान और प्रमाण

ऊपर कहा गया है कि पदार्थो के 'ज्ञान' से 'नि श्रेयस्' की प्राप्ति होती है। अब यहाँ विचार करना है कि 'ज्ञान' किसे कहते है और उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है? न्यायशास्त्र मे 'ज्ञान' जीवात्मा का 'विशेषगुण' है। चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र, इन पाँचो इन्द्रियो के द्वारा एव मनस् की सहायता से आत्मा मे 'ज्ञान' उत्पन्न होता है। यह 'ज्ञान' आत्मा का आगन्तुक धर्म है, स्वाभाविक नही।

ज्ञान के भेद

'ज्ञान' दो प्रकार का है—**स्मरणरूप** तथा **अनुभवरूप**। किसी वस्तु का जब अनुभवरूप ज्ञान होता है, तो वह तीन क्षणो के बाद नष्ट हो जाता है। परन्तु उस ज्ञान का एक सस्कार 'आत्मा' पर अकित हो जाता है। प्रत्येक ज्ञान का पृथक्-पृथक् सस्कार होता है। ज्ञान के तारतम्य के अनुसार कोई सस्कार दृढ और तीक्ष्ण होता है और कोई चञ्चल तथा मन्द। किन्तु एक भी सस्कार नष्ट नही होता। पुन कालान्तर मे या दूसरे जन्म मे सादृश्य-दर्शन, आदि अनेक कारणो से वे सस्कार क्रमश उद्बुद्ध होते है और 'स्मरणरूप' मे पुन उसी मनुष्य की आत्मा मे उपस्थित हो जाते है। यही **स्मरणरूप ज्ञान** है। इस ज्ञान मे ज्ञात वस्तु का ही पुन ज्ञान होता है। अतएव न्यायमत में इसे 'प्रमा' (अर्थात् यथार्थज्ञान) नही कहते।

स्मरणात्मक ज्ञान

'स्मृति' से भिन्न ज्ञानेन्द्रिय तथा वस्तु के संयोग से साक्षात् या परम्परा-रूप में जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे **'अनुभव-ज्ञान'** कहते हैं। इसे ही 'प्रमा' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' कहते हैं।

अनुभवात्मक ज्ञान

जैसी वस्तु हो, उसे उसी प्रकार जानना **यथार्थ ज्ञान है**, अर्थात् घट को घट ही जानना, सर्प को सर्प ही जानना 'यथार्थ ज्ञान' है। जो वस्तु जिस प्रकार की हो उसे उस रूप में न जानना या उसे दूसरे रूप में जानना **'अयथार्थ ज्ञान'** है। जैसे—अंधकार में 'रस्सी' को 'सर्प' जानना या 'सीप' को 'चाँदी' समझना, 'शरीर' को 'आत्मा' समझना, ये सभी **'अयथार्थ ज्ञान'** हैं।

यथार्थ एवं अयथार्थ ज्ञान

न्यायमत मे संशय, विपरीत ज्ञान तथा तर्क, इन तीनों को 'अयथार्थ ज्ञान' माना है, अर्थात् इन तीनो से निश्चित ज्ञान नही होता। जो 'निश्चित ज्ञान' हो, वही **'यथार्थ ज्ञान'** या **'प्रमा'** है।

यथार्थ अनुभव चार प्रकार के होते हैं—'प्रत्यक्ष', 'अनुमिति', 'उपमिति' तथा 'शब्द'। यहाँ इन चारो का संक्षेप मे विवरण देना आवश्यक है। इन चारो ज्ञानो को उत्पन्न करने में सबसे अधिक जो साधक हो, वह **'प्रमाण'** कहा जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

ज्ञानेन्द्रिय और किसी वस्तु के सन्निकर्ष से साक्षात् जो यथार्थ अनुभव उत्पन्न हो, उसे **'प्रत्यक्ष'** ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान को उत्पन्न करने मे जो सबसे अधिक साधक हो, वही **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** है। जैसे—किसी पुस्तक का साक्षात् अनुभव तभी होता है, जब हमारी आँखें, अर्थात् चक्षुरूपी ज्ञानेन्द्रिय का उस पुस्तक के साथ साक्षात् सम्बन्ध हो। इस सम्बन्ध से उत्पन्न जो ज्ञान हो, उसे **'चाक्षुष प्रत्यक्ष'** कहते हैं। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय के साथ साक्षात् सम्बन्ध होने से उत्पन्न ज्ञान **'रासन प्रत्यक्ष'**, घ्राणेन्द्रिय के सम्बन्ध से **'घ्राणज प्रत्यक्ष'**, त्वगिन्द्रिय के सम्बन्ध से **'त्वाच प्रत्यक्ष'**, तथा श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध से **'श्रावण प्रत्यक्ष'**, ये पाँच प्रकार के 'प्रत्यक्ष' होते हैं। ये सभी 'बाह्य प्रत्यक्ष' कहे जाते हैं।

प्रत्यक्ष के भेद

इसी प्रकार 'मन' भी एक इन्द्रिय है। इसके साक्षात् सम्बन्ध से सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म, आदि का जो ज्ञान होता है, उसे भी 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहते हैं, परन्तु यह 'मानसिक प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

बाह्य प्रत्यक्ष के दो भेद है—**निर्विकल्पक** तथा **सविकल्पक**। बाह्य इन्द्रिय का जब अपने विषय के साथ साक्षात् सन्निकर्ष होता है, तब सबसे पहले 'आत्मा' मे एक ज्ञान उत्पन्न होता है, जो 'सम्मुग्ध' या 'अव्याकृत' ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान मे केवल 'उस वस्तु का होना' इतने का ही भान होता है, परन्तु उस वस्तु मे कौन-सा गुण है, उसका क्या नाम है, इत्यादि किसी प्रकार का विशेष ज्ञान नही होता। हर प्रकार के गुण तथा धर्म से रहित केवल वस्तु की स्थिति मात्र का आभास इस अवस्था मे होता है। इस ज्ञान के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा जा सकता। गुण आदि विकल्पो से रहित होने के कारण इसे **'निर्विकल्पक ज्ञान'** कहते हैं। वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान तो यही है। इसे ही गौतम ने अपने सूत्र मे 'प्रत्यक्ष' माना है। बौद्धो ने भी इसी को प्रत्यक्ष कहा है।

किन्तु इस व्यावहारिक जगत् मे ज्ञान का उपयोग व्यवहार के लिए भी होता है। 'निर्विकल्पक' ज्ञान से तो कोई भी व्यवहार नही चल सकता। इसलिए उस ज्ञान को व्यवहार के योग्य बनाने के लिए न्यायमत में कहा जाता है कि उत्पन्न होने के प्रथम क्षण मे तो प्रत्येक वस्तु का 'ज्ञान' नाम, जाति, गुण, आदि विकल्पो से रहित, अर्थात् निर्विकल्पक ही होता है। बाद को दूसरे क्षण मे उस ज्ञान मे उस वस्तु के नाम, जाति, आकृति, गुण, आदि विकल्पों का भी ज्ञान होता है और वही 'निर्विकल्पक' ज्ञान वाक्यो के द्वारा व्यवहार के लिए प्रकट किया जाता है। इसे **'सविकल्पक ज्ञान'** कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रथम क्षण मे जो ज्ञान होता है, वह, मूक पुरुषो के ज्ञान के समान, व्यवहार मे नही लाया जा सकता है, परन्तु पश्चात् दूसरे क्षण मे जो ज्ञान होता है, वह शब्दो के द्वारा व्यवहार मे लाया जा सकता है।

ऊपर कहा गया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और अर्थ का 'सन्निकर्ष' आवश्यक है। ये सन्निकर्ष छ प्रकार के है—'सयोग', 'संयुक्त-समवाय', 'सयुक्त-समवेत-समवाय', 'समवाय', 'समवेत-समवाय' तथा 'विशेषण-विशेष्य-भाव'।

सन्निकर्ष के भेद

(१) **संयोग**—चक्षु के साथ पुस्तक का जो सम्बन्ध होता है, उसे **'संयोग'** कहते है। 'चक्षु' द्रव्य है और 'पुस्तक' भी द्रव्य है। द्रव्यो मे 'सयोग' सम्बन्ध होता है।

(२) **संयुक्त-समवाय**—चक्षु के द्वारा पुस्तक तथा पुस्तक के 'रूप' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि चक्षु के साथ 'पुस्तक-रूप' का भी सन्निकर्ष होता है, किन्तु यह सन्निकर्ष साक्षात् नही होता। 'रूप'

पुस्तक में है। अतएव पुस्तक के द्वारा चक्षु 'रूप' के साथ सन्निकृष्ट होता है, अर्थात् चक्षु और पुस्तक में 'सयोग' सम्बन्ध होता है। 'पुस्तक' गुण को रखने वाली अर्थात् 'गुणी' है तथा पुस्तक-रूप उस पुस्तक का 'गुण' है। ये 'गुण-गुणी' होने के कारण 'अयुतसिद्ध'[1] है, और इन दोनों में 'समवाय' सम्बन्ध है। इसलिए 'चक्षु' को 'पुस्तक-रूप' के साथ 'संयोग +समवाय' अर्थात् 'संयुक्त-समवाय' सम्बन्ध होने से आत्मा 'पुस्तक-रूप' का 'प्रत्यक्ष' ही प्रमाण के द्वारा 'ज्ञान' प्राप्त करती है।

(३) **'संयुक्त-समवेत-समवाय'**—प्रत्येक 'व्यक्ति' में एक 'जाति' रहती है। इसी जाति के द्वारा एक विभाग की वस्तु दूसरे विभाग से पृथक् की जाती है। जैसे—'घट' मे एक 'जाति' है—'घट+त्व' (घटत्व)। इसके द्वारा ही 'घट' 'पट' से भिन्न कहा जाता है, क्योकि 'पट' में एक भिन्न जाति है—'पट+त्व' (पटत्व)। इस 'जाति' को 'त्व' या 'ता' के द्वारा प्रकट करते है। इस प्रकार की 'जाति' कुछ स्थानो को छोड़कर[2] अन्यत्र सभी में है। जैसे—पुस्तकत्व, पुस्तकरूपत्व, इत्यादि।

प्रत्यक्ष ज्ञान में यह देखा जाता है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उसकी 'जाति' तथा उसके 'अभाव' का भी ज्ञान होता है। अर्थात् चक्षुरूप इन्द्रिय से 'पुस्तक' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, साथ ही साथ 'पुस्तकत्व' का तथा 'पुस्तकरूपत्व' का भी ज्ञान होता है। विचारणीय विषय यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होना आवश्यक है, तस्मात् 'चक्षु' इन्द्रिय के साथ 'पुस्तक-रूप-त्व' का भी सन्निकर्ष होता है। यह सन्निकर्ष साक्षात् नही है। यह परम्परा सन्निकर्ष है। 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक' का 'संयोग' सम्बन्ध, 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक-रूप'

[1] उन दो पदार्थों को 'अयुतसिद्ध' कहते है, जिन दो पदार्थों में एक, अपनी स्थिति की अवस्था में, दूसरे के आश्रित होकर ही अपने अस्तित्व को रख सकता है—'ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावेवायुतसिद्धौ'। जैसे—अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य, ये 'अयुतसिद्ध' है। इनमें परस्पर 'समवाय' सम्बन्ध है।

[2] 'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः'—उदयनाचार्य—किरणावली।

का 'सयुक्त-समवाय' तथा 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक-रूप-त्व' का **'संयुक्त-समवेत-समवाय'** सम्बन्ध है। क्योंकि 'जाति' और 'व्यक्ति' **'अयुतसिद्ध'** है, इनमे 'समवाय' सम्बन्ध है।

(४) **समवाय**—'कान' से 'शब्द' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए 'कान' और 'शब्द' में 'सन्निकर्ष' होना आवश्यक है। 'कान' को तर्कशास्त्र मे 'आकाश' मानते है। 'शब्द' 'आकाश' का विशेष गुण है। 'आकाश' द्रव्य है और 'शब्द' उसका विशेष गुण है। इन दोनो मे गुण-गुणी-भाव है। ये **'अयुतसिद्ध'** है। अतएव इनमें **'समवाय'** सम्बन्ध है। तस्मात् 'कान' **समवाय** सम्बन्ध के द्वारा 'शब्द' का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।

(५) **समवेत-समवाय**—ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक 'व्यक्ति' मे एक 'जाति' रहती है, तस्मात् 'शब्द' मे भी 'शब्द+त्व' जाति है और 'कान' से ही उस 'शब्दत्व' का भी प्रत्यक्ष होता है। शब्द और शब्दत्व मे व्यक्ति और जाति का सम्बन्ध होने से ये **'अयुतसिद्ध'** है। अतएव इनमे 'समवाय' सम्बन्ध है। अब 'कान' के साथ 'शब्द' का 'समवाय' सम्बन्ध तथा 'शब्द' के साथ 'शब्दत्व' का 'समवाय' सम्बन्ध है। तस्मात् 'कान' के साथ 'शब्दत्व' का **'समवाय-समवाय'**, अर्थात् **'समवेत-समवाय'** सम्बन्ध है।

(६) **विशेषण-विशेष्य-भाव**—उपर्युक्त पाँच प्रकार के सन्निकर्षों से 'भाव' पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। 'अभाव' का भी ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। इसके लिए न्यायमत मे **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** सम्बन्ध माना गया है।

किसी वस्तु का न होना, उस वस्तु का 'अभाव' कहा जाता है। जैसे—'पुस्तक' का मेज पर न होना, मेज पर 'पुस्तक का अभाव' कहा जाता है। जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का प्रत्यक्ष हो, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु के 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष होता है। 'पुस्तक' का प्रत्यक्ष 'चक्षु' से होता है। तस्मात् 'पुस्तक के अभाव' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान 'चक्षु' से ही होगा। पुस्तक और पुस्तकाभाव मे एक 'भाव' द्रव्य है और दूसरा 'अभाव'-रूप पदार्थ है। अतएव इन दोनो मे उपर्युक्त पाँच प्रकार के सन्निकर्ष नही हो सकते।

इसलिए तर्कशास्त्र मे 'अभाव' के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** नाम का एक छठा सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

'पुस्तकाभाव' मेज पर है, अर्थात् 'पुस्तकाभाव' मेज का 'विशेषण' है और 'मेज' 'विशेष्य' है। इसलिए इन दोनों में **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** सम्बन्ध है और इसी सम्बन्ध के द्वारा चक्षु को 'पुस्तकाभाव' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मीमांसकों का मत

मीमासकों का कहना है कि **'सम्बन्ध'** को 'एक', 'उभयाश्रित' तथा 'सम्बन्धियों से भिन्न' होना चाहिए। ये तीनो बातें 'विशेषण-विशेष्य-भाव' में नही हैं। इसलिए यह 'सम्बन्ध' ही नही हो सकता। अतएव अभाव के ज्ञान के लिए एक पाँचवाँ प्रमाण माना जाय, जिसे मीमासक लोग **'अनुपलब्धि'** या **'अभाव'** प्रमाण कहते हैं।

तर्कशास्त्र ने व्यावहारिकता की प्रधानता को स्वीकार कर प्रत्यक्ष प्रमाण के ही द्वारा 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान माना है। पाँचवाँ प्रमाण मानने की इसे आवश्यकता ही नही है, मानने पर 'गौरव' दोष होगा।

इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियो से भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ध्यान में रखना चाहिए कि चक्षुरिन्द्रिय से 'रूप' तथा 'रूपवत्' का, रसनेन्द्रिय से 'रस' तथा 'रसवत्' का, घ्राणेन्द्रिय से 'गन्ध' तथा 'गन्धवत्' का ज्ञान होता है। इसी प्रकार इनके अभाव का भी ज्ञान अपनी-अपनी इन्द्रियो के द्वारा होता है।

मन, आत्मा तथा त्वगिन्द्रिय का सन्निकर्ष

इन सभी ज्ञानो में इन्द्रिय तथा अर्थ के अतिरिक्त 'मन' तथा 'आत्मा' का भी 'सयोग' आवश्यक है। 'आत्मा' ही तो ज्ञान का आश्रय है। 'ज्ञान' आत्मा मे ही उत्पन्न होता है। 'ज्ञान' को उत्पन्न करने के लिए आत्मा के साथ मन-रूप इन्द्रिय का सयोग आवश्यक है। आत्मा विभु है। अतएव मन के साथ उसका सम्बन्ध तो एक प्रकार से सदैव रहता ही है, किन्तु उस 'संयोग-सम्बन्ध' से ज्ञान नही उत्पन्न होता। अर्थ के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय के साथ जब मन का संयोग होता है, तब उक्त संयोग से युक्त मन के साथ आत्मा का एक नवीन सन्निकर्ष होने पर उस 'आत्मा' में उस अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए 'त्वक्' इन्द्रिय के साथ मन का सयोग सदैव रहना आवश्यक है। इस संयोग के विना ज्ञान उत्पन्न नही होता। अतएव 'पुरीतत्' मे जब सुषुप्ति-दशा में मन प्रवेश करता है, तब वहाँ ज्ञान नही होता, क्योकि वहाँ 'त्वगिन्द्रिय' नही है।

ऊपर वाह्येन्द्रियो के द्वारा 'सन्निकर्षों' का विचार किया गया है। इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय 'मन' के द्वारा भी सुख, दु ख आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वहाँ भी ये ही सम्वन्ध होते है। सुख, दु ख आदि 'आत्मा' के गुण है, अर्थात् ये गुण सद 'आत्मा' मे समवाय सम्वन्ध से है। अतएव मन का आत्मा के साथ **'संयोग'**, आत्मा के गुणो के साथ **'संयुक्त-समवाय'**, उन गुणो मे रहने वाली 'जातियो' के साथ **'संयुक्त-समवेत-समवाय'** तथा आत्मा मे 'सुखाभाव' आदि का **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मानसिक सन्निकर्ष

अभी तक जिस प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार किया गया है, वह **'लौकिक सन्निकर्षों'** से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्वन्ध मे है। इनके अतिरिक्त विशेप ज्ञान के लिए तर्क-शास्त्र मे कुछ **'अलौकिक सन्निकर्षों'** का भी विचार किया गया है। उनका भी परिचय यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

अलौकिक सन्निकर्ष

रसोई घर मे धुआँ के साथ आग देखी जाती है। अन्यत्र भी अनेक स्थानो में धुआँ के साथ आग देखी जाती है। इस प्रकार अनेक स्थानो मे धूम को आग के साथ देखकर तार्किक एक नियम बना लेते है कि 'जहाँ धूम है, वहाँ आग है'।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति

यहाँ प्रश्न है—कि जहाँ-जहाँ धूम को आग के साथ देखा, वहाँ तो सर्वत्र चक्षु और धूम का 'सयोग' सम्वन्ध है, अतएव उन स्थानो मे धूम का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसी से आग का भी ज्ञान होता है। परन्तु भूत, भविष्यत् एव अप्रत्यक्षीभूत वर्तमान धूमो के साथ तो चक्षु का 'सयोग' नही होता, फिर सभी धूमो के साथ 'आग' के होने की निश्चित व्याप्ति किस प्रकार स्थिर हो सकती है? अर्थात् सभी धूमो के साथ चक्षु का सम्बन्ध न होने पर सभी धूमो का प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो सकता।

इसके उत्तर में यह कहना है कि प्रथम वार जव एक 'धुआ' का प्रत्यक्ष ज्ञान 'सयोग' सम्बन्ध से हुआ, उस ज्ञान मे 'धुआँ' विशेष्य है और धुआँ मे रहने वाला 'सामान्य' या 'जाति', अर्थात् 'धूमत्व' 'प्रकार' या 'विशेषण' है। यहाँ यह ध्यान में रखना है कि जिस समय आँख के साथ 'धुआँ' का 'सयोग सम्वन्ध' हुआ, उसी समय 'धूमत्व' के साथ भी आँख का 'सयुक्त-समवाय-सम्बन्ध' हुआ और 'धूमत्व' का प्रत्यक्ष ज्ञान भी हुआ। यह 'धूमत्व जाति' नित्य है और भूत, भविष्यत् सभी धूमो मे विद्यमान है। इस 'धूमत्व जाति' से धूम कभी भी अलग नही हो सकता, अतएव रसोई घर

के धूम तथा धूमत्व को आँख से देख कर सभी अविद्यमान धूमों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान 'धूमत्व' सामान्य के साथ चक्षु का सम्बन्ध होने से होता है। अतएव इस सम्बन्ध को **'सामान्यलक्षणा' प्रत्यासत्ति** (सम्बन्ध) कहते हैं।

ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति

दूसरा **अलौकिक सन्निकर्ष** है **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'**। लोक में श्रीखण्ड-चन्दन को देखकर 'श्रीखण्ड-चन्दन में बहुत सुगन्धि है', ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय के साथ श्रीखण्ड-चन्दन के 'सयोग' से होता है। किन्तु 'सुगन्धि' का ज्ञान किस प्रकार हुआ, यह शंका मन में उत्पन्न होती है। चन्दन दूर है, वहाँ से उसकी सुगन्धि घ्राण तक नही पहुँच सकती। अतएव यह 'घ्राणज प्रत्यक्ष' नही कहा जा सकता।

इसके समाधान मे कहा जाता है कि श्रीखण्ड-चन्दन का ज्ञान तो हमें 'चक्षु' और 'श्रीखण्ड-चन्दन' के संयोग से होता है और 'यह चन्दन है', इस ज्ञान के कारण ही हमें चन्दन की सुगन्ध का भी ज्ञान हो जाता है। अर्थात् चन्दन के ज्ञान से सुगन्ध का भी ज्ञान हो जाता है। यही **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'** है।

परन्तु 'सुगन्ध' का ज्ञान तो 'सामान्यलक्षणा' मे भी हो जाता है, किन्तु 'सुगन्धत्व' का ज्ञान 'सामान्यलक्षणा' से नही होता, क्योंकि सुगन्ध के साथ चक्षु का सन्निकर्ष नही होता। तस्मात् सुगन्ध में रहने वाले 'सामान्य' का ज्ञान **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'** से होता है। अतएव जहाँ 'सामान्यलक्षणा' से ज्ञान न हो, वहाँ 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' को स्वीकार करना आवश्यक है।

योगज प्रत्यक्ष

'परमाणु' का तथा अन्य परोक्षभूत वस्तुओं का ज्ञान हस्तामलकवत् योगियों को होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साधक लौकिक उपायों की आवश्यकता योगियो को नहीं होती। परन्तु उन्हे इन सबका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस प्रकार के ज्ञान को **'योगज'** प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। योगियों की सिद्धि के प्रभाव से प्रत्यक्ष रूप मे ये ज्ञान साधारण या असाधारण सन्निकर्ष के बिना ही होते हैं।[1]

अनुमानप्रमाण

जिस वस्तु के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष न हो, वह 'परोक्ष' कहलाती है। जिस चिह्न या प्रक्रिया के द्वारा 'परोक्ष' वस्तु का ज्ञान हो, उसे **'अनुमान'** कहते हैं।

---

[1] **द्रष्टव्य भाषापरिच्छेद, कारिका ६३-६६ तथा न्यायमुक्तावली।**

'हेतु' या 'चिह्न' या 'लिंग' के 'परामर्श' के द्वारा परोक्ष वस्तु का ज्ञान होता है। इसलिए 'लिंग-परामर्श' को 'अनुमान' कहते हैं।

अनुमान की प्रणाली

जैसे—अपने या दूसरे के रसोई घर मे बारबार धुआँ के साथ आग को देखकर देखने वाले के मन मे 'जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है', इस प्रकार का एक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद वह पुरुष जगल मे कभी जाता है तो उसे पर्वत से निकलता हुआ धुआँ देख पडता है। तब उसे स्मरण होता है कि 'जहाँ धुआँ हो, वहाँ आग होती है'। इसके बाद वह उसी पर्वत मे पुन. धुएं को देखता है, किन्तु अब वह धुआँ 'यत्र धूम तत्र वह्नि.' इस व्याप्ति से विशिष्ट है। अन्त मे वह निर्णय करता है कि 'यहाँ आग है'। यही 'अनुमान' की पूरी प्रणाली है।

इसमे 'धुआँ' **'लिंग'** या **'हेतु'** कहा जाता है। इसी के द्वारा 'साध्य' 'आग' का ज्ञान होता है। 'धुआँ के साथ आग का रहना' एक प्रकार से धुआँ और आग के बीच मे एक 'स्वाभाविक सम्बन्ध' को प्रकट करता है। इसी 'स्वाभाविक सम्बन्ध' को **'व्याप्ति'** कहते हैं। व्याप्ति को स्मरण करते हुए दूसरी बार धुआँ को पर्वत मे देखने के ज्ञान को **'परामर्श'** या **'लिंगपरामर्श'** कहते हैं। इस अनुमान मे 'पर्वत' 'आश्रय' या 'पक्ष' कहा जाता है। 'आग' को 'साध्य' तथा 'धुआँ' को 'लिंग' कहते हैं। 'रसोई-घर' को 'दृष्टान्त' कहते है, इसे 'सपक्ष' भी कहते है। इसके दो भेद हैं—'अन्वय' और 'व्यतिरेक'। व्यतिरेक अनुमान के उदाहरण को 'विपक्ष' कहते हैं। इस अनुमान का पूरा रूप है, जैसा कि पहले भी कहा गया है—

प्रतिज्ञा—पर्वत मे आग है,

हेतु—क्योकि (पर्वत मे) धुआँ है।

दृष्टान्त—जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है, जैसे—रसोईघर (अन्वय), जहाँ आग नही है, वहाँ धुआँ नही है, जैसे जलाशय (व्यतिरेक),

उपनय—इस पर्वत मे (व्याप्ति-विशिष्ट) धुआँ है,

निगमन—इसलिए पर्वत मे आग है।

इस 'अनुमान' के दो मुख्य अग हैं—**'व्याप्ति'** और **'पक्षधर्मता'**, अर्थात् व्याप्ति से युक्त 'हेतु' का 'पक्ष' मे होना। 'पक्षधर्मता' के ज्ञान को **'परामर्श'** कहते हैं। इस अनुमान मे तीन बार 'लिंग' का दर्शन होता है। प्रथम बार धुआँ का दर्शन 'रसोई-

घर में' हुआ, द्वितीय बार 'पर्वत' मे और तृतीय बार उसी पर्वत में 'आग से व्याप्त धुआँ' का दर्शन होता है और इसके पश्चात् ही 'अनुमिति' हो जाती है। अतएव **'तृतीयलिंगपरामर्शः अनुमानम्'**—'अनुमान' का लक्षण किया जाता है। उपर्युक्त पाँच अवयवो से युक्त अनुमान के स्वरूप को गौतम ने **'परम न्याय'** कहा है, क्योकि इन पाँच वाक्यो मे चारो प्रमाणो का समावेश है। अर्थात् एक प्रकार से अनुमिति, अर्थात् अनुमान, के द्वारा निर्णीत विषय सभी प्रमाणों के आधार पर निर्भर है।

अनुमान के भेद—एक प्रकार से अनुमान के भेद ऊपर कहे जा चुके है। अन्य प्रकार से भी इसके भेद किये जाते है, जैसे—

(१) **पूर्ववत्**—'पूर्व', अर्थात् 'पहले', अर्थात् 'कारण'। पहले के अनुसार जो अनुमान हो, अर्थात् 'कारण' से 'कार्य' के अनुमान को **'पूर्ववत्'** अनुमान कहते है। जैसे—मेघ को जल से भरा हुआ देखकर 'वृष्टि होगी', ऐसा कोई अनुमान करे तो उसे **'पूर्ववत्'** अनुमान कहेगे।

(२) **शेषवत्**—'शेष', अर्थात् 'कार्य'। 'कार्य' को देखकर 'कारण' के अनुमान को **'शेषवत्'** कहते है। जैसे—नदी मे जल के आधिक्य तथा वेग को देखकर 'कही वृष्टि हुई होगी', ऐसे अनुमान को 'शेषवत्' कहते है।

'शेषवत्' का दूसरा भी अर्थ शास्त्रकारो ने किया है। 'प्रसक्त', अर्थात् सम्भावितो का प्रतिषेध किये जाने पर, अन्य सम्भावित पदार्थ के न रहने पर, जो बच जाय, उसे 'शेष' कहते है। इस 'शेष' के द्वारा जो अनुमान किया जाय, वह **'शेषवत्'** अनुमान कहा जाता है। जैसे—विशेष गुण होने के कारण 'शब्द' काल, दिक् तथा मन मे नही है, श्रोत्रग्राह्य होने के कारण 'शब्द' क्षिति, अप्, तेज, वायु तथा आत्मा का विशेष गुण नही हो सकता। शेष बचा 'आकाश', नवम द्रव्य कोई दूसरा है नही। अतएव 'शब्द' आकाश का गुण है। यह **'शेषवत्'** अनुमान से सिद्ध होता है।

एक लोटा समुद्र के जल मे नमक को पाकर समुद्र के शेष जल मे भी नमक है,—ऐसा अनुमान भी **'शेषवत्'** कहा जाता है।

(३) **सामान्यतो दृष्ट**—साधारण रूप से परोक्ष वस्तु का जिसके द्वारा ज्ञान हो, उसे **'सामान्यतो दृष्ट'** अनुमान कहते है। जैसे—सूर्य को

प्रात.काल पूर्व दिशा में देखने के पश्चात् सायकाल को पुन· पश्चिम दिशा मे देखकर अनुमान किया जाता है कि 'सूर्य मे गति है'।

एक स्थान में आम के वृक्ष मे मञ्जरी को देखकर एक मनुष्य अनुमान करता है कि 'सभी आम के वृक्षों मे मञ्जरियाँ हो गयी हैं।' ये सब **'सामान्यतो दृष्ट'** के उदाहरण हैं।

यहाँ यह कह देना उचित होगा कि 'पूर्ववत्', 'शेषवत्' तथा 'सामान्यतो दृष्ट', ये सभी शब्द 'पारिभाषिक' है। इनके यथार्थ अर्थ का ज्ञान प्राय· लुप्त हो गया है। इसी लिए सभी दर्शनो मे इन शब्दो की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गयी है। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य मे दो प्रकार से व्याख्या की है। इससे स्पष्ट है कि वात्स्यायन को तथा अन्य भाष्यकारो को इन शब्दो के वास्तविक अर्थ का ठीक-ठीक ज्ञान नही था।

ऊपर कहा गया है कि 'दृष्टान्त' दो प्रकार का होता है—'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक'। इसी कारण अनुमान के भी दो भेद मानते हैं—'अन्वयानुमान' तथा 'व्यतिरेकानुमान'। इनके उदाहरण नीचे दिये हैं—

अन्वय—प्रतिज्ञा—पर्वत में आग है,

हेतु—क्योकि वहाँ धुआँ है।

दृष्टान्त—जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है, जैसे—रसोईघर।

व्यतिरेक—प्रतिज्ञा—पर्वत मे आग है,

हेतु—क्योकि वहाँ धुआँ है।

दृष्टान्त—जहाँ आग नही है, वहाँ धुआँ भी नही है, जैसे—जलाशय।

'उपनय' और **'निगमन'** वाक्य मे विशेष अन्तर नही है। एक मे भावरूप एवं दूसरे मे अभावरूप उपनय वाक्य होते हैं।

'हेतु' के आधार पर ही तो अनुमान होता है। यदि 'हेतु' विशुद्ध हो, दोषो से रहित हो तो अनुमान शुद्ध होता है, अन्यथा वह 'अनुमान' दूषित होता है। और उस हेतु को 'हेत्वाभास' कहते है। इसलिए जिस अनुमान मे अन्वय तथा व्यतिरेक दोनो दृप्टान्त हो, उसके 'हेतु' को पाँच नियमो का पालन करना पडता है—

हेतु के दोषो से बचने का नियम

(१) **पक्षवृत्ति**—हेतु को 'पक्ष' मे रहना चाहिए। जैसे—'धूम' का 'पर्वत' मे रहना।

(२) **सपक्षवृत्ति**—हेतु को 'सपक्ष' मे रहना चाहिए। जैसे—'धूम' का 'रसोई-घर' मे रहना।

(३) **विपक्षाद्व्यावृत्ति**—हेतु को 'विपक्ष' में नही रहना चाहिए। जैसे—'धूम' का 'जलाशय' मे न रहना।

(४) **अबाधितविषय**—पक्ष मे साध्य का अभाव किसी बलवत्तर प्रमाण से प्रमाणित न हो। जैसे—'आग शीतल है, क्योकि वह द्रव्य है, जैसे—जल'।

इस अनुमान मे साध्य है 'शीतल'। उसे 'पक्ष', अर्थात् 'आग' में प्रमाणित करना है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा यह 'बाधित' हो जाता है। इसलिए यह अनुमान, अर्थात् हेतु **'बाधितविषय'** हुआ। अनुमान को **'अबाधितविषय'** होना चाहिए।

(५) **असत्प्रतिपक्ष**—किसी अनुमान मे जो 'हेतु' हो उसका 'प्रतिपक्ष', अर्थात् विरुद्ध हेतु, जिससे उस अनुमान के साध्य के विपरीत साध्य की सिद्धि हो जाय, न होना चाहिए। जैसे—

शब्द अनित्य है,

क्योकि वह नित्यधर्म से रहित है। जैसे—घट।

इस अनुमान मे हेतु है 'नित्यधर्म से रहित होना।'

इस अनुमान का 'प्रतिपक्ष' होगा—

शब्द नित्य है,

क्योकि वह 'अनित्यधर्म से रहित है'। जैसे—परमाणु।

जिस किसी अनुमान मे 'हेतु' उक्त नियमो का पालन न करे तो वह हेतु 'असत्-हेतु', अर्थात् **'हेत्वाभास'** (=हेतु के समान देखने मे तो है, किन्तु वास्तव मे हेतु नही है) कहलाता है।

हेत्वाभास

हेत्वाभास के भेद—यह 'हेत्वाभास' पाँच प्रकार का है, जैसे—(१) 'असिद्ध', (२) 'विरुद्ध', (३) 'अनैकान्तिक', (४) 'प्रकरणसम' तथा (५) 'कालात्ययापदिष्ट'।

१—**असिद्ध**—'**असिद्ध**' हेत्वाभास उस अनुमान-वाक्य में है, जिसमें हेतु की वास्तविकता, अर्थात् सचाई अनिश्चित हो। इसके तीन निम्नांकित भेद होते हैं—

(क) **आश्रयासिद्ध** या **पक्षासिद्ध**—हेतु को पक्ष मे रहना उचित है। किन्तु जहाँ पक्ष ही एक काल्पनिक वस्तु हो, वास्तव में उसका अस्तित्व ही न हो, ऐसे पक्ष मे हेतु ही किस प्रकार रह सकता है? इसलिए यहाँ 'पक्ष', जिसे 'आश्रय' (हेतु का आश्रय) भी कहते हैं, असिद्ध है, अर्थात् है ही नही। अतएव यह '**आश्रयासिद्ध**' या '**पक्षासिद्ध**' नाम का 'हेत्वाभास' कहलाता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—आकाश का कमल सुगन्ध वाला है,

हेतु—क्योकि (यह) कमल है।

उदाहरण—जो कमल है, वह सुगन्ध वाला है; जैसे—तालाब में उगने वाला कमल।

यहाँ 'आकाश का कमल' **पक्ष** है, 'सुगन्ध वाला होना' **साध्य** है, '(वह) कमल है', हेतु है और 'तालाब में उगने वाला कमल' **दृष्टान्त** है। हेतु का पक्ष मे रहना आवश्यक है। किन्तु यहाँ 'आकाश का कमल' जो **पक्ष** है, उसी का होना असम्भव है, आकाश में फूल होते ही नही। इसलिए उसमे हेतु का रहना भी एक कल्पनामात्र है और इसी लिए वह सुगन्व वाला भी नही हो सकता।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—मणि से बना हुआ पर्वत आग वाला है,

हेतु—क्योकि उसमें (मणि के पर्वत में) धुआँ है।

उदाहरण—जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है; जैसे—रसोई-घर में।

यहाँ 'मणि से बना हुआ पर्वत' **पक्ष** है, 'आग वाला होना' साध्य है, 'धुआँ का होना' **हेतु** है।

किन्तु 'मणि से बना हुआ पर्वत' वास्तव में है ही नही । वह तो केवल काल्पनिक है। इसलिए 'पक्ष' हेतु का आश्रय नहीं हुआ और यह अनुमान 'आश्रयासिद्ध' नाम के 'हेत्वाभास' से दूषित है।

(ख) **स्वरूपासिद्ध**—जिस अनुमान में हेतु का आश्रय (पक्ष) में रहना सर्वथा असम्भव हो, वह 'स्वरूपासिद्ध' नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,

हेतु—क्योंकि वह (शब्द) आँख से देखा जाता है।

उदाहरण—जो आँख से देखा जाता है, वह अनित्य है, जैसे—घड़ा, पुस्तक, कलम, इत्यादि ।

यहाँ 'शब्द' **पक्ष** है, 'अनित्य होना' **साध्य** है, 'आँख से देखा जाना' **हेतु** है और 'घड़ा' आदि **दृष्टान्त** है। यह सभी को मालूम है कि हेतु, अर्थात् 'आँख से देखा जाना' शब्द, अर्थात् पक्ष में नहीं है, क्योंकि शब्द को कोई भी आँख से नही देखता। वह तो कान से ही सुना जाता है। इसलिए हेतु का स्वरूप ही असिद्ध है। अतएव यहाँ **'स्वरूपासिद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' है।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

प्रतिज्ञा—जलाशय द्रव्य है,

हेतु—क्योकि उसमें (जलाशय में) धुआँ है।

उदाहरण—जहाँ धुआँ है, वहाँ द्रव्य है, जैसे—सुलगती हुई लकड़ी या रसोईघर।

यहाँ हेतु, अर्थात् धुआँ जल में नही है, धुआँ तो आग के साथ रहने के कारण जल मे रह ही नही सकता। इसलिए यह हेतु **'स्वरूपासिद्ध'** है।

तीसरा उदाहरण भी देखिए—

प्रतिज्ञा—आत्मा अनित्य है,

हेतु—क्योंकि वह उत्पन्न होती है।

उदाहरण—जो उत्पन्न होता है, वह अनित्य है, जैसे—पुस्तक, घड़ा, कलम, आदि।

यहाँ 'उत्पन्न होना' हेतु आत्मा मे असम्भव है, क्योकि आत्मा नित्य है। इसलिए हेतु का स्वरूप ही असिद्ध है।

(ग) **'व्याप्यत्वासिद्ध'**—जिस अनुमान मे हेतु का साध्य के साथ 'व्याप्य' (व्याप्त) होना ही असिद्ध हो, वह **'व्याप्यत्वासिद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' है। यह दो प्रकार का है—

एक तो (अ) (हेतु और साध्य के बीच मे) व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव होने से और दूसरा, (आ) हेतु मे **'उपाधि'** के होने से।

(अ) **व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से**—प्रत्येक अनुमान का एक प्रमुख अग है—'व्याप्ति'। हेतु और साध्य मे 'व्याप्ति' का निश्चय होने पर ही अनुमान किया जा सकता है। 'व्याप्ति' का निर्णय करने के लिए एक 'दृष्टान्त' की आवश्यकता होती है। यह दृष्टान्त वही हो सकता है जिसे वादी और प्रतिवादी दोनो ही स्वीकार करे। 'पर्वत आग वाला है, क्योकि उसमे धुआँ है।' इस अनुमान में 'रसोईघर' **दृष्टान्त** है। इसी दृष्टान्त के आधार पर धुआँ और आग मे 'व्याप्ति' का होना निश्चित किया जाता है। इस 'व्याप्ति' के निश्चित करने मे यदि प्रमाण न हो तो वह 'व्याप्ति' अनिश्चित रहेगी और उसके आधार पर अनुमान की भी सिद्धि नही हो सकती है। जैसे—बौद्धमत के मानने वाले अनुमान करें कि—

प्रतिज्ञा—शब्द क्षणिक है, अर्थात् एक ही क्षण रहने वाला है,

हेतु—क्योकि वह सत् है।

उदाहरण—जो सत् है, वह क्षणिक है, जैसे—बादल का एक टुकड़ा।

उपनय—(उपर्युक्त व्याप्ति से युक्त) सत् शब्द मे है।

निगमन—इसलिए शब्द क्षणिक है।

इस अनुमान मे 'सत् होना' हेतु है, 'क्षणिक' साध्य है और 'बादल का एक टुकड़ा' दृष्टान्त है। इसमे 'सत्' और 'क्षणिक' के बीच मे 'व्याप्ति' रहनी चाहिए, जिसे प्रमाणित करने के लिए 'बादल का एक टुकड़ा' के रूप मे एक दृष्टान्त दिया गया है। यहाँ 'दृष्टान्त' वही हो सकता है, जिसमे 'सत् और क्षणिक होना' दोनो का ही रहना सिद्ध हो। किन्तु उक्त दृष्टान्त मे 'सत् और क्षणिक होना' इन दोनो का ही रहना सिद्ध नही है, क्योकि जितनी वस्तुएँ सत्, अर्थात् विद्यमान है, वे तो एक से अधिक क्षणो तक रहनेवाली होती है। फिर वे क्षणिक, अर्थात् एक क्षणमात्र रहने वाली कैसे हो सकती है? यह तो परस्पर विरुद्ध कथन है। दृष्टान्त के अशुद्ध होने के कारण व्याप्ति का निश्चय नही हो सकता और इसलिए अनुमान भी ठीक नही हो सकता। अत उपर्युक्त अनुमान दोष-युक्त है।

(आ) **हेतु में उपाधि के रहने से**—साधारण रूप से सभी अनुमानों मे 'साध्य' व्यापक होता है और 'हेतु', अर्थात् साधन व्याप्य होता है। किन्तु जो साध्य का व्यापक हो अथवा साध्य के साथ-साथ उसी तरह व्यापक (सम-व्यापक) हो तथा हेतु का 'अव्यापक' (व्याप्य) हो, वह **'उपाधि'** कहा जाता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—पर्वत धुआँ वाला है,

हेतु—क्योकि उसमे आग है।

उदाहरण—जहाँ आग है, वहाँ धुआँ है, जैसे रसोईघर मे।

उपनय—(व्याप्ति से युक्त) आग पर्वत मे है,

निगमन—इसलिए पर्वत मे धुआँ है।

इस अनुमान में 'आग' हेतु है और 'धुआँ' साध्य है। अच्छे अनुमान के अनुसार साध्य, अर्थात् धुआँ को, व्यापक तथा हेतु,

अर्थात् आग को व्याप्य होना चाहिए। किन्तु ऐसा यहाँ नही है। धुआँ कभी भी आग की अपेक्षा अधिक स्थानो मे नही रह सकता है। यह सर्वदा आग की अपेक्षा व्याप्य ही रहेगा। अब यह देखना है कि वास्तव मे यह साधन (हेतु) यहाँ साध्य को सिद्ध कर सकता है या नही।

यहाँ 'आग' हेतु है। केवल आग से धुआँ नही होता, किन्तु भीगी लकड़ी से युक्त आग से होता है। यहाँ 'भीगी लकडी' धुआँ का 'प्रयोजक' है, न कि आग। इसलिए 'भीगी लकडी' ही इस अनुमान मे **'उपाधि'** है और जिस अनुमान मे **'उपाधि'** होती है, वह दोषयुक्त अनुमान है।

'भीगी लकडी' धुआँ-रूपी साध्य के साथ-साथ रहनेवाली है। इसलिए यह साध्य-सम (समान) व्यापक है। अर्थात् जहाँ धुआँ है, वहाँ भीगी लकडी है और हेतु है 'आग'। भीगी लकडी इस हेतु का अव्यापक, अर्थात् व्याप्य है। अर्थात् भीगी लकडी की अपेक्षा अधिक स्थानो मे रहनेवाली आग है। इस प्रकार **'उपाधि'** का लक्षण 'भीगी लकड़ी' मे लगता है।

'उपाधि' का दूसरा उदाहरण देखिए—

मैत्री नाम की किसी स्त्री के सातो पुत्रो को श्याम रग का देखकर, मैत्री के वर्तमान आठवे गर्भ के सम्बन्ध मे कोई अनुमान करता है कि—

प्रतिज्ञा—यह (आठवे गर्भ का जीव) श्याम रग का है;

हेतु—क्योकि (यह) मैत्री का पुत्र है।

उदाहरण—जो मैत्री का पुत्र है, वह श्याम रग का है, जैसे—एक यह (दिखाकर) पुत्र।

इस अनुमान मे 'मैत्री का पुत्र' हेतु है। किन्तु मैत्री-पुत्र होने से ही श्याम होना स्वाभाविक नही है। श्याम तो अनेक कारणो से हो सकता है। जैसे—गर्भावस्था मे यदि माता शाक भोजन करे तो उसकी वह सन्तान श्याम रग की होगी। इसके अति-

रिक्त पूर्व-जन्म का कर्म-फल भी श्याम होने का कारण हो सकता है। इसलिए 'शाक आदि अन्न के भोजन का फल' ही यहाँ **'उपाधि'** है। अतएव 'मैत्री का पुत्र' यह हेतु अशुद्ध है और यह अनुमान दोषयुक्त है।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—यज्ञ में की गयी हिंसा अधर्म का साधन है,

हेतु—क्योंकि (वह) हिंसा है।

उदाहरण—जहाँ हिंसा है, वहाँ अधर्म का साधन है, जैसे—यज्ञ के बाहर की गयी हिंसा।

यह नास्तिकों की तरफ से कहा जाता है। इसमें 'हिंसा का होना' हेतु है। 'अधर्म का साधन' है साध्य। यहाँ हेतु अशुद्ध है, क्योंकि 'हिंसा' केवल हिंसा होने ही से अधर्म का साधन नहीं होती, किन्तु 'निषिद्ध' होने से, अर्थात् यज्ञ मे निषिद्ध होने से। *अर्थात् यज्ञ मे निषिद्ध हिंसा का करना अधर्म साधन है।* इसलिए 'हिंसा' और 'अधर्म-साधन' इन दोनो मे कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नही है; किन्तु यह तो 'उपाधि' के होने के कारण है। उपाधि तो 'निषिद्ध का होना' है। इसलिए यह अनुमान दूषित है।

२—**विरुद्ध**—जो हेतु साध्य के विपरीत वस्तु को सिद्ध करे, वह 'विरुद्ध' नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योंकि वह उत्पन्न होता है।

उक्त अनुमान में 'उत्पन्न होना' हेतु है और 'नित्य होना' साध्य है।

यह 'उत्पन्न होना' हेतु 'नित्य'-रूपी साध्य का साधक नहीं हो सकता है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है, वह अनित्य है। इसलिए यह हेतु 'नित्य'-रूपी साध्य के विपरीत 'अनित्य' को सिद्ध करता है। इसलिए यह **'विरुद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' कहा जाता है।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—देवदत्त चलने वाला है,

हेतु—क्योंकि वह एक स्थान से दूसरे स्थान को कभी नही जाता।

यहाँ 'एक स्थान से दूसरे स्थान को कभी नही जाता' हेतु है। यह हेतु 'चलने वाला'-रूपी साध्य के 'विपरीत-साध्य' 'न चलने वाला' का 'हेतु' होता है। इस प्रकार इस अनुमान का हेतु उक्त साध्य के विपरीत-साध्य का साधक होने के कारण **विरुद्ध** नाम का **'हेत्वाभास'** कहा जाता है।

३—**अनैकान्तिक**—इसका दूसरा नाम **'सव्यभिचार'** है। यह तीन प्रकार का होता है—

(अ) **साधारण अनैकान्तिक**—जो 'हेतु' पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष, इन तीनो मे रहे, वह **'साधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' कहा जाता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योंकि वह प्रमेय (प्रमा का विषय) है।

यहाँ 'प्रमेय होना' हेतु शब्द-रूपी 'पक्ष' में है, आकाश-रूपी 'सपक्ष' मे है तथा घट, पट आदि अनित्य द्रव्य-रूपी 'विपक्ष' मे भी है। इस प्रकार यह हेतु **'साधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' है। अच्छे हेतु 'विपक्ष' मे नही रहते।

(आ) **असाधारण अनैकान्तिक**—जो हेतु केवल 'पक्ष' में रहे और 'सपक्ष' तथा 'विपक्ष' मे न रहे, वह हेतु **'असाधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—पृथ्वी नित्य है,

हेतु—क्योंकि (वह) गन्ध रखने वाली है।

यहाँ 'गन्ध रखने वाली होना' हेतु है और 'नित्य होना' साध्य है।

यह 'हेतु' केवल पृथ्वी-रूपी 'पक्ष' में है। नित्यरूपी आकाश आदि 'सपक्ष' मे तथा जल-रूपी अनित्य द्रव्य जो 'विपक्ष' है, उनमें नही रहता, इसलिए यह 'असाधारण अनैकान्तिक' नाम का 'हेत्वाभास' है।

(इ) अनुपसंहारी—जिस हेतु मे न तो अन्वय दृष्टान्त हो और न व्यतिरेक दृष्टान्त हो, वह 'अनुपसंहारी' नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—सभी अनित्य है,

हेतु—क्योकि (वे) प्रमेय है।

इस अनुमान मे 'प्रमेय होना' हेतु है। यहाँ न तो अन्वय-दृष्टान्त है और न व्यतिरेक-दृष्टान्त, क्योकि 'सभी' 'पक्ष' मे सम्मिलित है। दृष्टान्त तो 'पक्ष' से अलग रहने वाला होता है।

४—**प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष**—जिस हेतु मे साध्य के विपरीत को सिद्ध करने का दूसरा हेतु उपस्थित हो, वह 'प्रकरणसम' या 'सत्प्रतिपक्ष' नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,

हेतु—क्योकि इसमें नित्यधर्म नही है।

इस अनुमान में हेतु है 'नित्यधर्म का न रहना'। इसी के अनुसार दूसरा भी हेतु यहाँ कहा जा सकता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योकि इसमे अनित्यधर्म नही है। अथवा जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द नित्य है,

हेतु—क्योकि यह सुनाई देने वाला है। जैसे—शब्दत्व। इसका दूसरा भी हेतु उपस्थित किया जा सकता है। जैसे—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है,

हेतु—क्योकि यह कार्य है, घट के समान।

इस प्रकार के अनुमान मे दोनों हेतु समान बल रखने वाले होते हैं। इसलिए आपस मे प्रतिपक्षी होने के कारण वे अनुमान के फल को नही प्राप्त कर सकते। इस प्रकार यह **'सत्प्रतिपक्ष'** या **'प्रकरणसम'** नाम का 'हेत्वाभास' होता है।

५—**बाधितविषय या कालात्ययापदिष्ट**—वह अनुमान, जिसमें दृढ प्रमाणों के द्वारा पक्ष मे साध्य का होना बाधित हो, अर्थात् सिद्ध न हो, वह **'बाधितविषय'** या **'कालात्ययापदिष्ट'** नाम के 'हेत्वाभास' से दूषित है। जैसे—

प्रतिज्ञा—आग गरम नही है,

हेतु—क्योकि वह उत्पन्न होती है, जैसे—जल।

यहाँ 'उत्पन्न होना' हेतु है। 'गरम न होना' साध्य है। इस साध्य का पक्ष मे होना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। सभी प्रत्यक्ष से जानते हैं कि 'आग' गरम होती है।

इसी प्रकार—

प्रतिज्ञा—घड़ा क्षणिक है;

हेतु—क्योकि वह सत् है।

यहाँ 'सत्' हेतु है और 'क्षणिक' साध्य है। यह साध्य घड़ा-रूपी 'पक्ष' मे नही है। प्रत्यक्ष देख पडता है कि 'घड़ा' एक क्षण से अधिक समय तक स्थिर रहता है। इसलिए इस अनुमान का विषय, अर्थात् साध्य, बाधित है। अतएव यह **'बाधितविषय'** नाम का 'हेत्वाभास' है।

ये ही पाँच प्रकार के 'हेत्वाभास' तर्कशास्त्र में माने जाते हैं।

इन्ही को उलट-पुलट कर देने से इनके कुछ और भी भेद हो जाते हैं।

इसी प्रकार **'अतिव्याप्ति'** (लक्ष्य से अधिक स्थानो मे रहना), **'अव्याप्ति'** (सभी लक्ष्यो में भी न रहना) तथा

'असम्भव' (जिसका लक्ष्य में रहना सर्वथा असम्भव हो), ये तीन दोष 'हेतु' में होते हैं। ये भी इन्हीं हेत्वाभासों के अन्तर्गत हैं।

अतिव्याप्ति—जैसे—

प्रतिज्ञा—यह गाय है,

हेतु—क्योंकि यह पशु है।

यहाँ 'पशु होना' हेतु है और 'गाय' साध्य है। यह हेतु न केवल अपने लक्ष्य 'गाय' में है, किन्तु अन्य जन्तुओं में भी है। इस प्रकार यह 'हेतु' पक्ष, सपक्ष और विपक्ष, सभी में वर्तमान है। इसलिए यह 'साधारण अनैकान्तिक' या 'अतिव्याप्ति' नाम का दोष है।

अव्याप्ति—जैसे—

प्रतिज्ञा—यहाँ गाय है,

हेतु—क्योंकि यह काले रंग की है।

यहाँ 'काले रंग की होना' हेतु है। यह हेतु सभी गायों (लक्ष्यों) में तो नहीं है। बहुत सी 'गायें' सफेद और लाल रंग की भी होती हैं। इसलिए यह हेतु अव्याप्ति दोष से युक्त है। यह एक प्रकार का 'असिद्ध' हेत्वाभास है, जिसे 'भागासिद्ध' कहते हैं और जो 'स्वरूपासिद्ध' में ही परिगणित होता है।

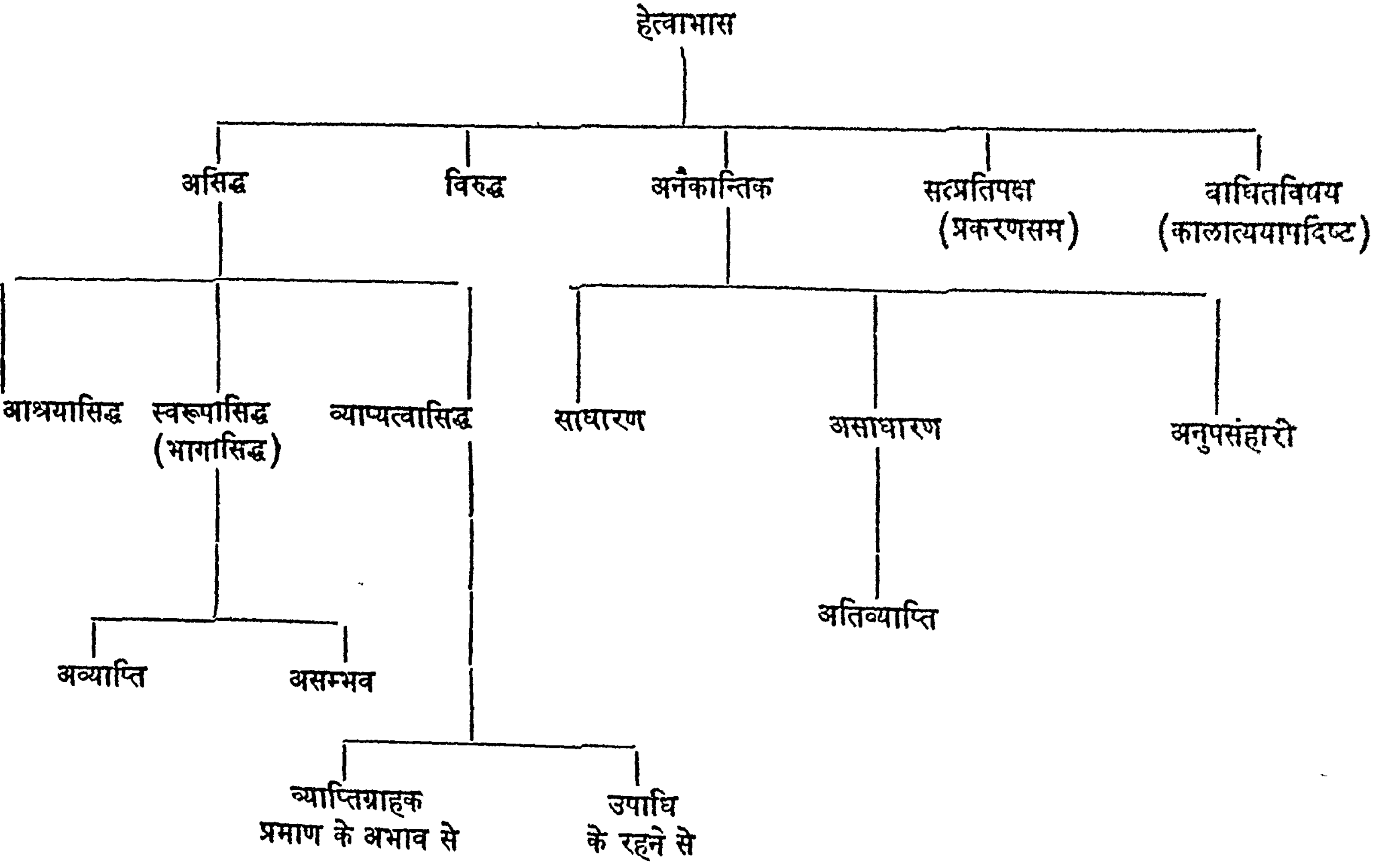
असम्भव—जैसे—

प्रतिज्ञा—यह गाय है,

हेतु—क्योंकि यह एक खुर वाली है।

यहाँ 'एक खुर वाली होना' हेतु है, जो कि किसी भी गाय में नहीं है। गाय के तो प्रत्येक पैर में दो खुर होते हैं। इसलिए यह अनुमान 'असम्भव' नाम के दोष से युक्त है। यह भी 'स्वरूपासिद्ध' नाम का 'हेत्वाभास' है।

हेत्वाभासों का आकार—


हेत्वाभास
असिद्ध
विरुद्ध
अनैकान्तिक
सत्प्रतिपक्ष (प्रकरणसम)
बाधितविषय (कालात्ययापदिष्ट)
आश्रयासिद्ध
स्वरूपासिद्ध (भागासिद्ध)
व्याप्यत्वासिद्ध
साधारण
असाधारण
अनुपसंहारी
अतिव्याप्ति
अव्याप्ति
असम्भव
व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से
उपाधि के रहने से

उपमानप्रमाण

'उपमान' भी एक प्रकार का प्रमाण तर्कशास्त्र मे माना गया है। यह दो मुख्य वस्तुओ के बीच मे विद्यमान साधारण धर्म के आधार पर निर्भर है। किसी सज्ञा शब्द का उससे बोध कराने वाले पदार्थ के साथ सम्बन्ध के ज्ञान को **'उपमान'** कहते है। जैसे—'गवय' नाम के पदार्थ को न जानते हुए, किसी जगली मनुष्य के द्वारा 'गाय' के समान 'गवय' होता है, यह सुन कर वन मे जाने पर जंगली पुरुष के कहे हुए वाक्य को स्मरण कर, गाय के समान एक जन्तु को जगल मे देख कर, 'यही गवय नाम का जन्तु है' ऐसा ज्ञान किसी मनुष्य की आत्मा मे उत्पन्न होता है। इसी ज्ञान को **'उपमिति'** कहते है।

उपमान का स्वरूप

यहाँ गाय और गवय, इन दोनो में जो सादृश्य है, उसी के आधार पर यह 'उपमान' निर्भर है। गवय-रूपी सज्ञा-शब्द को गवय-रूपी जन्तु के साथ सवद्ध करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही ज्ञान **'उपमिति'** है।

शब्दप्रमाण

आप्त पुरुष के वाक्य को 'शब्द', अर्थात् **शब्द-प्रमाण,** कहते है। तत्त्व को यथार्थ देखने वाले या यथार्थ कहने वाले 'आप्त' कहे जाते है। पदो के समूह को 'वाक्य' कहते है, जैसे—गौ को लाओ। जिस शब्द मे किसी सम्वद्ध अर्थ को प्रकाशित करने की शक्ति हो, उसे 'पद' कहते है। 'इस पद से यही अर्थ समझा जाय', इस प्रकार के ईश्वर के सकेत को 'शक्ति' कहते है। शास्त्रकारो का कहना है कि किस शब्द से कौन-सा अर्थ समझना चाहिए, यह सकेत ईश्वर ने ही कर दिया है।

शब्दप्रमाण का स्वरूप

वाक्यार्थबोध के ये नियम है—वाक्य के अर्थ के ज्ञान (**वाक्यार्थबोध**) के लिए वाक्य मे 'आकाक्षा', 'योग्यता' तथा 'सन्निधि' का होना आवश्यक है।

(१) **आकांक्षा**—दूसरे पद के उच्चारण हुए विना जब किसी एक पद का अभिप्राय समझ मे न आवे, तो इन पदो के परस्पर सम्बन्ध को **'आकांक्षा'** कहते है। क्रिया-पद के विना कारक-पद की 'आकाक्षा' है। अर्थात् एक पद के उच्चारण को सुन कर सुनने वाले के मन में जो उसके सम्वन्ध मे अधिक जानने की इच्छा, अर्थात् दूसरे पदो को सुनने की 'आकाक्षा', उत्पन्न होती है, उसे ही **'आकांक्षा'** कहते है।

वास्तव मे यह 'आकाक्षा' तो चैतन्ययुक्त सुनने वाले के मन मे होती है, किन्तु यह पद के उच्चारण और श्रवण के कारण उत्पन्न होती है। इसलिए उपचार से शब्दो को आकाक्षा वाला कहा गया है। जैसे—'देवदत्त' यह सुनकर किसी के मन में देवदत्त के सम्बन्ध मे अधिक जानने की एक इच्छा उत्पन्न होती है—जिसकी पूर्ति पुन दूसरे शब्द के उच्चारण के विना नही हो सकती है। जैसे—'जाता है'। 'जाता है', इस पद को सुनकर वह 'आकाक्षा' निवृत्त हो जाती है, क्योकि इन दोनो पदो से एक सम्वद्ध ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसलिए ये दोनों पद परस्पर 'साकाक्ष' कहे जाते हैं। केवल कारक-पदो से ही कोई अर्थबोध नही होता है। जैसे—पुरुष, गौ, हाथी इत्यादि, क्योकि इन शब्दो मे 'आकाक्षा' नही है।

(२) **योग्यता**—पदो के उच्चारण से उनमे परस्पर अर्थ का बोध होने की शक्ति **'योग्यता'** कही जाती है। जैसे 'आग से भूमि सीची जाती है।' इन शब्दो को सुनकर इनसे उत्पन्न जो एक अर्थ होता है, वह बाधित है, अर्थात् ठीक-ठीक अर्थ ज्ञात नही होता, क्योकि सीचना तो जल से होता है, आग से नही। इसलिए इन शब्दो मे 'योग्यता' नही है और ये शब्द 'प्रमाण' नही हैं, अर्थात् इन शब्दो से कोई सम्बद्ध ज्ञान उत्पन्न नही होता, किन्तु 'पुस्तक लाओ', ऐसा कहने से एक सम्वद्ध अर्थ का बोध होता है, क्योकि इन शब्दो मे 'योग्यता' है। इसलिए विना **'योग्यता'** से युक्त वाक्य से शाब्दबोध नही होता।

(३) **सन्निधि**—अर्थात् समीपस्थ पदो को बहुत विलम्ब के बिना (अर्थात् एक साथ) उच्चारण करना **'सन्निधि'** कही जाती है। इसे ही **'आसत्ति'** भी कहते हैं। किसी आप्तवाक्य के द्वारा एक सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान 'शब्द-प्रमाण' से होता है। इसलिए यदि एक किसी वाक्य का एक शब्द प्रात-काल, दूसरा शब्द मध्याह्न मे और तीसरा शब्द सायकाल को उच्चारण किया जाय, तो उस वाक्य से कोई सम्बद्ध अर्थ का बोध नही हो सकता। किन्तु यदि वे ही पद विना विलम्ब के एक साथ उच्चारण किये जायँ, तो एक सम्बद्ध अर्थ का बोध हो जायगा, जैसे—'देवदत्त एक गाय लाता है।' ये सभी पद एक साथ उच्चारण किये जाने पर सम्बद्ध अर्थ देते हैं, अन्यथा नही। इसलिए **'सन्निधि'** भी शाब्दबोध मे आवश्यक है।

(४) **तात्पर्यज्ञान**—इन तीनों के अतिरिक्त 'तात्पर्यज्ञान' भी पदो से एक सम्बद्ध अर्थ का बोध कराने मे कारण होता है। जैसे—भोजन करते हुए कोई मनुष्य '**सैन्धव** ले आओ' ऐसा कहे, तो जब तक सुनने वाले को उन शब्दो का **तात्पर्य** मालूम न हो, तब तक वह ठीक-ठीक यह अर्थ नही समझ सकता कि बोलने वाला 'सैन्धव' 'नमक' चाहता है, क्योकि दाल मे नमक की कमी है या 'सैन्धव', अर्थात् सिन्धु देश का घोड़ा, लाने को कहता है, जिसमे भोजन कर शीघ्र किसी आवश्यक कार्य के लिए घोड़े पर जाया जा सके। यह निश्चय तो तभी किया जा सकता है, जब सुनने वाला बोलने वाले का '**तात्पर्य**' समझ सके।

पदों से सम्बद्ध अर्थ के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ये चार बातें आवश्यक है। इनके बिना शाब्दबोध नही होता।

वाक्य दो प्रकार के माने गये है—(१) लौकिक एव (२) वैदिक। **लौकिक वाक्य** यदि आप्तो के मुख से निकले, तब तो प्रमाण है, अन्यथा अप्रमाण है, क्योकि लोक मे सभी आप्त हो नही सकते। **वेद-वाक्य** तो ईश्वर-प्रणीत है और ईश्वर सर्वदा आप्त है। इसलिए वेद-वाक्य सभी प्रमाण है।

वाक्यों के भेद

ये चार प्रमाण तर्कशास्त्र मे माने जाते है। इन्ही के द्वारा सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होने से ही तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है और तभी दु खों से सब दिन के लिए मुक्ति मिलती है। यही दु खो की चरम समाप्ति या परम सुख की प्राप्ति तर्कशास्त्र का परम ध्येय है। इसी के लिए प्रमाणो का ज्ञान आवश्यक है।

विचारणीय विषय है कि ये '**प्रमाण**' अपने 'प्रामाण्य' के लिए निरपेक्ष है अथवा किसी दूसरे पर निर्भर होते है। नैयायिको का कहना है कि जब हमे दूर से जलाशय के चिह्न देख पड़ते है, तब वहाँ जल है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान हमें होता है और तब जल लाने के लिए हम वहाँ जाते है। वहाँ जाकर यदि हमे जल मिलता है, तब पूर्व मे उत्पन्न हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चित माना जाता है। अर्थात् प्रमाण स्वय प्रामाण्य का निर्णय नही करता है, वह अपने प्रामाण्य के लिए दूसरे प्रमाण पर निर्भर रहता है। अतएव ये लोग '**परतः प्रामाण्यवादी**' है।

प्रमाणों का प्रामाण्य

इसके विरुद्ध मे मीमासको का कहना है कि जब हमारे चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होता है, तब वह घट 'ज्ञात' होता है और उस पर 'ज्ञातता' नाम का एक

धर्म उत्पन्न होता है। इस 'ज्ञातता' का प्रत्यक्ष मीमासक को होता है। अब वे विचार करते है कि 'ज्ञातता' धर्म की उत्पत्ति के पूर्व 'ज्ञात' और 'ज्ञान' अवश्य हुआ होगा। तस्मात् 'अर्थापत्ति' प्रमाण से 'ज्ञातता' के द्वारा उन्हे 'घट' का ज्ञान होता है। इसी ज्ञातता के द्वारा उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय होता है। अतएव जिससे ज्ञान का ज्ञान हो तथा उसी से उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान हो तो वह ज्ञान **'स्वतःप्रमाण'** माना जाता है।

नैयायिक लोग 'ज्ञातता' को **'विषयता'** से पृथक् कोई धर्म नही स्वीकार करते और इसीसे 'ज्ञातता' को भी स्वीकार नही करते। कदाचित् स्वीकार भी किया जाय तो नैयायिको का कहना है कि प्रत्येक ज्ञान के लिए एक 'ज्ञातता' की आवश्यकता है, तस्मात् 'ज्ञातता' के ज्ञान के लिए भी एक दूसरी 'ज्ञातता' की अपेक्षा है। इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। अत **परतः प्रामाण्य** ही मानना उचित है।

कार्य-कारणभाव

भारतीय दर्शन मे कार्य-कारणभाव का विचार बहुत प्राचीन है। इसके सम्बन्ध मे अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार दार्शनिको ने भिन्न-भिन्न रूप से समय-समय पर विचार किया है। इस सम्बन्ध मे विचारणीय विषय है—कार्य और कारण मे क्या सम्बन्ध है? 'कार्य' कारण मे ही अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है या सर्वथा कारण से भिन्न है और इसकी नयी उत्पत्ति होती है?

दर्शनों मे इन प्रश्नो पर भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार किया गया है। न्यायमत मे अपने दृष्टिकोण के अनुसार स्वभावत. कार्य और कारण मे **'अत्यन्त भेद'** है।

असत्कार्य-वाद

इनके मत में 'कार्य' 'कारण' से सर्वथा भिन्न है। वह किसी रूप मे कारण मे नही रहता। उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का 'प्रागभाव' कारण मे है तथा नाश होने के पश्चात् उसका 'ध्वसाभाव' हो जाता है। परन्तु यह सत्य है कि 'कार्य' 'समवाय-सम्बन्ध' के द्वारा कारण मे सदैव रहता है। 'समवाय-सम्बन्ध' नित्य है। तस्मात् जब कभी कार्य उत्पन्न होता है, तब वह 'समवाय-सम्बन्ध' से अपने 'समवायि-कारण' मे ही उत्पन्न होता है, अन्यत्र नही। इस रहस्य के कारण को नैयायिक नही कह सकते। यह उनके क्षेत्र से बाहर की बात है। वे तो इतना ही कह सकते है कि यह उन दोनो वस्तुओ का अपना 'स्वभाव' है। घट जब कभी उत्पन्न होता है, तब वह मृत्तिका मे ही उत्पन्न

होता है। यह घट और मृत्तिका का अपना 'स्वभाव' है। अतएव ये लोग एक प्रकार से कार्य को अपने समवायि-कारण के साथ नित्य रूप में सम्बद्ध मान कर भी उससे कार्य को सर्वथा भिन्न मानते हैं, अर्थात् इनके मत में कारण और कार्य का सम्बन्ध 'अभेद-सहिष्णु अत्यन्तभेद' है। इसी कारण ये लोग 'असत्कार्यवादी' भी कहलाते हैं।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि चार्वाकों की तरह नैयायिक लोग भी किसी न किसी अवस्था में 'स्वभाव' की ही शरण लेते हैं। यह तो न्यायमत का दौर्बल्य है, या उसके दृष्टिकोण का फल है कि उत्पत्ति के पूर्व तथा पश्चात् 'कार्य' का अभाव मानते हैं और कारण से अत्यन्त भिन्न होने पर भी 'कार्य' अपने 'समवायि-कारण' से एक नित्यसम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध भी है। यह न्याय के लिए अवश्य रहस्य-पूर्ण है, जिसका समाधान वे नहीं कर सकते। अस्तु, इस बात को ध्यान में रख कर ही हम कारण का विचार यहाँ करते हैं।

कारण का लक्षण

तत्त्व को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस तत्त्व के कारण को भी समझें। विना 'कारण' का कोई भी 'कार्य' संसार में नहीं हो सकता। प्रत्येक कार्य के लिए कोई न कोई कारण अवश्य होता है। किसी कार्य के होने के ठीक पहले नियत रूप से जिसका सदैव रहना हो और जो 'अन्यथासिद्ध' न हो, उसे ही **'कारण'** कहते हैं। जैसे—कपड़े को बुन कर तैयार होने के ठीक पहले नियत रूप से रहने वाला 'सूत', बुनने वाला 'जुलाहा' या 'यन्त्र', आदि उस कपड़े के **'कारण'** हैं। इसी प्रकार 'मिट्टी' घड़े का 'कारण' है। अनियत रूप से पहले रहने के कारण मिट्टी को लाने वाला 'बैल या गदहा', जिसका रहना अनियत है, उस घड़े का 'कारण' नहीं हो सकता है।

अन्यथासिद्ध के उदाहरण

मिट्टी के साथ-साथ नियत रूप से रहने वाला 'लाल या पीला' मिट्टी का रंग घड़े के पूर्व में नियत रूप से रहने वाला 'कुम्हार का पिता' आदि घड़े के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि इनके विना भी घड़े की उत्पत्ति हो सकती है। जिसके न रहने पर भी कार्य हो सके, वह 'कारण' नहीं कहा जा सकता। उसे न्यायशास्त्र में **'अन्यथासिद्ध'** कहते हैं। जैसे—घड़ा बनाने के लिए चाक को चलाने वाले दण्ड का 'रूप' तथा दण्ड में रहने वाला 'दण्डत्व सामान्य', इत्यादि। इन सबके न रहने पर भी घड़ा बन जाता है। अर्थात् जिस कार्य की उत्पत्ति के लिए जिसका नियत रूप से पहले रहना नितान्त आवश्यक हो, जिसके न रहने से वह कार्य उत्पन्न ही न हो सके और जो अन्यथासिद्ध न हो, वही **'कारण'** है।

कारण के तीन भेद हैं—(१) समवायि-कारण, (२) असमवायि-कारण तथा (३) निमित्त-कारण। **'समवायि-कारण'** वह कारण है जिस मे समवाय-सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो। जैसे—सूतो मे 'समवाय-सम्वन्व' से कपडा उत्पन्न होता है। अतएव 'सूत कपडे का 'समवायि-कारण' हुआ। कपड़ो में समवाय-सम्वन्ध से (कपड़े का) 'रूप' उत्पन्न होता है। अतएव कपडा अपने 'रूप' का 'समवायि-कारण' है।

कारण के भेद

सम्बन्ध का विचार

सम्वन्ध दो प्रकार के है—सयोग तथा समवाय। दो भाव-द्रव्यो के परस्पर मिलन को सयोग-सम्वन्ध कहते हैं। जैसे—हाथ और कलम का, पुस्तक और मेज का परस्पर एकत्रित होना **'संयोग-सम्बन्ध'** कहा जाता है।

संयोग-सम्बन्ध

वैशेषिक-दर्शन मे पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन, ये नौ 'द्रव्य' है। इन्ही द्रव्यो मे परस्पर सम्बन्ध होने से 'सयोग' हो सकता है। यह सम्वन्ध अनित्य है।

द्रव्य के भेद

जिन दो पदार्थो मे से एक ऐसा हो कि जब तक वह विद्यमान रहे, अर्थात् नष्ट न हो जाय, तब तक वह दूसरे के ही आश्रित होकर स्थित रहे, वे दोनो पदार्थ **'अयुतसिद्ध'** कहे जाते है और इन अयुतसिद्धो मे **'समवाय-सम्बन्ध'** होता है। जैसे—घटा और उसका रूप। 'रूप' जब तक रहेगा, तब तक वह 'घडे' का आश्रित होकर ही रहेगा, अन्यथा नही। 'घडे' के बिना उस घडे का 'रूप' साधारण अवस्था मे नही रह सकता।

अयुतसिद्ध और समवाय-सम्बन्ध

नैयायिको ने निम्नलिखित जोडो को **'अयुतसिद्ध'** कहा है—

(१) अवयव और अवयवी, (२) गुण और गुणी, (३) क्रिया और क्रियावान्, (४) जाति और व्यक्ति तथा (५) नित्य-द्रव्य और विशेष। इनके प्रत्येक जोडे मे परस्पर 'समवाय-सम्बन्ध' है।

(१) **अवयव और अवयवी**—जितनी कार्य-वस्तुएँ है, सभी मे अनेक भाग होते है, जो उस कार्य-वस्तु के **'अवयव'** कहे जाते है, जैसे—कपड़े मे अनेक 'सूत' है। वे सभी 'सूत' उनसे उत्पन्न होने वाले कपडे के **अवयव** कहे जाते है, और इन अवयवो से जो वस्तु बने, वह **'अवयवी'** कही जाती है,

स्वेदज—जिनकी उत्पत्ति पसीने से तथा गर्मी से हो, जैसे, यूका, खटमल, आदि ।

उद्भिज्ज—वनस्पति के शरीर को ये नही मानते । इसमे कोई प्रमाण उन्हे नही मिलता ।[1] इनके मत मे 'शरीर' केवल पार्थिव ही होता है । अपार्थिव तथा अयोनिज शरीर ये नही मानते । प्रत्येक शरीर मे 'मन' तथा 'त्वक्', ये दोनों इन्द्रियाँ रहती है ।[2]

भाट्ट मत के विरुद्ध ये लोग 'मन' को परमाणुरूप मानते है । यदि वह 'विभु' हो तो 'आत्मा' और 'मन', इन दोनो का 'सयोग' नित्य हो जायगा । 'मन' मे वेग होता है । यह 'ज्ञान' का कारण है । आत्मा और मन का सयोग धर्म और अधर्म का कारण होता है ।[3]

भट्ट मत

इन्द्रिय—**इन्द्रियाँ** ज्ञान का कारण है । इन्द्रियाँ पाँच है । ये भौतिक है । 'चक्षु इन्द्रिय' तैजस है । इससे 'रूप' का ज्ञान होता है । दीपक के समान यह इन्द्रिय छोटी-बडी सभी वस्तुओ को ग्रहण करती है ।

'घ्राण-इन्द्रिय' पार्थिव है । यह 'गन्ध' की ग्राहक है । यह सयोग के द्वारा गन्ध की ग्राहक है । वायु के द्वारा गन्ध घ्राणेन्द्रिय तक आती है, घ्राणेन्द्रिय के साथ 'गन्ध' का 'सयोग' होता है और तब उसका ज्ञान होता है ।

'रसनेन्द्रिय' जलीय है । इसके द्वारा 'रस' का ज्ञान होता है ।

'त्वगिन्द्रिय' वायवीय है । इसके द्वारा 'स्पर्श' का ज्ञान होता है ।

'श्रोत्रेन्द्रिय' दिक् है । इससे 'शब्द' का ज्ञान होता है ।

'मन' अन्तरिन्द्रिय है । यह भी 'भौतिक' है । उपनिषद् ने भी 'मन' को 'भौतिक' माना है । परन्तु शास्त्रदीपिकाकार ने यह भी कहा है कि 'मन' पृथिवी आदि भूतो के स्वरूप का है अथवा भौतिक से विलक्षण भी हो सकता है ।[4] इससे स्पष्ट है कि बाद को इन लोगो ने वैदिक-मत से भिन्न मत का अवलम्बन किया ।

---

[1] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५० ।

[2] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५० ।

[3] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ५२ ।

[4] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३६ ।

यह 'मन' स्वतन्त्र रूप से आत्मा और उसके गुणो का ग्राहक है। वाह्य वस्तुओं का ज्ञान वहिरिन्द्रियों के द्वारा मन और आत्मा के सयोग से होना है।[1]

ईश्वर या परमात्मा

जगत् का कर्ता कोई **'ईश्वर'** है—इस मत को शवर ने स्वीकार नही किया, क्योकि इसे मानने मे कोई भी प्रमाण नही है। नैयायिको की तरह वेद के रचयिता के रूप मे भी 'ईश्वर' को शवर ने नही स्वीकार किया।

ईश्वर का निराकरण

कुमारिल 'प्रलय' और 'सृष्टि' नही मानते, अतएव सृष्टि के कर्ता के रूप मे या परम्परा के सम्वन्व को एक सृष्टि से दूसरी सृष्टि में क्रमवद्ध रखने के लिए एक सर्वज्ञ चेतन **'ईश्वर'** को यह नही मानते। कुमारिल का कहना है कि 'सर्वज्ञ' तो कोई हो ही नही सकता। वस्तुत मीमासको को **'ईश्वर'** को मानने की आवश्यकता ही नही मालूम पड़ी। अतएव वे **'ईश्वर'** के अस्तित्व को नही मानते।

वाद के कुछ विद्वानो ने जगत् के स्रष्टा के रूप मे तो **'ईश्वर'** को नही माना, किन्तु फिर भी **'ईश्वर'** को माना है। इसका कारण लौकिक व्यवहार छोड़ कर और क्या हो सकता है? प्रभाकर भी इस मत से सहमत है।[2]

अव विचारणीय है कि शवर तथा भट्ट ने **'परमात्मा'** को स्वीकार किया है या नही? मालूम तो ऐसा पड़ता है कि कुमारिल के मन मे **'परमात्मा'** के अस्तित्व का पूर्ण विश्वास था, किन्तु मीमासा मे उन्हे उसके सम्बन्ध मे विचार करने का कोई प्रयोजन ही नही हुआ। अतएव **'परमात्मा'** का भी कोई स्थान भट्टमत मे नही है। यही कारण था कि कुमारिल ने स्पष्ट कहा है कि परमात्मा के सम्वन्ध मे जानने के लिए वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।[3]

परमात्मा

---

[1] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ २१-२२।

[2] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १३७-४०।

[3] इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च वोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥—
श्लोकवार्त्तिक—आत्मवाद, १४८।

मीमासक के मत मे 'ईश्वर' और 'परमात्मा' दो है या एक, यह कहना कठिन है, क्योकि इनका विचार ही इस शास्त्र मे नही है, फिर उनके स्वरूप का ज्ञान कैसे हो ?

नैयायिको की तरह मीमासक भी शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न 'आत्मा', अर्थात् 'जीवात्मा' की सत्ता मानते है। यह एक द्रव्य है। वेद मे कहा है कि यज्ञ के

जीवात्मा

अनन्तर **'यजमानः स्वर्गलोकं याति'**, अर्थात् यजमान स्वर्गलोक को जाता है। यजमान का शरीर तो मरने पर यही दग्ध हो जाता है। अतएव शरीर तो स्वर्ग को नही जाता, फिर जो जाता है वही है 'जीवात्मा'। इसी प्रकार 'वह इस जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होता है'—इस कथन से भी स्पष्ट है कि मुक्त होने वाला शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न एक कोई है, जो नित्य है, जिसका नाश नही होता, जो इस लोक से परलोक को जाता है। वही है 'जीवात्मा'।[1] 'आत्मा' मे ज्ञान का उदय होता है, किन्तु स्वप्नावस्था मे विषय के न होने पर 'आत्मा' में ज्ञान नही रहता। इस प्रकार यह जड़ और बोध स्वरूप भी है।

यह नित्य है। इसका नाश नही होता। वस्तुत यही 'कर्ता' और 'भोक्ता' है। यह विभु है, क्योंकि यह 'अहं' भाव के रूप मे सर्वत्र विद्यमान (अहं-प्रत्यक्षगम्य) है। यह 'शुद्ध ज्ञान'-स्वरूप है और देश तथा काल से अपरिच्छिन्न है।[2] यही ज्ञाता है।[3] यह एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। भिन्न-भिन्न अनुभव के कारण एक शरीर मे एक ही 'आत्मा' होती है और वह दूसरे शरीर मे रहने वाली 'आत्मा' से भिन्न है। अतएव् अनेक 'जीवात्मा' है। अनेक मानने से ही बद्ध और मुक्त की भी व्यवस्था हो सकती है, अन्यथा एक के मुक्त होने से सभी को मुक्त मानना पड़ेगा।[4] वह स्वानुभवगम्य भी है,[5] अतएव उसे मानसप्रत्यक्षगम्य कहा गया है।

यह ज्ञान से भिन्न होकर भी हमे ज्ञान के ही द्वारा बोधगम्य होता है। 'अहं'

प्रभाकर

(मैं) इस ज्ञान के द्वारा सर्वत्र और सर्वदा इसका बोध हमें होता है। यह स्वप्रकाश नही है।

---

[1] श्लोकवार्त्तिक, आत्मवाद, १-५; शास्त्रदीपिका, १-१-५।

[2] तन्त्रवार्त्तिक; शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १२३, निर्णयसागर-संस्करण।

[3] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १२३।

[4] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १२४-२५।

[5] श्लोकवार्त्तिक, आत्मवाद १-५।

प्रभाकर का कहना है कि 'जीवात्मा' भोक्ता है, 'शरीर' भोगायतन है, 'इन्द्रिय' भोग-साधन है और 'सुख-दु ख तथा पृथिवी' आदि भोग्य हैं। जीव, शरीर, इन्द्रिय, भोग्य तथा ज्ञाता, इन पाँचो के रहते ही 'ज्ञान' होता है और वस्तुत. समस्त जगत् इन्ही पाँचो मे समवेत है।

मुक्ति का स्वरूप

तीन प्रकार से प्रपञ्च, अर्थात् संसार मनुष्य को बन्धन मे डालता है। अर्थात् भोगायतन 'शरीर', भोग-साधन 'इन्द्रियाँ' तथा शब्द, स्पर्श, रूप, आदि भोग्य 'विषय', इन तीनो के द्वारा मनुष्य सुख तथा दु ख के विषय का साक्षात् अनुभव करता हुआ अनादि काल से 'बन्धन' मे पड़ा रहता है। इन्ही तीनो का आत्यन्तिक नाश होने से ही 'मुक्ति' मिलती है। तस्मात् इनके आत्यन्तिक नाश को ही भाट्टमत मे 'मोक्ष' कहा गया है।

भाट्टमत

पूर्व में उत्पन्न शरीर, इन्द्रियाँ तथा विषयो का नाश एव भविष्यत् काल मे होने वाले शरीर, इन्द्रिय तथा विषयों का पुन. न होना ही 'आत्यन्तिक नाश' कहा जाता है। पश्चात् सुख तथा दु:ख से रहित होकर 'मुक्त पुरुष' स्वस्थ हो जाता है, अर्थात् ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा सस्कार से रहित होकर 'पुरुष' अपने स्वरूप में स्थित रहता है, अर्थात् ज्ञान-शक्ति, सत्ता, द्रव्यत्वादि से सम्पन्न रहता है।

पूर्व-जन्म के कर्मों से उत्पन्न धर्म तथा अधर्म के फल का उपभोग करने से उन धर्माधर्मों का नाश हो जाता है।[1] इनका नाश होने पर सुख तथा दु:ख का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार पूर्व-जन्म के बन्धनो से पुरुष मुक्त हो जाता है। काम्य कर्मों के परित्याग से भविष्य मे धर्माधर्म तथा उनसे होने वाले सुख-दु ख भी नही उत्पन्न होते। वेद-विहित कर्मों के करते रहने से तथा निषिद्ध कर्मों के परित्याग से नवीन शरीर आदि तो होते नही, अत पूर्व-शरीर का नाश होने पर पुरुष अपने स्वरूप मे मुक्त होकर स्थित

मुक्ति-प्राप्ति की प्रक्रिया

---

[1] नित्यकर्म, अर्थात् 'सन्ध्योपासन आदि', जिसके करने से कोई पुण्य न हो, किन्तु न करने से पाप हो, तथा नैमित्तिक कर्म को करते रहने से और आत्मज्ञान को प्राप्त करने से धर्माधर्म का नाश नहीं हो सकता, इन दोनों में विरोध है। उनका नाश केवल भोग से ही होता है, यह भाट्टमत है—शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १३०।

रहता है। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि भट्ट मीमांसक के मत मे 'प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलय' को ही 'मोक्ष' कहते है। मोक्षावस्था में जीव मे न गुण है, न आनन्द है और न ज्ञान है—

'तस्मात् निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्ष.'[1]

एक बात और ध्यान मे रखनी है कि मुक्तावस्था में पुरुष के शरीरादि तो रहता नही, मन के साथ सम्बन्ध भी नही रहता, फिर किस प्रकार मुक्त जीव को आत्म-ज्ञान हो सकता है? शरीर, मन आदि साधन के बिना आत्मा भी अपने को नही जान सकती। अतः मोक्ष की अवस्था मे जीव मे 'आत्मज्ञान' नही है, किन्तु 'ज्ञानशक्तिमात्र' जीव मे अवश्य रहती है। 'ज्ञान-शक्ति' का लोप कभी भी नही होता। साथ ही साथ उसकी सत्ता तथा द्रव्यत्व आदि धर्म तो उसमें रहते ही है। यही वस्तुत. आत्मा का निजी स्वरूप है, जिसमे वह मोक्ष में स्थित रहती है—

मुक्त जीव को आत्म-ज्ञान नहीं होता

'यदस्य स्वं नैजं रूपं ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते'[2]

एक बात और स्मरण रखनी है कि आत्मज्ञान से मुक्ति मिलती है, किन्तु भट्टमत मे नित्य और नैमित्तिक कर्मो का अनुष्ठान होता ही रहता है। केवल काम्य और निषिद्ध कर्मो का परित्याग करना पडता है। मुक्ति का साक्षात् कारण ज्ञान नही है, किन्तु ज्ञान होने से जीव की प्रवृत्ति मोक्ष की तरफ हो जाती है तथा पूर्व-जन्म के धर्मा-धर्म का भोग के द्वारा नाश होने पर जीव पुनः शरीर धारण नही करता।

धर्म तथा अधर्म का नि शेष रूप से नाश होने से देह के आत्यन्तिक नाश को ही प्रभाकर 'मोक्ष' कहते है। वस्तुत. धर्माधर्म के वशीभूत होकर जीव नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। धर्माधर्म का नाश होने से, इनसे उत्पन्न देह, इन्द्रिय, आदि के सम्बन्ध से सर्वथा रहित होकर जीव सासारिक दु ख के बन्धनो से छुटकारा पाने पर 'मुक्त' होता है।

प्रभाकरमत

---

[1] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १२५-३०।

[2] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १३०।

मुक्ति को प्राप्त करने के लिए सासारिक दु खो से जीव उद्विग्न हो जाता है। दु ख-मिश्रित सुख से भी वह पराङमुख हो जाता है। वास्तविक परिशुद्ध सुख तो संसार में है नही। वाद को मुक्ति के लिए वह तत्पर होता है। पश्चात् ससार मे अभ्युदय देने वाले, बन्धन के साधन रूप, निषिद्ध तथा पाप के हेतुभूत कर्मो का परित्याग करने पर, पूर्व-जन्म मे किये हुए कर्मो के फलस्वरूप धर्माधर्म के फल का भोग के द्वारा नाश करने पर भी योगशास्त्र मे प्रतिपादित शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि योगाङ्गो के पालन द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान के द्वारा, नि.शेप कर्म के आशय से, अर्थात् धर्माधर्म-सस्कारों का नाश करने से ही जीव मुक्त होता है।[1] वह पुन ससार मे नही आता।

मुक्ति की प्रक्रिया

मुक्तावस्था मे जीव की सत्तामात्र रहती है। जो सत् और अकारण है, वही अविनाशी है। यह 'आत्मा' सत् और अकारण है। यह विभु है, क्योकि इसके गुण सर्वत्र विद्यमान है।[2]

उपर्युक्त बातो से यह सिद्ध होता है कि भट्टमत मे कर्मफलो के उपभोग से धर्माधर्म का क्षय होता है, किन्तु प्रभाकर का कहना है कि केवल उपभोग से ही क्षय नही होता, किन्तु शम, दम, ब्रह्मचर्य, आदि योगाङ्गो के पालन के द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान भी धर्माधर्म के नाश के लिए आवश्यक है।[3]

भाट्ट और गुरुमत में मोक्ष

भट्टमत में प्रपञ्च-सम्बन्ध का विलय ही 'मोक्ष' है, किन्तु प्रभाकर के मत मे धर्माधर्म के निःशेष नाश से उत्पन्न देह का आत्यन्तिक उच्छेद ही 'मुक्ति' है।

इस प्रकार दोनो मतो मे स्थूल दृष्टि से भेद देखने मे आता है, किन्तु वस्तुत. भेद नही है। भट्टमत मे शरीर आदि तीनो सम्बन्धो का आत्यन्तिक नाश—'त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः'[4] तथा प्रभाकरमत मे देह का आत्यन्तिक उच्छेद—'आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्षः'[5]—'मोक्ष' है। एक मे शरीर के

---

[1] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५४-१५७।

[2] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५७।

[3] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५६, काशी-संस्करण।

[4] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १२५।

[5] प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५६।

सम्बन्ध का विलय, दूसरे मे शरीर का उच्छेद। वस्तुत. शरीर के उच्छेद से सम्बन्ध का उच्छेद तो होगा ही।

प्रमाण-विचार

धर्म

मीमासा का मुख्य विषय है **'धर्म'**। जैमिनि ने 'धर्म' का लक्षण **'चोदनालक्षणो धर्मः'**[1] किया है। इस धर्म को जानने के लिए एक मात्र प्रमाण है—'वेद'। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से 'धर्म' का ज्ञान नही हो सकता। इसी प्रसंग मे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो का विचार मीमांसाशास्त्र में किया गया है। प्रसंगत· यहाँ पर भी उनका विचार किया जाता है।

प्रमाण का लक्षण

भाट्टमत

'यथार्थ अनुभव' को मीमासक लोग भी **'प्रमा'** कहते है। 'स्मृति' तथा 'संशय' आदि को 'प्रमा' नही मानते। अतएव अज्ञात तत्त्व के अर्थज्ञान को 'प्रमा' कहा है। इस अनधिगत अर्थ के ज्ञान को उत्पन्न करने वाला करण **'प्रमाण'** है। इसी को शास्त्रदीपिका मे कहा है—

'कारणदोषवाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्'[2]

अर्थात् जिस ज्ञान मे अज्ञात वस्तु का अनुभव हो, अन्य ज्ञान से वाधित न हो एवं दोष-रहित हो, वही **'प्रमाण'** है।

प्रमाण के भेद—भाट्टमत मे 'प्रमाण' के छ. भेद है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि या अभाव।

प्रत्यक्ष तथा अनुमान

प्रत्यक्ष तथा **अनुमान** के लक्षण एवं प्रक्रिया को साधारण रूप से न्यायशास्त्र के समान ही इन्होने माना है, तथापि प्रक्रिया मे कुछ भेद है। जैसे—न्याय-वैशेषिक में छ· प्रकार के 'सन्निकर्ष' होते है। भट्ट ने केवल 'संयोग' तथा 'सयुक्त-तादात्म्य', दो ही सन्निकर्ष माने है। इनके मत मे 'समवाय' सम्बन्ध नही होता। इसी प्रकार अनुमान की प्रक्रिया मे न्याय के समान 'पञ्चावयव' वाक्य न मान कर 'प्रतिज्ञा', 'हेतु' तथा

---

[1] **'चोदना' अर्थात् योग आदि क्रिया में प्रवृत्ति कराने वाला वेद का विध्यर्थक वाक्य के द्वारा लक्षित अर्थ ही 'धर्म' है।**

[2] **पृष्ठ ४५।**

'दृष्टान्त' अथवा 'दृष्टान्त', 'उपनय' एवं 'निगमन', इन्ही 'तीन' वाक्यो को 'अवयव' माना है।

जैमिनि के 'प्रत्यक्ष' लक्षण मे, जिसको भट्ट ने भी स्वीकार किया है, 'अव्यापकत्व' दोष देकर प्रभाकर ने उसे अलक्षण कहा है और उसे अस्वीकार किया है।

प्रभाकरमत

प्रभाकर के मत मे 'स्मृति' से भिन्न 'सवित्' ही 'अनुभूति' है और वही **प्रमाण** है। सस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान **'स्मृति'** है। **'स्वप्न'** भी स्मृति ही है तथा **'संशय'** भी **'स्मृति'** ही है। 'स्मृति' यथार्थ होने पर भी 'प्रमाण' नही है। सभी **'ज्ञान' यथार्थ** है, किन्तु **'अनुभूति'** ही **'प्रमाण'** है।[1]

प्रमाण—पाँच प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति तथा शब्द।

'साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्'—साक्षात् उत्पन्न 'ज्ञान' ही 'प्रत्यक्ष' है।[2] प्रभाकर का कहना है कि प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में 'मेय', 'माता' तथा 'प्रमा', ये तीनो रहते हैं। अर्थात् प्रत्येक प्रत्यक्ष-ज्ञान के स्वरूप मे, जैसे—मैं घट को जानता हूँ, 'घट', 'मैं' तथा 'ज्ञान', इन तीनो का साथ-साथ भान होता है। इसी को वह **'त्रिपुटी-प्रत्यक्ष'** कहते हैं। 'मैं' आत्मा का प्रतीक है। इसके भान के बिना किसी वस्तु का ज्ञान नही होता। 'अह' (मैं) को लगाये बिना कोई भी प्रतीति नही होती। 'वह जानता है' (स जानाति) ऐसी प्रतीति कभी नही होती। 'मेय' और 'माता' से प्रतीति भिन्न होती है, किन्तु 'प्रमा' से भिन्न नही होती। वह तत्स्वरूपा होती है। 'मेय' और 'माता' की प्रतीति एक तरह की है। इनकी प्रतीति अपने लिए प्रकाश की अपेक्षा करती है, किन्तु 'प्रमा' 'स्वय प्रकाश' स्वरूप है। उसकी प्रतीति स्वय होती है। यही कारण है कि सुषुप्ति मे 'मेय' और 'माता', प्रकाशात्मक न होने के कारण, नही प्रकाशित होते। उनको प्रकाश मे लाने के लिए दूसरे की अपेक्षा होती है, किन्तु प्रमा तो 'स्वय प्रकाश' है, इसलिए उसे प्रकाश मे आने के लिए दूसरे की सहायता नही लेनी पड़ती है।[3] प्रत्यक्ष ज्ञान मे 'मेय' और 'माता' का भान तो अवश्य होता है, किन्तु उनके भान के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता होती है। ये 'स्वत· प्रकाश' नही है। 'मिति' मात्र 'स्वयं प्रकाश' है। इन्द्रिय और अर्थ के साक्षात् सम्बन्ध से 'प्रत्यक्ष ज्ञान' होता है।

---

[1] **रामानुजाचार्य—तन्त्ररहस्य, पृष्ठ २-८।**

[2] **प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ५१; तन्त्ररहस्य, पृष्ठ ८।**

[3] **प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ५५-५७।**

प्रभाकरमत मे इन्द्रिय और अर्थ के बीच मे सम्बन्ध दो प्रकार से होता है—ज्ञान के विषयो (मेय) के साथ इन्द्रिय के 'सयोग' से, विषय में संयुक्त के साथ 'समवाय' तथा 'समवेत-समवाय' से। द्रव्य, जाति तथा गुण के साथ इन्द्रिय-सयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

सन्निकर्ष

'सन्निकर्ष' दो प्रकार के है—'तत्समवाय' तथा 'तत्कारणसमवाय'। किन्तु प्रत्यक्ष की समस्त प्रक्रिया मे चार प्रकार के सन्निकर्ष होते है—आत्मा के साथ मन का, मन के साथ इन्द्रिय का, द्रव्य के साथ इन्द्रिय का तथा रूप आदि गुणो के साथ इन्द्रिय का। सुख-दु ख आदि आन्तरिक वस्तुओ के प्रत्यक्ष मे मन को अर्थ तथा आत्मा के साथ दो ही प्रकार के सन्निकर्ष होते है।

सभी गुणों का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। द्रव्य के ज्ञान के बिना रूप आदि का ज्ञान होता है और कही रूप आदि के ज्ञान के बिना भी द्रव्य का ज्ञान होता है। इसमे कोई नियम नही है।[1]

प्रत्यक्ष के 'सविकल्पक' तथा 'निर्विकल्पक' दो प्रकार के भेद प्रभाकर भी मानते है। भाट्ट के मत में प्रथम निर्विकल्पक या आलोचनात्मक ज्ञान होता है, पश्चात् सविकल्पक ज्ञान होता है, जैसा न्याय-वैशेषिक मत में है। अत. इसका विशेष विचार करना यहाँ पुनरुक्ति होगी।

प्रत्यक्ष के भेद

'योगज प्रत्यक्ष' को एक भिन्न प्रत्यक्ष भट्ट नही मानते। योगियो के प्रत्यक्ष मे भी ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व आवश्यक है। परोक्ष वस्तुओं का योगियों को जो ज्ञान होता है, उसे **'प्रातिभ'** ज्ञान कहते है, किन्तु यह 'संदिग्ध-ज्ञान' है।

योगज प्रत्यक्ष

अनुमान तथा **उपमान** ये दोनो प्रमाण न्याय-वैशेषिक के समान है, अतएव इनका पुन. विचार करने से विशेष लाभ नही है।

शब्दप्रमाण

शब्दप्रमाण और उसका भेद—ज्ञात शब्द से पदार्थ का स्मरणात्मक ज्ञान होने पर जो वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, वही **'शब्दप्रमाण'** है। यह दो प्रकार का है—पौरुषेय तथा अपौरुषेय।

---

[1] यहां न्याय-वैशेषिक-मत से अन्तर है।

जिस प्रकार का 'अर्थ' हो, उसे उसी रूप मे देखने वाला 'आप्त' है। आप्तो का वाक्य 'पौरुषेय' है। वेदवाक्य 'अपौरुषेय' है। स्वत 'शब्द' तो अदृष्ट है और जब ये शब्द आप्त तथा वेद के वाक्य के रूप मे होते है, तब उनमे कोई भी दोष नही रहता। तस्मात् इस प्रकार के वाक्यो से उत्पन्न ज्ञान को **'शब्दप्रमाण'** कहते है।

शब्द के और भी दो भेद है—'सिद्धार्थ' तथा 'विधायक'। किसी पदार्थ के निश्चित अर्थ को कहने वाला वाक्य **'सिद्धार्थक वाक्य'** है और किसी प्रकार के कार्य के लिए प्रेरक वाक्य **'विधायक वाक्य'** है। विधायक पुन. दो प्रकार का है—**उपदेशक** तथा **अतिदेशक**। 'ऐसा इसे करना चाहिए', यह 'उपदेशक' वाक्य है। 'दर्शपूर्णमास याग के द्वारा स्वर्ग का साधन करे', यह 'अतिदेशक' वाक्य है।[1]

वेद 'धर्म' में प्रमाण

धर्म की व्याख्या के लिए ही मीमासाशास्त्र बना है। धर्म को जानने के लिए एकमात्र प्रमाण है—'वेद' या 'अपौरुषेय वाक्य'। वेद के नित्यत्व तथा अदुष्टत्व को प्रमाणित करने के लिए शब्द को नित्य मानना आवश्यक है। शब्द का 'अर्थ' तथा 'शब्द' एव अर्थ का 'सम्बन्ध', ये भी नित्य है। वस्तुत. ये सभी विचार अपौरुषेय वाक्य के सम्बन्ध में मीमासाशास्त्र मे किये गये है। लौकिक वाक्य में अनेक दोष रहने की सम्भावना के कारण उपर्युक्त विचार लौकिक वाक्य के सम्बन्ध मे नही कहा जा सकता। यही कारण है कि वेद-वाक्य को पौरुषेय नही माना जाता। ऐसा करने से उसमे भी दोष की आशका रह जायगी। अतएव 'वेद' अपौरुषेय है, इसे किसी ने नही बनाया और यह 'स्वप्रकाश' है।

अपौरुषेय और स्वप्रकाश

'वेद' मे जो मन्त्रो के साथ बहुत-से नाम आये है, वे उन मन्त्रो के रचयिता के नाम नही है, किन्तु वे उनके नाम है जिनके प्रति वे मन्त्र तैजसरूप मे आविर्भूत हुए है और वे ही लोग उन मन्त्रो के विशिष्ट ज्ञाता हुए है। इसी लिए उनके नाम उन मन्त्रो के साथ सम्बद्ध है। इसी लिए 'ऋषि' को 'मन्त्रद्रष्टा' कहा गया है।

वेद-वाक्यो का अर्थ उनके अपने प्रसग मे ही करना उचित है। एक-आध मन्त्र को पृथक् कर उसका अर्थ करने से उसका वास्तविक अर्थ नही होता।

---

[1] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ७२, निर्णयसागर-संस्करण।

शब्द के विज्ञान से परोक्षभूत विषय के 'ज्ञान' को 'शब्दप्रमाण' या 'शास्त्र' कहते हैं। अर्थात् शब्द-विज्ञान के द्वारा आत्मा के सन्निकर्ष से अदृष्ट विषयों के ज्ञान को 'शब्दप्रमाण' कहते हैं।

प्रभाकरमत

प्रभाकर का कहना है कि यथार्थ शब्दज्ञान वेद-वाक्यो से ही हो सकता है। अतएव 'वेद' ही एक मात्र '**शब्दप्रमाण**' है। वेद-वाक्य मे भी जो वाक्य 'विध्यर्थक' है, वे ही शब्दप्रमाण हैं। जैसे—'**स्वर्गकामो यजेत**'।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखनी है कि जो शब्द के रूप मे कान के द्वारा हमे सुनने मे आता है, वह 'ध्वनि' है और वह नित्य शब्द का प्रतीक है। 'ध्वनि' स्वय अनित्य है। 'ध्वनि' शब्द से भिन्न है, इसमे युक्ति यह है कि यदि वस्तुत. 'ध्वनि' शब्द होती तो एक ही शब्द के, जैसे 'घट.' इस शब्द के, दस बार उच्चारण करने पर दस शब्दो का 'ज्ञान' होता, किन्तु ऐसा तो होता नही। अनेक बार उच्चारण करने पर भी एक ही शब्द का बोध होता है। अतएव उच्चारण के द्वारा 'ध्वनि' की उत्पत्ति होती है, न कि 'शब्द' की। तस्मात् 'शब्द' नित्य है। शब्द के साथ अर्थ का 'सम्बन्ध' भी 'नित्य' है। इन सभी बातो के रहते हुए भी यह कभी नही भूलना चाहिए कि मीमांसा में वैदिक शब्द तथा वाक्यों का ही विशेष रूप में विचार है। ये शब्द अपौरुषेय तथा नित्य हैं, अर्थात् यह शब्दप्रमाण **स्वतःप्रमाण** है। इन शब्दो के प्रामाण्य के लिए दूसरे की अपेक्षा नही होती।

उपमानप्रमाण

सादृश्यजन्य ज्ञान को '**उपमान**' कहते हैं। इसमें इन्द्रिय के साथ अर्थ का सन्निकर्ष नही होता। जैसे—'गाय' के ज्ञान को रखने वाला जब 'गवय' को देखता है, तब उसे अपनी गाय का स्मरण होता है, इन दोनो मे 'सादृश्य' है, और इस स्मरण के अनन्तर 'यह गवय है', ऐसा जो ज्ञान होता है, वही '**उपमिति**' है और उसका 'कारण' '**उपमान**' है।

वह मनुष्य, जिसे 'गाय' का ज्ञान पूर्व से ही है, जब जंगल मे जाता है, वहाँ वह एक जानवर को देखता है। उस जानवर को वह अपनी गाय के सदृश देखता है। तत्पश्चात् उसके मन मे पूर्वज्ञात गाय का स्मरण होता है कि मेरी गाय मेरे सामने उपस्थित जानवर के सदृश है। इस '**सादृश्य**' से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका विषय है—वर्तमान जानवर के सादृश्य-

भट्टमत

विशिष्ट अपनी गाय का स्मरण। यही है **'उपमिति'**। इसमे सादृश्य का 'प्रत्यक्ष' तथा गाय का 'स्मरण' होता है। इन दोनो बातो का एकत्र ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से और न स्मरण से होता है। तस्मात् 'उपमान' नाम के प्रमाण को स्वीकार करना पडता है।[1]

प्रभाकरमत

'सादृश्य' के द्वारा अदृष्ट विषय के 'ज्ञान' को **'उपमान'** कहते हैं। जैसे—'गाय' को जानने वाला पुरुष 'गवय' को देखता है। तब 'गवय' के प्रत्यक्ष ज्ञान से 'सादृश्य' के द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे अविद्यमान 'गाय' का ज्ञान भी उसे हो जाता है। इसी ज्ञान को **'उपमान'** कहते हैं, अर्थात् सादृश्य के प्रत्यक्ष से अविद्यमान गाय का जो सादृश्य-ज्ञान होता है, उसे ही **'उपमान'** कहते हैं।

उपमान के स्वरूप में भेद—उपर्युक्त बातो से मालूम होता है कि भट्टमत में अविद्यमान गाय का **'स्मरण'** तथा प्रभाकरमत में अविद्यमान गाय का **'सादृश्य-ज्ञान'** ही **'उपमान'** है।

अर्थापत्ति

दृष्ट या श्रुत विषय की उपपत्ति जिस अर्थ के विना न हो, उस अर्थ के ज्ञान को **'अर्थापत्ति'** कहते हैं। जैसे—'देवदत्त दिन मे कुछ भी नही खाता, फिर भी खूब मोटा है।' इस वाक्य मे 'न खाना, तथापि मोटा होना', इन दोनों कथनों मे समन्वय की उपपत्ति नही होती। अत उपपत्ति के लिए 'रात्रि मे भोजन करता है', यह कल्पना की जाती है। इस कथन से यह स्पष्ट हो गया कि 'यद्यपि दिन मे वह नही खाता, परन्तु रात्रि मे खाता है।' अतएव देवदत्त मोटा है। यहाँ पर प्रथम वाक्य में उपपत्ति लाने के लिए 'रात्रि मे खाता है', यह कल्पना स्वयं की जाती है। इसी को **'अर्थापत्ति'** कहते हैं।

अर्थापत्ति के भेद

यह दो प्रकार की है—'दृष्टार्थापत्ति', जैसे—ऊपर के उदाहरण मे तथा 'श्रुतार्थापत्ति', जैसे—सुनने में आता है कि देवदत्त जो जीवित है, घर मे नही है। इससे 'देवदत्त कही और स्थान मे है', इसकी कल्पना करना **'अर्थापत्ति'** है। अन्यथा 'जीवित होकर घर मे नही रहना', इन दोनो बातो मे समन्वय नही हो सकता।

---

[1] श्लोकवार्त्तिक, उपमान, ३७-४३

प्रभाकर का मत है कि किसी भी प्रमाण से ज्ञात विषय की उपपत्ति के लिए 'अर्थापत्ति' हो सकती है, केवल दृष्ट और श्रुत से ही नही।

यह बात साधारण रूप से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से सिद्ध नही होती, तस्मात् 'अर्थापत्ति' नाम का एक भिन्न 'प्रमाण' मीमासक मानते है।

अनुपलब्धि या अभाव

अभावप्रमाण—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा जब किसी वस्तु का ज्ञान नही होता, तब 'वह वस्तु नही है', इस प्रकार उस वस्तु के 'अभाव' का ज्ञान हमें होता है। इस 'अभाव' का ज्ञान इन्द्रिय-सन्निकर्प आदि के द्वारा तो हो नही सकता, क्योकि इन्द्रियसन्निकर्प 'भाव' पदार्थों के साथ होता है। अतएव 'अनुपलब्धि' या 'अभाव' नाम के एक ऐसे स्वतन्त्र प्रमाण को मीमासक मानते है, जिसके द्वारा किसी वस्तु के 'अभाव' का ज्ञान हो।

यह तो मीमासको का एक साधारण मत है। किन्तु प्रभाकर इसे नही स्वीकार करते। उनका कथन है कि जितने 'प्रमाण' है, सबके अपने-अपने स्वतन्त्र 'प्रमेय' है, किन्तु 'अभाव' प्रमाण का कोई भी अपना 'विषय' नही है। जैसे—'इस भूमि पर घट नही है', इस ज्ञान मे यदि वहाँ घट होता, तो भूतल के समान उसका भी ज्ञान होता, किन्तु ऐसा नही है। फिर हम देखते क्या है? 'केवल भूमि', जिसका ज्ञान हमे प्रत्यक्ष से होता है। वस्तुत 'अभाव' का अपना स्वरूप तो कुछ भी नही है। वह तो जहाँ रहता है, उसी आधार के साथ कहा जाता है। इसलिए यथार्थ में भूतल के ज्ञान के अतिरिक्त 'घट नही है', इस प्रकार का ज्ञान होता ही नही। अतएव 'अभाव' 'अधिकरणस्वरूप' ही है। इसका पृथक् अस्तित्व नही है।[1]

प्रभाकरमत

ये ही पाँच या छ प्रमाण मीमांसक लोग मानते है।

सम्भवप्रमाण—कुमारिल ने 'सम्भव' की चर्चा की है। जैसे—'एक सेर दूध में आधा सेर दूध तो अवश्य है'; अर्थात् एक सेर होने मे सन्देह हो सकता है, किन्तु उसके आधा सेर होने मे तो कोई भी सन्देह नही हो सकता। इसे ही 'सम्भव' नाम का प्रमाण 'पौराणिकों' ने माना है। कुमारिल ने इसे 'अनुमान' के अन्तर्गत माना है।

[1] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ८३-८५; प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ११८-१२६।

ऐतिह्यप्रमाण—एव 'ऐतिह्य' का भी उल्लेख कुमारिल ने किया है। जैसे 'इस वट के वृक्ष पर भूत रहता है।' यह वृद्ध लोग कहते आये है। अत. यह भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। परन्तु इस कथन की सत्यता का निर्णय नही हो सकता, अतएव यह प्रमाण नही है। यदि प्रमाण है तो यह 'आगम' के अन्तर्भूत है। किन्तु इन दोनो को कुमारिल ने भी, अन्य मीमासको की तरह, स्वीकार नही किया।[1]

प्रतिभाप्रमाण—'प्रतिभा' अर्थात् 'प्रातिभ ज्ञान' सदैव सत्य नही होता, अतएव इसे भी मीमासक लोग प्रमाण के रूप मे नही स्वीकार करते।[2]

प्रामाण्यवाद

प्रामाण्यविचार का महत्त्व

न्यायशास्त्र तथा मीमासाशास्त्र मे **'प्रामाण्यवाद'** सबसे कठिन विषय कहा जाता है। मिथिला मे विद्वन्मण्डली मे प्रसिद्ध है कि एक समय, १४वी सदी में एक बहुत बड़े विद्वान् और कवि किसी अन्य प्रान्त से मिथिला के महाराज की सभा मे आये। उनकी कवित्वशक्ति और विद्वत्ता से सभी चकित हुए। वे मिथिला मे रह कर 'प्रामाण्यवाद' का विशेष अध्ययन करते थे। कुछ दिनो के पश्चात् महाराज ने उनसे एक दिन नवीन कविता सुनाने के लिए कहा, तो बहुत देर सोचने के बाद उन्होने एक कविता की रचना की—**'नमः प्रामाण्यवादाय मत्कवित्वापहारिणे।'** इसकी दूसरी पक्ति की पूर्ति करने मे उन्होने अपनी असमर्थता प्रकट की। वास्तव मे **'प्रामाण्यवाद'** बहुत कठिन है और इसका अध्ययन करने वालों का ध्यान और कही नही जा सकता है।

प्रामाण्यविचार का स्वरूप

उपर्युक्त प्रमाणो के सम्बन्ध मे प्रश्न होता है कि इन प्रमाणो मे से किसी एक प्रमाण के द्वारा पृथक्-पृथक् जब हमे 'ज्ञान' होता है, तब वह 'ज्ञान' स्वय यथार्थ माना जाय या उसकी यथार्थता के लिए किसी दूसरे प्रमाण की सहायता ली जाय? अर्थात् प्रत्येक प्रमाण स्वतन्त्र रूप से ज्ञान को उत्पन्न करता है और वह ज्ञान स्वयं यथार्थ है अथवा एक प्रमाण के द्वारा एक ज्ञान उत्पन्न होता है तथा दूसरे प्रमाण के द्वारा उस ज्ञान

---

[1] श्लोकवार्त्तिक, अभाव, ५७-५८।

[2] शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ८७।

का याथार्थ्य सिद्ध होता है। यही **प्रामाण्यवाद** का विषय है। इसमें नैयायिकों के साथ मीमासको का बहुत शास्त्रार्थ-विचार होता रहा है। नैयायिक **'परतः प्रामाण्य'** के तथा मीमासक **'स्वतः प्रामाण्य'** के समर्थक है।

इसके पूर्व कि इस विषय का हम विचार करे, इतना कह देना आवश्यक है कि मीमासक **'वेद'** को नित्य, अपौरुषेय तथा स्वत प्रमाण मानते है। इनके मत मे

मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवादी होने का कारण

वस्तुतः एकमात्र प्रमाण है—**'वेद'**, जिसे हम **'शब्दप्रमाण'** या **'आगम'** भी कहते है। वस्तुत प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तो मीमासा का अपना विपय भी नही है। अतएव मीमासको को प्रमाण का **'स्वतः प्रामाण्य'** मानना स्वाभाविक है, अन्यथा 'वेद' का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। इसी कारण जव प्रत्यक्षादि प्रमाणो की भी चर्चा मीमासक लोग करते है, तो उसके भी प्रामाण्य के सम्वन्व मे, वेद-प्रामाण्य के आधार पर, **'स्वतः प्रामाण्य'** ही मानते है।

मीमासको का कहना है कि इन्द्रिय के संयोग से दूर से ही जल को देखकर 'वहाँ जल अवश्य है', इस ज्ञान को यथार्थ मान कर ही लोग जल लाने के लिए वहाँ जाते

मीमांसकमत

है। इसमे सन्देह या अयथार्थता की सम्भावना नही है। ज्ञान तो यथार्थ ही होता है। उसकी सत्यता मे सन्देह करना ही व्यर्थ है। **प्रभाकर** ने तो स्पष्ट कहा है कि 'ज्ञान' हो और वह 'मिथ्या' हो, यह दोनो परस्पर विरुद्ध है। ज्ञान होने से ही वह यथार्थ है। वह मिथ्या हो ही नही सकता। **कुमारिल** ने भी इसे स्वीकार किया है। इस प्रकार से मीमांसक लोग प्रत्येक प्रमाण मे **'स्वतः प्रामाण्य'** मानते है।

इसके विरुद्ध मे नैयायिको का कहना है कि जव इन्द्रिय के सयोग से जल का ज्ञान होता है और लोग जल लाने के लिए जाते है, तो उनके मन मे 'सन्देह' रहता

नैयायिकमत

है कि 'जल मिले या न मिले', अर्थात् 'वहाँ जल है', यह ज्ञान सन्देहयुक्त है। पश्चात् वहाँ जाकर जल के मिलने पर हम निर्णय करते है कि 'मुझे जो पूर्व मे 'वहाँ जल है', ऐसा ज्ञान हुआ था, वह यथार्थ है।' अर्थात् जल-ज्ञान की सत्यता जल को प्राप्त करने पर ही निश्चित होती है। अपने मत मे भी यही प्रक्रिया नैयायिक लोग मानते है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से, अर्थात् चक्षु और घट के सन्निकर्ष से, 'अय घट' 'यह घडा है', ऐसा ज्ञान होता है। इसे नैयायिक लोग **'व्यवसाय'** कहते है। यह ज्ञान या व्यवसाय ठीक है या नही, इसका निश्चय उन्हे पश्चात् 'अह घटज्ञानवान' 'मुझे घट का ज्ञान

है', इस ज्ञान से, जिसे नैयायिक **'अनुव्यवसाय'** कहते हैं, होता है। इस प्रकार नैयायिक **'परतः प्रामाण्य'** मानते हैं।

यहाँ प्रधान रूप से दो मत हैं। किन्तु मीमांसकों मे भी तीन विभिन्न मत है—(१) प्रभाकर (गुरुमत), (२) भाट्ट (भट्टमत) तथा (३) मुरारि मिश्र (मिश्रमत)।

प्रभाकरमत

प्रभाकरमत मे ज्ञान स्वतः प्रमाण तथा स्वप्रकाश है। ज्ञान के स्वप्रकाश होने से ही उसका स्वत प्रामाण्य सिद्ध है। इसलिए इनके मत मे प्रमाण का प्रामाण्य आप से आप सिद्ध है। ज्ञान होने से ही वह यथार्थ है। अतएव इन्हे ज्ञान के प्रामाण्य के लिए दूसरे की अपेक्षा नही होती। अतः ये स्वभाव से ही **'स्वतः प्रामाण्यवादी'** हैं।

भट्टमत

भट्टमत में भी स्वतः प्रामाण्य माना गया है, अर्थात् जिससे 'ज्ञान' उत्पन्न होता है, उसीसे उस ज्ञान का प्रामाण्य भी सिद्ध है, ऐसा भाट्ट लोग स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि चक्षु और घट के सन्निकर्ष से 'अयं घट.', यह 'ज्ञान' होता है। किन्तु इनके मत मे 'ज्ञान' स्वप्रकाश तो है नही, अत. उस ज्ञान का भान भट्टमीमासक को साक्षात् नही होता। वह अतीन्द्रिय है। तस्मात् ज्ञान होने के पश्चात् 'मया ज्ञातोऽयं घट' (मुझ से यह घट जाना गया), ऐसा उन्हे भान होता है। जब वह 'घट' 'ज्ञात' हुआ, तब उसमे **'ज्ञातता'** नाम का एक धर्म उत्पन्न होता है। इस **'ज्ञातता'** का प्रत्यक्ष ज्ञान भट्टमत मे होता है।[1] यह धर्म घट के 'ज्ञात' होने पर ही हो सकता है और 'घट का ज्ञान' होने से ही 'घट ज्ञात' हो सकता है। अन्यथा न घट 'ज्ञात' होगा और न उस पर **'ज्ञातता'** धर्म ही होगा। विना 'ज्ञान' के अस्तित्व को स्वीकार किये **'ज्ञातता'** उत्पन्न नही हो सकती। अतएव **'ज्ञातता'** की उपपत्ति हो, इसलिए 'अर्थापत्ति' प्रमाण के द्वारा भट्टमीमासक 'ज्ञान' के अस्तित्व को स्वीकार करते है। इसी **'ज्ञातता'** से उस ज्ञान के प्रामाण्य को भी भट्ट मानते हैं। यही उनका **स्वतः प्रामाण्य** है।

मुरारिमत

ये दोनों मत मीमासा में पूर्व से ही वहुत प्रसिद्ध थे। पश्चात् एक नवीन मत का प्रचार हुआ। तब से प्रामाण्यवाद पर तीन मत हो गये और यही कारण था कि विद्वानो में लोकोक्ति है—'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'।[2]

---

[1] इस ज्ञान का स्वरूप है—अहं घटत्वप्रकारकज्ञानवान्, घटत्वप्रकारकज्ञाततावत्त्वात्।

[2] उमेश मिश्र—'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'—पञ्चम ओरियण्टल कान्फरेन्स प्रोसीडिंग्स, लाहोर।

मुरारि मिश्र के मत में इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से ज्ञान होने पर 'अयं घट.' यह भान होता है। इस 'अय घट.' की सत्यता का निश्चय करने के लिए पश्चात् 'अहं घटज्ञानवान्', ऐसा 'अनुव्यवसाय' होता है। इसी अनुव्यवसाय के द्वारा 'अयं घट.' इस ज्ञान का भान तथा उसका प्रामाण्य, दोनों ही निश्चित होते है। इस प्रकार यह भी **'स्वतः प्रामाण्य'** हुआ।

प्रभाकरमत मे ज्ञान के स्वप्रकाशत्व से, भट्टमत मे ज्ञातता से तथा मिश्रमत में अनुव्यवसाय की सामग्री, अर्थात ज्ञानेन्द्रिय से 'स्वत प्रामाण्य' का निश्चय होता है।[1]

मुरारि मिश्र का मत नैयायिको से वहुत कुछ मिलता-जुलता है। परन्तु भेद इतना है कि **नैयायिकमत** मे प्रथम ज्ञान सन्दिग्व रहता है। **मिश्रमत** में सन्देह नही है। कारण है यह कि मिश्रमत मे प्रामाण्य-सामग्री वही है जो ज्ञान-सामग्री है, अर्थात् 'मनस्', जो ज्ञान के समय मे सर्वदा उपस्थित रहता है।[2]

इस प्रकार विचार करने से यह स्पष्ट है कि यथार्थ मे **प्रभाकर** के ही मत में **'स्वतः प्रामाण्य'** है। **भट्टमत** में तो 'ज्ञातता' से प्रामाण्य है, न कि 'ज्ञान' से ही। इसी प्रकार **मिश्रमत** मे भी 'अनुव्यवसाय' से प्रामाण्य है, न कि 'ज्ञान' से ही प्रामाण्य का निश्चय होता हैं। फिर भी किसी रूप मे ये तीनो, नैयायिकों की अपेक्षा, **'स्वतः प्रामाण्यवादी'** है।

भ्रान्ति-ज्ञान

प्रभाकर के मत में 'भ्रान्ति' और 'ज्ञान' ये दोनो शव्द परस्पर विरुद्ध है। 'ज्ञान' स्वप्रकाश होने के कारण सदैव यथार्थ है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु के रूप मे जानना

प्रभाकरमत

'भ्रान्ति'-(ज्ञान) है। सीपी (शुक्ति) में रजत का या रज्जु मे सर्प का जो भ्रान्ति-ज्ञान कहा जाता है, उसके सम्वन्व में प्रभाकर का कहना है कि 'सीपी' या 'रज्जु' के साथ चक्षु का

[1] गुरुनये स्वप्रकाशादिना, मुरारिनये अनुव्यवसायादिना, भट्टनये ज्ञाततालिंगकानुमित्यादिना यावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वतस्य सर्वसाधारणत्वात् प्रामाण्यसिद्धिः।

[2] मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत्प्रामाण्यग्रहः इति मुरारिमिश्राः—वर्द्धमान—कुसुमाञ्जलिप्रकाश, पृष्ठ २१९; मिश्रमुद्दिश्याह—तन्मते ज्ञानेन्द्रियसन्निधिरेव प्रामाण्यग्रहसामग्रीत्वेन तत्प्रतिबन्धादेव संशयानुत्पत्तिः—पक्षधर मिश्र—आलोक, प्रत्यक्ष, हस्तलिखित ग्रन्थ, पृष्ठ २५।

सन्निकर्ष होता है और ज्ञान होता है 'रजत' या 'सर्प' का। परन्तु यह ज्ञान 'रजत' तथा 'सर्प' के साथ चक्षु के सन्निकर्ष से नही होता, क्योकि यह तो वहाँ विद्यमान नही है। सीपी तथा रज्जु का ज्ञान कभी नही होता। ऐसी स्थिति में 'इद रजतम्' या 'रज्जौ सर्प.' मे दो भिन्न विषय हुए और दोनो का पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है—रज्जु का चक्षु से और रज्जु मे विद्यमान सादृश्य के कारण सर्प का स्मरणात्मक ज्ञान होता है। रज्जु या सीपी के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर भी नेत्र-दोष या मन्द प्रकाश के कारण सीपी और रज्जु के विशेष गुणो को न देखकर उनके सदृश रजत तथा सर्प के गुणो का स्मरणात्मक ज्ञान देखने वाले को होता है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी खास रजत या सर्प का स्मरण नही होता। अतएव इस रजत या सर्प का ज्ञान न तो 'प्रत्यक्ष' है और न 'अनुमान' है। यह 'स्मरणात्मक' है और यह 'भ्रान्ति' नही है। यहाँ एक वस्तु दूसरे रूप में नही देख पडती। एक सीपी तो है वाह्य जगत् मे और वह है चक्षु का विषय तथा दूसरी (रजत, सस्काररूप में) 'आत्मा' मे है और वह है मन का विषय। फिर 'भ्रान्ति' तो हुई नही। अतएव ये दोनो ज्ञान भिन्न है और यथार्थ है।

फिर लोगों को 'भ्रान्ति' मालूम कैसे होती है? इसके उत्तर मे प्रभाकर का कहना है कि उन दोनो ज्ञानो को, अर्थात् 'रजतज्ञान' तथा 'शुक्तिज्ञान' को, एक मे मिला देना ही 'भ्रान्ति' है, क्योकि न तो रजत 'शुक्ति' है और न शुक्ति ही 'रजत' है। एक मे मिला देने से एक वस्तु को दूसरी वस्तु के रूप में जानना ही तो 'भ्रम' है। रजतज्ञान और शुक्तिविषय मे जो भेद है, उसका भान नही होने से यह 'भ्रान्ति' है। इसे **'अख्याति'** कहते है।

कुमारिलमत

मिथ्या ज्ञान को कुमारिल तथा मुरारि **'अन्यथाख्याति'** कहते है। भट्ट का कहना है कि 'इदं रजतम्' या 'रज्जौ सर्पः' यह ज्ञान तो यथार्थ है, क्योंकि जिस समय एक व्यक्ति को रजत मे चक्षु के सन्निकर्ष से सर्प का ज्ञान होता है, वह ज्ञान तो वास्तविक सत्य होता है, क्योकि उस व्यक्ति मे भय, कम्पन, आदि सर्प-ज्ञान का फल स्पष्ट है। पश्चात् किसी दूसरे के ज्ञान से उस पूर्व-व्यक्ति का ज्ञान मिथ्या हो जाय, यह तो भिन्न विषय है। पूर्व मे तो उस व्यक्ति के ज्ञान मे कोई भ्रम नही था।

परन्तु **पक्षधर मिश्र** आदि विद्वानों के अनुसार 'रज्जौ सर्पः' 'भ्रान्ति-ज्ञान' है, क्योकि इसमे सर्पत्व-प्रकारक सर्प-विषयक ज्ञान का रज्जुत्व-प्रकारक रज्जु-विषय मे

'आरोप' किया जाता है। सर्पत्व तो सदैव सर्प में रहता है, वह कभी भी रज्जु में नहीं रह सकता। परन्तु उक्त स्थल में, अन्य विषय में अन्य प्रकार का ज्ञान होता है। अतएव यह 'भ्रमात्मक ज्ञान' है।

आलोचन

इस प्रकार संक्षेप में मीमांसा-दर्शन का विचार समाप्त हुआ। मनन करने से यह स्पष्ट है कि **'भाट्टमत'** व्यावहारिक जगत् से, न्याय-वैशेषिक के समान, विशेष सम्बद्ध है। इस मत में **'आत्मा'** तो जड है, किन्तु **ज्ञानशक्ति** उसमें सदैव रहती है। इसी से उसे 'बोधस्वरूप' भी कहते हैं, किन्तु यह जाग्रत् अवस्था के लिए ही कहा गया है। स्वप्नावस्था में 'आत्मा' में ज्ञान नहीं रहता।

प्रभाकरमत में भी **'आत्मा'** जड़ है, किन्तु **'ज्ञान'** स्वप्रकाश है। इसे जान कर यह स्पष्ट है कि प्रभाकरमत न्याय तथा भट्टमत से कुछ ऊँचे स्तर का है। दोनों मतों ने 'आत्मा' के अस्तित्व को पूर्ण रूप से सिद्ध किया है और क्रमशः उसके गुणों के वास्तविक स्वरूप की जिज्ञासा में मीमांसक लोग रहते हैं।

ईश्वर—मीमांसकों को **'ईश्वर'** या **'परमात्मा'** से विशेष कोई प्रयोजन नहीं है, तथापि ये **'नास्तिक'** नहीं कहलाते, क्योंकि 'ईश्वर' के अस्तित्व का खण्डन तो इन्होंने नहीं किया।

मुक्ति—मुक्तावस्था में भी मीमांसक की 'जीवात्मा' स्वतन्त्र है और परस्पर भिन्न है। मुक्तावस्था में भी न्याय-वैशेषिक की तरह 'पुरुषबहुत्व' को इन्होंने भी स्वीकार किया है। पदार्थों में भी अनेक नित्य पदार्थ ये मानते हैं।

इन सबको देखकर यह कहा जा सकता है कि मीमांसा-दर्शन भी नीचे स्तर से तत्त्व-ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करता है और इसका गन्तव्य पद अभी बहुत दूर है।

दशम परिच्छेद

सांख्य-दर्शन

सांख्यशास्त्र का स्वरूप

पूर्व में अनेक वार यह कहा गया है कि भारतीय दर्शन-शास्त्रों का मुख्य लक्ष्य वही है जो मनुष्य के जीवन का। मानुषिक जीवन में दु:ख के अनुभव के साथ ही उसकी निवृत्ति के उपायो के लिए जिज्ञासा भी उत्पन्न होती ही है। समय-समय पर चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जीवन-यात्रा के भिन्न-भिन्न स्तरो मे साधक को क्रमश: दु:ख-निवृत्ति के कुछ अंशो का अनुभव भी होता ही रहता है और इसी से प्रोत्साहित होकर साधक एक भूमि से दूसरी भूमि पर जाने के लिए प्रयत्न करता रहता है। यह तो मनुष्य-जीवन का व्यावहारिक रूप है। यही बात सिद्धान्तरूप में हमारे दर्शनों में भी है।

पहले कहा गया है कि परम पद की प्राप्ति तथा दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति 'आत्मा' के 'दर्शन से ही होती है, अतएव आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। अभी तक यह देखने में आया है कि सभी दर्शनो मे प्रधानता 'आत्मा के ज्ञान' को ही दी गयी है।

वेद तथा उपनिषदों में तो 'आत्मा' के सम्बन्ध में बहुत-सी बाते कही गयी हैं, किन्तु वहाँ किसी एक क्रम के अनुसार विचार नही है। जब हम वर्गीकरण के अनुसार आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते है, तब हमे आत्मा के स्वरूप का क्रमिक ज्ञान प्राप्त होता है। **चार्वाको** ने आत्मा के 'अस्तित्व' को माना है, किन्तु उसे वे भूत तथा भौतिको से पृथक् नही कर पाये। **जैनों** ने आत्मा के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार किया तथा उसे 'उपयोगमय' भी माना, परन्तु आत्मा को सावयव, देह-परिमाण, आदि भौतिक धर्म से [illegible] मिला। **बौद्धों** ने आत्मा को चित्त-सन्तति के समान स्वीकार [illegible] पृथक् तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार नही

किया। **न्याय-वैशेषिक** तथा **मीमांसा** ने भी आत्मा की पृथक् सत्ता मानी। आत्मा का अपना स्वरूप है, यह भी मीमासा ने स्वीकार किया। ज्ञान को 'स्वप्रकाश' तथा 'नित्य' भी मीमासा ने स्वीकार किया, किन्तु 'आत्मा' के सम्बन्ध मे 'विभुत्व' तथा 'नित्यत्व' को छोड़ कर और कोई विशेष सूक्ष्म विचार नही किया।

यद्यपि इन लोगों ने भूत तथा भौतिकों से पृथक् उसकी सत्ता स्थिर की, फिर भी आत्मा 'द्रव्य' ही रही और एक प्रकार से 'जडत्व' से छुटकारा नही पा सकी। इस आत्मा के विशेष ज्ञान से 'आत्मा एक पृथक् सत् वस्तु है', ऐसा ज्ञान साधक को होता है, किन्तु इससे सन्तोष नही होता। अतएव इसके सम्बन्ध मे विशेष खोज करने के लिए साधक आगे बढता है, अर्थात् न्याय-मीमासा की व्यावहारिक भूमि से ऊँचे स्तर की तरफ वह चलता है।

यद्यपि परम पद के पहुँचने के मार्ग मे प्रत्येक विन्दु एक भिन्न स्तर है, वहाँ से एक भिन्न रूप में आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है और वही एक दर्शन शास्त्र हो जाता है, तथापि सभी स्तरो का यहाँ विचार करना सरल और सम्भव नही है। इसी लिए मुख्य-मुख्य भूमियो से ही आत्मा के स्वरूप का विचार किया जा रहा है। अवान्तर भूमियो का विचार छोड़ कर हम उस स्तर से यहाँ विचार करने जा रहे है, जिसे **'सांख्य'** तथा **'योग'** के नाम से प्रसिद्धि मिली है।

'सांख्य' शब्द का अर्थ

'संख्या' शब्द सम् पूर्वक 'चक्षिङ ख्याञ्' (ख्याञ्) धातु से बना है। इसका अर्थ है—'सम्यक् ख्यानम्' अर्थात् 'सम्यक् विचार'।[1] इसी को 'विवेक-बुद्धि' कहा है। इसी लिए 'सख्यावान्' को 'पण्डित' का पर्यायवाची कोशकारों ने कहा है। सभी जिज्ञासुओ को मालूम है कि अनादि काल से 'आत्मा' अविद्या से आच्छादित है। यही उसका बन्धन है। अविद्या के ही कारण 'आत्मा' को अपने स्वरूप का ज्ञान नही होता। स्वरूप के ज्ञान के बिना दुःख की निवृत्ति भी नही हो सकती। अतएव स्वरूपज्ञान, अर्थात् अविद्या से आत्मा को पृथक् करना, आवश्यक है। अर्थात् 'सत्त्व-रजस्-तमो-रूपा त्रिगुणात्मिका अविद्या त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् है', इस प्रकार का ज्ञान जीव को प्राप्त करना है। यह भी ज्ञान क्रमश सोपानपरम्परा के अनुसार होता है। इसी पृथक्करण को **'विवेकख्याति'**

[1] 'चर्चा सख्या विचारणा'—अमरकोश, १-५-२।

या 'विवेक' या 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' कहते हैं।[1] इसी को 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' भी कहते हैं। इसी लिए पंचशिखाचार्य ने कहा है—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्'

इस विवेक-बुद्धि की प्राप्ति 'सांख्य-दर्शन' के विषयो को जानने से मिलती है। इसलिए इसे 'सांख्य-दर्शन' कहते है।

सांख्य की प्राचीनता

प्राचीनो की उक्ति है—'न हि सांख्यसमं ज्ञानम्', अर्थात् यथार्थ ज्ञान तो सांख्य मे ही है, ऐसा ज्ञान दूसरे शास्त्र मे नही है। जितने जिज्ञासु होते है, जो विद्वान् है, जिन्हें दु ख-निवृत्ति की इच्छा है, सभी को तात्त्विक ज्ञान की आवश्यकता है। बिना ज्ञान के किसी प्रकार की सिद्धि नही मिलती। इसलिए भगवान् ने गीता मे भी कहा है—

'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'[2]

ज्ञान के समान पवित्र इस ससार मे कोई भी वस्तु नही है।

'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति'[3]

ज्ञान को प्राप्त कर शीघ्र ही परा शान्ति को साधक प्राप्त करता है।

'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः'[4]

आत्मा के ज्ञान से ही जिनका वह अज्ञान नष्ट हो गया है।

'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः'[5]

ज्ञान की प्राप्ति से समस्त मल के नाश होने पर साधक पुन इस ससार मे नही आते।

कहने का अभिप्राय है कि अपना कल्याण चाहने वाला कोई भी मनुष्य नही है जिसे ज्ञान का प्रयोजन न हो। इसलिए साख्यशास्त्र का अध्ययन, अनुशीलन अनादि काल से होता आया है, ऐसा अनुमान होता है। यही कारण है कि उपनिषद् से लेकर साहित्य तथा ज्योति शास्त्र के भो ग्रन्थो मे साख्यशास्त्र के विषयो का किसी न किसी प्रसग मे उल्लेख मिलता ही है। महाभारत, रामायण, पुराणो की तो वात ही क्या, इनमे तो अनेक रूपो मे तथा अनेक प्रकार से साख्य की चर्चा है।

---

[1] इमे सत्त्वरजस्तमांसि गुणा मया दृश्या। अहं तेभ्योऽन्यः। तद्व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षण आत्मेति चिन्तनम्। एष सांख्यः—शंकराचार्य, गीताभाष्य, १३—२४। अर्थात् ये सत्त्व, रजस् और तमस् मेरे दृश्य हैं। मैं इनसे भिन्न हूँ। इनके व्यापार के साक्षिस्वरूप नित्य और गुणों से भिन्न आत्मा है यह चिन्तन करना है। यही साख्य है।

[2] गीता, ४-३८। [3] गीता, ४-३९। [4] गीता, ५-१६। [5] गीता, ५-१७।

सांख्य के ज्ञान के विना कोई विद्वान् ज्ञानी नही हो सकता। सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक परमर्षि कपिल ही 'आदि विद्वान्' कहे गये है।[१] शास्त्रो के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सांख्यशास्त्र के समान व्यापक शास्त्र कोई दूसरा नही हुआ। यही कारण था कि सांख्यशास्त्र के तत्त्वों के विवेचन में अनेक प्रकार के मतभेद देख पड़ते है। जैसे—कही 'मूला प्रकृति' एक है, तो किसी ने भिन्न-भिन्न जीवात्मा के लिए भिन्न-भिन्न 'प्रकृति' मानी है;[२] कोई 'महत्' और 'बुद्धि' मे भेद मानते है[३], कोई इन्हें पर्यायवाचक शब्द कहते है;[४] किसी के मत मे 'प्रकृति' स्वतन्त्र है और 'पुरुष' से भिन्न है, परन्तु किसी और के मत मे 'प्रकृति' 'ईश्वर' की शक्ति है।[५] महाभारत[६] में कही २४, कही २५, तो कही २६ तत्त्वो का उल्लेख है। गीता में 'प्रकृति' दो प्रकार की है—'परा' और 'अपरा'। ये भेद 'सांख्यकारिका' मे नही है, किन्तु इसमे कोई विशेष अन्तर नही है। परन्तु गीता मे कही 'प्रकृति' को 'माया' कहा है, कही उस से भिन्न।[७] सांख्य की 'प्रकृति' मे और गीता की 'प्रकृति' मे और भी अनेक भेद है।[८] इन भेदो को देखने से यह मालूम होता है कि सांख्य के तत्त्वों का विशेष विवेचन लोग करते थे। जिन्हे जिस प्रकार का विशेष अनुभव हुआ, उन्होने उसी प्रकार उन तत्त्वो को समझा और उसी तरह उनका विश्लेषण भी किया।

सांख्य-दर्शन तो वास्तव मे मनोवैज्ञानिक दर्शन है। इसके तत्त्व स्थूल नही है। वे हमारे बौद्धिक जगत् के तत्त्व है। इस जगत् में केवल सूक्ष्म ही तत्त्व है। उनके सम्बन्ध में विचार भी सूक्ष्म है। अतएव जिसमे जितनी बुद्धि होती है, वह उतना सूक्ष्म विचार कर सकता है। इसलिए सांख्य के तत्त्वो के विचार में भेद होना असम्भव नही। हाँ, मूल विचार मे कोई भी भेद नही है।

---

[१] देखिए—योगभाष्य, १-२५।

[२] मौलिक्यसांख्य ह्यात्मानमात्मानं प्रति प्रधानं वदन्ति, उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मसु अपि एकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः—गुणरत्न-षड्दर्शनसमुच्चय-प्रकाश, पृ० ९९, विब्लिओथेका इंडेका संस्करण।

[३] 'बुद्धेरात्मा महान् परः'—कठोपनिषद्, १-३-१०।

[४] सांख्यकारिका, ३। [५] श्वेताश्वर, ४-१०।

[६] शान्तिपर्व, ३०३-३०८। [७] ९-८।

[८] उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, परिच्छेद ४।

१६वी सदी के बाद के विज्ञान भिक्षु ने जो 'सांख्यसूत्र' तथा उसके ऊपर 'प्रवचन-भाष्य' लिखा है, उसमे भी बहुत-सी भिन्न बातो का उन्होंने प्रतिपादन किया है। विज्ञान भिक्षु वास्तव में वेदान्ती थे। अतएव उनका विचार वेदान्त-मिश्रित है, उसे साख्यमत का सैद्धान्तिक ग्रन्थ ज्ञानी लोग नही मानते, फिर भी साख्य के तत्त्वों के विचार का यह एक स्वतन्त्र रूप है। इस प्रकार सांख्यशास्त्र की व्यापकता, प्राचीनता तथा महत्त्व को अनादि काल से विद्वानो ने माना है।

सांख्य के रहस्य का लोप

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि एक समय था, जब सांख्य-दर्शन का अध्ययन बहुत व्यापक रूप में होता था। खेद का विषय है कि आगे उसके रहस्य को विद्वान् लोग भूल गये। प्राचीन परम्परा नष्ट हो गयी और विद्वानों ने सांख्यभूमि को भी न्याय-वैशेषिक-भूमि के समान ही स्थूल जगत् के तत्त्वो का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र मान लिया और उसी प्रकार इसके तत्त्वो की भी व्याख्या करने लगे, जैसा कि आगे चल कर स्पष्ट होगा।

बौद्धिक पदार्थों के चिन्तन से दूर होना

इस समय सांख्य के रहस्य को जानने वाले व्यक्ति इस देश में बहुत कम रह गये हैं। ऐसा मालूम होता है कि शास्त्रविचार की आध्यात्मिक प्रवृत्ति बौद्धो के साथ-साथ लडते झगड़ते रहने के कारण सर्वथा बहिर्मुखी हो गयी। न्यायशास्त्र के तार्किक रूप ने विद्वानों को अन्तर्दृष्टि से दूर हटा दिया। अतएव बाह्य जगत् के तत्त्वो के स्थूल विचार में ही वे सब लग गये। इसमें कोई सन्देह नही कि बुद्ध के पश्चात् भारतवर्ष में बहुत ऊँचे विचार के विद्वान् हुए और उन्होने दर्शनो के ऊपर बहुत विचार किया। इनकी विद्वत्ता पाण्डित्यपूर्ण थी, परन्तु बहिर्मुखी थी। जहाँ तक दार्शनिक विचार बाह्य जगत् से विशेष सम्बन्ध रखता है, वहाँ तक तो इनके पाण्डित्य ने दर्शनशास्त्र में चमत्कार-पूर्ण विचारो को दिखाया, किन्तु जहाँ से उस विचार का क्षेत्र एक प्रकार से अलौकिक जगत् में प्रवेश करता है, वहाँ इनका पाण्डित्य बहुत सफल नही है। वहाँ तो ज्ञानियो की अन्तर्दृष्टि होने से ही सफलता मिलती है।

यह कहना ठीक नही है कि इन विद्वानों में अन्तर्दृष्टि वाले लोग हुए ही नही। हुए तो अवश्य, किन्तु उनकी सख्या बहुत थोड़ी है और फिर भी अधिकाश लोगो ने, सम्भव है, व्यक्तिगत रूप मे अपने लिए ही अपने ज्ञान का उपयोग किया हो। यही कारण है कि आधुनिक काल में साख्यशास्त्र के तत्त्वो के वास्तविक स्वरूप का परिचय अन्धकार में पड़ा हुआ है।[1]

---

[1] समझने के लिए श्री उमेश मिश्र द्वारा लिखित 'सांख्ययोगदर्शन' देखिए।

सांख्य-दर्शन की भूमि

जैसा ऊपर कहा गया है, प्रत्येक दर्शन का एक अपना स्वतन्त्र स्थान है, स्वतन्त्र दृष्टि है, प्रत्येक दर्शन एक स्वतन्त्र बिन्दु पर स्थिर होकर दार्शनिक दृष्टि से विश्व के तत्त्वो का अपने-अपने अनुभवो के अनुकूल विचार करता है। परन्तु सभी दर्शन हैं तो एक ही परमपद के पाने की इच्छा रखने वाले पथिक। कोई आगे है और कोई पीछे। **न्याय-वैशेषिक-मत** मे पदार्थों के तात्त्विक विचारो से मालूम हुआ कि इनके मत में नौ नित्य द्रव्य है, आत्मा जड़ है, मोक्षावस्था मे भी आत्मा और मन का सम्बन्ध रहता ही है, आत्मा मे 'स्वरूपयोग्यता' मात्र है, अद्वैत का स्थान नही है, इत्यादि। किन्तु उपर्युक्त बातो से जिज्ञासु को इस भूमि से सन्तोष नही होता। अतएव जहाँ न्याय-वैशेषिक या मीमासा की भूमि का अन्त होता है, उसके आगे वह अपनी दृष्टि को, अपनी खोज को, बढाता है, अर्थात् चार भूतो के भिन्न-भिन्न परमाणु, आकाश, काल, दिक्, मन तथा आत्मा, इन नौ नित्य तत्त्वों पर विशेष विचार करने लगता है। बाद को उसे यह मालूम होता है कि ये सभी नौ तत्त्व वस्तुत नित्य नही हैं, जैसा न्याय-वैशेषिक ने प्रतिपादन किया है। इनका सूक्ष्म रूप मे विलयन हो सकता है। फिर इन्ही नौ तत्त्वों का सूक्ष्म रूप में विश्लेषण करने को वह उद्यत हो जाता है। विश्लेषण के द्वारा, जैसा आगे स्पष्ट होगा, वह इन **नौ** तत्त्वो को केवल **दो** तत्त्वो में, **'प्रकृति'** तथा **'पुरुष'** मे, अन्तर्भूत पाता है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ न्याय-वैशेषिक का अन्त होता है, वही से साख्य का विचार आरम्भ होता है। जो भौतिक परमाणु तथा मन, आकाश, आदि न्याय में सूक्ष्मतम या रूपरहित होने के कारण दृष्टिगोचर नही है, वे ही साख्य मे स्थूलतम तत्त्व है और साख्य-भूमि में सभी को उनका प्रत्यक्ष होता है। हाँ, इन दोनो का मापदण्ड भिन्न है, क्योकि भूमि भिन्न है, दृष्टि भिन्न है। एक निम्न स्तर का है, दूसरा ऊँचे स्तर का है। न्याय-वैशेषिक का जगत् स्थूल है, व्यावहारिक है, साख्य का जगत् सूक्ष्म है, बुद्धिगम्य है। परन्तु जिस प्रकार न्याय का क्षेत्र 'सत्' है, उसी प्रकार साख्य का भी क्षेत्र 'सत्' है। एक की सत्ता बाह्य है, दूसरे की सत्ता आतरिक है। यही इनका मौलिक भेद है।

सांख्य-दर्शन के आचार्य तथा उनके ग्रन्थ

साख्य-दर्शन के आदि प्रवर्तक महर्षि कपिल है। ४८ अवतारो मे पौराणिको ने इनकी भी गिनती की है। भागवत मे इन्हे विष्णु का पञ्चम अवतार माना गया है।

इन्होंने सांख्य-दर्शन के रहस्यो को सूत्र-रूप में प्रतिपादित किया था, ऐसी परम्परा सुनने में आती है। परवर्ती साख्याचार्य कपिल मुनि के प्रशिष्य 'पञ्चशिखाचार्य' ने भी कहा है—

कपिल

'निर्माणचित्त'[1]मधिष्ठाय भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच'

अर्थात् सृष्टि के आदि में विष्णुरूप भगवान् ने योग-बल से एक चित्त का निर्माण कर, स्वयं एक अंश से उसमें प्रवेश कर, 'कपिल' के रूप को धारण कर, महर्षि कपिल के रूप में, करुणा से युक्त होकर, परम तत्त्व की जिज्ञासा करने वाले अपने प्रिय शिष्य 'आसुरि' को साख्य-दर्शन के तत्त्वो का उपदेश दिया।

सम्भव है कि यही उपदेश सूत्ररूप मे रहा हो, किन्तु इसका कही भी उल्लेख नही मिलता। इनके नाम से कोई अन्य ग्रन्थ प्रसिद्ध भी नही है।

पुराणों में तथा अन्य दार्शनिक ग्रन्थो मे भी लिखा है कि कपिल के साक्षात् शिष्य 'आसुरि' थे। इनकी रचना के सम्बन्ध मे कही कोई उल्लेख नही मिलता।

आसुरि

आसुरि के प्रथम शिष्य[2] 'पञ्चशिख' थे। इन्होंने साख्य-दर्शन पर एक 'सूत्र-ग्रन्थ' लिखा था। ग्रन्थ उपलब्ध नही है, किन्तु इनके नाम से कतिपय सूत्रो का उल्लेख मिलता है। योगभाष्य मे आठ सूत्रों का उल्लेख है।[3] विज्ञान भिक्षु तथा वृद्ध वाचस्पति मिश्र का कहना है कि ये सूत्र पञ्च-शिख के रचित है। इनमे से किसी-किसी सूत्र का अन्य ग्रन्थो मे भी उल्लेख है।

पञ्चशिख

---

[1] योगी लोगों में तपस्या के कारण सूक्ष्म शरीर या चित्त बनानेकी शक्ति हो जाती है, जिसके द्वारा वे अपनी इच्छा से अनेक शरीर धारण कर लेते है और अपूर्व कार्यो का सम्पादन करते हैं। इसे 'निर्माणकाय' कहते हैं। इसी प्रकार योगशक्ति से अनेक प्रकार के चित्तों का भी निर्माण योगी लोग कर लेते हैं और उनके द्वारा ज्ञान का प्रचार करते हैं। इसे 'निर्माणचित्त' कहते हैं। बौद्ध-दर्शन में इसका विशेष विचार है। ज्ञानी लोग मृत्यु के समय पूर्व-पूर्व-जन्म के अन्त कर्मो का भोग कर नाश करने के लिए ज्ञान-योग के बलसे 'कायव्यूह' के द्वारा अनन्त शरीर सूक्ष्म रूप से निर्माण कर, भोगों के द्वारा सभी कर्मो को क्षय कर, अन्त में परमपद को प्राप्त करते है। यह सब इसी का स्वरूप है।

[2] महाभारत, शान्तिपर्व, २१८-६-१०।

[3] १-४; १-२५; १-३६; २-५; २-६; २-१३; ३-१३; ३-४१।

इनके अतिरिक्त 'भामती' आदि ग्रन्थों में भी कुछ सूत्र मिलते हैं।[1] इन सूत्रों का यहाँ एकत्र सकलन कर देना अनुपयुक्त न होगा।

(१) **एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्।**[2]

अर्थात् 'एक ही दर्शन, ख्याति ही दर्शन'। अभिप्राय यह है कि लौकिक भ्रान्ति-दृष्टि मे 'ख्याति' या 'बुद्धि की वृत्ति' ही 'दर्शन' है। इस प्रकार अविद्या के कारण बुद्धि-वृत्ति को 'दर्शन', अर्थात् 'पौरुषेय चैतन्य' के साथ एकाकार मान लिया जाता है।

(२) **आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।**[3]

(३) **तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते।**[4]

अभिप्राय यह है कि अणुमात्र तथा सभी करणो की अपेक्षा सूक्ष्म उस अस्मिता-मात्र या बुद्धितत्त्व का एव उसके आध्यात्मिक सूक्ष्म भान के अनुसरण पूर्वक केवल 'अस्मि' या 'मैं हूँ', इस रूप का ही भान होता है।

(४) **व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेन अभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दति आत्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचति आत्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः।**[5]

अभिप्राय यह है कि व्यक्त या अव्यक्त सत्त्व को, अर्थात् स्त्री, पुत्र, पशु, आदि चेतन तथा शय्या, आसन, आदि अचेतन वस्तु को, अपना ही स्वरूप मानकर, उनकी सम्पत्ति को भी अपनी ही सम्पत्ति मानकर, लोग आनन्दित होते है और उनकी विपत्तियो को अपनी ही विपत्ति समझ कर, लोग शोक में पड़े रहते हैं, ये सभी मोह मे पडे है।

(५) **बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन।**[6]

अभिप्राय यह है 'बुद्धि' से परे, अर्थात् भिन्न रूप का, जो 'पुरुष' है, उसे अपने से आकार (स्वरूप-सदाविशुद्धि), शील (औदासीन्य) विद्या (चैतन्य) आदि के द्वारा भिन्न न देखकर, मोह से उस मे (अर्थात् बुद्धि मे) आत्मबुद्धि करे।

---

[1] ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य की टीका, २-२-१०।

[2] योगभाष्य, १-४।

[3] योगभाष्य, १-२५, इसका अभिप्राय पहले कहा गया है। देखिए, पृष्ठ २७३, टिप्पणी[1]।

[4] योगभाष्य, १-३६। [5] योगभाष्य, २-५। [6] योगभाष्य, २-६।

(६) 'स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः स प्रत्यवमर्षः, कुशलस्य नाऽपकर्षायालं, कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति'।[1]

अभिप्राय यह है कि यज्ञ करने से प्रधान पुण्य-कर्माशय उत्पन्न होता है, किन्तु साथ ही साथ (यज्ञ में पशु-हिंसा करने के कारण) पाप-कर्माशय भी उत्पन्न होता ही है। उस प्रधान पुण्य के साथ गौण रूप से पाप का भी स्वल्प सम्पर्क है। प्रायश्चित्त आदि करने से उस पाप का परिहार हो सकता है और वह पाप कथञ्चित् सह्य किया जा सकता है। किन्तु कुशल अर्थात् विशेष पुण्य-कर्माशय का वह (पाप) नाश नही कर सकता है, क्योकि हमारे और भी अन्य कुशल पुण्य-कर्म है, जहाँ यह स्वल्प पाप-कर्माशय 'आवाप' को प्राप्त कर, अर्थात् क्षीण होकर, स्वर्ग मे थोड़ा ही दु.ख देगा।

(७) 'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते'।[2]

अभिप्राय यह है कि बुद्धि के जो धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, ये आठ भावरूपों के अतिशय हैं तथा वृत्ति के जो शान्त, घोर और मूढ, ये तीन अतिशय (उत्कटता) हैं, इनमे परस्पर विरोध होता है, अर्थात् जब धर्म का उत्कर्ष होता है, तब अधर्म का उत्कर्ष नही होता, इत्यादि; किन्तु बुद्धि का साधारण भाव या वृत्ति अतिशय के साथ विरोध नही करती, मिलकर ही कार्य करती है।

(८) 'तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति'।[3]

अभिप्राय यह है कि समान देश, अर्थात् आकाश मे रहने वाले सभी श्रवण-ज्ञान-युक्त व्यक्तियों का एक ही देशावच्छिन्न श्रुतित्व है, अर्थात् सभी के श्रोत्रेन्द्रिय एक आकाश ही है।

(९) 'तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः'।[4]

अभिप्राय यह है कि पुरुष और प्रकृति के सयोग के हेतु के परित्याग से दु ख का आत्यन्तिक विनाश हो सकता है।

---

[1] योगभाष्य, २-१३।

[2] योगभाष्य, ३-१३।

[3] योगभाष्य, ३-४१।

[4] ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य की टीका भामती, २-२-१०।

(१०) 'आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेन' ।[1]

(११) 'कर्मक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्' ।[2]

किसी का मत है कि 'षष्टितन्त्र' भी पञ्चशिख का ही ग्रन्थ है।

विन्ध्यवास

विन्ध्यवास या विन्ध्यवासिन् एक बहुत प्रसिद्ध साख्य के आचार्य थे। इनका मत अनेक ग्रन्थो मे उल्लिखित मिलता है। कुमारिल के 'श्लोकवार्त्तिक'[3], 'भोजवृत्ति'[4], 'मेधातिथिभाष्य'[5] अभिनवभारती[6] आदि ग्रन्थो मे भी इनके मत की चर्चा है।

मृत्यु के पश्चात् 'आतिवाहिक शरीर' के द्वारा जीव अन्यत्र जाता है। इस मत को विन्ध्यवास नही स्वीकार करते, यह कुमारिल ने कहा है।[7]

इनके अतिरिक्त वार्षगण्य, जैगीषव्य, वोढु, देवल, आदि भी साख्य के प्रसिद्ध आचार्य थे। किन्तु किसी का भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

विज्ञान भिक्षु

विज्ञान भिक्षु १६वी सदी मे वहुत वडे विद्वान् हुए है। कहा जाता है कि वर्तमान 'साख्यसूत्र' और उसका भाष्य 'साख्यप्रवचन-भाष्य', ये दोनो इन्ही की रचनाएँ है। इन्होने 'योगवार्त्तिक' तथा ब्रह्मसूत्र पर 'विज्ञानामृत-भाष्य' भी लिखे है। इनके अतिरिक्त 'साख्यसार' एव 'योगसार' भी इन्होने लिखे है। यह बहुत स्वतन्त्र मत के विद्वान् थे। यही कारण है कि इनकी व्याख्याओ मे बहुत स्वातन्त्र्य है और साख्य एव वेदान्त के मतो का मिश्रण है। इनका मत साख्य तथा वेदान्त दोनो के समन्वयरूप मे है। इसलिए ज्ञानी विद्वान् लोग 'साख्यसूत्र' को साख्य परम्परा का प्रामाणिक ग्रन्थ नही मानते।

ईश्वरकृष्ण

ईश्वरकृष्ण का समय ईसा के पूर्व दूसरी सदी कहा जा सकता है। पञ्चशिख के बाद सम्भव है कि साख्य के अनेक आचार्य हुए हो, किन्तु वे प्रसिद्ध नही थे। उनके बाद सबसे प्रसिद्ध 'ईश्वरकृष्ण' ही हुए। इन्होने 'षष्टितन्त्र' के आधार पर साख्य-दर्शन पर 'सांख्यकारिका' नाम का एक सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ लिखा। यही ग्रन्थ आज भी आदरणीय है। इसको पढकर

---

[1] योगवार्त्तिक, पृष्ठ ४६६ (४.२५)

[2] योगवार्त्तिक, पृष्ठ ४७४ ((४.३२)

[3] पृष्ठ ३३३, कारिका १४३; ७०४; ६२।

[4] ४-२२।

[5] मनुसंहिता, १-५५। [6] नाट्यशास्त्र की व्याख्या, कारिका ११।

[7] अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना—श्लोकवार्त्तिक, आत्मवाद ६२।

साख्य-दर्शन का परम्परागत ज्ञान हमे प्राप्त होता है। इसको 'कनकसप्तति', 'साख्य-सप्तति', 'सुवर्णसप्तति', आदि भी लोग कहते हैं।

इन नामो को देखकर यह निश्चय होता है कि इस ग्रन्थ मे सत्तर कारिकाएँ थी। किन्तु वर्त्तमान काल मे इस ग्रन्थ मे केवल उनहत्तर कारिकाएँ ही उपलब्ध होती हैं।

सांख्यकारिका

'गौडपाद-भाष्य' मे, जो इस ग्रन्थ पर प्राय सबसे प्राचीन उपलब्ध टीका है, केवल उनहत्तर ही कारिकाएँ हैं। यह गौडपाद यदि शकराचार्य के परम गुरु हो तो, कहा जा सकता है कि सातवी सदी के पूर्व ही यह एक कारिका नष्ट हो गयी थी। परन्तु वाद मे किसी ने अन्त मे तीन कारिकाएँ जोड़ दी जिन पर वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका 'तत्त्वकौमुदी' मे व्याख्या भी की है।

वह कौन-सी कारिका थी जो नष्ट हो गयी, इसके सम्वन्ध मे अनेक विद्वानों ने, मुख्यत लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने, बहुत विचार किया है, फिर भी कोई एक मत नही है। हम भी अपना विचार समय पर कहेगे।

सांख्यकारिका की टीकाएँ—'साख्यकारिका' के ऊपर निम्नलिखित व्याख्याएँ मिलती हैं—

(१) **'माठरवृत्ति'** या 'माढरवृत्ति'—यह सबसे प्राचीन है। इसका उल्लेख जैनो के 'अनुयोगद्वार' नाम के, दूसरी सदी के, ग्रन्थ मे है। इन्हे कनिष्क का समसामयिक लोग मानते हैं। परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नही है। काशी 'चौखम्भा संस्कृत सिरीज' के अध्यक्ष ने 'माठरवृत्ति' के नाम से एक टीका प्रकाशित की है। यह टीका भिन्न है। मुझे तो ऐसी प्रतीति होती है कि यह नवम सदी से पहले की कभी नही हो सकती।[1] मालूम होता है कि 'गौडपाद-भाष्य' के आधार पर बृहद् रूप मे इसे किसी ने लिखा है।

(२) **गौडपाद-भाष्य**—यह प्राचीनतम टीका मालूम होती है। इसमे उनहत्तर कारिकाओ पर **भाष्य** है। शकराचार्य के परम गुरु का नाम गौडपाद था, ऐसी लोगो की धारणा है। ये ही 'माण्डूक्यकारिका' के सकलयिता प्रसिद्ध वेदान्ती **'गौडपाद'** हैं। ये दोनो एक है अथवा भिन्न, इसका निर्णय करना कठिन है। एक तो साख्याचार्य है, दूसरे वेदान्ताचार्य। लेखशैली भिन्न है। ज्ञान का स्तर भी भिन्न है। परन्तु शास्त्र भी तो भिन्न

---

[1] **देखिए—उमेश मिश्र—गौडपादभाष्य ऐंड माठरवृत्ति—इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, भाग ७ (१)**

स्तर का है, इसलिए लेखनशैली मे भी भेद होना स्वाभाविक है। फिर भी निर्णय करना कठिन है। इन्होने अपने भाष्य में दो स्थलों पर साख्य के वास्तविक सिद्धान्तो का उल्लेख किया है,[1] जिससे साख्य के स्वरूप का कुछ ज्ञान हो जाता है, किन्तु अन्यत्र तो इनकी भी व्याख्या वहुत सन्तोषजनक नही मालूम होती।

(३) **जयमंगला**—यद्यपि इस टीका के सम्पादक डा० हरदत्त शर्मा ने कहा है कि इसके रचयिता 'शकराचार्य' है, किन्तु यह विश्वसनीय नही मालूम होता। प्राय: इसके रचयिता कोई वौद्ध विद्वान् थे, जिनका नाम 'शकरार्य' था, जिन्होने इस टीका के प्रारम्भ में 'वुद्ध' को मङ्गलाचरण मे प्रणाम किया है। मालूम होता है किसी ने इसमें पूर्व लेखक की त्रुटि समझकर, 'चा' जोड़ दिया है। किन्तु यह ठीक नही है। हमारे गुरुवर महामहोपाध्याय डाक्टर श्री गोपीनाथ कविराज ने भी इस ग्रन्थ की भूमिका में यही वात लिखी है। इस टीका का समय वाचस्पति मिश्र के पूर्व ही कहा जा सकता है।

(४) **चन्द्रिका**--नारायण तीर्थ (१७वी सदी) इसके रचयिता हैं। वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' की यह अनुयायिनी टीका मालूम होती है।

(५) **सरलसांख्ययोग**—२०वी सदी के हुगली के प्रसिद्ध हरिहरारण्यक ने वगला मे यह व्याख्या लिखी है।

(६) **तत्त्वकौमुदी**—वाचस्पति मिश्र (प्रथम) (१०म शतक) ने सांख्यकारिका पर '**तत्त्व-कौमुदी**' नाम की एक विस्तृत व्याख्या लिखी है। सर्वांगपूर्ण होने के कारण साख्यशास्त्र का प्रधान ग्रन्थ एक प्रकार से यही टीका मानी जाती है। इसमे कोई सन्देह नही कि इसमे वड़ी विद्वत्ता है, परन्तु खेद यह है कि वाचस्पति मिश्र ने इस व्याख्या को न्याय-भूमि की दृष्टि से लिखा है। वाचस्पति मिश्र मिथिला के एक वहुत वडे विद्वान् थे। इन्होने न्यायशास्त्र कार्णाटक गुरु त्रिलोचन से पढा था। सभी दर्शनो पर इन्होने ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु प्रधानतया यह नैयायिक थे। इन्होने सांख्य के तत्त्वो को व्यावहारिक बाह्य जगत् के तत्त्वो के समान ही मान लिया और न्यायशास्त्र की प्रक्रिया से उन तत्त्वो का विवेचन किया। इसलिए

[1] कारिका ६ तथा ११।

यह टीका स्थल-स्थल पर कुछ कठिन भी हो गयी और साख्यशास्त्र के विचारो से सर्वथा पराङ्मुख हो गयी है, जैसा तत्त्वो के विचार के समय आगे कहा जायगा। फिर भी आजकल के विद्वानो की दृष्टि मे इसका वहुत आदर है। इसे ही पढकर विद्वान् अपने को साख्यशास्त्र का पूर्णज्ञाता मानते हैं। परन्तु यह एक वहुत बड़ी भ्रान्ति है, जिस ओर लगभग वीस वर्ष पूर्व हमने विद्वानो की दृष्टि आकर्षित की थी।

इसके ऊपर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी है, जिनमे वलराम उदासीन की व्याख्या आधुनिक विद्वानो की दृष्टि मे उत्तम है। परन्तु खेद है कि किसी विद्वान् ने आज तक वाचस्पति मिश्र के दृष्टि-भेद की तरफ ध्यान नही दिया। वाचस्पति मिश्र ने न्याय की दृष्टि से सांख्य के तत्त्वो का विचार किया है, यह सर्वथा निर्मूल है।

(७) **युक्तिदीपिका**—यह भी सांख्यकारिका की एक सुन्दर टीका है, परन्तु इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। इसमे प्राचीन मतो का भी उल्लेख है। इसके अन्त मे **'कृतिरियं श्रीवाचस्पतिमिश्राणाम्'** लिखा है, किन्तु यह भूल है। यह टीका प्राचीन नही है, यह इसके लेख से स्पष्ट है।

(८) **सुवर्णसप्ततिशास्त्र**—लोगो की धारणा है कि यह 'सांख्यकारिका' के ऊपर 'परमार्थ' की टीका है। प० ऐय्यास्वामी शास्त्री ने इसे चीनी भाषा से सस्कृत मे अनुवाद कर प्रकाशित किया है। कहा जाता है कि ५४६ ईस्वी मे वौद्ध विद्वान् परमार्थ ने **सांख्यसप्तति** का सस्कृत भाषा से चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। इसका मूल सस्कृत-ग्रन्थ उपलब्ध नही है। इस टीका मे सत्तर कारिकाएँ हैं। आधुनिक कारिका तिरसठ और एकहत्तर इसमे नही हैं। इसलिए शास्त्री का कहना है कि यह ग्रन्थ पूरा है, इसमे से कोई भी कारिका नष्ट नही हुई है। परन्तु गौडपाद-भाष्य मे तथा अन्य सभी टीकाओ मे कारिका तिरसठ पर व्याख्या है, इसलिए कारिका तिरसठ का अस्तित्व हम कैसे विस्मरण कर दे? तब यह प्रश्न और भी बहुत जटिल हो जाता है।

तत्त्वदृष्टि से मुझे यह विश्वास है कि एक कारिका अवश्य नष्ट हो गयी है। इसी कारण साख्यशास्त्र का वास्तविक रूप आज भी अन्धकार मे पड़ा है।

इन ग्रन्थो मे केवल ईश्वरकृष्ण की कारिकामात्र को साख्य का प्रामाणिक ग्रन्थ सदा से माना गया है। शकराचार्य, आदि विद्वानो ने भी इसी को प्रामाणिक मान कर

विवेचन किया है। अतएव हम भी इसी कारिका के आधार पर यहाँ साख्यशास्त्र का विचार करेगे।

तत्त्वों का विचार

यह पहले कहा गया है कि साख्य-दर्शन के सभी तत्त्व सूक्ष्म है। इसके स्थूलतम तत्त्व भी हमारी स्थूल दृष्टि से देखे नही जा सकते। जिन तत्त्वो को न्याय-वैशेषिक तथा मीमासा ने नित्य कहा है और जिनके अन्दर उनकी दृष्टि नही जा सकती, वे तत्त्व साख्य मे स्थूलतम है। ये सभी बाते क्रमश. स्पप्ट हो जायँगी। जैसे—

न्यायवैशेषिक के नित्य पदार्थ

पृथिवी परमाणु, जलीय परमाणु, तैजस परमाणु, वायवीय परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एव मनस्, ये न्याय-वैशेषिक के नौ नित्य-द्रव्य है, जिनमें निम्नलिखित पाँच 'भत है'। इनके स्वरूप ये है—

पृथिवी परमाणु=पृथिवी द्रव्य+गन्ध,

जलीय परमाणु=जलीय द्रव्य+रस,

तैजस परमाणु=तैजस द्रव्य+रूप,

वायवीय परमाणु=वायवीय द्रव्य+स्पर्श,

आकाश=आकाश द्रव्य+शब्द।

इससे यह स्पप्ट है कि न्याय-वैशेषिक के मत से 'परमाणु' मे द्रव्य और गुण दोनों मिश्रित है। आकाश स्वयं नित्य और विभु है, जिसका विशेष-गुण 'शब्द' है। इसी प्रकार 'आत्मा' नित्य और विभु है। उसमें ज्ञान आदि विशेष-गुण है। इन बातो को ध्यान मे रखकर सांख्य के तत्त्वो का विचार करना चाहिए।

सांख्य की भूमि मे तीन प्रकार के 'तत्त्व' है—**'व्यक्त'**, **'अव्यक्त'** तथा **'ज्ञ'**। **'ज्ञ'** चेतन है। **'अव्यक्त'** को मूला प्रकृति या प्रधान कहते है। यह जड़ है। **'व्यक्त'** के तेईस भेद है और ये कार्य-कारण की परम्परा मे मूला-प्रकृति के परिणाम है। साख्य के जगत् मे ये ही पचीस प्रमेय या तत्त्व है। इन पचीस तत्त्वो के अतिरिक्त और कुछ भी उस भूमि मे नही है। इन्ही तत्त्वो के यथार्थ ज्ञान से साख्यशास्त्र के अनुसार दु ख की निवृत्ति होती है, जैसा कहा है—

सांख्य के तत्त्व

"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्"[1]

व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के विशेष ज्ञान से परम तत्त्व की प्राप्ति होती है। विवेक, ज्ञान या ख्याति ही इनके मत मे **'मोक्ष'** है। अतएव इन्ही तीन प्रकार के तत्त्वो का विशेष विचार करना यहाँ आवश्यक है।

इन तत्त्वों को समझने के लिए हमे यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन तत्त्वों मे एक तत्त्व **'चेतन'** है, जिसे 'ज्ञ' या **'पुरुष'** भी कहते हैं और अवशिष्ट दोनों, **'व्यक्त'**, और **'अव्यक्त'**, जड़ हैं। **'पुरुष'** निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त है, जैसा आगे कहा जायगा। अन्य दोनो तत्त्व त्रिगुण, अविवेकी, आदि धर्मों से युक्त हैं। ये ही दोनों तत्त्व सूक्ष्म जगत् के पदार्थ हैं। इन पदार्थों में परस्पर क्या सम्बन्ध है और किस प्रकार ये सूक्ष्म जगत् के कार्य का निर्वाह करते हैं, इन बातों को समझने के लिए हमें सबसे पहले 'परिणाम' तथा 'कार्यकारणभाव' के स्वरूप को जानना उचित है।

प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई 'धर्म'[2] होता ही है। यह धर्म नित्य नही है। यह बदलता ही रहता है। इसी बदलने को 'परिणाम' कहते हैं। अर्थात् किसी वस्तु

परिणाम

में पूर्व में वर्तमान धर्म का हट जाना और उसके स्थान मे दूसरे धर्म का आ जाना ही **'परिणाम'** है। यह परिणाम व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वों में सतत होता ही रहता है।

ज्ञानियों ने सभी वस्तुओं के अवयवो की परीक्षा कर यह निश्चय किया है कि वस्तुतः जगत् की प्रत्येक वस्तु सत्त्व, रजस् तथा तमस्, इन तीनो गुणों से ही बनी है।

गुणों का स्वरूप

इन्ही तीनों गुणो के संस्थान-भेद से वस्तुओ मे भेद है। इनमे 'सत्त्व' का स्वरूप है—प्रकाश तथा हलकापन, 'तमस्' का धर्म है—अवरोध, गौरव, आवरण, आदि और 'रजस्' का धर्म है—चल, अर्थात् सतत क्रियाशील रहना। ये सत्त्व, रजस् और तमस् सांख्यदर्शन में 'गुण' कहलाते हैं। ये अपने धर्म या स्वरूप से पृथक् कभी नही होते, अर्थात् रजोगुण के रहने के कारण प्रत्येक वस्तु क्रियाशील है। इसी रजस् के कारण प्रतिक्षण में तत्त्व का एक धर्म को छोड कर दूसरे धर्म को स्वीकार करना 'परिणाम' होता रहता है। रजोगुण भी सभी वस्तुओं में रहता ही है, अतएव स्वभाव से ही प्रत्येक वस्तु परिणामशील है। चेतन को छोडकर परिणाम-शून्य अन्य कोई भी वस्तु सांख्यदर्शन में नही है।

---

[1] सांख्यकारिका, २।

[2] तत्त्व या वस्तु में रहने वाली एक शक्ति या उस वस्तु का अपना ही स्वरूप 'धर्म' है। यह बदलता रहता है, किन्तु इसका नाश नहीं होता।

'उत्पत्ति' और 'नाश' दोनो ही एक धर्म को छोड कर दूसरे धर्म का ग्रहण करना है। केवल स्वरूप मे परिवर्तन होता है, वस्तु मे नही। इसी को 'सत्कार्यवाद' कहते हे। इस मत मे यद्यपि 'कारण' से 'कार्य' पृथक् देख पडता है, दोनो के नाम भिन्न हे, तथापि वस्तुत 'कारण' से 'कार्य' भिन्न नही है। 'कार्य' अपने 'कारण' में ही रहता है। भेद है धर्म का। अतएव ये लोग 'भेदसहिष्णु अभेदवादी' हे। इनका सिद्धान्त है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:'[1]

अर्थात् 'असत्' से 'सत्' नही होता और 'सत्' का अभाव नही होता।

ईश्वरकृष्ण ने 'सत्कार्य' को सिद्ध करने के लिए ये पाँच युक्तियाँ दी हे—

(१) **असदकरणात्**—असत' अकरणात्—अर्थात् जो नही है (असत् है) उसमे उत्पन्न करने की सामर्थ्य नही (अकरण) है, अर्थात् उसमे कारण-व्यापार नही हो सकता। जैसे—खरहे का सीग (जो असत् है) कभी कुछ उत्पन्न नही कर सकता। अतएव यदि 'कारण' मे 'कार्य' असत् होता, तो वह 'कारण' कभी भी उस कार्य को उत्पन्न न कर सकता।

(२) **उपादानग्रहणात्**—किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए एक किसी विशेष कारण (उपादान) की ही खोज की जाती है। इससे स्पष्ट है कि वह विशेष कारण ही उस वस्तु को उत्पन्न करने मे समर्थ हो सकता है, दूसरा नही, अर्थात् वह विशेष कारण उस कार्य से किसी प्रकार सम्बद्ध होने के कारण ही उसे उत्पन्न कर सकता है, अन्यथा नही। अतएव उस 'कार्य' के लिए उस विशेष कारण की शरण लेनी पड़ती है। यदि 'कार्य' उस विशेष कारण से सम्बद्ध न होता तो, वह 'कारण' उसे कभी व्यक्त, अर्थात् उत्पन्न नही कर सकता था। 'कार्य' से असम्बद्ध 'कारण' वस्तुत: 'कारण' ही नही है। अर्थात् उपादान कारण मे 'कार्य' किसी एक रूप मे अवश्य वर्तमान है।

(३) **सर्वसंभवाभावात्**—यदि उपादान कारण के साथ कार्य का सम्बद्ध होना आवश्यक न होता, तो उस 'कारण' को उपादान मानना तथा उस 'कार्य'

---

[1] भगवद्गीता, २-१६।

के लिए उस उपादान की शरण लेना, दोनो ही व्यर्थ होते। फिर तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु ऐसी स्थिति तो कही देखने मे नहीं आती। यह अनुभव-विरुद्ध है। सभी वस्तुएँ सभी कारण से उत्पन्न नही होती। अतएव 'कार्य' 'कारण' मे सत्, अर्थात् कारण-व्यापार के पूर्व भी, विद्यमान है।

(४) **शक्तस्य शक्यकरणात्**—पहले यह कहा गया है कि मीमासा-मत में एक 'शक्ति'-पदार्थ माना जाता है। कारण में रहने वाली और कार्य को उत्पन्न करने वाली यही 'शक्ति' कार्य को उत्पन्न करती है। 'कार्य' को 'कारण' में रहने की या 'कारण' से किसी प्रकार सम्बन्ध रखने की आवश्यकता नही है। अतएव, जिस प्रकार मीमासक कहते हैं, कारण मे कार्य के न रहने पर भी, कारण मे रहने वाली शक्ति कार्य को उत्पन्न करने मे नियन्त्रण रखेगी, फिर सभी सबसे उत्पन्न नही होगे। अतः सत् कार्य मानने की कोई आवश्यकता नही है।

इसके उत्तर मे साख्य कहता है कि किसी 'कारण' में कोई शक्ति है, जिससे कोई विशेष 'कार्य' उत्पन्न होता है या नही, यह भी तो उस कार्य को देखकर ही कहा जा सकता है, अर्थात् उस कारण मे उस कार्य के सम्बद्ध रहने से ही मालूम होता है। सम्बद्ध रहने से उसकी उत्पत्ति होती है और सम्बद्ध न रहने से उस कार्य की उत्पत्ति नही होती, अर्थात् 'कार्य' कारण-व्यापार के पूर्व 'कारण' मे विद्यमान है।

(५) **कारणभावात्**[1]—साख्य मे 'कारण' और 'कार्य' मे अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है। ऐसी स्थिति मे यदि 'कारण' है, तो 'कार्य' भी है, ऐसा मानना पड़ेगा। सत्-रूप कारण के साथ असत्-रूप कार्य में अभेद सम्बन्ध नही हो सकता। अतएव 'कारण' मे 'कार्य' विद्यमान है, यह मानना पडता है।

इन हेतुओं के द्वारा साख्य **सत्कार्यवाद** की स्थापना करता है, अर्थात् समस्त विश्वरूप **कार्य** मूलप्रकृतिरूप **कारण** मे अव्यक्तावस्था मे वर्तमान रहता है।

---

[1] सांख्यकारिका, ९।

तत्त्व-विचार

यह प्रकृति तीनो गुणो की 'साम्यावस्था' है। इसमे रजोगुण क्रियाशील है, किन्तु तमोगुण तो अवरोध-रूप मे इस 'प्रकृति' को कार्य उत्पन्न करने मे वाधा देता है। परन्तु पूर्व-पूर्व-जन्मों के कर्मों का फलस्वरूप अदृष्ट तो जीवो के साथ रहता ही है। वे अदृष्ट जव पाकोन्मुख होते है, अर्थात् पुन ससार में आकर जीव को सुख-दुःखादि के रूप में भोग देने को उन्मुख होते है, तव उस तमोगुण का प्रभाव हट जाता है और 'प्रकृति' मे क्षोभ (चाचल्य) उत्पन्न होता है। पश्चात् प्रकृति का अवरोध हट जाता है और रजोगुण के रहने के कारण स्वतः परिणामिनी वह मूला प्रकृति अव्यक्त रूपो को 'महत्', 'अहकार', आदि व्यक्त तत्त्वों के रूप में प्रकाशित करती है।

प्रकृति से तत्त्वों की अभिव्यक्ति

अव प्रश्न होता है कि क्षोभ होने पर मूला प्रकृति से सवसे पहले सात्त्विक वुद्धि की ही अभिव्यक्ति क्यो हुई ?

समाधान मे यह कहा जा सकता है कि तमोगुण का प्रभाव तो अदृष्ट के फलोन्मुख होने से ही हट गया, रजोगुण तो सत्त्वगुण का संचालन करने में ही लगा हुआ था, अतएव सत्त्वगुण ही प्रधान होकर बुद्धि की अभिव्यक्ति कर सका।

दूसरी वात यह भी है कि क्षोभ तो फलोन्मुखावस्था मे पुरुष के विम्व के सम्पर्क से ही होता है। पुरुष का विम्व चित् और प्रकाश-स्वरूप है। गुणों में 'सत्त्वगुण' ही प्रकाश-स्वरूप है। अतएव चिद् विम्व का सम्पर्क फलोन्मुखावस्था में, सत्त्वगुण के ही साथ होना स्वाभाविक है। इसी लिए उस अवस्था मे चिद् विम्व का सम्पर्क 'सत्त्वगुण' के साथ होते ही प्रकृति मे क्षोभ उत्पन्न हुआ और उससे सात्त्विकी बुद्धि की ही प्रथम वार अभिव्यक्ति हुई।

प्रकृति के सात्त्विक अश से **'महत् तत्त्व'** की, जिसे **'बुद्धितत्त्व'** भी कहते है, अभिव्यक्ति होती है, इसलिए 'महत्' को प्रकृति की 'विकृति' कहते है। महत् में भी सत्त्व, रजस् और तमस् है। किन्तु इसमें प्राधान्य है 'सत्त्व' का, अतएव सत्त्व के धर्म, अर्थात् प्रकाश और लघुत्व, वुद्धि मे है।[1]

---

[1] सांख्यकारिका, १३।

बुद्धितत्त्व अध्यवसायात्मक है, अर्थात् किसी कार्य के करने में जो निश्चय किया जाता है कि, 'यह कार्य हम अवश्य करेंगे', वह बुद्धि का स्वरूप है। रजोगुण के कारण बुद्धि भी चल है, अतएव इसका भी परिणाम होता है। उस समय **'विकृति'** होते हुए भी बुद्धि **'प्रकृति'** होकर **'अहंकार'** को उत्पन्न करती है। अतएव यह 'बुद्धि' **'प्रकृति-विकृति'** है।

बुद्धि

इसके दो प्रकार के रूप होते है—'सात्त्विक', जैसे—धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य, एवं 'तामसिक', जैसे—अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य।[1] जीवात्मा के भोग का प्रधान साधन 'बुद्धि' है और यही 'बुद्धि' पुन. प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्म भेद को भी अभिव्यक्त करती है, अर्थात् बुद्धि के ही द्वारा भोग तथा मुक्ति भी होती है।[2] बुद्धि के ये धर्म 'भाव' भी कहलाते है और ये 'लिंगशरीर' में रहते है।[3]

बुद्धि में भी सत्त्व, रजस् और तमस्, ये तीनो गुण है। सत्त्व प्रधान है, अन्य गुण गौण है। प्रतिक्षण परिणाम होने के कारण 'बुद्धितत्त्व' से परिणाम के द्वारा **'अहंकार'**-तत्त्व बन जाता है। बुद्धितत्त्व मे रहने वाले रजोगुण से 'अहकार' उत्पन्न होता है। इसमें रजोगुण का प्राधान्य है। यह अभिमानात्मक है, अर्थात् 'मै', 'मुझे', आदि जो अपने मे अभिमान होता है, वह 'अहकार' का स्वरूप है।

अहंकार

ये तीनो गुण आपस मे एक दूसरे को अभिभूत करते रहते है। कदाचित् रजोगुण तथा तमोगुण को अभिभूत कर 'सत्त्व' प्रीति तथा प्रकाश-रूप अपने धर्मों से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है, कदाचित् सत्त्व तथा तमोगुण को अभिभूत कर 'रजोगुण' अप्रीति तथा प्रवृत्ति-रूप अपने धर्मों से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है, कदाचित् सत्त्व तथा रजस् को अभिभूत कर 'तमोगुण' विषाद एव स्थिति-रूप अपने धर्मों से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है। ये गुण अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करने मे एक दूसरे की अपेक्षा रखते है।

गुणों का स्वभाव

ये गुण आपस मे मिलकर, एक दूसरे को सहायता देकर, कार्य को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् इनमें जो परस्पर सहायता देने का स्वभाव है, वही परिणाम रूप मे कार्य

---

[1] **सांख्यकारिका, २३।**

[2] **सांख्यकारिका, ३७।**

[3] **सांख्यकारिका, ४०।**

को अभिव्यक्त करता है। ये तीनों गुण परस्पर मिल कर ही रहते हैं। कभी कोई भी एक दूसरे से पृथक् होकर नही रहता। इनमें अविनाभाव सम्बन्ध है।[1] अतएव इस जगत् मे शुद्ध सात्त्विक या शुद्ध राजसिक या शुद्ध तामसिक कोई भी वस्तु नही है। जिसमे जिसकी प्रधानता हो, वह उस नाम से कहा जाता है।

इसी कारण से 'अहकार'-तत्त्व मे भी तीनों गुण वर्तमान हैं। अहंकार बुद्धि की 'विकृति' है, परन्तु इससे जब दूसरा तत्त्व उत्पन्न होता है, उस समय 'अहंकार' भी 'प्रकृति' का धर्म धारण कर लेता है। यह भी गुणो का स्वभाव है। अतएव अहंकार भी 'प्रकृति-विकृति' है।

अहंकार का स्वरूप—अहंकार अभिमानात्मक है। इसमे भी तीनो गुणों के मिलने के कारण इसके तीन रूप हैं—

'वैकृत', जिसमे 'सात्त्विक गुण' विशेष है। इससे ग्यारह इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है।

'भूतादि', जिसमें 'तमोगुण' का वैशिष्ट्य है। इससे पाँच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति होती है।

'तैजस', जिसमें 'रजोगुण' की विशेषता है। 'तैजसरूप अहंकार' सात्त्विक तथा तामस इन दोनो अशो को अपने-अपने कार्य करने मे सहायता देता है।[2]

इन अशो से युक्त अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की, अर्थात् मनस्, पाँच ज्ञानेन्द्रियों[3] की तथा पाँच कर्मेन्द्रियो[4] की, अभिव्यक्ति होती है, किन्तु इन्ही गुणो के अवान्तर तारतम्य से इन ग्यारहो मे भी अन्तर है। ये ग्यारह केवल 'विकृति' है। ये कभी भी 'प्रकृति' का रूप नही धारण करती है। इनसे कोई अन्य तत्त्व अभिव्यक्त नही होता।

इन्द्रियाँ

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक्, ये पाँच 'ज्ञानेन्द्रियाँ' या 'बुद्धीन्द्रियाँ' है। इनके विषय क्रमश. रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श हैं। ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने

---

[1] सांख्यकारिका, १२।

[2] सांख्यकारिका, २४-२५।

[3] सांख्यकारिका, २६।

[4] सांख्यकारिका, २६।

विषयो के प्रति केवल 'आलोचनात्मक', अर्थात् 'द्वाररूप मे सामर्थ्य-प्रदर्शनमात्र', वृत्ति है। वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ, ये पांच **'कर्मेन्द्रियां'** है। इनके विषय क्रमशः वचन (वर्णोच्चारण), आदान, विहरण, उत्सर्ग (मलत्याग) तथा लौकिक आनन्द है।

इनमें से ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने के समय 'मन' ज्ञानेन्द्रिय के समान रूप का तथा कर्मेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय-स्वरूप का हो जाता है। इसी लिए इसे 'उभयात्मक' कहा है।[1] यह दोनो प्रकार की इन्द्रियों की सहायता करता है।

किसी कार्य को करने के समय मे 'मन' में—'किया जाय या न किया जाय'—इस प्रकार जो संकल्प-विकल्प होता है, वह 'मन' का धर्म है, स्वरूप है।

'अहंकार' के तामस अंश से शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा, ये पांच **तन्मात्राएँ** अभिव्यक्त होती है। ये सभी तामसिक स्वरूप की है।

तन्मात्राएँ

'तन्मात्र' शब्द का अर्थ है—'तदेव इति तन्मात्रम्', अर्थात् 'वही'। शब्द के आगे 'मात्र' शब्द लगाने का अभिप्राय है—उस शब्द के अर्थ को सीमित करना। अर्थात् 'शब्दतन्मात्र' का अर्थ है—'शब्द ही', और कुछ भी नही। कहने का अभिप्राय है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, ये पाँचों धर्म अपने शुद्ध रूप में पृथक्-पृथक् अहंकार से अभिव्यक्त होते है। इनमे परस्पर कोई भी सम्बन्ध नही है। अहकार से ये पांच स्थूल तत्त्व उत्पन्न होते हैं। परन्तु ये फिर भी स्वयं 'अविशेष', अर्थात् सूक्ष्म ही है। ये अहंकार से उत्पन्न होने के कारण स्वय 'विकृति' है, किन्तु पश्चात् आकाश आदि स्थूल तत्त्वो को उत्पन्न करने के कारण 'प्रकृति' भी है। इसलिए ये पाँच **'प्रकृति-विकृति'** है। ये सूक्ष्म है, अतएव इन्हे **'अविशेष'** कहा जाता है।[2]

शब्दतन्मात्रा आदि पांच पृथक्-पृथक् अहंकार से उत्पन्न हुए है। इस परिणाम की प्रक्रिया में यद्यपि ये पांच अहंकार से उत्पन्न हुए है, अहंकार का तामस रूप इन पाँचो मे समान रूप से पृथक्-पृथक् वर्तमान है, फिर भी ये परस्पर मिले हुए नही है। अतएव इनसे जो आगे सृष्टि होगी, वह स्वतंत्र रूप मे पृथक्-पृथक् होगी। अर्थात् 'शब्दतन्मात्रा' से 'आकाश', 'स्पर्श-

पाँच भूत

---

[1] सांख्यकारिका, २७।

[2] **'तन्मात्राण्यविशेषाः'—सांख्यकारिका, ३८।**

तन्मात्रा' से 'वायु', 'रूपतन्मात्रा' से 'तेजस्', 'रसतन्मात्रा' से 'जल' तथा 'गन्धतन्मात्रा' से 'पृथिवी' पृथक्-पृथक् अभिव्यक्त होते हैं।[1] यही पाँच भूतों की सृष्टि है। ये भूत-सांख्यमत में स्थूलतम पदार्थ हैं। अतएव इन्हें 'विशेष', अर्थात् स्थूल, कारिका में कहा है।[2] इसी कारण इसे लोग 'महाभूत' भी कहते हैं। अर्थात् शब्द आदि तन्मात्राएँ सूक्ष्म 'भूत' हैं और उनसे क्रमशः आकाश आदि स्थूल 'महाभूत' अभिव्यक्त होते हैं। फिर भी यह सर्वदा स्मरण रखना है कि ये 'स्थूल महाभूत' एक प्रकार से परमाणु-स्वरूप ही हैं, अतएव ये न्याय-वैशेषिक के 'महाभूतो' से वहुत सूक्ष्म हैं, अर्थात् सांख्य के ये 'स्थूल महाभूत' हैं, किन्तु न्याय-वैशेषिक के ये 'परमाणु' ही हैं।

यह अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक के 'परमाणु' के समान सांख्य के ये पाँच भूत न्याय-वैशेषिक के स्थूल महाभूतो के समान, जैसा कि कुछ टीकाकारों ने समझा है, कदापि नही हैं। शब्दतन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है और उसमे शब्द है। स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न होती है और उसमे स्पर्श है। रूपतन्मात्रा से तेजस्, जिसमें रूप है, रसतन्मात्रा से जल, जिसमें रस है तथा गन्धतन्मात्रा से पृथिवी, जिसमें गन्ध है, उत्पन्न होते हैं। ये स्थूल हैं, अतएव शान्त, घोर तथा मूढ़ हैं।[3] इसे अच्छी तरह समझने के लिए निम्नलिखित वातो को ध्यान मे अवश्य रखना चाहिए—

न्याय-वैशेषिक-मत मे पृथिवी, जल, तेजस् तथा वायु, इन चार कार्यरूप स्थूल द्रव्यो का सवसे सूक्ष्म, अतएव नित्य द्रव्य है इन चारो का 'परमाणु', अर्थात् स्थूल

परमाणु का स्वरूप

कार्यरूप पृथिवी छोटी होते-होते एक ऐसी अवस्था मे पहुँच जाती है जिसका उसके वाद विभाग नही किया जा सकता है। उस पृथिवी की वही अवस्था चरम अवस्था है। उस पृथिवी का उससे छोटा हिस्सा नही हो सकता है। अतएव वह 'नित्य' है। उसी को पृथिवी का 'परमाणु' भी कहते हैं।

---

[1] गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात् तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादाकाशम्, इत्येवमुत्पन्नानि महाभूतान्येते विशेषाः—गौडपादभाष्य, सांख्यकारिका, ३८।

[2] सांख्यकारिका, ३८।

[3] तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च॥—सांख्यकारिका, ३८।

इस पृथिवी-'परमाणु' में पृथिवी 'द्रव्य' है और साथ-साथ उसके गन्ध आदि कुछ गुण है, अर्थात् यह परमाणु-रूपा 'पृथिवी' भी गुणवती है। इसी प्रकार जल के परमाणु हैं और वे भी द्रव्य और गुण से युक्त, अर्थात् गुणवान् है; तेजस् के परमाणु भी द्रव्य और गुण से युक्त, अर्थात् गुणवान् हैं तथा वायु के भी परमाणु द्रव्य और गुण से युक्त, अर्थात् गुणवान् हैं।

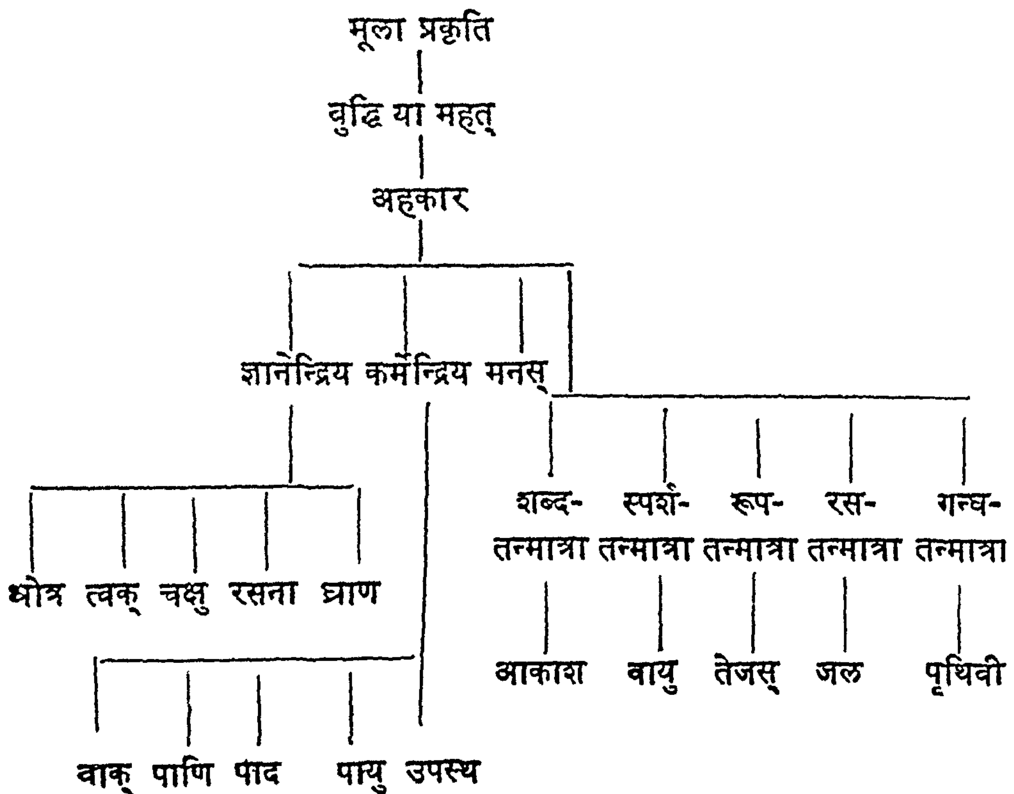
पृथिवी-परमाणु=द्रव्य+गुण (गन्ध)

जलीय परमाणु=द्रव्य+गुण (रस)

तैजस परमाणु=द्रव्य+गुण (रूप)

वायवीय परमाणु=द्रव्य+गुण (स्पर्श)

तत्त्वों की अभिव्यक्ति—न्याय-वैशेषिक-मत के अनुसार उनके सूक्ष्मतम भूतों का स्वरूप ऊपर दिखाया गया, अब साख्यमत का विचार किया जाता है। साख्यमत में परिणाम होता है। 'प्रकृति' से क्रमश. तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है, जिसका स्वरूप निम्नलिखित प्रकार से निरूपित किया जा सकता है—



ये सांख्य के चौबीस तत्त्व हैं। इनके अतिरिक्त एक 'पुरुष' तत्त्व है, जिसे मिला कर सांख्य में पचीस तत्त्व हैं। ये ही सांख्य के 'प्रमेय' हैं। इनसे अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु सांख्य का 'प्रमेय' नहीं है। अब यहाँ विचार करना चाहिए कि सांख्य के आकाश आदि उपर्युक्त पाँच भूतो का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

उपर्युक्त न्याय-वैशेपिक तथा सांख्य के तत्त्वों के स्वरूप का अच्छी तरह विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य के आकाश आदि पाँच भूत न्याय-वैशेषिक के परमाणुओ के समान है, न कि उनके महाभूतो के समान। जैसा ऊपर कहा गया है, सांख्य के इन पाँच भूतों में क्रमशः 'शब्दतन्मात्रा' से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'आकाश' में केवल 'शब्द', 'स्पर्शतन्मात्रा' से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'वायु' में केवल 'स्पर्श', 'रूपतन्मात्रा' से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'तेजस्' में केवल 'रूप', 'रसतन्मात्रा' से स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'जल' में केवल 'रस' तथा 'गन्धतन्मात्रा' से स्वतन्त्र रूप मे अभिव्यक्त होने के कारण 'पृथिवी' मे केवल 'गन्ध' रहते है।

सांख्य के पंचभूत—इस प्रकार ये पाँचों भूत क्रमशः पृथक्-पृथक् रूप में पाँच तन्मात्राओं से अभिव्यक्त हुए हैं। अतः इनमें क्रमशः पृथक्-पृथक् पाँच तन्मात्राएँ भी है, अर्थात्

आकाश=आकाश तत्त्व+शब्दतन्मात्रा, अर्थात् शब्द।

वायु=वायु तत्त्व+स्पर्शतन्मात्रा, अर्थात् स्पर्श।

तेजस्=तेजस् तत्त्व+रूपतन्मात्रा, अर्थात् रूप।

जल=जल तत्त्व+रसतन्मात्रा, अर्थात् रस।

पृथिवी=पृथिवी तत्त्व+गन्धतन्मात्रा, अर्थात् गन्ध।

उपर्युक्त बातों को ध्यान मे रखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि न्याय-वैशेषिक-मत के जो चार परमाणु हैं तथा सांख्य के जो वायु आदि चार भूत है, इनमे प्राय कुछ भी भेद नही है।

'आकाश' न्याय-वैशेपिक-मत मे नित्य और व्यापक है, किन्तु सांख्य के मत में वह अव्यापक है तथा अनित्य है।

न्याय-वैशेषिक-मत में पहले निर्गुणरूप वायु आदि चारों भूतों की उत्पत्ति होती है, पश्चात् उनमें क्रमशः अपना-अपना गुण उत्पन्न होता है, अर्थात 'द्रव्य' कारण है

और उसका कार्य है 'गुण'। सांख्य में बिलकुल उलटा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध 'कारण' हैं और इनसे क्रमशः पृथक्-पृथक् आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथिवी, ये पांच भूत उत्पन्न होते हैं और ये शब्द आदियों के क्रमशः 'कार्य' हैं।

इन अंशों में भेद होने पर भी सांख्य के चार भूत तो न्याय-वैशेषिक के चार परमाणुओं के समान ही मालूम होते हैं।

ये पांचों भूत एक प्रकार से वेदान्तियों के '**अपञ्चीकृत**' भूतों के समान हैं।

ये तेईस तत्त्व '**मूला प्रकृति**' से क्रम से उत्पन्न होते हैं। ये प्रकृति के 'व्यक्त रूप' हैं। अतएव ये '**व्यक्त**' कहलाते हैं। इनका प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान होता है।[1] इनके अतिरिक्त एक '**अव्यक्त**' तथा एक '**ज्ञ**' के होने से सांख्य में पचीस तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों से सांख्य, अर्थात् बौद्धिक जगत् की सभी वस्तुएँ अभिव्यक्त होती हैं।

व्यक्त के धर्म

'महत् तत्त्व' से लेकर पंचभूत पर्यन्त सभी '**व्यक्त**' हैं। ये सभी अपने-अपने कारण से उत्पन्न होते हैं और ये **अनित्य, अव्यापक, क्रियाशील**[2] तथा **अनेक**[3] हैं। इनमें प्रत्येक में तीन गुण हैं। वे ही गुण संस्थान-भेद से नाना रूप को अभिव्यक्त करते हैं। इन गुणों में आपस में '**आश्रितत्व**' है। यही कारण है कि प्रत्येक 'व्यक्त' अपने-अपने कारण में आश्रित है। ये

---

[1] व्यक्तम् प्रत्यक्षसाध्यम्-गौडपादभाष्य, सांख्यकारिका, ६।

[2] प्रत्येक 'व्यक्त' में 'रजोगुण' है, जो सतत चलायमान रहता है और वैषम्य उत्पन्न करता है। वह एक क्षण के लिए भी वैषम्य उत्पन्न करने वाली क्रिया से निवृत्त नहीं होता। इसी क्रिया के कारण एक 'व्यक्त' से वैषम्य से युक्त दूसरा 'व्यक्त' उत्पन्न होता है तथा रजस् के द्वारा वैषम्य उत्पन्न होने के कारण 'व्यक्तों' में स्थूल रूप से 'क्रिया' का भान होता है, उनमें स्थूल चेष्टा होती है। इसी लिए व्यक्त 'सक्रिय' है।

कह नहीं सकते कि टीकाकार ने मरणकाल में एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर के धारण करने के समय की क्रिया अथवा संसार-दशा में सूक्ष्म शरीर के आश्रित होकर विचरण करना, आदि अर्थ कहां से और क्यों यहां लाये ?

[3] गौडपाद ने 'अनेकम्'—'बुद्धिरहंकारः पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि चेति'—इन्हें गिना दिया है, जिससे यह स्पष्ट है कि 'व्यक्त' अनेक हैं। परन्तु गौडपाद का अर्थ ठीक नहीं है। यहां कहना है कि प्रत्येक 'व्यक्त' अनेक है, अर्थात् 'महत्' अनेक है, 'अहंकार' अनेक है, इत्यादि, न कि व्यक्तों की ही संख्या अनेक है, जैसा गौडपाद ने कहा है।

'लिंग' है, अर्थात् लय के समय में प्रत्येक 'व्यक्त' अपने-अपने कारण में लय को प्राप्त होता है।

यहाँ 'लिंग' का अर्थ 'हेतु' करना समुचित नही मालूम होता, क्योंकि ऐसा करने से अतिव्याप्ति दोष हो जायगा। **'मूला प्रकृति'** भी तो एक प्रकार से **बद्ध पुरुष** के अस्तित्व को प्रमाणित करने मे 'लिंग'[1] है। परन्तु यहाँ तो मूला प्रकृति को 'अलिंग' कहना है। इसलिए लय को प्राप्त होना ही 'लिंग' का अर्थ करना उचित है।

प्रत्येक 'व्यक्त' मे तीन गुण हैं जो अभिव्यक्त रूप में हमें देख पडते है। इन गुणो का वैषम्य रूप 'व्यक्तों' मे है। अतएव सभी व्यक्त **'सावयव'** है। यद्यपि 'मूला प्रकृति' मे भी तीनो गुण है, परन्तु वे तीनो गुण 'प्रकृति' मे अव्यक्तावस्था मे, अर्थात् 'साम्यावस्था' मे, है। उस अवस्था मे उनका भान ही नही होता। अतएव उनको **'अवयव'** कहना कारिकाकार को इष्ट नही मालूम होता। इसलिए 'प्रकृति' **'निरवयव'** है।[2]

प्रत्येक 'व्यक्त' अपने अस्तित्व के लिए अपने कारण पर निर्भर है। अतएव यह 'परतन्त्र' है।

'व्यक्त' तीनो गुणो से युक्त है। ये जड़ 'प्रकृति' के कार्य है, इसलिए ये भी जड़ हैं और जड होने के कारण **'अविवेकी'** हैं, अर्थात् अपने को दूसरो से पृथक् स्वयं नही कर सकते। ये **'विषय'** है, अर्थात् ज्ञान से भिन्न और सबके भोग की वस्तु है। ये **'सामान्य'** है, अर्थात् सकल साधारण **व्यक्तियों** के लिए है। ये **'अचेतन'** है, अर्थात् चेतन **'ज्ञ'** से भिन्न है और जड़ है। ये **'प्रसवधर्मि'** है। किसी को उत्पन्न करने की योग्यता को 'प्रसवधर्मित्व' टीकाकारो ने कहा है, किन्तु ग्यारह इन्द्रियो मे तथा पाँच भूतो मे दूसरो को उत्पन्न करने की योग्यता नही है। अतएव यह अर्थ उचित नही मालूम होता। यहाँ 'सरूप या विरूप या दोनों प्रकार के परिणामों से युक्त होना **'प्रसवधर्मित्व'** का अर्थ उचित मालूम होता है।

---

[1] सांख्यकारिका, १७।

[2] कुछ टीकाकारों ने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आदि से युक्त होने से 'व्यक्त' को 'सावयव' कहा है, किन्तु क्या बुद्धि, अहंकार, मन, दस इन्द्रियां, इनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, अभिव्यक्त है ?

सत्त्व, रजस् तथा तमस्, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था **'मूला प्रकृति'** अथवा **'प्रधान'** या **'अव्यक्त'** कहलाती है। यह अति सूक्ष्म होने के कारण परोक्ष है।[1]

अव्यक्त

बुद्धि के द्वारा इसका प्रत्यक्ष नही होता। यह अनुमान से सिद्ध होता है। 'महत्तत्त्व' आदि इसके कार्य है। कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नही होती। अतएव महत् आदि का जो कारण है, वही **'प्रधान'** या **'प्रकृति'** है।[2]

'मूला प्रकृति' अव्यक्त है, इसका प्रत्यक्ष नही होता। अतएव इसके अस्तित्त्व के सम्बन्ध मे साधारण लोगो को सन्देह उत्पन्न होता है कि **'प्रकृति'** है या नही? इसी लिए युक्तियो के द्वारा **'प्रकृति'** के अस्तित्व को सिद्ध करते है—

(१) **भेदानां परिमाणात्**—यह कारण है। 'महत्' आदि तेईस तत्त्व सीमित परिमाण के हैं। सीमित परिमाण वाले कार्यों को उत्पन्न करने के लिए एक व्यापक कारण का होना आवश्यक है। यही **'प्रकृति'** या **'अव्यक्त'** रूप व्यापक कारण है।

(२) **भेदानां समन्वयात्**—'महत्' आदि तत्त्व भिन्न-भिन्न है, फिर भी इन सब मे एक साधारण धर्म है, जो सबको एक सूत्र मे बाँधता है। जो **'समन्वय'** करने वाला, अर्थात् एक भाव को सर्वत्र रखने वाला है, वही **'अव्यक्त'** है।

(३) **(भेदानां) शक्तितः प्रवृत्तेश्च**—'महत्' आदि तत्त्वो में सरूप तथा विरूप परिणाम के लिए प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति व्यक्तो मे किसी विशेष 'शक्ति' के कारण होती है। वह 'शक्ति' प्रत्येक 'व्यक्त' मे भिन्न-भिन्न है, ऐसा स्वीकार करने मे गौरव है। अतएव एक 'शक्ति' का आश्रय मानना आवश्यक है जो सभी व्यक्तो मे सरूप-विरूप **परिणाम** की योग्यता को उत्पन्न करे। वह आश्रय **'अव्यक्त'** है। वस्तुत· **'मूला प्रकृति'** या **'अव्यक्त'** मे ही तो तीनो गुण है। गुणो मे ही परिणाम की शक्ति है। यह शक्ति प्रत्येक व्यक्त मे 'मूला प्रकृति' से ही आती है और इसी लिए इन व्यक्तों मे परिणाम होता है।[3]

---

[1] **सांख्यकारिका, ८।**

[2] **सांख्यकारिका, ८, १४।**

[3] **सांख्यकारिका, १०-११।**

(४) **कारण-कार्य-विभागात्**—कारण और कार्य के रूप में तत्वों का विभाग किया जाता है, जैसे 'महत्' कारण है और 'अहंकार' उसका कार्य है। इसी प्रकार 'महत्' भी तो 'कार्य' है, उसका कारण होना चाहिए। इसी प्रकार अन्य तत्त्वों मे भी जो दूसरे तत्त्वो को उत्पन्न करने की कारणरूपा शक्ति है, उस कारण का अस्तित्व तो मानना आवश्यक है। वही **'अव्यक्त'** है।

(५) **अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य**—साख्यशास्त्र मे कारण और कार्य मे तादात्म्य मानते है। **'सरूप या सदृश परिणाम'** के समय 'कार्य' अपने 'कारण' में लीन होकर एक हो जाता है।[1] इस प्रक्रिया के अनुसार क्रमशः **व्युत्क्रम-रूप** मे प्रत्येक कार्य अपने कारण मे लीन होता है। इस परिस्थिति में 'महत्' रूप कार्य भी अपने कारण मे लीन होगा और तभी समस्त जगत् मे तादात्म्य या अविभाग मालूम होगा। अतएव जिसमे 'महत्' आदि कार्य सभी लीन होकर एक मालूम होते है, वही **'अव्यक्त'** है।

इन युक्तियो से सभी कार्यों का कारण-रूप एक **'अव्यक्त'** या **'मूला प्रकृति'** है, यह प्रमाणित होता है।[2]

ऊपर 'व्यक्त' के जो 'कारण से उत्पन्न होना' (हेतुमत्) आदि गुण कहे गये है, उनके विपरीत गुण **'प्रधान'** मे है, अर्थात् **'प्रकृति'** का कोई भी **'कारण नहीं'** है, यह **'नित्य'** है, **'व्यापक'** है तथा **'निष्क्रिय'** है। यद्यपि प्रकृति के गर्भ में रजोगुण के रहने के कारण इसमे भी क्रियाशीलता है, परिणाम होता ही रहता है, किन्तु वह परिणाम साम्यावस्था के रूप मे ही रहता है। वहाँ वैषम्य उत्पन्न नही होता। अतएव 'क्रिया' अभिव्यक्त नही होती, इसी लिए **'प्रधान'** को **'निष्क्रिय'** कहा है।

अव्यक्त के धर्म

यह **'एक'** ही है। यह **'अनाश्रित'** है। इसका **'लय नहीं'** होता। यह **'निरवयव'** है। यद्यपि सत्त्व, रजस् तथा तमस् रूप 'अवयव' प्रकृति मे भी है, किन्तु वे विषम रूप

[1] 'परिणामवाद' में कार्य की 'अनागत' और 'अतीत' ये दो अवस्थाएं 'अव्यक्त' है, 'वर्तमान' अवस्था 'व्यक्त' है। 'अनागत' और 'अतीत', दोनों ही अवस्थाएँ 'कारण' है, केवल 'वर्तमान' अवस्था 'कार्य' है। 'अनागत' से 'वर्तमान' में आना 'विसदृश-परिणाम' है और 'वर्तमान' से 'अतीत' में जाना 'सदृश परिणाम' है।

[2] सांख्यकारिका, १४-१६।

में नही है। अतएव प्रकट रूप में प्रकृति में उनका एक प्रकार से न होना ही कहा जाता है। इसी लिए यह **'निरवयव'** है। प्रधान **'स्वतन्त्र'** है, क्योकि यह नित्य है।[1] इन धर्मों के कारण **'अव्यक्त'** व्यक्त से भिन्न है।

परन्तु **त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व, प्रसवधर्मित्व,** ये धर्म 'व्यक्त' और 'अव्यक्त', दोनो मे समान रूप से है।

'ज्ञ' का विचार

'व्यक्त' तथा 'अव्यक्त' के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन ऊपर किया गया है। अब सांख्य के तीसरे तत्त्व **'ज्ञ'** का विचार करना आवश्यक है। यह 'परोक्ष' है। इसे बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे कोई नही देख सकता। यह **'त्रिगुणातीत'** और **'निर्लिप्त'** है। इसलिए इसके अस्तित्व को (अनुमान के द्वारा) प्रमाणित करने के लिए कोई 'लिंग' (अर्थात् हेतु) भी नही हो सकता। विना 'लिंग' (हेतु) के अनुमान नही हो सकता, अर्थात् अनुमान के द्वारा **'ज्ञ'** की सिद्धि नही होती। तस्मात् इसके अस्तित्व के लिए एकमात्र प्रमाण है—**शब्द या आगम**। शास्त्र में **'चेतन-ज्ञ'** के अस्तित्व के लिए अनेक प्रमाण हैं। इस प्रकार **'आगम'** या 'आप्तवचन' प्रमाण के ही द्वारा **'ज्ञ'** के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

'ज्ञ' के धर्म

यह **'ज्ञ' अहेतुमान्** है, अर्थात् इसका कोई कारण नही है। यह **'नित्य'** है। यह **'सर्वव्यापी'** है। यह **'निष्क्रिय'** है, व्यापक होने से ही यह सिद्ध है कि इसमें क्रिया नही हो सकती। साथ ही साथ यह भी समझना चाहिए कि इसमें 'रजोगुण' नही है, यह **'त्रिगुणातीत'** है। अतएव इसको चलाने वाला या इसमे क्रिया उत्पन्न करने वाला 'रजस्' इसमें नही है। इसलिए यह **'ज्ञ' 'निष्क्रिय'** है।

सांख्य में 'एक' पुरुष

यह **'एक'** है। कतिपय टीकाकारों ने इस **'ज्ञ'** को **'अनेक'** कहा है। यह हमारी समझ में नही आता कि किस प्रकार यह **'अनेक'** हो सकता है और किस आधार पर इसे हम **'अनेक'** कह सकते है? ईश्वरकृष्ण का अभिप्राय तो स्पष्ट है कि यह **'एक'** है और इसी **'एकत्व'** को लेकर इस **'ज्ञ'** का साधर्म्य 'प्रकृति' के साथ उन्होने कहा है—**'तथा च पुमान्'**।[2] गौडपाद ने भी अपने भाष्य मे कहा है—**'पुमानप्येकः'**। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है—**'अजो ह्येकः'**।

---

[1] **सांख्यकारिका, १०।**

[2] **सांख्यकारिका, ११।**

बहुत-से टीकाकारो ने ईश्वरकृष्ण के कथन को ध्यान मे न रख कर—

'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव' ॥[1]

इस 'साख्यकारिका' को '**बद्ध पुरुष**' के साथ न लगाकर, '**ज्ञ**' के साथ जोड़कर, साख्यमत मे '**पुरुषबहुत्ववाद**' का प्रचार किया है और इसी से प्रभावित होकर इस देश के तथा पाश्चात्य देशो के प्राय. सभी विद्वानो ने सांख्य में इसी **पुरुषबहुत्ववाद** को स्वीकार कर लिया है।

इस भ्रान्ति का कारण मालूम होता है 'ज्ञ' से सम्बन्ध रखने वाली एक 'कारिका' का नष्ट हो जाना। इस नष्ट कारिका मे 'ज्ञ' तथा '**बद्ध पुरुष**' दोनों के सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण ने अपना विचार प्रकाशित अवश्य किया होगा। **यह कारिका वर्तमान सोलहवीं तथा सत्रहवीं कारिकाओं के मध्य में रही होगी,** ऐसा मुझे मालूम होता है।

सांख्य की लुप्त कारिका

इसकी युक्तियो पर आगे हम विचार करेंगे। तथापि यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वरकृष्ण ने कहा है—'**व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्**'[2], अर्थात् 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' के विशेष ज्ञान से (दु ख की आत्यन्तिकी तथा ऐकान्तिकी निवृत्ति होगी)। विचार करना है कि ईश्वरकृष्ण ने छठी कारिका मे यह स्पष्ट कर दिया है कि 'बुद्धि' से लेकर 'पृथिवी' पर्यन्त सभी '**व्यक्तों**' का ज्ञान '**प्रत्यक्ष**' से ही होता है। जिन तत्त्वो का प्रत्यक्ष होता है उनके अस्तित्व मे तो कभी भी सन्देह नही हो सकता। अतएव इन तेईस व्यक्तो के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कारिका मे कही भी प्रयत्न नही किया गया है, इसकी आवश्यकता ही नही है, वे तो प्रत्यक्ष हैं।

अवशिष्ट '**अव्यक्त**' अर्थात् '**मूला प्रकृति**' एवं '**ज्ञ**', ये दोनो **परोक्ष** तत्त्व हैं और इनके ज्ञान के लिए छठी कारिका मे ही कहा गया है कि '**अतीन्द्रियों**' की प्रतीति '**अनुमान**' से होती है। साख्यमत मे '**मूला प्रकृति**' तथा '**बद्ध पुरुष**' या '**जीवात्मा**' **परोक्ष** हैं, '**अतीन्द्रिय**' हैं और इनके अस्तित्व को अनुमान के द्वारा ईश्वरकृष्ण ने सिद्ध किया है।

अव्यक्त और बद्ध पुरुष की सिद्धि

---

[1] सांख्यकारिका, १८।

[2] सांख्यकारिका, २।

उन्होंने 'महत्' आदि तेईस 'व्यक्त' रूप कार्यो के द्वारा उनके मूल कारण, अर्थात् 'मूला प्रकृति' को अनुमान के द्वारा सिद्ध किया है।[1]

इसी बात को ईश्वरकृष्ण ने—

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥[2]

इस कारिका के द्वारा प्रमाणित किया है। इस प्रकार 'अव्यक्त' की सिद्धि की गयी है।

यहाँ प्रश्न किया जाता है कि छठी कारिका में 'अतीन्द्रियाणाम्' में बहुवचन शब्द का प्रयोग है।[3] 'मूला प्रकृति' तो एक है। फिर बहुवचन क्यो? उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि 'जीवात्मा' या 'बद्ध पुरुष' के अस्तित्व को भी प्रमाणित करना आवश्यक है। 'जीवात्मा' भी 'परोक्ष' है। इसलिए इसकी भी सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता है और अनुमान के लिए 'हेतुओं' की आवश्यकता होती है। इन हेतुओ का निरूपण ईश्वरकृष्ण ने—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥[4]

इस कारिका मे किया है। इनके द्वारा 'पुरुष' की सिद्धि की है। यह 'पुरुष' 'बद्ध पुरुष' है, 'ज्ञ' नही है, जैसा हमने अन्यत्र भी स्पष्ट किया है। यह 'बद्ध पुरुष' अनन्त है। अतएव 'अतीन्द्रियाणाम्' इस बहुवचन से 'मूला प्रकृति' और 'बद्ध पुरुषों' का ग्रहण होता है।

अब यहाँ विचारणीय है कि ईश्वरकृष्ण ने 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' के अस्तित्व तथा धर्मो के सम्बन्ध मे तो अपने ग्रन्थ मे विचार किया है, किन्तु 'ज्ञ' के सम्बन्ध में तो

---

[1] सांख्यकारिका, ८, १४-१६।

[2] सांख्यकारिका, १५।

[3] सामान्यतस्तु 'दृष्टात्' 'अतीन्द्रियाणाम्' प्रतीतिः 'अनुमानात्'।
तस्मादपि चासिद्धम् 'परोक्षम्' 'आप्तागमात्' सिद्धम् ॥ सांख्यकारिका, ६।

[4] सांख्यकारिका, १७।

कही भी कुछ नही कहा है। कहना तो आवश्यक है, अन्यथा 'ज्ञ' का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है?

इसी लिए मुझे तो विश्वास है कि 'अव्यक्त' की सिद्धि करने के पश्चात् ईश्वरकृष्ण ने अवश्य 'ज्ञ' की सिद्धि के लिए तथा 'बद्ध पुरुष' के, जिसकी चर्चा वाचस्पति मिश्र ने भी ग्रन्थ के अपने मंगलाचरण मे की है, सम्बन्ध मे 'एक कारिका' अवश्य लिखी होगी। उसी कारिका मे जिस 'पुरुष', अर्थात् 'बद्ध-पुरुष', की चर्चा आयी होगी, उसी के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण ने सत्रहवी कारिका लिखी है। साथ ही साथ इसी 'बद्ध-पुरुष' के सम्बन्ध मे कहा है—

'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव' ॥[1]

ज्ञ (पुरुष) बहुत नहीं है

अभिप्राय है कि (बद्ध पुरुषो मे) जन्म, मरण तथा इन्द्रियों के नियमित विभिन्न रूपो को, उनकी अलग-अलग प्रवृत्ति को तथा सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीनों गुणो के वैषम्य को, देखकर यह सिद्ध होता है कि 'पुरुष बहुत' है। यदि एक ही 'पुरुष' होता, तो एक के जन्म से सभी का जन्म; एक के मरण से सभी का मरण तथा एक के अन्ध होने से सभी का अन्धा हो जाना, एक के कार्य करने के लिए प्रवृत्त होने से सभी का प्रवृत्त होना तथा एक के सात्त्विक होने से सभी का सात्त्विक हो जाना सिद्ध हो जाता। परन्तु ऐसा होता नही है। इसलिए अनेक पुरुष है। यह पुरुष 'ज्ञ' नही हो सकता। इस कारिका का विशद विचार आगे किया गया है।

यहाँ विचारणीय यह है कि उपर्युक्त बाते 'बद्ध पुरुष' के सम्बन्ध मे कही जा सकती है या निर्लिप्त 'ज्ञ' के सम्बन्ध में? 'ज्ञ' तो न कभी जन्म लेता है, न कभी मरता है, न कभी अन्धा या बहरा होता है, न कभी किसी कार्य को करने के लिए प्रवृत्त होता है तथा त्रिगुणातीत होने के कारण न सात्त्विक है, न राजसिक है और न तामसिक है। अतएव यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त

बद्ध पुरुष बहुत है

बाते 'बद्ध पुरुष' के ही सम्बन्ध मे कही जा सकती है और यही ईश्वरकृष्ण का भी अभिप्राय है। इसलिए 'बहुत्व' 'ज्ञ' का विशेषण नही है, किन्तु 'बद्ध पुरुष' का है।

---

[1] सांख्यकारिका, १८।

इन बातों को ध्यान मे रखकर हमे यह विश्वास है कि **सोलहवीं तथा सत्रहवीं कारिकाओं के मध्य में एक कारिका थी,** जिसमे 'ज्ञ' के सम्बन्ध मे विचार था। **वही कारिका नष्ट हो गयी है।** इसकी तरफ हमारे विद्वानो की दृष्टि प्राय. नही गयी। अतएव कारिकाओ के अर्थ करने के समय मे उन सबने साख्य के निर्लिप्त, त्रिगुणातीत 'ज्ञ' को ही 'अनेक' मान लिया। परन्तु जैसा पहले कहा गया है, यह उचित मालूम नही होता।

बद्ध पुरुष की सिद्धि

यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि यह **'ज्ञ'** अनादि 'अविद्या' के प्रभाव से अनादि काल से बद्ध भी है, अर्थात् 'ज्ञ' की एक बद्ध अवस्था भी है, अतएव वह **'पुरुष'** (शरीर मे रहने वाला अर्थात् जीवात्मा) भी कहलाता है। किन्तु इस 'बद्ध पुरुष' का भी तो प्रत्यक्ष नही होता। अतएव **'जीवात्मा'** है या नही, यह साधारण लोगो को मालूम नही या उन्हे इसके अस्तित्व मे सन्देह होता है। इसलिए यह 'बद्ध पुरुष है', इसे प्रमाणित करने के लिए, जिससे साधारण लोग भी इसके अस्तित्व को मान ले, कुछ साधारण युक्तियाँ भी दी जाती है, जिनके द्वारा **'बद्ध पुरुष'** के अस्तित्व की सिद्धि की जा सकती है।[1] जैसे—

(१) **संघातपरार्थत्वात्**—ससार मे यह देखा जाता है कि जितने 'सघात' या मिश्रित या अवयवो से युक्त पदार्थ है, जैसे पलंग आदि, सभी किसी दूसरे के (उपभोग के) लिए होते है। 'महत्' आदि व्यक्त 'संघात' है। तस्मात् वे किसी दूसरे के भोग के लिए है। वह दूसरा अर्थात् 'पर', **'बद्ध पुरुष'** या **'जीवात्मा'** है, जिसके भोग के लिए महत् आदि 'व्यक्त' ह।

(२) **त्रिगुणादिविपर्ययात्**—'व्यक्त' और 'अव्यक्त' के **त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व** तथा **प्रसवधर्मित्व** साधारण धर्म (समान धर्म) ऊपर कहे गये है। यदि ये धर्म 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' के 'समान धर्म' है तो प्रश्न होता है कि ये किसके 'असमान धर्म' है ?

---

[1] **चार्वाक लोग 'जीवात्मा' शरीर आदि से भिन्न अस्तित्व रखने वाला एक पृथक् तत्त्व है, यह नहीं मानते। अतएव 'बद्ध पुरुष' या 'जीवात्मा' के अस्तित्व की सिद्धि के लिए भी युक्तियां दी जाती है।**

अतः इनसे भिन्न किसी तत्त्व का होना आवश्यक है, जिसके ये 'असमान धर्म' हैं। वह तत्त्व **'बद्ध पुरुष'** या **'जीवात्मा'** है।

कहने का अभिप्राय है कि 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' मे **त्रिगुणत्व, अविवेकित्व**, आदि पूर्वकथित धर्म समान रूप से हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिए कारिकाकार ने 'अनुमान' की प्रक्रिया दिखायी है—

प्रतिज्ञा—अविवेक्यादि सिद्ध,

हेतु—त्रैगुण्यात्,

व्याप्ति—(अन्वय) यत्र यत्र त्रैगुण्य तत्र तत्र अविवेक्यादि, यथा आकाशादिपञ्चभूतेषु,

उक्त अनुमान की पुष्टि के लिए 'व्यतिरेक व्याप्ति' भी कारिकाकार ने दिखायी है[1]—

व्यतिरेक व्याप्ति—'तद्विपर्ययाभावात्', अर्थात्

यत्र अविवेक्यादि नास्ति तत्र त्रैगुण्य नास्ति, यथा **'पुरुषः'**।

यदि 'पुरुष या जीवात्मा' न माना जाय तो उक्त व्यतिरेक व्याप्ति मे दृष्टान्त क्या होगा? दृष्टान्त के न मिलने से 'अनुमान' ही अशुद्ध हो जायगा। अतएव **'त्रिगुणादिविपर्ययात्'** हेतु के द्वारा 'बद्ध पुरुष' है, यह प्रमाणित होता है। इस अर्थ को समझने के लिए हमें—

'अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात्' [2]

तथा

'संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्' [3]

इन दोनो कारिकाओं को साथ-साथ समझना चाहिए।

(२) **अधिष्ठानात्**—जिस प्रकार से बिना चेतन सारथि के 'रथ' नही चल सकता, उसी प्रकार बिना एक चेतन **अधिष्ठाता** के बुद्धि आदि परिणमित

[1] **सांख्यकारिका, १४।**
[2] **सांख्यकारिका, १४।**
[3] **सांख्यकारिका, १७।**

होने में प्रवर्तित नही हो सकते। अत. एक चेतन पुरुष का अधिष्ठाता के रूप में होना आवश्यक है। वह 'अधिष्ठाता' **'बद्ध पुरुष'** या **'जीवात्मा'** है। यही पुरुष 'अव्यक्त' और 'व्यक्त' का अधिष्ठाता है।

(४) **भोक्तृभावात्**—'भोक्ता' का अर्थ है—'सुख, दु ख एवं मोह-रूप भोग्य वस्तुओ का भोग करनेवाला'। यह भोक्ता चेतन ही हो सकता है। 'अव्यक्त' तथा 'व्यक्त' तो जड़ है। ये **'भोक्ता'** नही हो सकते। ये तो **'भोग्य'** ही है। अतएव इनका भोग करने वाले एक चेतन पुरुष का होना आवश्यक है। वही 'भोक्ता' चेतन पुरुष **'बद्ध पुरुष'** या **'जीवात्मा'** है।

(५) **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च**—'बद्ध पुरुष' ही अपनी मुक्ति के लिए अनेक उपाय करता है। मुक्त होने पर अपने स्वरूप में 'बद्ध पुरुष' स्थिति को प्राप्त करता है। वह स्थिति **'पुरुष'** की 'कैवल्य' की स्थिति है। यदि 'बद्ध पुरुष' न होता तो कौन बन्धन से मुक्ति पाने के लिए, अर्थात् उस कैवल्य-स्थिति की प्राप्ति के लिए, प्रवृत्त होता ?

'बद्ध' ही जीव मुक्त होने के लिए प्रवृत्त होता है। निर्लिप्त, त्रिगुणातीत **'ज्ञ'** तो बद्ध है नही, फिर वह मुक्ति के प्रवृत्त ही क्यो होगा ? अतएव 'पुरुष' है और वह 'बद्ध' है। इस प्रकार **'बद्ध पुरुष'** के अस्तित्व को उपर्युक्त युक्तियो के द्वारा साख्य-मत में सिद्ध किया जाता है।

जैसा हमने ऊपर कहा है कि बहुत-से टीकाकारो ने ईश्वरकृष्ण के कथन को[1] ध्यान मे न रख कर तथा भ्रान्ति से साख्यकारिका की १८वी कारिका को **'ज्ञ'** के साथ जोड कर, साख्यमत मे **'पुरुषबहुत्ववाद'** का प्रचार किया है। इस सिद्धान्त के समर्थन मे निम्नलिखित युक्तियाँ भी दी जाती है—

(१) **जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्**[2]—जन्म, मरण तथा करणों, अर्थात् इन्द्रियो, के व्यापार प्रति पुरुष के लिए भिन्न रूप से नियमित है, अर्थात् एक उत्पन्न होता है, तो दूसरा मरता है। एक अन्धा है, तो दूसरा आँख वाला है। यह ससार मे देख पड़ता है। यह भेद उसी स्थिति मे सम्भव

---

[1] **सांख्यकारिका, ११।**

[2] **जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।**
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥

है, जब अनेक पुरुष हों। एक ही पुरुष होता, तो एक के मरने से सभी मर जाते, एक के अन्धे होने से सभी अन्धे हो जाते। परन्तु ऐसा देखने में नही आता। अतएव बहुत पुरुष मानना आवश्यक है।

(२) **अयुगपत् प्रवृत्तेश्च**—संसार में प्रवृत्ति है। प्रति व्यक्ति में पृथक्-पृथक् प्रवृत्ति देख पडती है। यह प्रवृत्ति एक ही समय मे, एक ही बार सभी जीव में नही है। किसी एक मे एक समय प्रवृत्ति है, तो दूसरे मे उसी समय निवृत्ति है। इस प्रकार जीवो मे एककालीन प्रवृत्ति न देखकर मालूम होता है कि 'अनेक पुरुष' है। यदि एक ही पुरुष होता, तो सभी जीवो मे एक समय मे एक ही प्रकार की प्रवृत्ति या निवृत्ति होती।

(३) **त्रैगुण्यविपर्ययात्**—संसार मे प्रति वस्तु मे सत्त्व, रजस् और तमस् है। 'सत्त्व' से शान्ति, प्रकाश, सुख, आदि मिलते है, 'रजस्'से दु.ख, अशान्ति, क्रोध, आदि होते है तथा 'तमस्' से मोह, अज्ञान, आदि होते है। कोई जीव सात्त्विक है, तो उसमें शान्ति आदि है; जो राजसिक है, वह अशान्त, क्रोधी, आदि है तथा जो तामसिक है, वह मूढ़ है। ये भेद तभी होगे जब पुरुष भिन्न-भिन्न हों। यदि एक ही पुरुष होता, तो सभी सात्त्विक या राजसिक या तामसिक होते, परन्तु ऐसा तो नही है। अतएव अनेक पुरुष है।

इन युक्तियो के आधार पर विद्वानों ने साख्य मे **'पुरुषबहुत्ववाद'** को स्वीकार किया है। परन्तु विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त युक्तियाँ निर्लिप्त और त्रिगुणातीत **पुरुष (ज्ञ)** के लिए नही दी जा सकती है।

युक्तियों का निराकरण

निर्लिप्त पुरुष का जन्म और मरण से क्या सम्बन्ध है? वह तो न कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है। न तो उसे किसी इन्द्रिय से सम्बन्ध है, जिससे वह अन्धा और बहरा कहा जा सके। वह तो नित्य, सर्वव्यापक, त्रिगुणातीत है। उसमे रजोगुण तो है नही, फिर उसमें प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है? त्रिगुणातीत होने के कारण तीनों गुणो के वैलक्षण्य ही उसमे किस प्रकार हो सकते हैं?

अतएव ये युक्तियाँ त्रिगुणातीत, निस्संग, निर्लिप्त **'ज्ञ'** के सम्बन्ध मे कही ही नही जा सकती। वस्तुत. विचार करने से यह स्पष्ट है कि ये युक्तियाँ **'बद्ध पुरुष'** के लिए ही है। इन युक्तियो के कारण बद्धावस्था मे **'पुरुष'** अनेक है।

परन्तु 'बद्ध जीव' अनेक है, इसमे तो प्रायः सभी दर्शनो का एक मत है। तथापि सम्भव है, यहाँ वेदान्तियों के विरुद्ध अपने मत का स्पष्टीकरण करने के लिए इन युक्तियो के द्वारा यह सिद्ध किया गया हो कि 'जीवात्मा' बद्धावस्था मे भी आपस में **सर्वथा** भिन्न है।

यहाँ यह विचार करना उचित है कि 'भगवद्गीता' की तरह 'सांख्य' मे तीन प्रकार के पुरुषों का विचार है—'**निर्लिप्त, (ज्ञ)' 'बद्ध पुरुष'** तथा **'मुक्त पुरुष'**। वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्वकौमुदी' के मंगल-श्लोक मे कहा है—

'अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्'

अर्थात् एक प्रकार के **'पुरुष' (जीव)** है, जो प्रकृति की सेवा मे लगे रहते हैं तथा दूसरे प्रकार के **पुरुष (जीव)** है जो भोग के अनन्तर प्रकृति के ससर्ग को छोड़ देते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र ने **'बद्ध'** और **'मुक्त'** पुरुषो का ही वर्णन यहाँ किया है और ये अनेक हैं। इसी लिए दोनो के साथ उन्होने बहुवचन का प्रयोग किया है।

सांख्य में तीन प्रकार के पुरुष

यदि सभी पुरुष बद्ध ही होते, तो निर्लिप्त, त्रिगुणातीत, आदि विशेषण किसके लिए सांख्य में प्रयोग किये जाते ? 'बद्ध' पुरुष तो अनादि काल से चले आते हैं। मुक्तावस्था में भी, जैसा कि आगे कहा जायगा, 'पुरुष' सत्त्वगुण से सर्वथा मुक्त नही है। यही कारण है कि एक मुक्त पुरुष दूसरे मुक्त पुरुष से भिन्न है। ऐसी स्थिति मे बद्ध तथा मुक्त जीवो से भिन्न एक निर्लिप्त, त्रिगुणातीत, स्वतन्त्र **'ज्ञ' पुरुष** न माना जाय, तो ये निर्लिप्त आदि धर्म किस पुरुष के लिए प्रयोग किये जा सकते है ? अतएव **'ज्ञ'-रूप पुरुष' एक** है और **बद्ध पुरुष'** तथा **'मुक्त पुरुष' अनेक** हैं। इन सभी पुरुषो की स्वतन्त्र वास्तविक सत्ता है। इस प्रकार सांख्य में तीन प्रकार के पुरुषो का वर्णन है।

'अनाश्रितत्व', 'अलिंगत्व', 'निरवयवत्व', 'स्वतन्त्रत्व', 'अत्रिगुणत्व', 'विवेकित्व', 'अविषयत्व', 'असामान्यत्व', 'चेतनत्व', 'अप्रसवधर्मित्व', 'साक्षित्व', 'कैवल्य', 'माध्यस्थ्य', 'औदासीन्य', 'द्रष्टृत्व' तथा 'अकर्तृत्व', ये सभी धर्म निर्लिप्त **पुरुष (ज्ञ)** में है।

'ज्ञ' के अन्य धर्म

इसी निर्लिप्त पुरुष का बिम्ब जब 'बुद्धि' या 'महत्तत्त्व' पर पड़ता है, तब 'महत्' या 'बुद्धि', जड़ होती हुई भी, चेतन की तरह मालूम होती है। पुनः बिम्ब

से प्रतिविम्बित बुद्धि का स्वरूप भी उसी प्रतिविम्ब के द्वारा चेतन, असंग पुरुष पर भी भासित होता है, अर्थात् आरोपित होता है, जिससे 'असग पुरुष' भी बुद्धि के 'कर्तृत्व' आदि धर्मों से युक्त मालूम होता है। जैसे—एक अच्छे स्फटिक के सामने रखे हुए जपा-पुष्प पर स्फटिक का विम्ब पडता है, जिससे जपापुष्प चमकता है और उसी विम्ब के द्वारा जपापुष्प का लाल वर्ण स्फटिक पर भी आरोप होता है, जिससे शुद्ध, स्वच्छ स्फटिक भी लाल वर्ण का मालूम होता है। यही 'अविद्या' है, यही सांख्य में 'बन्धन' है। इसी परस्पर अविद्या के सम्बन्ध से सृष्टि भी होती है।

चेतन और जड़ में परस्पर आरोप

प्रमाण-विचार

उपर्युक्त पचीस प्रमेयो के वास्तविक ज्ञान से दु ख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। प्रमेयो के जानने के लिए प्रमाणो की आवश्यकता होती है। साख्यमत मे इन तीनो प्रकार के प्रमेयो का अर्थात् 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' का, ज्ञान तीन ही प्रमाणों से होता है। इसलिए साख्यशास्त्र ने तीन ही प्रमाण माने है—**दृष्ट** (प्रत्यक्ष), **अनुमान** तथा **आप्तवचन**। ये तीन प्रमाण साख्यमत के **पचीस तत्त्वों को ही** जानने के लिए है, अन्य किसी वस्तु को जानने के लिए ये नही है।

साख्यकारिका मे **'प्रमाण'** का लक्षण देने की आवश्यकता नही मालूम हुई। इसका यह कारण कहा जा सकता है कि 'जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो उसे **'प्रमाण'** कहते हैं', यह अर्थ तो सभी को मान्य है और पूर्व की भूमि मे ही इसे जिज्ञासु ने जान लिया होगा। इसी भावना से प्राय. **प्रमाण** का कोई पृथक् लक्षण देने की इस ग्रन्थ मे आवश्यकता नही हुई।

प्रमाण का लक्षण

'प्रत्यक्ष प्रमाण' का लक्षण पञ्चम कारिका मे दिया गया है—

प्रत्यक्ष—'प्रतिविषयाध्यवसायः', अर्थात् प्रत्येक ज्ञान के विषय के सम्बन्ध मे पृथक्-पृथक् जो निश्चित ज्ञान है, वही **'प्रत्यक्ष'** है।

इसकी 'प्रक्रिया' न्याय-वैशेषिक से सर्वथा भिन्न है। सांख्यमत मे करणो की सख्या तेरह है, जिनमे 'बुद्धि', 'अहकार' तथा 'मनस्', ये तीन **'अन्तःकरण'** है और पाँच 'ज्ञानेन्द्रियाँ' तथा पाँच 'कर्मेन्द्रियाँ', ये दस **'बाह्य करण'** है। इनमे से 'बुद्धि', 'अहकार' तथा 'मनस्', ये 'धारण' करते है, ज्ञानेन्द्रियाँ 'प्रकाश' करती है तथा कर्मेन्द्रियाँ 'आहरण'

प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया

करती है ।[1] वाह्य करणो के 'विषय' वर्तमान होने से प्रधान रूप मे उनका ज्ञान बाह्य करणो के द्वारा होता है, किन्तु अन्त.करण के लिए भूत, वर्तमान तथा भविष्य, सभी प्रकार के 'विषय' होते है।[2]

प्रत्यक्ष ज्ञान में उपर्युक्त तीनों अन्त.करण तथा एक वह ज्ञानेन्द्रिय जिसके 'विषय' का प्रत्यक्ष ज्ञान इप्ट है, इन चारो का प्रयोजन होता है। इनमे तीनो अन्त करण '**द्वारि**' (अर्थात् द्वार है जिसके) कहे जाते है और इन्द्रियाँ '**द्वार**' है, जिनसे होकर 'अहंकार' तथा 'मनस्' के साथ 'वुद्धि' विषय के ज्ञान के लिए बाहर जाती है—

सान्तःकरणा वुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥[3]

रूप के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए चित्प्रतिविम्बित '**बुद्धि**' अहकार को, तत्-पश्चात् मन को साथ लेकर '**चक्षु**' के द्वार से वाहर निकल जाती है और 'रूप' के साथ सम्पर्क में आकर 'चित्त', अर्थात् 'वुद्धि', 'रूपाकार' या रूपवाली वस्तु के आकार की हो जाती है। '**तदाकाराकारिता' चित्तवृत्ति** होते ही चित्त मे प्रतिविम्बित 'चित्', अर्थात् 'पुरुष', मे भी उस विषय (रूप या रूपवत्) का 'आरोप' हो जाता है। वस्तु के आकार का 'चित्त' का हो जाना ही '**प्रत्यक्ष ज्ञान**' है।

इसमे **बहिरिन्द्रिय** 'द्वार' मात्र है, '**मन**' सकल्प-विकल्प करता है, '**अहंकार**' 'मुझे यह ज्ञान हुआ है', इत्यादि 'अहंभाव' के रूप का होता है और '**वुद्धि**' निश्चय करती है कि 'यह (नील) रूप है'। वस्तुत. सभी वाते '**बुद्धि**' ही करती है और करण उसके सहायक[4] है।

साख्यमत मे एक ही प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। साख्य के 'प्रमेय', अर्थात् जानने के विषय पचीस ही तत्त्वमात्र है। उन्ही के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो की आवश्यकता है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करने वाला 'साधक' ऊँचे स्तर का है। लौकिक विषयो से तथा साधारण लोगो से साख्यमत के प्रत्यक्ष ज्ञान का कुछ भी

---

[1] **सांख्यकारिका, ३२।**
[2] **सांख्यकारिका, ३३।**
[3] **सांख्यकारिका, ३५।**
[4] **सांख्यकारिका, ३५।**

प्रयोजन नही है। अतएव जिन लोगो ने साख्यमत मे भी 'आर्ष' और लौकिक प्रमाणो का भेद माना है, वे न्याय की भूमि से प्रभावित है तथा साख्यभूमि की तरफ उनका ध्यान नही है।

'अनुमान' का लक्षण न्यायमत की तरह लिग और लिगी के ज्ञानपूर्वक है। इसमे कोई अन्तर नही है, अतएव पुनः उन्ही वातो को दुहराना व्यर्थ है। 'अनुमान' के तीन भेद है—'पूर्ववत्', 'शेपवत्' तथा 'सामान्यतो दृष्ट'। इनके भी लक्षण न्याय तथा मीमासा के समान ही है। ईश्वरकृष्ण ने 'अनुमान' का कोई स्वतन्त्र विभाग स्वय नही किया था, जो पूर्व के शास्त्रकारो ने तीन विभाग माने थे, उन्ही को इन्होने भी स्वीकार कर लिया है। इनके अर्थ मे कोई भी भेद नही है।

अनुमान

आप्तवचन—'आगम' प्रमाण को ही 'आप्तवचन' कहते है। इसका लक्षण न्याय-मीमासा के समान है।

'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणात्'[1]—अर्थात् प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होती है, इसी लिए प्रमाण का विचार शास्त्र मे आवश्यक है। तीन ही प्रमाणों से साख्यशास्त्र के सभी तत्त्वो का ज्ञान हो जाता है। अव यह विचारणीय है कि किस 'प्रमाण' से किस 'प्रमेय' का ज्ञान होता है। साख्य मे 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ', ये तीन प्रकार के प्रमेय है। 'व्यक्त' का ज्ञान 'प्रत्यक्ष' से होता है[2] (दृष्टात्-प्रत्यक्षात् सामान्यतः-साधारणतत्त्वानां-'व्यक्तानां' प्रतीतिः), जो अतीन्द्रिय हो, जिनका 'प्रत्यक्ष' से ज्ञान न हो, उनका 'अनुमान' से ज्ञान होता है। 'अव्यक्त' अतीन्द्रिय है, परोक्ष है। इसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नही होता, अतएव इसका ज्ञान 'अनुमान' से होता है (अतीन्द्रियाणाम् अनुमानात् प्रतीतिः)। इनके अतिरिक्त जो 'परोक्ष' हो और जिनका ज्ञान 'अनुमान' से भी न हो सके उनका ज्ञान 'आप्तागम' से सिद्ध होता है—

प्रमाणों का प्रयोजन

तस्मादपि ञ्ञअनुमानादपि च असिद्धम् परोक्षम्ञ्ञअतीन्द्रियम् आप्तागमात् सिद्धम्।[3]

---

[1] सांख्यकारिका, ४।

[2] 'व्यक्तम्' प्रत्यक्षसाध्यम्—गौडपादभाष्य, सांख्यकारिका, ६।

[3] सामान्यतस्तु 'दृष्टात्' अतीन्द्रियाणाम् प्रतीतिः 'अनुमानात्'।
तस्मादपि चासिद्धम् 'परोक्षम्' 'आप्तागमात्' सिद्धम् ॥—सांख्यकारिका, ६।

'ज्ञ' अतीन्द्रिय है। इसको जानने के लिए इसमे कोई 'लिंग' नही है, क्योकि यह 'त्रिगुणातीत', 'निर्लिप्त' एव 'निर्लिंग' है। अतएव 'अनुमान' से इसकी सिद्धि नही हो सकती। इसलिए वेदवाक्य के ही द्वारा, अर्थात् आप्तागम के द्वारा, 'ज्ञ-पुरुष' के अस्तित्व की सिद्धि होती है।[1]

टीकाकारो ने इस कारिका का अर्थ अन्य प्रकार से किया है, जो सर्वथा सगत नही मालूम होता। इस बात को ध्यान मे रखना है कि पचीस तत्त्वो के ही ज्ञान के लिए साख्य मे तीन प्रमाण माने गये है। इन प्रमाणो को पचीस तत्त्वो के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय से प्रयोजन नही है। फिर 'स्वर्ग', 'अपूर्व', 'देवता', 'कैवल्य', आदि पदार्थो को जानने के लिए इन प्रमाणो का सांख्य मे क्या प्रयोजन है? 'स्वर्ग' आदि तो साख्य के तत्त्व है नही, तो उनको जानने के लिए प्रमाणो का विचार करना यहाँ संगत ही कैसे हो सकता है?

दूसरे के मतों का विचार

किसी-किसी ने 'ज्ञ-पुरुष' का भी अनुमान से ही ज्ञान होना माना है, परन्तु इसमे दो बाधाएँ है—(१) 'ज्ञ-पुरुष' में 'लिंग' नही है। विना लिंग के अनुमान हो नही सकता। (२) यदि 'व्यक्त' के ज्ञान के लिए शास्त्र का या प्रमाण का प्रयोजन नही है एव 'अनुमान' से 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' का ज्ञान हो जाता है, तो पुन तीसरे प्रमाण के मानने मे कौन-सी युक्ति दी जा सकती है? यदि सभी प्रमेयो का ज्ञान दो ही प्रमाणो से हो जाय, तो तीसरे प्रमाण को स्वीकार करना न्यायसगत नही। फिर ईश्वरकृष्ण ने तीन प्रमाण क्यो माने? इन प्रश्नो का समाधान टीकाकारों ने नही किया है। अतएव इनकी व्याख्या सन्तोषप्रद नही मालूम होती।

तीन प्रमाणो के अतिरिक्त अन्य प्रमाणो की सांख्य मे आवश्यकता ही नही है, इसलिए उनके सम्बन्ध में साख्य में कोई भी विचार नही है।

मुक्ति का विचार

पहले कहा गया है कि 'पुरुष' स्वभाव से निर्लिप्त, निस्सग, त्रिगुणातीत और नित्य है। 'अविद्या' भी नित्य है। इन दोनों का सयोग अनादि काल से है।

---

[1] सांख्यकारिका, ५-६।

'प्रकृति' जड़ और नित्य है। 'पुरुष' के साथ-साथ 'प्रकृति' का अस्तित्व अनादि काल से चला आया है। 'पुरुष' का बिम्ब 'प्रकृति' पर पड़ता है, जिससे 'प्रकृति' या 'बुद्धि' चेतन की तरह अपने को समझने लगती है। व्युत्क्रम रूप से बुद्धि के स्वरूप का आभास पुरुष पर भी पड़ता है, जिसके कारण निष्क्रिय, निर्लिप्त, निस्त्रैगुण्य 'पुरुष' भी कर्ता, भोक्ता, आसक्त मालूम होने लगता है। 'पुरुष' और 'प्रकृति' के इसी कल्पित तथा आरोपित सम्बन्ध को **'बन्धन'** कहते हैं। इसी **'बन्धन'** को दूर करना, 'पुरुष' का अपने आपको पहचानना, प्रकृति को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाना ही **'विवेक-बुद्धि'** है। यही **'मुक्ति'** है।

पुरुष और प्रकृति का बन्धन

बन्धन को दूर करना मुक्ति है

ईश्वरकृष्ण का कथन है कि महत् से लेकर भूतो तक की सृष्टि 'प्रकृति' ही करती है। और यह सृष्टि वस्तुतः प्रत्येक 'पुरुष' को मुक्त करने के लिए ही होती है।[1] सृष्टि करने के लिए 'प्रकृति' किसी का साहाय्य नही लेती। 'पुरुष' का बिम्ब जो 'प्रकृति' पर पड़ता है, वह भी किसी के प्रयत्न से नही। सब **'स्वभाव'** से ही होता है।

सृष्टि का कार्य

'प्रकृति' अचेतना होकर सृष्टि किस प्रकार कर सकती है? इस प्रश्न का एकमात्र समाधान है—'पुरुष' की अध्यक्षता मे विद्यमान **'प्रकृति का स्वभाव'**। जिस प्रकार अचेतन दूध गाय के थन से निकल कर बछडे की वृद्धि के लिए उसके मुह मे **'स्वभाव'** से ही चला जाता है, उसी प्रकार 'पुरुष' की मुक्ति के लिए 'प्रकृति' महत् आदि तत्त्वो की सृष्टि **स्वभाव** से ही करती है।[2] इसमे 'प्रकृति' का अपना स्वार्थ नही है। वस्तुतः यह सभी परार्थ, अर्थात् दूसरे के लिए ही है।[3]

'पुरुष' को मुक्त करने के लिए 'प्रकृति' नाना प्रकार के उपायो को रचती है। 'मुक्ति' एक जन्म के प्रयत्न से मिलना सम्भव नही है। इसी लिए अपने प्रभुत्व के बल से तथा धर्म, अधर्म, आदि बुद्धि के आठो भावो के साहाय्य से 'प्रकृति' एक शरीर को छोड़ कर अन्य शरीर को धारण करती है। उसके भिन्न-भिन्न शरीर धारण करने का भी एक मात्र उद्देश्य है—'पुरुष को बन्धन से छुड़ाना'। एक शरीर को छोड़ कर अन्य

[1] सांख्यकारिका, ५६।
[2] सांख्यकारिका, ५७।
[3] सांख्यकारिका, ५६।

शरीर में जाने के लिए स्थूल शरीर के अन्दर एक सूक्ष्म शरीर को साख्य ने माना है। यह **सूक्ष्म शरीर** महत्, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राएँ, इन अठारह तत्त्वो से सम्पन्न होता है। सृष्टि के आदि मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक '**सूक्ष्म शरीर**' उत्पन्न होता है। यह किसी स्थूल शरीर मे आसक्त नही होता। इसमें स्वतन्त्र-रूप से भोग नही होता। बुद्धि के आठों भाव इसमे रहते है। इसकी गति को कोई भी रोक नही सकता। यह स्थूल शरीर के आश्रित हुए बिना रह नही सकता। पुरुष के भोग के लिए यह 'सूक्ष्म शरीर' नट के समान नाना प्रकार के शरीर को धारण करता रहता है।[1]

सूक्ष्म शरीर

ज्ञान के द्वारा अविद्या का नाश होने पर 'प्रकृति' और 'पुरुष' एक प्रकार से अपने अपने स्वरूप को पहचान लेते हैं।[2] यही ज्ञान '**विवेक-बुद्धि**' को उत्पन्न करता है।

'विवेक-बुद्धि' प्राप्त होने से पुरुष अपने स्वरूप को पहचान लेता है और अपने को निर्लिप्त तथा निस्सग समझने लगता है। ज्ञान को छोडकर धर्म, अधर्म, आदि बुद्धि के सात भावो का प्रभाव जब नष्ट हो जाता है, तब सृष्टि का कोई प्रयोजन नही रहता। 'प्रकृति' की सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर 'प्रकृति' विरत हो जाती है और 'पुरुष' **कैवल्य** को प्राप्त हो जाता है। परन्तु प्रारब्ध कर्मो तथा पूर्वजन्मों के संस्कारो के विद्यमान रहने के कारण उसी समय शरीर का पतन नही होता। भोग की पूर्ति होने पर ही सस्कारो का भी नाश होगा, तब शरीर का पतन तथा '**विदेह कैवल्य**' की प्राप्ति होती है। जब तक सस्कार है, तब तक '**जीवन्मुक्ति**' की अवस्था मे जीव रहता है। घट बनने के पश्चात् कुम्भकार के चक्र के घूमते रहने के समान जीव का शरीर भी 'विवेक-बुद्धि' के प्राप्त

कैवल्य की प्राप्ति

विदेह कैवल्य, जीवन्मुक्ति

---

[1] पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥
चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥
पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥
—सांख्यकारिका, ४०-४२।

[2] सांख्यकारिका, ३७।

होने के अनन्तर भी भोगों के द्वारा प्रारब्ध कर्म के क्षय पर्यन्त चलता ही रहता है। पश्चात् निरपेक्ष, द्रष्टा, साक्षी होकर 'पुरुष' प्रकृति को देखता है (प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः)[१], तथापि वह पुनः 'प्रकृति के बन्धन' में नही पड़ता।

आलोचन

आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक, इन तीनो प्रकार के दुखों से पीड़ित जीव दु.ख के नाश के लिए प्रयत्न करने लगता है। लौकिक उपाय तथा वैदिक यागादि कर्मकलापो के द्वारा दु ख का आत्यन्तिक और ऐकान्तिक नाश नही होता। अतएव दु ख के कारण अविद्या के नाश के लिए एवं विवेक-बुद्धि की प्राप्ति के लिए जीव पुन प्रयत्न करने लगता है। सांख्यशास्त्र में इस 'विवेक-बुद्धि' की प्राप्ति के लिए उपाय कहे गये है। इसी लिए साख्यशास्त्र का विवेचन करना आवश्यक है।

साख्य में एक चेतन तत्त्व है 'पुरुष' तथा एक जड़ तत्त्व है 'प्रकृति'। अनादि क़ाल से अविद्या के कारण इन दोनो में परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि जिसके कारण चेतन का बिम्ब 'प्रकृति' पर पड़ता ही रहता है और 'प्रकृति' जड़ होने पर भी उस बिम्ब के सम्पर्क से चेतन की तरह कार्य करने लगती है और बिम्ब से प्रभावित 'प्रकृति' के गुणो का आरोप 'पुरुष' पर पड़ता रहता है, जिससे 'पुरुष' स्वभाव से निर्लिप्त, त्रिगुणातीत, असंग होने पर भी अपने को कर्ता, भोक्ता, आदि समझने लगता है।

'ज्ञान' के द्वारा इन दोनो तत्त्वो के परस्पर आरोप नष्ट हो जाते है, 'पुरुष' अपने को 'प्रकृति' से भिन्न समझने लगता है और 'प्रकृति' भी 'पुरुष' को मुक्त कर उस मुक्त जीव के लिए पुन. सृष्टि नही करती। यही तो 'विवेक-बुद्धि' या 'कैवल्य' की प्राप्ति है। इसी से साख्यमत में दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति कही जाती है। पश्चात् 'पुरुष' अपने स्वरूप मे स्थित होकर 'प्रकृति' को देखता रहता है, फिर भी, 'विवेक-बुद्धि' हो जाने के कारण, 'प्रकृति' के बन्धन में वह नही पड़ता।

मुक्त पुरुष और प्रकृति

यहाँ विचारणीय है कि क्या 'पुरुष' मुक्तावस्था मे त्रिगुण के सम्बन्ध से, अर्थात् 'प्रकृति' के सम्बन्ध से, सर्वथा मुक्त हो जाता है ?

---

[१] सांख्यकारिका, ६५।

इसका समाधान दो प्रकार से किया जा सकता है—

(१) मुक्तावस्था मे 'पुरुष' निरपेक्ष होकर 'प्रकृति' को देखता है। यह 'देखना' तो 'सत्त्वगुण' का कार्य है। इसलिए कहा जाता है कि 'पुरुष' को मुक्ति में भी सत्त्वगुण से ईषत् सम्बन्ध रह जाता है, अन्यथा वह 'देख' नही सकता था। यदि सत्त्वगुण से किञ्चित् भी सम्बन्ध है, तो फिर 'पुरुष' मोक्षदशा में प्रकृति, अर्थात् सत्त्व, से सर्वथा पृथक् नही हो सकता।[1] रजोगुण और तमोगुण का अभिभव तो अवश्य है। परन्तु ये तीनो गुण वस्तुत. पृथक् नही रहते और सदैव आपस मे मिलकर ही कार्य करते है।[2] इसलिए मोक्षदशा मे रजस् और तमस् का अभिभव होने पर भी इनके पुन. अभिव्यक्त होने की शका रह ही जाती है। फिर दु ख की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ?

(२) दूसरा विषय है कि साख्यमत मे किसी वस्तु का नाश नही होता, केवल स्वरूप बदल जाता है। इसलिए—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'[3]

इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी अवस्था मे 'रजस्' का सर्वथा नाश नही हो सकता। अतएव साख्यमत मे दु ख का सर्वथा निराकरण असम्भव है। यही वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है।[4] दु ख का केवल अभिभव हो जाता है—

'यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखं तथापि तदभिभवः शक्यः कर्तुम्।'[5]

(३) यहाँ एक और भी बात उपर्युक्त समाधान की पुष्टि में कही जा सकती है—

---

[1] सात्त्विक्या तु बुद्ध्या तदाप्यस्य मनाक् संभेदोऽस्त्येव—तत्त्वकौमुदी, सांख्य-कारिका, ६५।

[2] अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः—सांख्यकारिका, १२।

[3] भगवद्गीता, २-१६।

[4] तदेतत्प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्—तत्त्वकौमुदी, कारिका, १।

[5] वाचस्पति मिश्र, तत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका, १।

मुक्ति में भी पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध—'विवेक-ख्याति' या 'विवेक-बुद्धि' को प्राप्त करना ही तो साख्यमत मे 'मुक्ति' है। 'ख्याति' या 'बुद्धि' तो 'सत्त्वगुण, का स्वरूप है। इसलिए यदि मुक्तावस्थामे 'ख्याति' या 'बुद्धि' है, तो 'सत्त्वगुण, अर्थात् 'पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध' भी मुक्तावस्था मे रह ही जाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि मुक्तावस्था मे भी किसी रूप मे पुरुष को प्रकृति से वस्तुत छुटकारा नही मिलता है। यही बात योगदर्शन में भी कही गयी है—

> 'विपरीता विवेकख्यातिरिति। अतः तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि'।[1] 'अतश्चितिशक्तेर्विपरीता... विवेकख्यातिरपि हेया'।[2] 'इयं विवेकख्यातिः धर्मधर्म्यभेदात् तद्वती वृत्तिः सत्त्वगुणात्मिका'।[3]

इन बातो को ध्यान मे रख कर यह कहा जा सकता है कि साख्यमत मे मोक्षावस्था मे भी 'प्रकृति' का 'सात्त्विक अश' रहता ही है। शरीर के न रहने के कारण पुन दु ख की अभिव्यक्ति नही होती, किन्तु दु ख का बीज 'रजस्' अभिभूत होकर भी किसी-न-किसी रूप मे रहता ही है।

मुक्तावस्था मे भी पुरुष मे रहने वाला यह 'सत्त्व' 'शुद्ध सत्त्व' या 'खण्ड सत्त्व' कहा जाता है। यही एक जीव का दूसरे जीव से मुक्ति मे भेद करता है। इसी के कारण मुक्ति मे भी मुक्त जीव की सख्या अनन्त रहती है।

सांख्य में ईश्वर

यह तो कहा नही जा सकता है कि **सांख्य में** 'चेतन' पदार्थ नही है, किन्तु वह 'निर्लिप्त' है, 'निष्क्रिय' तथा 'त्रिगुणातीत' है। 'अकर्ता' होने के कारण सृष्टि की अभिव्यक्ति मे वह स्वय कुछ भी सहायता नही कर सकना। फिर इन बातो के लिए 'ईश्वर' को मानना सांख्यमत मे क्या उचित है?

---

[1] योगभाष्य, १-२।

[2] वाचस्पति मिश्र—तत्त्ववैशारदी, १-२।

[3] योगवार्त्तिक, १-२।

इसके उत्तर मे यह ध्यान मे रखना है कि प्रत्येक दर्शनशास्त्र अपनी सीमा के अन्दर उसी पदार्थ को स्वीकार करता है जिसके बिना अपने दृष्टिकोण से उसका कार्य-सम्पादन न हो सके। न्याय-वैशेषिको ने प्रलय के बाद परमाणु मे 'आरम्भक सयोग' या क्रिया को उत्पन्न करने के लिए **'ईश्वरेच्छा'** या **'ईश्वर'** का अस्तित्व माना है। साख्य मे 'प्रकृति' स्वत परिणामिनी है। उसे किसी चेतन की सहायता की आवश्यकता नही है। साम्यावस्था मे 'प्रकृति' मे क्षोभ उत्पन्न कर, सृष्टि को आरम्भ करने के लिए यद्यपि चेतन की आवश्यकता है, किन्तु वह चे..न उस स्थिति मे भी निर्लिप्त और निष्क्रिय ही है। ऐसी स्थिति मे निष्प्रयोजन **'ईश्वर'** के अस्तित्व को मानने मे कौन-सी युक्ति है? तथापि साख्य को **'नास्तिकदर्शन'** नही कह सकते। हाँ, यह **'निरीश्वर सांख्य'** कहा जा सकता है।

अन्त में इसे ध्यान मे रखना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक मे **नौ** नित्य पदार्थ थे और 'आत्मा' स्वभाव से **जड़** थी। साख्य मे **दो** ही नित्य पदार्थ है और 'पुरुष' **चेतन** है। इस प्रकार जिज्ञासु क्रमश सूक्ष्मतर भूमि मे जाकर अद्वितीय तत्त्व को प्राप्त कर सकता है, यह आशा होती है।

एकादश परिच्छेद

योग-दर्शन

योग का महत्त्व

योग-दर्शन का महत्त्व दर्शनशास्त्रो में तो है ही, किन्तु हमारे जीवन से भी इसका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य-जीवन के उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। ये चार '**पुरुषार्थ**' कहे जाते हैं। इनकी प्राप्ति के लिए शरीर और इन्द्रियो की एवं चित्त की शुद्धि एवं नियन्त्रण आवश्यक है। पश्चात् 'चित्त' को स्थिर करना भी आवश्यक है। इन बातो के लिए हमे योगशास्त्र की शरण लेनी पड़ती है। 'चित्तवृत्ति के निरोध' को ही तो '**योग**' कहा जाता है। जब तक शरीर, इन्द्रिय तथा मन साधक के वश मे नही आते, तब तक उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकती। मोक्ष या दु.खनिवृत्ति या आत्मा का साक्षात्कार ही तो '**परम पुरुषार्थ**' है। इसमे किसी का मतभेद नही है। इसी लिए श्रुति मे भी कहा गया है—

'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च'[1]

'योग' को ही 'निदिध्यासन' कहते हैं। परम पद की प्राप्ति की यात्रा मे प्रत्येक स्तर के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करने के लिए 'निदिध्यासन' करना ही पड़ता है। इसके बिना तत्त्व के साक्षात्कार का मार्ग निष्कण्टक नही हो सकता।

ससार मे दो प्रकार के तत्त्व हैं—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर, एक जड और दूसरा चेतन। आभ्यन्तर तत्त्व '**चित्**' है। प्रत्येक दर्शन में इन तत्त्वो की, किसी-न-किसी रूप मे, सहायता आवश्यक है। साक्षात्कार करने से ही तत्त्वो का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। तत्त्व स्वय या उसका कोई अश, जैसे—न्याय का परमाणु, इतना

---

[1] बृहदारण्यक, २-४-५।

सूक्ष्म है कि 'योगज' प्रक्रिया के बिना उसका ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिए योग-शास्त्र की प्रक्रियाओ का ज्ञान सभी दर्शनो के लिए आवश्यक है।

सांख्यशास्त्र में तो योग के बिना कुछ भी ज्ञान नही हो सकता। परमाणु के तुल्य 'पंच भूतों' से लेकर 'महत्' तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्व मनोवैज्ञानिक है। 'चेतन' (चित्) और 'प्रकृति' भी इतने सूक्ष्म है कि बिना योग की सहायता से उनका आभास भी नही मिल सकता। सभी मनोवैज्ञानिक तत्त्व स्थूलदृष्टि से अगोचर है और इनके ज्ञान के लिए चित्त-वृत्ति के व्यापारो का विचार तो योगशास्त्र मे ही है। साख्य के तत्त्वों का प्रत्यक्ष एक प्रकार से स्थूल-दृष्टि वालो के लिए 'योगज प्रत्यक्ष' है। साख्य की भूमि मे सभी व्यापार 'बुद्धि' या 'महत्' तत्त्व के द्वारा होते है और बुद्धि का वास्तविक ज्ञान 'योग' से ही होता है। साख्य परिणामवादी शास्त्र है। सत्त्व, रजस् और तमस् के परिणाम से जगत् चलता है और चित्त की निरोधावस्था मे भी परिणाम होता रहता है। इस परिणाम का विचार विशेष रूप में योगशास्त्र मे ही हमें मिलता है। अतएव योगशास्त्र के ज्ञान के बिना सांख्य का ज्ञान भी नही हो सकता। सांख्य और योग दोनो के समन्वय से चैत्तिक पदार्थों का ज्ञान होता है। वास्तव मे ये दोनो मिलकर एक शास्त्र है। इसीलिए गीता मे भी कहा गया है—

सांख्य में योगशास्त्र की आवश्यकता

'सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'[1]

चित्तवृत्तियो का विचार तो सांख्य मे नही है और इसके ज्ञान के बिना साख्य के तत्त्वो का रहस्य समझ मे नही आ सकता। इस प्रकार साख्य के रहस्य को समझने के लिए तथा दु खनिवृत्ति के सूक्ष्म उपायो को जानने के लिए एवं परम पद के मार्ग मे अग्रसर होने के लिए योग-दर्शन का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

वेदान्त के रहस्य को भी हम बिना योग-दर्शन की सहायता से नही जान सकते। इतना तो सभी को ध्यान मे रखना उचित है कि अन्त करण के पूर्व-पूर्व-जन्मो के मलो का नाश कर उसे शुद्ध करने से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, अन्यथा नही। अन्त करण के मल को दूर करने के उपाय योग-शास्त्र में ही कहे गये है। अतएव सभी के लिए योगशास्त्र का अध्ययन अत्यावश्यक है। दर्शनो मे योगशास्त्र के विषयो को हम सैद्धान्तिक रूप मे पढ़ते

वेदान्त में योग का स्थान

[1] ५-४।

है, विचारते है, किन्तु 'योग-दर्शन' मे उन्ही को व्यावहारिक रूप में आँखो से देखते हैं। इस प्रकार साख्य और योग दोनो मिलकर ही तत्त्व-ज्ञान के मार्ग को हमे दिखाते है। योग के बिना साख्य का ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। इसकी पूर्ति करने के लिए हमे योगशास्त्र का अध्ययन तथा मनन करना और उसके विचारो को व्यवहार मे लाना आवश्यक है।[1]

योगशास्त्र के आचार्य और ग्रन्थ

योग के समान व्यापक शास्त्र दूसरा नही है। वस्तुत. यह शास्त्र तो ऋषियो के अनुभूत तत्त्वो के फल को जानने का साधन है। भिन्न-भिन्न ऋषियो ने समाधि में भिन्न-भिन्न प्रकार से तत्त्वो का अनुभव किया और अपने अनुभवो को जिज्ञासुओ के कल्याण के लिए लिखा। इसलिए भिन्न-भिन्न अनुभवो का ज्ञान हमे योगशास्त्र मे मिलता है। अनुभवो के विवेचन में भेद होने पर भी मूल बातो में तो भेद नही है, फिर भी योग की शाखा-प्रशाखाएँ अनेक है। इस ग्रन्थ मे हमे सभी शाखाओं पर विचार करना इप्ट नही है। यहाँ तो केवल दार्शनिक रूप मे तत्त्वो का विचार करना है।

पतञ्जलि

इस विचार मे एकमात्र सहायक 'पतञ्जलि' तथा उनके सूत्र है। विद्वानो का कहना है कि 'योगसूत्र' के रचयिता, 'व्याकरण-महाभाष्य' के निर्माता तथा 'चरकसहिता' के रचयिता एक ही व्यक्ति 'पतञ्जलि' है।[2] ईसा से पूर्व दूसरी सदी मे इन्होने जन्म लिया था। कहा जाता है कि यह 'शेपनाग' के अवतार थे। शेषनाग के रूप को धारण करते हुए इन्होने 'महाभाप्य' की रचना की थी और शिष्यो को पढाया था। यह वैयाकरणो की परम्परा मे प्रसिद्ध है।

यही 'योगसूत्र' योगशास्त्र का मूल ग्रन्थ है। इसमें चार पाद है—(१) 'समाधि-पाद', (२) 'साधनपाद', (३) 'विभूतिपाद' तथा (४) 'कैवल्यपाद'। योगसूत्र पर

व्यास

'व्यास' का 'भाष्य' है। यह 'व्यास' महाभारत के रचयिता से भिन्न है। यद्यपि 'भाप्य' बहुत विस्तृत है, फिर भी यह कठिन है। इसके ऊपर सम्भवत और भी टीकाएँ रही हो, किन्तु वे उपलब्ध नही है।

---

[1] गीता, ५-४।

[2] योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां 'पतञ्जलिं' प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

दशम शतक के **वाचस्पति मिश्र** की **'तत्त्ववैशारदी'** नाम की भाष्य की टीका सरल और बोधगम्य है। पश्चात् विज्ञान भिक्षु ने भाष्य के ऊपर एक **'वार्त्तिक'** लिखा। यह बहुत ही विस्तृत व्याख्या है। परन्तु विज्ञान भिक्षु बहुत स्वतन्त्र विद्वान् हैं। यह साख्य-योग के साथ वेदान्त-मत की भी समालोचना कर बैठते है, इससे इनके मत को समझने मे कुछ कठिनता हो जाती है। इन्होने **'योगसारसंग्रह'** नाम का एक छोटा ग्रन्थ भी लिखा है।

विज्ञान भिक्षु

योगसूत्र पर **'भोज'** की एक **'वृत्ति'** है। यह सूत्रो पर सुन्दर और सरल छोटी व्याख्या है। **रामानन्द** की **'मणिप्रभा'** नाम की टीका पाण्डित्यपूर्ण है। **सदाशिवेन्द्र-सरस्वती** का **'योगसुधाकर'** भी बहुत सुन्दर टीका है। इनके अतिरिक्त और भी छोटे-छोटे ग्रन्थ है, परन्तु वे बहुत प्रसिद्ध नही है और प्राय. उनमे कोई विशेषता भी नही है।

पदार्थ-विचार

योगशास्त्र का विषय

योगशास्त्र मे केवल बौद्धिक विषयो का विचार है। इनमे वस्तुत विचार के लिए एकमात्र तत्त्व है **'चित्त'**, अर्थात् बुद्धि। इसी के विविध स्वरूपो का योगशास्त्र मे विचार है।

'योग' का अर्थ है—समाधि।[1] इसी को 'चित्तवृत्ति का निरोध' भी कहते है। यह 'समाधि' चित्त का ही स्वाभाविक एक धर्म है। इस 'चित्त' की पाँच अवस्थाएँ होती है, जिन्हे **'चित्त की भूमि'** कहते हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र तथा (५) निरुद्ध।

चित्त की भूमि

साख्य के समान योग मे भी ईश्वर को छोड कर अन्य तत्त्वो मे सत्त्व, रजस् तथा तमस् रहते है। 'सत्त्व' का उद्रेक होने से ही साधक समाविस्थ होता है। रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक से चित्त समाधि के योग्य नही होता। **चित्तभूमियाँ ये हैं—**

(१) रजोगुण के प्रभाव से 'चित्त' बहुत चञ्चल होकर सासारिक विषयो मे इधर-उधर भटका करता है, उस अवस्था मे उस चित्त को **'क्षिप्त'**

---

[1] **योगः समाधिः—योगभाष्य, १-१।**

कहते हैं, जैसे—दैत्य, दानवो का चित्त अथवा धन के मद से उन्मत्त लोगों का चित्त।

(२) तमोगुण के उद्रेक से 'चित्त' **'मूढ़'** हो जाता है, जैसे–कोई निद्रा मे मग्न हो तो उसके चित्त को **'मूढ़'** कहते है। राक्षसों के, पिशाचों के तथा मादक द्रव्य खाकर उन्मत्त पुरुषो के 'चित्त' **'मूढ़'** कहे जाते हैं।

(३) सत्त्व का आधिक्य रहने पर भी, रजस् के कारण सफलता और असफलता के बीच मे, कभी इधर और कभी दूसरी तरफ, चित्त की वृत्ति भटकती रहती है। कहते है कि देवताओं का तथा प्रथम भूमि में स्थित जिज्ञासुओ का चित्त **'विक्षिप्त'** होता है। सत्त्व के आधिक्य के कारण राजसिक वृत्ति के रहने पर भी, इस भूमि मे कभी-कभी स्थिरता आ जाती है। 'क्षिप्त' अवस्था से यही वैशिष्ट्य इस भूमि की है।[1] इसी लिए इस अवस्था के चित्त को **'विक्षिप्त'** कहते हैं।

(४) विशुद्ध सत्त्व के उद्रेक से एक ही विषय में लगे हुए चित्त को **'एकाग्र'** कहते हैं। जैसे—निर्वात दीपकी शिखा स्थिर होकर एक ही ओर रहती है, इधर-उधर नही जाती।

(५) चित्त की सभी वृत्तियो के निरुद्ध हो जाने पर भी उन वृत्तियों के संस्कार-मात्र चित्त मे रह जाते हैं। उन संस्कारो से युक्त चित्त **'निरुद्ध'** कहा जाता है।

इनमे प्रथम तीन भूमियो मे यद्यपि कथञ्चित् वृत्ति का निरोध है, किन्तु ये तीनो भूमियाँ योगसाधन के लिए वस्तुत. उपयुक्त नही है, प्रत्युत ये योग की उपघातक है। अतएव योग के साधनों से ये दूर कर दी गयी है। अन्तिम दोनो भूमियाँ योग के लिए सर्वथा उपयोगी हैं। इसलिए ये ही अन्तिम दोनो भूमियाँ योग-शास्त्र का लक्ष्य हैं, उनमे भी प्रधान रूप से **'निरुद्ध'** अवस्था को ही 'योग' कहते हैं—**योगः चित्तवृत्तिनिरोधः।**[2]

---

[1] **क्षिप्ता द्विशिष्टं, विशेषोऽस्यैमवहुलस्य कादाचित्कः स्थेमा—तत्त्ववैशारदी,** १-१।

[2] **योगसूत्र,** १-२।

'चित्त' त्रिगुणात्मक है। तीनों गुणो के उद्रेक क्रमशः समय-समय पर 'चित्त' में होते रहते हैं। उसके अनुसार 'चित्त' के भी तीन रूप होते हैं—प्रख्या, प्रवृत्ति तथा स्थिति।

प्रख्याशील—इस अवस्था में 'सत्त्व-प्रधान चित्त' रजस् और तमस् से संयुक्त रहता है और 'अणिमा' आदि ऐश्वर्य का प्रेमी होता है।

तमोगुण से युक्त होने पर यही 'चित्त' अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य का प्रेमी होता है। मोह के आवरणो से सर्वथा क्षीण केवल रजस् के अश से युक्त होने पर यही 'चित्त' सर्वत्र प्रकाशमान होता है और धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से युक्त होता है।

प्रथम अवस्था मे 'चित्त' ऐश्वर्य का प्रेमी मात्र होता है, किन्तु अन्तिम अवस्था मे वही 'चित्त' ऐश्वर्य की प्राप्ति कर लेता है।

जब इस चित्त मे रजस् के मलो का लेशमात्र भी नही रहता, तब सत्त्व-प्रधान 'चित्त' अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है और प्रकृति-पुरुष की **'अन्यताख्याति'**, अर्थात् विवेक-बुद्धि, को प्राप्त करता है। पश्चात् वह **'धर्ममेघसमाधि'**[1] मे स्थित हो जाता है।[2]

चित् और चित्त में परस्पर आरोप

'चित्त' जड है और 'पुरुष' चेतन है। अनादि अविद्या के कारण 'पुरुष' और 'प्रकृति' मे परस्पर एक प्रकार का अभेद सम्बन्ध हो जाता है। इससे बुद्धि की वृत्तियों का पुरुष मे आरोप होता है और 'मै शान्त हूँ, दुःखी हूँ तथा मूढ हूँ', इस प्रकार के ज्ञान पुरुष मे उदित होते हैं। बुद्धि की विषयाकार वृत्तियाँ पुरुष मे प्रतिबिम्बित होती है, वही 'पुरुष की वृत्ति' कही जाती है।[3] पुरुष का प्रतिबिम्ब 'चित्त' पर पड़ता है। उससे

[1] 'विवेकज ज्ञान' को प्राप्त कर, उसमें भी परिणामजन्य दुःख देख कर, उसके फल को भी न चाहने वाला योगी 'व्युत्थान' के संस्कार के तथा योग के विघ्नो के अभाव में सर्वथा निरन्तर विवेकख्याति के उदय होने से 'धर्ममेघ' नाम की समाधि को प्राप्त करता है। यह 'धर्ममेघ' सम्प्रज्ञात योग का पराकाष्ठारूप समाधि है। 'धर्म', अर्थात् जीवात्मा तथा पमात्मा के ऐक्य का साक्षात्कार, उसे 'मेघ' के समान जल से जो सिञ्चन करे, उसे ही 'धर्ममेघ' समाधि कहते हैं—योगसूत्रभाष्य, ४-२९।

[2] योगभाष्य, १-२।

[3] योगवार्त्तिक, १-४।

'चित्त' भी अपने को चेतन के समान समझने लगता है और चेतन की तरह कार्य करने लगता है, यही **'चित्त की वृत्ति'** है। इस प्रकार इन दोनो में परस्पर आरोप होता है।

ये **'चित्त की वृत्तियाँ'** तो अज्ञान के कार्य है। इनको रोकना आवश्यक है। ये वृत्तियाँ जब धर्म, अधर्म तथा वासनाओ की उत्पत्ति का कारण होती है, तब वे क्लेश देती है और **'क्लिष्ट'** कही जाती है। ये जब ख्याति[1] देने वाली होती है, तब वे **'अक्लिष्ट'** कहलाती है। इन वृत्तियों से 'संस्कार' होते है और 'सस्कार' से 'वृत्तियाँ' होती हैं। इस प्रकार **'वृत्ति-संस्कार-चक्र'** अहर्निश चलता रहता है। निरोध की अवस्था में यह चक्र केवल सस्काररूप में रह जाता है या अभ्यास के द्वारा संस्कारों का भी क्षय हो जाने से आत्यन्तिक लय में प्राप्त होकर **'विदेह कैवल्य'** को प्राप्त करता है। निरोध समाधि में लय हो जाना ही योगियों की **'मुक्ति'** है।

चित्त की वृत्ति

ये 'वृत्तियाँ' पाँच प्रकार की होती है—'प्रमाण', 'विपर्यय', 'विकल्प', 'निद्रा' तथा 'स्मृति'। इन्ही में चित्त की अन्य सभी वृत्तियाँ अन्तर्भूत है।

प्रमाण—साख्य की तरह योग में भी 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' और 'शब्द', ये तीन **'प्रमाण'** है। इन्द्रियरूपी नाली के द्वारा 'चित्त' बाहर जाकर वस्तुओ के साथ उपराग को प्राप्त कर विषयाकार हो जाता है, अर्थात् वस्तु के आकार को प्राप्त जो 'चित्तवृत्ति' होती है, वही **'प्रत्यक्ष' प्रमाण** है। वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति मे 'मैं घट को जानता हूँ', इस प्रकार घट का साक्षात्कार होता है। यही पौरुषेय चित्तवृत्ति-बोध है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ तो चित्तवृत्ति के जाने-आने के मार्ग, अर्थात् **द्वारमात्र** है। **'अनुमान'** तथा **'शब्द' प्रमाण** मे योगशास्त्र का साख्यशास्त्र से कोई भेद नही है। इसलिए इनकी पुन. व्याख्या करने की आवश्यकता यहाँ नही है।

वृत्ति के भेद

प्रत्यक्ष प्रमाण

विपर्यय—किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान को **'विपर्यय'** कहते है। वाचस्पति मिश्र ने **'संशय'** को भी **'विपर्यय'** कहा है। जिस ज्ञान का निश्चित प्रमाण के द्वारा बोध हो जाय, वह **'मिथ्या ज्ञान'** है।

---

[1] **रजस् और तमस् से रहित बुद्धिसत्त्व की प्रशान्तवाहिनी प्रज्ञा को 'ख्याति' कहते हैं।**

विकल्प—शब्द-ज्ञान से उत्पन्न होने वाला, किन्तु वस्तु-शून्य, अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान हो उस वस्तु का अत्यन्त अभाव रहे, ऐसे ज्ञान को **'विकल्प'** कहते है। जैसे—**'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्'** (चैतन्य पुरुष का स्वरूप है)। यह **'विकल्प'** का एक उदाहरण है। यहाँ यह जानना चाहिए कि 'चैतन्य' ही तो 'पुरुष' है, फिर किसका स्वरूप ? 'पुरुष' और 'चैतन्य' में भेद का भान क्यो ? यह तो वास्तव नही है। फिर भी 'चैतन्य' को 'पुरुष' से पृथक् समझना **'विकल्प'** है।

निद्रा—किसी वस्तु के अभाव-ज्ञान का आलम्बन करने वाली वृत्ति **'निद्रा'** है। इस अवस्था मे 'तमस् के आधिक्य से 'जाग्रत्' और 'स्वप्न' की वृत्तियो का 'अभाव' रहता है। **'निद्रा'** ज्ञान का अभाव नही है। यह भी एक 'वृत्ति' है, सो कर उठने वाले पुरुष को 'जाग्रत्' अवस्था मे 'मै खूब सोया', 'मेरा मन शान्त है', 'मैने कुछ नही समझा', इत्यादि बोध होते है। इसलिए **'निद्रा'** को भी 'वृत्ति' कहते है।

स्मृति—अनुभूत किये गये विषयो का ठीक-ठीक उसी रूप मे (असप्रमोष) स्मरण होना **'स्मृति'** है।

ये ही वृत्तियाँ कार्य उत्पन्न कर, सूक्ष्म रूप से 'संस्कार' के रूप मे, हमारे अन्त -करण मे रहती है। समय पाकर 'सादृश्य' आदि के द्वारा उद्बुद्ध होने से ये संस्कार पुन 'वृत्ति' का रूप धारण करते है। यह चक्र सतत चलता रहता है।

इन्ही वृत्तियो के निरोध से क्रमश. तत्त्वज्ञान होता है और दु ख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। इन्ही वृत्तियो का निरोध करना **'योग'** है।

वृत्तिनिरोध के उपाय

यह **'निरोध'** अभ्यास और वैराग्य से होता है। चित्तरूपी नदी दोनों तरफ बहती है—एक तो वह विवेक के मार्ग से कैवल्य तक जाती हुई कल्याण देने वाली है और दूसरी आत्मा और अनात्मा के अविवेक के मार्ग से जाती हुई पाप कराने वाली है। वैराग्य के द्वारा नदी का पाप-स्रोत रोका जाता है और विवेकदर्शन के अभ्यास, अर्थात् चित्त की सत्त्व मे प्रशान्त-वाहिता को स्थिर रखने के प्रयत्न, से विवेक-स्रोत का उद्घाटन होता है। अतएव चित्तवृत्ति का निरोध इन दोनो स्रोतो पर निर्भर है।

समाधि के भेद—इस 'निरोध' की दो अवस्थाएँ होती है—एक **संप्रज्ञात** और दूसरी **असंप्रज्ञात**।

चित्त में अनेक 'वृत्तियाँ' होती हैं। जब 'चित्त' किसी एक वस्तु पर एकाग्र होकर लगता है, तब उसकी वही एकमात्र वृत्ति जाग्रत् रहती है, अन्य वृत्तियाँ सभी क्षीण शक्ति की होकर उसी एक वृत्ति को प्रौढ बनाती हैं। उसी एक वृत्ति में ध्यान लगाने से उसमें 'प्रज्ञा' का उदय होता है और उससे अन्य वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसी को 'संप्रज्ञात समाधि' कहते हैं। इसी को 'सबीज समाधि' भी कहते हैं। इस समाधि में कोई न कोई आलम्बन रहता है और समाधि की अवस्था में उन आलम्बनों का भान भी होता है।

संप्रज्ञात या सबीज समाधि

इस अवस्था में 'चित्त' एकाग्र रहता है, सत्-रूप अर्थ को, अर्थात् यथार्थ तत्त्व को, प्रकाशित करता है, 'क्लेशों' का नाश करता है, कर्मजन्य बन्धनों को शिथिल कर देता है, निरोध के समीप पहुँच जाता है।[1]

संप्रज्ञात समाधि के भेद—यह **संप्रज्ञात समाधि** चार प्रकार की होती है—'वितर्कानुगत', 'विचारानुगत', 'आनन्दानुगत' तथा 'अस्मितानुगत'।

वितर्कानुगत—वस्तुएँ स्थूल और सूक्ष्म होती हैं। जब चित्त स्थूल विषय से सम्बद्ध होकर उसके आकार का हो जाता है, तब उसे '**वितर्क**' कहते हैं। इस अवस्था में साधक 'चतुर्भुजधारी भगवान्'—ऐसी स्थूल वस्तु को ध्यान में रखता है। स्थूल आलम्बन से आरंभ कर सूक्ष्म में चित्त जाता है। '**सवितर्क**' समाधि में शब्द (जैसे—'गौ.'), उसका 'अर्थ' और उसका 'ज्ञान', ये तीनों एक होकर भावना में रहते हैं। जहाँ शब्द छोड़कर केवल अर्थ की भावना हो, उसे '**निर्वितर्क**' समाधि कहते हैं।

विचारानुगत—चित्त का आलम्बन जब सूक्ष्म है, अर्थात् सूक्ष्म वस्तु के सम्बन्ध से सूक्ष्माकाराकारित होता है, तब उसे '**विचार**' कहते हैं।

आनन्दानुगत—इन्द्रिय आदि सात्त्विक सूक्ष्म वस्तु के आलम्बन से सत्त्व का प्रकर्ष हो जाता है। सत्त्व से सुख-आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए उस समय साधक को '**आनन्द**' होता है।

अस्मितानुगत—इन्द्रियाँ '**अस्मिता**' से उत्पन्न होती हैं। चित्प्रतिबिम्बित बुद्धि '**अस्मिता**' है। इस समय चित्त और चित् में '**एकात्मिका संवित्**' रहती है। इस

[1] योगभाष्य, १-१।

प्रकार 'अस्मिता' इन्द्रियों से भी सूक्ष्म है। इसको आलम्बन बना कर जो 'समाधि' हो, वह **'अस्मितानुगत समाधि'** कही जाती है।

'सम्प्रज्ञात' की अवस्था में **प्रज्ञा** का उदय होता है। इसमें आलम्बन रहता है और 'ज्ञान', 'ज्ञाता' तथा 'ज्ञेय', इन तीनों की भावना बनी रहती है। परन्तु

असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधि

जब ये तीनों भावनाएँ अत्यन्त एकीभूत हो जाती हैं, सभी वृत्तियाँ परम वैराग्य से निरुद्ध हो जाती हैं, एक प्रकार से आलम्बन का अभाव हो जाता है, **संस्कारमात्र** शेष रह जाता है, उस समाधि को **'असंप्रज्ञात'** कहते हैं। इसे **'निर्बीज समाधि'** भी कहते हैं, क्योकि इसमे 'क्लेश' तथा 'कर्माशय' नही रहते।

असंप्रज्ञात समाधि के भेद—इसके दो भेद हैं—'भवप्रत्यय' तथा 'उपाय-प्रत्यय'। 'भव' का अर्थ है 'अविद्या'। अनात्मा मे आत्मा की ख्याति **'अविद्या'** है,।

भवप्रत्यय

इस **'अविद्या'** के कारण जो निरोध समाधि हो, वही **'भवप्रत्यय असंप्रज्ञात'** समाधि है। जब चित्त की सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है, उस समय चित्त कोई आकार नही धारण करता, वह स्थिर होकर रहता है। अर्थात् 'भूतो' को या 'इन्द्रियो' को ही, किसी एक को, आत्मा मानकर उसकी उपासना से उत्पन्न वासनाओ से वासित अन्त करण वाले, रक्त, मास, मेद, अस्थि,

षाट्कौशिक शरीर

मज्जा तथा शुक्र, इन छ वस्तुओ से बने हुए **'षाट्कौशिक'** शरीर का पतन होने पर , इन्द्रियों मे या भूतो मे लीन होकर, सस्कारमात्र से युक्त मन को रखने वाले जीव **'विदेह'**[1] कहे जाते हैं। अर्थात् इनमे इनकी वासनाओ का सस्कारमात्र ही रह जाता है। इस सस्कारमात्र से युक्त चित्त

विदेह जीव

के द्वारा 'हमे कैवल्य पद प्राप्त हो गया है', ऐसा ध्यान करने वाले जीव **'विदेह'** कहे जाते हैं। इस अवस्था मे वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है, फिर भी केवल सस्कार को लेकर ही ये भोग करती हैं। इसी लिए **'कैवल्य अवस्था'** के कथचित् समान यह **'विदेहावस्था'** है, परन्तु विवेक-ख्याति न प्राप्त कर केवल सस्कार से युक्त रहने के कारण यह अवस्था 'विदेहावस्था' से भिन्न भी है। अवधि की पूर्ति होने के अनन्तर ये पुनः ससार मे आ जाते हैं। इसलिए अविद्या से युक्त यह समाधि है।

---

[1] षाट्कौशिक शरीर जिनके न हों वे 'विदेह' कहे जाते हैं।

इस प्रकार अव्यक्त, महत्, अहकार, पञ्चतन्मात्राओ में से किसी एक को आत्मा मानकर उसकी उपासना से वासित अन्तःकरण वाला जीव, शरीर का पतन होने पर, उपर्युक्त अव्यक्त आदि किसी मे लय को प्राप्त, विवेक-ख्याति को न पाकर भी कैवल्यपद को प्राप्त किये हुए के समान अपने को समझता हुआ, **'प्रकृतिलय'** कहलाता है । अवधि की पूर्ति के पश्चात् पुन यह ससार मे आ जाता है, जिस प्रकार वर्षा के समाप्त होने पर मिट्टी मे मिल गया हुआ मेढक का शरीर पुन. वर्षा के जल को पाकर अपना शरीर धारण कर लेता है।

प्रकृतिलय

इस समाधि मे विवेक-ख्याति नही होती तथा इसके अनन्तर ये लोग पुनः ससार में आ जाते है। अतएव यह अवस्था उपादेय नही है। यह एक प्रकार से मोहावस्था ही है।

'उपाय-प्रत्यय' योगियो को ही होता है । यह 'श्रद्धा'[1] (चित्त की प्रसन्नता), 'वीर्य' (धारणा), 'स्मृति' (ध्यान), 'समाधि' (सप्रज्ञात) तथा 'प्रज्ञा' (ज्ञान प्रसाद-मात्र) से उत्पन्न होता है। श्रद्धा योगियो की माता के समान रक्षा करती है, अर्थात् कुमार्ग मे नही जाने देती है । विवेक-बुद्धि की इच्छा करने वालो को 'श्रद्धा' से 'वीर्य', उससे 'स्मृति' उत्पन्न होती है, जिससे चित्त शान्त और अविक्षिप्त हो कर समाधि मे स्थित हो जाता है, अर्थात् संप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करता है। पश्चात् उस सप्रज्ञात समाहित चित्त मे प्रज्ञ-विवेक उत्पन्न होता है और वह यथावत् वस्तु को जानने मे लगता है । इसके अभ्यास से उसे विषयो से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उसके पश्चात् वह 'असप्रज्ञात समाधि' मे स्थिर हो जाता है।

उपाय-प्रत्यय

भवप्रत्यय मे 'ज्ञान' का उदय नही होता और 'अविद्या' रहती है । अतएव उसमे ससार की तरफ झुक जाने की आशका रहती है, किन्तु दूसरे, अर्थात् **उपाय-प्रत्यय** मे 'प्रज्ञा' का उदय होने के कारण 'अविद्या' का नाश हो जाता है और पश्चात् क्लेशो का भी नाश होता है और ज्ञान में चित्त प्रतिष्ठित हो जाता है ।

भव और उपाय-प्रत्यय

---

[1] इन्द्रियलय वालों को भी अपने आलम्बन में श्रद्धा होती है, किन्तु वे लोग आचार्य के उपदेश से तत्त्व को नहीं जानते और उनके चित्त प्रसन्न नहीं होते। इसलिए वे अविद्या में रहते है।

विघ्न—'चित्त' को विक्षेप मे ले जाने वाले निम्नलिखित **विघ्न** हैं—

रोग, अकर्मण्यता, संशय, समाधि के साधनो की चिन्ता न करना (प्रमाद), आलस्य (भारी होने के कारण शरीर तथा चित्त की कार्य करने के प्रति अप्रवृत्ति), विषयो में आसक्ति, भ्रान्तिदर्शन (विपर्ययज्ञान), समाधि की भूमिको न पाना, भूमि को पाकर भी उसमे चित्त की स्थिरता का न होना।

चित्तविक्षेप के कारण

विक्षेपचित्त वाले को दु ख, दौर्मनस्य (इच्छा की पूर्ति न होने से चित्त मे क्षोभ होना), शरीर में कम्पन, श्वास तथा प्रश्वास होते हैं।

इन सबको रोकने के लिए एक तत्त्व मे चित्त को अवलम्बित करने का **अभ्यास** करना चाहिए। साथ ही साथ सब प्राणियो मे **मैत्री** की भावना, दु खियो के प्रति **करुणा** की भावना, पुण्यात्माओ के प्रति **प्रसन्नता**, पापियो के प्रति **उपेक्षा** की भावना से चित्त को शान्त करना चाहिए।

चित्त को प्रसन्न करने के उपाय

जो लोग समाहितचित्त नही है, वे भी तपस्या, स्वाध्याय, किये हुए सभी कार्यों के फल को ईश्वर मे समर्पण के द्वारा योग मे प्रवृत्त हो सकते हैं। इन क्रियाओं से समाधि की भावना और क्लेशो का नाश होता है। पश्चात् प्रज्ञा का उदय और 'सत्त्व' और 'पुरुष' मे भेद का ज्ञान होता है।

'चित्त' अविद्या से आच्छादित रहता है। इसमे मिथ्या ज्ञान होता है और भ्रान्ति होती है। अतएव चित्त को विशुद्ध करने के लिए मिथ्या ज्ञान का नाश करना आवश्यक है। मिथ्याज्ञान से ही **'क्लेश'**, अर्थात् विपर्यय की उत्पत्ति होती है। ये **'क्लेश'** वृत्ति के द्वारा फैल कर चित्त पर गुणो के अधिकार को दृढ कर देते है, परिणाम को स्थापित करते हैं, अव्यक्त से महत्, महत् से अहकार, इत्यादि कार्य-कारण की परम्परा को अभिव्यक्त करते हैं तथा आपस में अनुग्राहक बन कर कर्मो के (जाति, आयु तथा भोग-रूप) फलो को सम्पन्न करते है, अर्थात् कर्मो से क्लेश और क्लेशो से कर्म, इस परम्परा को चलाते रहते हैं।

क्लेश का स्वरूप

क्लेश के भेद—क्लेश पाँच प्रकार का होता है—'अविद्या', 'अस्मिता', 'राग', 'द्वेष' तथा 'अभिनिवेश'। एक प्रकार से **अविद्या** से ही अन्य चार होते हैं।

अविद्या—अनित्य, अशुचि, दु ख तथा अनात्मा में क्रमश. नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मा का ज्ञान रखना 'अविद्या' है।

अस्मिता—दृक्-शक्ति 'पुरुष' है तथा दर्शन-शक्ति 'बुद्धि' है। ये दोनों परस्पर भिन्न हैं। इन दोनो को एक मानना 'अस्मिता' है।

राग—सुख के लिए अत्युत्कट इच्छा को 'राग' कहते हैं।

द्वेष—दु ख के साधनो मे जो क्रोध हो, वही 'द्वेष' है।

अभिनिवेश—मृत्युभय। यह जीवमात्र के लिए स्वाभाविक है।

इन क्लेशो से कर्माशय, अर्थात् धर्माधर्म, बनते हैं। पश्चात् उन्ही से जाति, आयु तथा भोग उत्पन्न होते है और पश्चात् उनसे सुख और दु ख होते हैं।

योग के साधन

अष्टांग योग—क्लेशो से मुक्त होने के लिए, चित्त को समाहित करने के लिए योग के आठ अगो (साधनो) का अभ्यास करना आवश्यक है। ये हैं—'यम', 'नियम', 'आसन', 'प्राणायाम', 'प्रत्याहार', 'धारणा', 'ध्यान' तथा 'समाधि'।

(१) **यम**—कायिक, वाचिक तथा मानसिक सयम को **'यम'** कहते हैं। जैसे—

'अहिंसा'—सर्वथा तथा सर्वदा सभी भूतो के ऊपर द्रोह न करना।

'सत्य'—वचन मे और मन मे यथार्थ होना, अर्थात् जैसा देखा या अनुमान किया या सुना, उसी प्रकार वचन और मन को रखना।

'अस्तेय'—परद्रव्य का अपहरण न करना और न उसकी इच्छा करना।

'ब्रह्मचर्य'—इन्द्रियो मे, विशेषकर गुप्तेन्द्रियों मे, लोलुपता न रखना।

'अपरिग्रह'—परद्रव्य को स्वीकार न करना।

ये **यम** हैं। इनका पालन आवश्यक है।

(२) **नियम**—नियमो का भी पालन आवश्यक है। **नियम** ये हैं—'शौच', 'सन्तोप', 'तपस्या', 'स्वाध्याय' तथा 'ईश्वरप्रणिधान'। इनके अर्थ तो स्पष्ट हैं।

(३) **आसन**—चित्त को स्थिर रखने वाले तथा सुख देने वाले जो बैठने के प्रकार है, उन्हे 'आसन' कहते है। जैसे—'पद्मासन', 'वीरासन', 'भद्रासन', आदि। स्थिर आसन से मन तथा वायु भी स्थिर होती है और शीतोष्ण द्वन्द्व क्लेश नही देता।

(४) **प्राणायाम**—स्थिर आसन होने से श्वास तथा प्रश्वास की गति के विच्छेद को '**प्राणायाम**' कहते है।

(५) **प्रत्याहार**—अपने-अपने विषयो से इन्द्रियों को हटाकर उन्हें अन्तर्मुखी करना '**प्रत्याहार**' है।

(६) **धारणा**—चित्त को किसी स्थान में स्थिर कर देना '**धारणा**' है। जैसे—नाभिचक्र में, हृत्कमल में अथवा किसी बाह्य वस्तु में ही चित्त को स्थिर करना भी '**धारणा**' है।

(७) **ध्यान**—किसी स्थान में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एक प्रवाह मे संल्लग्न होता है, तब उसे '**ध्यान**' कहते हैं। इस स्थिति मे एक समय मे एक ही ज्ञान का प्रवाह रहता है, दूसरा उसके साथ मिश्रित नही होता। ध्यान में ध्यान, ध्येय तथा ध्याता का पृथक्-पृथक् भान होता है।

(८) **समाधि**—ध्यान ही ध्येय के आकार में भासित हो और अपने स्वरूप को छोड दे, तो वही '**समाधि**' है। 'समाधि' मे ध्यान और ध्याता का भान नही होता, केवल 'ध्येय' रहता है। उसी के आकार को चित्त 'धारण' कर लेता है। एक प्रकार से उस अवस्था मे ध्यान, ध्याता तथा ध्येय, तीनों की एक-सी प्रतीति होती है।

धारणा, ध्यान तथा समाधि, इन तीनो के लिए '**संयम**' एक शब्द है। सयम में सफल होने से प्रज्ञा या आलोक का उदय होता है। एक भूमि पर अधिकार प्राप्त करने पर ही दूसरी भूमि मे 'सयम' का उपयोग किया जाता है।

योग की भूमि

योग की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। इन अवस्थाओं को योग की '**भूमि**' कहते है। योग-साधन में लगा हुआ योगी क्रमशः इन भूमियों पर अपना अधिकार

प्राप्त करता है। चारों भूमियों पर अधिकार प्राप्त करने के कारण योगियों के भी चार भेद हैं—(१) प्रथमकल्पिक, (२) मधुभमिक, (३) प्रज्ञाज्योति तथा (४) अतिक्रान्तभावनीय।

योगी के चार भेद

(१) **'प्रथमकल्पिक'**—अष्टाग योग का अभ्यास करते हुए जिस साधक का अतीन्द्रिय ज्ञान समाधि की तरफ केवल प्रवृत्तमात्र हुआ है, अभी उसने 'परचित्त' आदि पर अपना वश नही प्राप्त किया है, ऐसे अभ्यासी योगी को **'प्रथमकल्पिक'** कहते हैं।

(२) **'मधुभूमिक'**—निर्विचार-समाधि मे स्थित समाहित-चित्त साधक की जो प्रज्ञा होती है, वह **'ऋतम्भरा प्रज्ञा'** कही जाती है। यह अवस्था यथार्थ मे योग का निश्चित साधन होने के कारण **'ऋतम्भरा'** कही जाती है। इसमे अन्यथा होने की कुछ भी आशंका नही होती। इसी लिए कहा गया है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥[1]

'ऋतम्भरा प्रज्ञा' को प्राप्त किया हुआ योगी भूत तथा इन्द्रियों को अपने वश मे लाने की इच्छा रखता है। इस प्रकार की प्रज्ञा को प्राप्त करने से वह **'मधुभूमि'** को प्राप्त कर लेता है।

'मधुभूमि' को प्राप्त कर योगी विशुद्ध अन्त.करण का हो जाता है। इस अवस्था मे देवता लोग उस योगी को स्वर्ग मे आने का निमन्त्रण देते है तथा स्वर्गीय उपभोग-साधन—विमान, अप्सरा, कल्पवृक्ष, आदि के द्वारा प्रलोभन देते है तथा अपने अभिलषित कार्यो का सम्पादन करने मे उसकी सहायता चाहते है। योगी को इन प्रलोभनो मे दोष देखना चाहिए और इनकी तरफ ध्यान न देकर समाधि मे चित्त को लगाना चाहिए। यह दूसरी अवस्था है।

(३) **प्रज्ञाज्योति**—इस भूमि मे आकर योगी भूत और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। 'परचित्त' के ज्ञान आदि को प्राप्त कर, उस सिद्धि

[1] योगसूत्र-भाष्य, १-४८।

से च्युत न होने पाये, इसके लिए वह अपनी दृढ रक्षा करता है।[1] परन्तु फिर भी उसे ऊँचे स्तर पर जाना है, अतएव **'विशोकादि'**[2] साधन से लेकर असप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति पर्यन्त पहुँचने के लिए वह साधन मे लगा रहता है। यह **'प्रज्ञाज्योति'** नाम की तीसरी अवस्था है।

(४) 'अतिक्रान्तभावनीय'—इस अवस्था मे पहुँच कर योगी का एक मात्र ध्येय रहता है—'चित्त का लय करना', अर्थात् 'असप्रज्ञात' समाधि मे पहुँचकर चित्त का लय करना छोड़ कर, अब उसे अन्य कुछ भी कर्तव्य नही है, क्योकि सात प्रकार की **'प्रान्तभूमि-प्रज्ञा'** उसे प्राप्त हो चुकी है, अतएव अब कुछ और करने को अवशिष्ट नही बचा है।

प्रज्ञा के भेद—**विवेकख्याति** को पाकर प्रसन्नचित्त योगी को **सात प्रकार की प्रान्तभूमि-प्रज्ञा** प्राप्त होती है। चित्त के अशुद्धिरूप आवरणमल का नाश होने के कारण तामसिक, राजसिक, ससारी ज्ञान न होने से विवेकी साधक की सात प्रकार की प्रज्ञा होती है। विषय के भेद से 'प्रज्ञा' का भेद होता है। ये सात प्रज्ञाएँ निम्न-लिखित है—

(१) प्रकृति के परिणामो से उत्पन्न दु ख **'हेय'** है। सभी हेय तत्त्वों का ज्ञान उसने प्राप्त कर लिया है, अब उस साधक का अन्य **परिज्ञेय** कुछ भी नही है।

(२) हेय के सभी कारण नष्ट हो चुके है, अब उन्हे क्षीण करने की आवश्यकता नही है। अब कोई **'क्षेतव्य'** नही बचा है।

(३) निरोधसमाधि के द्वारा साध्य **'हान'** को मैने सप्रज्ञात समाधि की अवस्था ही मे साक्षात् निश्चय कर लिया है, अब मुझे इसके परे **निश्चय करने को** कुछ भी नही है।

(४) विवेकख्यातिरूप 'हान' के उपाय को मैने प्राप्त कर लिया है, अब इसके **परे प्राप्त करने को** कुछ भी अवशिष्ट नही है।

---

[1] योगभाष्य, ३-५१।

[2] योगसूत्र-भाष्य, १-३६।

इन चार प्रकार के प्रज्ञा के कार्यो को 'विमुक्ति' कहते है। उस साधक के चित्त की विमुक्ति तीन प्रकार की है—

(५) 'वुद्धि' भोग का सम्पादन कर चुकी है, विवेकख्याति हो गयी है।

(६) सत्त्व, रजस् तथा तमस्, ये तीनो गुण अपने कारण मे लीन होने के लिए अभिमुख होकर कारण के साथ-साथ लय को प्राप्त होते है। उनका अव कोई कर्तव्य न रहने के कारण, पुन उनकी अभिव्यक्ति भी न होगी।

(७) इस अवस्था मे गुणो के सम्वन्ध से रहित, स्वरूपमात्र ज्योति, अर्थात् ज्योति स्वरूप अमल केवली पुरुष जीवित अवस्था मे ही 'मुक्त' हो जाता है।

इन सातो प्रान्तभूमिप्रज्ञाओं का साक्षात् अनुभव करने वाला पुरुष 'कुशल' कहलाता है। प्रधानलयावस्था मे भी गुणातीत होने के कारण चित्त का लय होने पर भी पुरुष 'मुक्त-कुशल' कहा जाता है।[1]

'धारणा', 'ध्यान' एव 'समाधि', ये 'सप्रज्ञात समाधि' के अन्तरंग है, परन्तु 'निर्बीजसमाधि' के वहिरंग है।

परिणाम

योगशास्त्र मे 'चित्त' के स्वरूप का और उसकी वृत्तियों के निरोध का विचार है। 'चित्त' त्रिगुणात्मक है, अतएव परिणामी है। उसमे रजोगुण है और सदा क्रियाशील होना रजोगुण का स्वभाव है। अतएव किसी भी अवस्था में 'चित्त' रहे, उसमे क्रिया होती ही रहेगी। चित्त की दो मुख्य अवस्थाएँ होती है—एक तो 'कार्यावस्था' जिसमे वृत्तियों के द्वारा सदैव कोई न कोई क्रिया होती ही रहती है। इसे हम 'संसारावस्था' भी कह सकते हैं। योगशास्त्र मे इसे 'व्युत्थान' अवस्था कहा गया है। दूसरी वह अवस्था है जिसमें वृत्तियाँ चित्त मे ही निरुद्ध हो गयी है। इस अवस्था में स्थूल दृष्टि से कोई भी क्रिया नहीं देख पड़ती है। इसे 'निरोध' अवस्था कहते है।

चित्त का स्वरूप

[1] योगसूत्रभाष्य, २-२७।

परिणाम का स्वरूप

किन्तु 'चित्त' किसी भी अवस्था मे हो, उसमें क्रिया होती ही रहती है। क्रियाओ के द्वारा जो परिवर्तन 'चित्त' में होता रहता है उसे ही **'परिणाम'** कहते है। अर्थात् एक स्थिर वस्तु मे, अर्थात् 'धर्मी' मे, क्रिया के द्वारा एक धर्म का तिरोभाव होकर दूसरे धर्म का आविर्भाव होना ही **'परिणाम'** कहा जाता है ।[1] 'व्युत्थान' अवस्था से 'निरोध' अवस्था को प्राप्त होना भी 'चित्त' का **'परिणाम'** है। सत्कार्यवाद को मानने वाले योगशास्त्र मे 'व्युत्थान' और 'निरोध', ये दोनो अवस्थाएँ धर्मों का केवल 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव' है। अर्थात् 'व्युत्थान' से 'निरोध' को प्राप्त होने मे 'व्युत्थान' का 'तिरोभाव' और 'निरोध' का 'आविर्भाव' एव 'निरोध' से 'व्युत्थान' को प्राप्त होने मे 'निरोध' का 'तिरोभाव' तथा 'व्युत्थान' का 'आविर्भाव' होता रहता है। ये सभी **परिणाम** है।

निरोध-परिणाम

किन्तु 'निरोध'काल मे भी 'व्युत्थान' का 'तिरोभाव' तो चित्त में ही रहता है और साथ-साथ 'निरोध' का 'आविर्भाव' भी उसी चित्त मे रहता है। 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव', ये दोनो ही चित्त के ही धर्म है। ये दोनों धर्म एक ही 'निरोध, काल मे चित्त मे रहते है। अभिप्राय यह है कि निरोधकाल मे 'व्युत्थान' का तिरोभाव होने से, उसमे साधारण रूप मे कोई क्रिया तो देख नही पडती एव 'निरोध' का आविर्भाव होने पर भी उसमे कोई परिवर्तन देख नही पडता, परन्तु यह स्पष्टहै कि 'तिरोभाव'-रूप तथा 'आविर्भाव'-रूप सस्कार तो उस चित्त में साथ ही साथ वर्तमान है। हमे यह देख पडता है कि साधक क्रमशः अधिक समय तक चित्तवृत्ति का निरोध करता है, अर्थात् 'व्युत्थान-सस्कार' दुर्बल होता जाता है और निरोध-सस्कार उत्तेजित हो जाता है। इस प्रकार क्रमिक और निरन्तर अभ्यास के द्वारा एक दिन साधक के चित्त से 'व्युत्थान-सस्कार' सदा के लिए विलीन हो जायगा और 'निरोध-सस्कार' पूर्ण बलवान् होकर दृढ हो जायगा और चित्त शान्त प्रवाह मे मग्न हो जायगा।[2] इन दोनो सस्कारो का परिणाम **निरोधावस्था** मे प्राप्त 'चित्त' मे ही होता है। अतएव यह **'निरोध-परिणाम'** कहा जाता है।

---

[1] योगभाष्य, ३-१३।

[2] योगसूत्र, ३-१०।

चित्त के अनेक धर्मों मे, **'सर्वार्थता'**[1] अर्थात् **'विक्षिप्तता'** और 'एकाग्रता',[2] ये भी दो धर्म है। समाधिकाल मे 'सर्वार्थता' का क्षय और 'एकाग्रता' का उदय होता है, अर्थात् 'सर्वार्थता' का सस्कार एव उससे उत्पन्न प्रत्ययो का क्षय तथा 'एकाग्रता' का सस्कार एव उससे उत्पन्न 'एकप्रत्ययता' का उदय, दोनों ही साथ-साथ चित्त में होते है। इन दोनो अवस्थाओ मे 'चित्त' धर्मी के रूप मे विद्यमान होकर समाहित रहता है। यही **समाधि-परिणाम** है।[3]

समाधि-परिणाम

'निरोध-परिणाम' मे व्युत्थान और निरोध के सस्कारों के ही क्षय और उदय होते है, किन्तु **'समाधि-परिणाम'** मे सस्कार तथा प्रत्यय दोनों के ही क्षय और उदय होते है।

पूर्वकाल मे विद्यमान विक्षिप्त प्रत्ययो का, समाधि में स्थित चित्त मे, 'लय' होता है और तत्सदृश अन्य प्रत्ययो का 'उदय' होता है, अर्थात् समाधिकाल मे शान्त प्रत्यय और उदित प्रत्यय, दोनो तुल्य रूप मे चित्त मे प्रवाहित होते रहते है। इन दोनों का तुल्य रूप मे प्रवाहित होना ही चित्त का **'एकाग्रता-परिणाम'** कहा जाता है। **एकाग्रता-परिणाम** मे सदृश-प्रवाहिता अत्यन्त आवश्यक है। यही इस परिणाम की विशेषता है।[4]

एकाग्रता-परिणाम

एकाग्रता-परिणाम समाधिमात्र मे होता है। **समाधि-परिणाम** 'संप्रज्ञात समाधि' में होता है। **निरोध-परिणाम** 'असप्रज्ञात समाधि' मे होता है।

एकाग्रता-परिणाम 'प्रत्यय'-रूप चित्त के धर्म का, **समाधि-परिणाम** 'प्रत्यय' और 'संस्कार'-रूप चित्त के धर्म का तथा **निरोध-परिणाम** केवल 'संस्कार'-रूप चित्त के धर्म का होता है।

इनके अतिरिक्त भूतों मे तथा इन्द्रियो मे भी परिणाम होते है, जिन्हे **धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम** तथा **अवस्था-परिणाम** कहते है। ये सभी प्रकार के परिणाम उपर्युक्त परिणामो में भी होते है। जैसे—

भूतों में परिणाम

---

[1] चित्त सदैव शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आदि अनेक वस्तुओं की चिन्ता में लगा रहता है। इसे ही चित्त की 'सर्वार्थता' या 'विक्षिप्तता' कहते हैं।

[2] सभी विषयो से हटकर एक ही विषय में चित्त के लगने को 'एकाग्रता' कहते हैं।

[3] योगसूत्रभाष्य, ३-११।

[4] योगसूत्रभाष्य, ३-१२।

धर्म-परिणाम—चित्तरूप 'धर्मी' मे व्युत्थान-धर्म का तिरोभाव और निरोध-धर्म का प्रादुर्भाव ही **धर्म-परिणाम** है।

लक्षण-परिणाम—'**लक्षण**' का अर्थ है '**काल**'। धर्मों का तीनों कालों के रूप मे होना लक्षण-परिणाम है। ऊपर कहा गया है कि **समाधि-परिणाम** मे 'व्युत्थान' का 'तिरोभाव' तथा 'निरोध' का 'आविर्भाव' होता है। **निरोध** मे तीनो कालो का बोध होता है। प्रत्येक वस्तु के 'अनागत', 'वर्तमान' तथा 'अतीत', ये तीन स्वरूप है। '**निरोध**' '**अनागत**' रूप को छोड कर '**वर्तमान**' रूप को धारण करता है, जिस समय उसकी अभिव्यक्ति होती है, फिर वही 'अतीत' रूप को भी प्राप्त होता है। इन तीनो कालों मे सहमाहित चित्त 'धर्मी' के रूप मे विद्यमान रहता है। किसी भी एक काल मे अन्य दोनों कालो से रहित वह नही रहता। अर्थात् 'वर्तमान' काल मे भी 'अनागत' तथा 'अतीत' काल से पृथक् वह नही होता। इसी प्रकार व्युत्थान में भी वर्तमान, अतीत तथा अनागत, सभी रहते हैं। अनागत, वर्तमान तथा अतीत, इन कालो से कभी भी कोई भी वस्तु पृथक् नही होती। इस प्रकार **लक्षण-परिणाम** सभी भूतों तथा इन्द्रियो मे होता है।

लक्षण-परिणाम

निरोध-परिणाम में कहा गया है कि निरोध के समय में 'व्युत्थान-संस्कार' दुर्बल होते हैं तथा 'निरोध-सस्कार' बलवान् होते हैं। यही दुर्बल और सबल होना '**अवस्था-परिणाम**' कहा जाता है। इसी बात को एक उदाहरण के द्वारा समझा देना अनुपयुक्त न होगा—

अवस्था-परिणाम

भूत या पृथिवी आदि 'धर्मी' है। इनसे गाय आदि या घट आदि जो होते है, वे '**धर्म**' है, अतएव 'पृथिवी' आदि के '**घट**' आदि **धर्मपरिणाम** है। इन धर्मों मे जो अतीत, अनागत तथा वर्तमान रूप होते है, वे **लक्षण-परिणाम** है। वर्तमान रूप को धारण किये हुए गाय आदि के जो बाल्य, कौमार, यौवन तथा वार्धक्य रूप है, वे **अवस्था-परिणाम** है। इसी प्रकार 'घट' मे भी 'नया', 'पुराना', आदि का होना **अवस्था-परिणाम** कहा जाता है।

इसी प्रकार इन्द्रियो मे भी ये परिणाम होते है। 'चक्षु' को लेकर विचार करने से 'नील' आदि रूपो का जो 'आलोचन' है, वह **धर्म-परिणाम** है; धर्म मे जो वर्तमान, अतीत और अनागत रूप होते है, वे ही **लक्षण-परिणाम** है तथा उसी मे जो स्फुटत्व, अस्फुटत्व रूप होता है, उसे ही **अवस्था-परिणाम** कहते है।

इन्द्रियों में परिणाम

ये सभी परिणाम 'धर्मी' में धर्म, लक्षण तथा अवस्था को लेकर ही होते हैं। भिन्न-भिन्न धर्मों को धारण करते हुए भी 'धर्मी' सभी अवस्थाओं में, अर्थात् अनागत, वर्तमान तथा अतीत अवस्थाओं मे, स्थिर-रूप अपने स्वरूप को कभी भी नही छोड़ता। जैसे—'मिट्टी' में 'घट' 'अनागत' अवस्था मे है, बाद को 'घट' होकर 'वर्तमान' अवस्था को वह प्राप्त हो जाता है। पश्चात् वही 'घट' नष्ट होकर 'अतीत' अवस्था को प्राप्त होता है। ये तीन स्वरूप देखने मे आते हैं। इन तीनो मे 'धर्मी', अर्थात् 'मिट्टी', विद्यमान रहता ही है। अतएव वस्तुत. 'परिणाम' एक ही है, किन्तु भाव के भेद से यह पृथक्-पृथक् मालूम होता है—

एते धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून् विशेषानभिप्लवते।[1]

कैवल्य

ऊपर कहे गये तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान के द्वारा पाँच प्रकार के क्लेशों का नाश होता है और चित्त की वृत्ति के निरोध के लिए समाधि की भावना होने लगती है। साथ ही साथ यम, नियम, आदि 'अष्टाग योग' का अभ्यास करना बहुत आवश्यक है। इनके अभ्यास से चित्त स्थिर हो जाता है। इसके पश्चात् वैराग्य के उदय होने से 'संप्रज्ञात' समाधि, तत्पश्चात् 'असंप्रज्ञात' समाधि में चित्त दृढ़ हो जाता है।

योगसाधन में विघ्न—वैराग्य होने से किसी प्रकार की तृष्णा नही रहती। योग के अभ्यास से योग के विघ्न-स्वरूप अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनसे भी योगी को विरक्त होना चाहिए। ये सिद्धियाँ साधक को आगे बढने मे विघ्न देती हैं।

'**विवेक-ज्ञान**' भी तो सत्त्वगुण का धर्म है। वह भी 'बन्धन' का कारण है। उसे भी छोड़ना चाहिए। इसके पश्चात् क्लेश के कारण, दग्ध-बीज के समान शक्तिहीन होकर, मन के साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं। इन सबका लय हो जाने पर पुरुष को आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दु खो से मुक्ति मिलती है। इसके बाद पुरुष को गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है। इसे ही '**कैवल्य**' कहते हैं। इस अवस्था में '**पुरुष**' या 'चितिशक्ति', स्वच्छ ज्योतिर्मय अपने स्वरूप में, केवली होकर प्रतिष्ठित हो जाती है। यही योग की '**मुक्ति**' है।

---

[1] योगभाष्य, ३-१३।

यही बात पतञ्जलि ने कही है—

'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति'

अर्थात् विवेकज ज्ञान प्राप्त होने पर, या न प्राप्त होने पर भी, 'बुद्धिसत्त्व' तथा 'पुरुष' की जो शुद्धि एवं सादृश्य है, वही 'कैवल्य' है।[1]

कर्मविचार

सभी दर्शनो में 'कर्म' का विचार किया गया है। वस्तुतः 'कर्म' हमारे जीवन का तथा दर्शन का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। संसार की प्रत्येक वस्तु में 'रजोगुण' रहता ही है। रजोगुण का स्वभाव है—क्रियाशील होना। अतएव प्रत्येक वस्तु में किसी-न-किसी रूप में 'क्रिया' रहती ही है। इसी लिए भगवान् ने गीता में कहा भी है—

कर्म का महत्त्व

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः'॥[2]

अतएव सभी प्राणियों को 'कर्म' करना ही पड़ता है। योगशास्त्र में तो इसका बहुत ऊँचा स्थान है। परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए 'कर्म' एक प्रधान साधन है। कर्म करने के अनन्तर उससे चित्त में 'संस्कार' अर्थात् 'कर्माशय' उत्पन्न होता है और वही 'वासना' को उत्पन्न करता है और फिर उसी 'वासना' के अनुकूल जीव की उत्पत्ति तथा संसार में उसके कर्म होते हैं। यह 'कर्मचक्र' अबाधित गति से अनवरत संसार मे चलता ही रहता है। कर्म की गति अनादि है। 'अविद्या' अनादि है और इसी अविद्या के कारण 'कर्म' की उत्पत्ति होती है।

कर्म चार प्रकार का होता है—'कृष्ण', 'शुक्ल-कृष्ण', 'शुक्ल' तथा 'अशुक्ल-अकृष्ण'। दुर्जनो के कर्म 'कृष्ण' होते हैं। बाह्य साधनो से उत्पन्न 'शुक्ल-कृष्ण' कर्म साधारण लोगों के होते हैं। जीवन-यापन करने के लिए उन्हे साधारण रूप से पुण्य और पाप दोनो ही करने पडते हैं। अतएव 'शुक्ल-कृष्ण' कर्म के द्वारा दूसरो को पीड़ा देने से तथा उनके प्रति अनुग्रह

कर्म के भेद

[1] योगसूत्र, ३-५५।

[2] ३-५।

दिखाने से उनका कर्माशय सञ्चित होता है। तपस्या, स्वाध्याय तथा ध्यान में निरत लोगो के 'कर्म' केवल मन के अधीन होते हैं, इसलिए उन्हें बाह्य साधनों की अपेक्षा नही होती। अतएव उस प्रकार के कर्मों के द्वारा निश्चित रूप से न तो दूसरो को पीडा ही दी जा सकती है और न अनुग्रह ही दिखाया जा सकता है। इन कर्मों को 'शुक्ल' कर्म कहते हैं।

योगी लोग उन्ही कर्मों को करते हैं जिनके द्वारा उनकी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो सके। अतएव उनके चित्त मे विद्यमान पुण्य और पापो के संस्कार भी निवृत्त हो जाते हैं। वे लोग पाप उत्पन्न करने वाले कर्म तो करते ही नही, किन्तु तप, ध्यान, आदि के द्वारा पुण्य-जनक जो कर्म करते हैं, उनके फल को प्राप्त करने की इच्छा भी उन्हे नही होती। इसलिए उनके कर्म **'अशुक्ल-अकृष्ण'** कहे जाते हैं।[1] कर्म के फलो की इच्छा न होने से 'अशुक्ल' तथा निषिद्ध कर्मों को न करने के कारण 'अकृष्ण' योगियो के कर्म होते हैं।

साधारण लोगो के 'कर्म' प्रथम तीन प्रकार के ही होते हैं। इन तीनों कर्मों से उसी प्रकार की वासनाएँ भी उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार के वे कर्म होते हैं। **'दिव्य कर्म'** करने से उसी के अनुरूप **'दिव्य वासना'** उत्पन्न होती है। मानुषिक कर्मों से उत्पन्न वासनाओ के फलो के भोग के समय में दिव्य कर्म के फलो का कभी भी भोग नही होता है। इसी प्रकार नारकीय तथा तैर्यक् वासनाओ के लिए भी उपर्युक्त ही नियम हैं।[2]

वासनाओं की नियमित प्रवृत्ति

वासनाओ की लीला भी बहुत नियन्त्रित तथा विचित्र होती है। कभी भी कोई फल-भोग बिना उसकी वासना के नही होता। देश और काल इस नियम में बाधा नही देते। कोई भी कर्मफल आकस्मिक नही होता। मरने के पश्चात् ही किसी का जन्म पूर्व-वासनाओ की सहायता के बिना नही होता। जिस योनि मे जिसका जन्म होने को होता है, उस योनि के कर्म-फलो का भोग करने के योग्य पूर्व-पूर्व-जन्मान्तरो में किये हुए तदनुरूप कर्मो से उत्पन्न वासनाएँ अभिव्यक्त हो जाती हैं। जैसे—एक जीव पहले मनुष्य था। वह मरने के पश्चात् पशुयोनि मे उत्पन्न होने को जा रहा है। इस अवसर पर उस मनुष्य ने अनेक पूर्व-जन्मो में पशुयोनि के उचित कर्म किये थे और तदनुकूल उसकी

[1] योगसूत्रभाष्य, ४-७।

[2] योगसूत्रभाष्य, ४-८।

पाशविक वासनाएँ भी चित्त में विद्यमान थी। अब अनेक जन्म व्यतीत होने पर भी, पाशविक जन्म लेने के इस अवसर पर, वे ही वासनाएँ उद्बुद्ध होकर उसके इस पशुयोनि में जन्म लेने का कारण होंगी।[1] ये वासनाएँ अनादि काल से चली आती हैं।

ये वासनाएँ हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन के द्वारा स्थिर रहती हैं और इनके न रहने पर, अर्थात् नाश होने से, नही रहती। जैसे—

वासना के कारण

हेतु—धर्म से सुख, अधर्म से दु.ख, सुख से राग और दु ख से द्वेष; इन दोनो से 'प्रयत्न', जिसके कारण मन मे, वचन में तथा शरीर मे चेष्टाएँ होती है, जिनके द्वारा जीव किसी को अनुगृहीत करता है या पीड़ा देता है। इससे धर्म और अधर्म, सुख और दु ख तथा राग और द्वेष उत्पन्न होते है। इसी क्रम से इन छ धर्म आदि 'शलाकाओ' के सहारे यह **'संसारचक्र'** चलता है। यही 'ससारचक्र' वासनाओ का **'हेतु'** है। प्रतिक्षण क्रियाशील इस ससार-चक्र की नेत्री है—**'अविद्या'**। यही है सभी क्लेशो का मूल, इसलिए यही है वासनाओ का वास्तविक **हेतु**।

फल—जिसको आश्रय या लक्ष्य मान कर उपर्युक्त धर्म आदि की विद्यमानता हो, वही **'फल'** है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्यरूप फल कारणरूप वासना मे रहता ही है।

आश्रय—साधिकार मन वासनाओ का **'आश्रय'** है। अधिकार से च्युत निराश्रय होकर रहने वाले मन मे वासना नही रह सकती है।

आलम्बन—अभिमुख में प्राप्त वस्तु जिस वासना को उत्पन्न करे, वही उस वासना का **'आलम्बन'** होता है।

इस प्रकार 'हेतु' आदि ही 'वासना' को उत्पन्न करते है और इनके न होने से 'वासना' उत्पन्न नही होती।[2]

संस्कार—ऊपर कहा गया है कि 'कर्म' करने के पश्चात् उससे **'कर्म-संस्कार'** या **'कर्माशय'** बनता है। ये 'सस्कार' पुण्यात्मक तथा अपुण्यात्मक होते हैं और काम, लोभ, मोह तथा क्रोध से उत्पन्न होते है। ये पुन. 'दृष्टजन्मवेदनीय' तथा 'अदृष्टजन्म-

---

[1] **योगसूत्रभाष्य, ४-९।**

[2] **योगसूत्रभाष्य, ४-११।**

वेदनीय' है। इनमे तीव्र वैराग्य से की गयी तपस्या, मन्त्रजप तथा समाधि के द्वारा अथवा ईश्वर, देवता, महर्षि एव महानुभावो की आराधना से उत्पन्न 'कर्माशय' 'पुण्यात्मक' होते है। ये सद्य अपना फल देते है। इसी प्रकार तीव्र अविद्या आदि क्लेशों से भयभीत, व्याधिग्रस्त, दीन, शरणागत तथा महानुभावो के प्रति अथवा तपस्वियों के प्रति बारबार अपकार करने से 'पापात्मक' 'कर्माशय' उत्पन्न होता है। ये भी सद्यः अपना फल देते है।

नारकीयों का 'दृष्टजन्मवेदनीय' कर्माशय नही होता और जीवन्मुक्तों का 'अदृष्टजन्मवेदनीय' कर्माशय नही होता।[1]

ईश्वर

योगशास्त्र मे 'ईश्वर' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही तो योग है। 'ईश्वर' या उसके वाचक 'प्रणव' के जप से तथा उसके अर्थ की भावना करने से चित्त 'एकाग्रता' को प्राप्त करता है[2], जिसके द्वारा क्रमशः चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है। इसलिए 'ईश्वर' के सम्बन्ध मे यहाँ विचार करना आवश्यक है।

पतञ्जलि ने योगसूत्र मे 'ईश्वर' का—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'

लक्षण किया है, अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश, इन पाँच क्लेशो से; पुण्य एव पाप कर्मो से, कर्मो से उत्पन्न जाति, आयु तथा भोग-रूप फलो से; उनसे उत्पन्न वासनाओ से (जो चित्त मे रहते है) असंस्पृष्ट, एक विशेष प्रकार के 'पुरुष' को 'ईश्वर' कहते है। उपर्युक्त वासनाओ के कारण ही 'जीव' को भोग करना पडता है, परन्तु 'ईश्वर' इन भोगो से असंयुक्त है।

ईश्वर का लक्षण

'ईश्वर' के स्वरूप को अन्य जीवो के स्वरूप के साथ तुलना दिखाकर स्पष्ट करना आवश्यक है। प्रश्न होता है कि 'ईश्वर' क्या 'कैवली पुरुष' के

---
[1] योगभाष्य, १-१२।
[2] योगभाष्य, १-२८।

समान है? समाधान में कहा जाता है—नही। 'प्राकृतिक'[1], 'वैकारिक'[2] तथा 'दाक्षिणिक'[3], इन तीन बन्धनो से मुक्त होकर ही 'जीव' 'केवली पुरुष' होते है, किन्तु 'ईश्वर' मे न कभी बन्धन था और न कभी होगा। इसलिए 'ईश्वर' 'केवली पुरुष' से भिन्न है।[4]

केवली से भिन्न ईश्वर

'मुक्त पुरुषों' से भी भिन्न 'ईश्वर' है, क्योकि 'मुक्त पुरुष' पहले बन्धन मे रहकर पश्चात् मुक्त होते है। जैसे—कपिल आदि ऋषि पहले बन्धन मे थे, पश्चात् मुक्त हुए। 'ईश्वर' पूर्व मे कभी भी बन्धन में नही था।[5] इसलिए मुक्त पुरुषों से भी भिन्न 'ईश्वर' है।

मुक्त पुरुष से भिन्न ईश्वर

'प्रकृति' को ही आत्मा समझने वाला 'पुरुष', शरीर का नाश होने पर, अर्थात् मरने पर, 'प्रकृतिलीन' हो जाता है अथवा 'प्रकृतिलीन पुरुष' मुक्तवत् होकर भी पुन. हिरण्यगर्भ के स्वरूप को धारण करता है। इस प्रकार 'प्रकृतिलीन पुरुष' को उत्तर-काल मे बन्धन होने की सम्भावना रहती है। 'ईश्वर' को उत्तर काल मे भी बन्धन नही होता। इसलिए 'ईश्वर' 'प्रकृतिलीन पुरुष' से भिन्न है।

प्रकृतिलीन पुरुष से भिन्न ईश्वर

'ईश्वर' मे ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, आदि गुण है। इसी लिए यह 'ईश्वर' कहा जाता है। प्रकृष्ट सत्त्व-रूप उपादान के कारण ही 'ईश्वर' में शाश्वतिक 'उत्कर्ष' है, अर्थात् 'ईश्वर' मे अनादि विवेक-ख्याति है, सर्वज्ञता तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व है। यह सर्वापेक्षया उत्तम, अर्थात् निरतिशय है। 'ईश्वर' से अधिक अतिशय गुण-सम्पन्न दूसरा कोई नही है। 'ईश्वर' वही है, जिसमे उपर्युक्त गुणो की पराकाष्ठा हो। इन

'ईश्वर' सदा मुक्त और सदा ईश्वर

---

[1] जड़ 'प्रकृति' को ही 'आत्मा' समझ कर उसमें लीन हो जाना 'प्राकृतिक बन्धन' है।

[2] 'महत्तत्त्व' आदि 'विकार' को ही आत्मा समझ कर उसमें तन्मय हो जाना 'वैकारिक बन्धन' है। 'विदेहो' को वैकारिक बन्धन होता है।

[3] 'आत्मा' के स्वरूप को न जान कर यज्ञ आदि करने में ही सदा निरत रहना 'दाक्षिणिक बन्धन' है। दिव्य और अदिव्य विषयो का भोग करने वाले को 'दाक्षिणिक बन्धन' होता है।

[4] योगभाष्य, १-२४।

[5] योगभाष्य, १-२४।

बातो का ज्ञान हमे 'शास्त्र' से प्राप्त होता है। ये सब अनादि काल से 'ईश्वर' में हैं। अतएव 'ईश्वर' सदैव 'ईश्वर' है, अर्थात् 'ऐश्वर्य-सम्पन्न' है तथा सदैव 'मुक्त' है।[1] यह 'सर्वज्ञ' है।

यह जानना चाहिए कि ऐसी स्थिति मे भी यह एक 'पुरुष विशेष' ही है।[2] इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पतञ्जलि ने साख्यशास्त्र के पचीस तत्त्वो के अतिरिक्त ईश्वर-रूप मे एक भिन्न तत्त्व नहीं माना। अनेक प्रकार के वैलक्षण्यो से युक्त होने पर भी, यह एक प्रकार का 'पुरुष विशेष' ही है।

इसे अपने उपकार के लिए कुछ करना नही है, फिर भी प्राणियो के प्रति अनुग्रह करना इसका उद्देश्य है।[3] ज्ञान तथा धर्म के उपदेशो के द्वारा कल्प, प्रलय तथा महाप्रलय मे, 'ससार के लोगो का उद्धार हम करेंगे', इस प्रकार जीवो के प्रति अनुग्रह देखाने की प्रतिज्ञा 'ईश्वर' ने की है।[4] यह पूर्व के कपिल आदि गुरुओ का भी गुरु है।[5]

ईश्वर के गुण

'प्रणव' 'ईश्वर' का वाचक शब्द है।[6] इसका जप एव इसके अर्थ की भावना करने से चित्त की एकाग्रता होती है।[7] यही पुराणो मे कहा गया है—

ईश्वर का प्रतीक

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥[8]

अर्थात् 'प्रणव' के जप के द्वारा 'योग' का अभ्यास करे। समाधि की प्राप्ति होने पर पुन. 'प्रणव' का जप करना चाहिए। (इस प्रकार) स्वाध्याय, अर्थात् जप एव

---

[1] योगभाष्य, १-२४।
[2] योगभाष्य, १-२४।
[3] योगभाष्य, १-२५।
[4] योगभाष्य, १-२५।
[5] योगसूत्र, १-२६।
[6] योगसूत्र, १-२७।
[7] योगसूत्रभाष्य, १-२८।
[8] विष्णुपुराण।

योग-सम्पत्ति, अर्थात् असंप्रज्ञात् समाधि, इन दोनो से **परमात्मा** का साक्षात्कार होता है।

चित्तविक्षेपों का नाश—'ईश्वर' के प्रणिधान से 'प्रत्यक्, चेतन', अर्थात् अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है और योग के विघ्नो का, अर्थात् व्याधि, चित्त की अकर्मण्यता (स्त्यान), संशय, समाधि के साधनो की भावनाओ का अभाव (प्रमाद), शरीर और चित्त का आलस्य, तृष्णा, विपर्ययज्ञान, 'मधुमती' आदि समाधि की भूमियो की अप्राप्ति, लब्ध-भूमि मे स्थिर होकर न रहना, इन नौ चित्त के विक्षेपो का नाश होता है।[1]

ईश्वर के चिन्तन से लाभ

मुक्ति का साधन—समाहित-चित्त होकर 'ईश्वर' के चिन्तन से सात्त्विकी बुद्धि निर्मल हो जाती है। योगी के मन मे इच्छा के अनभिघात-रूप ऐश्वर्य का क्रमिक सञ्चार होता है। इसमें भी बहुत विघ्न होते है। उन विघ्नों का नाश 'ईश्वर' के ध्यान से होता है। इसलिए चित्त को समाधिस्थ बना कर मुक्ति को प्राप्त करने के लिए **ईश्वर का चिन्तन** एक बहुत ही उपयुक्त साधन है।

आलोचन

ऊपर कहा गया है कि **'ईश्वर'** को एक भिन्न तत्त्व के रूप मे मानने की अभिलाषा पतञ्जलि को नही है। इसीलिए उन्होने स्पष्ट कहा है—**'पुरुषविशेषः ईश्वरः'**। अतएव योगशास्त्र मे भी, साख्यशास्त्र के समान, पचीस ही तत्त्व हैं। इस प्रकार योग मे तीन प्रकार के पुरुष है—'बद्ध', 'मुक्त' तथा 'ईश्वर'।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि साख्य मे भी तीन प्रकार के 'पुरुष' है—'बद्ध', 'मुक्त' तथा 'ज्ञ'। परन्तु **'ज्ञ'** और **'ईश्वर'** मे एक प्रकार से कुछ भेद है। जिस प्रकार **सांख्यशास्त्र** निर्लिप्त पुरुष (ज्ञ) तथा अव्यक्त (प्रकृति) का प्रतिपादन करने पर भी एक प्रकार से **सैद्धान्तिक रूप** को ही धारण करता है, परन्तु **'योगशास्त्र'** सूक्ष्म समाहित-चित्त का प्रतिपादन करता हुआ योगज ऐश्वर्यों का प्रदर्शन करता है और अपनी व्यावहारिकता का परिचय देता है, उसी प्रकार सांख्यशास्त्र का **'ज्ञ'** (पुरुष) निर्गुण, चिन्मय,

सांख्य और योग के पुरुष

[1] योगभाष्य, १-३०।

पुष्कर-पलाशवत् निर्लिप्त, अकर्ता तथा उदासीन होकर सैद्धान्तिक रूप में विद्यमान रहता है, परन्तु योगशास्त्र का 'ईश्वर' (पुरुष) सर्वैश्वर्य-सम्पन्न, सर्वज्ञ, ससार का उद्धार करने वाला, सभी का पथ-प्रदर्शक तथा परम गुरु होकर साधको को अद्वितीय तत्त्व का साक्षात्कार कराने मे परम साधक है। एक प्रकार से योगशास्त्र में ईश्वर (पुरुष) सर्वज्ञ, सर्वकर्ता तथा औदासीन्य-रहित है। यह व्यावहारिक जगत् को सँभालने वाला है। अपने-अपने शास्त्र के अनुकूल दो रूपो मे 'पुरुष' इन दोनों शास्त्रों में देख पड़ता है।

द्वादश परिच्छेद

अद्वैत-दर्शन

(शाङ्कर वेदान्त)

उपक्रम

जीव को दुःख का प्रतिकूल-रूप में अनुभव होता है, अतः उससे जीव घृणा करता है, उससे छुटकारा पाने के लिए उपाय ढूंढता है। **अविद्या** ने अनादि काल से 'आत्मा' के स्वरूप को मेघ की तरह आच्छादित कर रखा है। इसी कारण जिज्ञासु को 'आत्मा' के स्वरूप का ज्ञान नही होता। वस्तुतः 'आत्मा' और 'परमात्मा' एक है। अविद्या से आच्छन्न होने के कारण उसी 'आत्मा' ने 'जीव' नामधारी होकर अपने को आत्मा से भिन्न समझ रखा है। इस प्रकार वह अपने को खो चुकी है।

नाना प्रकार के क्लेशों से पीड़ित होकर उनसे छुटकारा पाने के साधन को ढूंढता हुआ साधक आचार्य के समीप जाता है। उनसे अपने दुःख से छुटकारा पाने का उपाय पूछता है। उसके दुःख से दुःखी होकर, उस पर अनुकम्पा दिखाते हुए आचार्य उपदेश देते है—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'**—अरे ! आत्मा को देखो, उसी से दुःख की निवृत्ति होगी। आत्मा को देखने से वस्तुतः 'जीव' अपने को ही देखेगा। अनादि काल से खोये हुए अपने स्वरूप को देखकर उसे कितना आनन्द होगा ! इतने समीप मे, अपने शरीर के ही अन्दर, विद्यमान अपने को अब तक वह नही देखता था। अपने आप को ढूंढने के लिए उसे कही जाना नही था। फिर भी वह भूले-भटके की तरह अपने को खोकर दुःखी था, पागल था। आज उस खोये हुए अपने को, अपने ही शरीर मे पाकर उसे कितना आश्चर्य होगा, कितना आनन्द होगा, किन्तु क्या यथार्थ मे वह उस 'आनन्द' का अनुभव कर सकेगा ? यह ध्यान रखने की बात है कि वह अपने को 'साक्षात्' देखेगा। दर्पण में अपने मुख के प्रतिबिम्ब

के समान कल्पित रूप मे अपने को नही देखेगा। 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के मध्य में किसी के रहने से दृश्य का साक्षात् दर्शन द्रष्टा को नही हो सकता। इसलिए दो ही हैं—एक 'द्रष्टा' और दूसरा 'दृश्य'। परन्तु 'द्रष्टा' अपने को तभी साक्षात् देखेगा और पहचानेगा, जब देखने की वस्तु भी 'द्रष्टा' ही हो, उससे भिन्न न हो, 'दृश्य' न हो। 'दृश्य' तो 'द्रष्टा' से भिन्न है, वह 'द्रष्टा' का अपना स्व-रूप नही है। जब दोनो ही 'द्रष्टा' हो जायँगे, दोनो मे किसी प्रकार का भेद न होगा, तब कौन किसे देखेगा? याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा है—

'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्'[1]

फिर दो नही रहेंगे, और दो नही रहने से एक का भी भान नही रहेगा। एक और दो, ये तो सापेक्ष सख्याएँ है। अनादि काल से खोये हुए 'अपने' को 'आप' ही पाकर आनन्द-समुद्र मे वह मग्न हो जाता है, अपने को भूल जाता है। इस स्वरूप के वर्णन के लिए शब्द में सामर्थ्य नही। यह स्वरूप अनिर्वचनीय, अवाङ्मनसगोचर है।

इसी खोयी हुई आत्मा को देखने का उपदेश आचार्य ने दिया था। आज उसका 'दर्शन' हुआ। दर्शन होना क्या है, अपने आपको भी 'अवाङ्मनसगोचर' बना देना। कितने सुन्दर शब्दों मे पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी भावना को कहा है—

रे चेतः! कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति॥

यही उद्देश्य लेकर साधक परम पद की यात्रा मे प्रवृत्त होता है। जब तक इस अवस्था मे साधक नही पहुँचता, उसकी जिज्ञासा की निवृत्ति नही होती, दु:ख का आत्यन्तिक नाश नही होता तथा कर्म की गति से भी उसे मुक्ति नही मिलती। यही तो वस्तुस्थिति है।

---

[1] बृहदारण्यक उपनिषद्, २-४-१४; यदा तु पुनः परमार्थविवेकिनो ब्रह्मविदो विज्ञातैव केवलोऽद्वयो वर्तते, तं विज्ञातारम् अरे केन विजानीयादिति—शांकर भाष्य।

इसी की खोज में सभी चल पड़े है, कोई आगे और कोई पीछे मार्ग में जा रहा है। सांख्य के स्तर पर पहुँच कर 'पुरुष' और 'प्रकृति', ये दो नित्य तत्त्व परस्पर विरुद्ध, एक 'चेतन' दूसरा 'जड़', साधक के साथ रह जाते हैं। यह **द्वैतावस्था** है।

सांख्य का वास्तविक स्वरूप

मुक्ति में भी 'पुरुष' को 'प्रकृति' के शुद्ध **'सत्वगुण'** से सर्वथा छुटकारा नही मिलता। जड वस्तु का आरोप अपने ऊपर रहने पर भी, उसे 'पुरुष' नही समझता। यह भी 'अविद्या' है। जब तक इसका निर्मूल उच्छेद नही होता, तब तक आत्मसाक्षात्कार कैसे हो सकता है? जब तक रजस् का प्रभाव रहेगा, तब तक दु.ख की निवृत्ति नही हो सकती। "सत् वस्तु का नाश नही हो सकता', यह तो साख्य का सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में साधक को सन्तोष नही होता, मन की ग्लानि दूर नही होती, जिज्ञासा बनी रहती है। इसलिए साख्य-दर्शन की मुक्तावस्था के स्वरूप को लेकर जीव अपने मार्ग का पुन. अनुसरण करता है। उसके साथ अब वही **'शुद्ध सत्त्व'** से युक्त **'पुरुष'** है। उसके रहस्य को जानने के लिए वह और आगे वढता है। यही **शांकर वेदान्त** की तथा **अद्वैत-दर्शन** की भूमि है।

'वेदान्त' का अर्थ है—'वह शास्त्र जिसके लिए उपनिषद् ही प्रमाण है'।[1] साधारण रूप से लोग 'वेद का अन्त', अर्थात् 'उपनिषद्', ऐसा भी अर्थ करते है, परन्तु

'वेदान्त' का अर्थ

शास्त्रदृष्टि से यह शुद्ध नही है। वेदान्त मे जितनी बाते कही गयी है, उन सबका मूल उपनिषद् है। इसलिए वे ही वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्त माननीय हैं जिनके साधक उपनिषद् के वाक्य हैं। इन्ही उपनिषदो के आधार पर 'शुद्ध सत्त्व' से सम्बद्ध 'पुरुष' के रहस्य के उद्घाटन के लिए बादरायण मुनि ने 'ब्रह्मसूत्रो' की रचना की। इन सूत्रो का मूल उपनिषदों मे है।[2] जैसा पहले कहा गया है—उपनिषद् मे सभी दर्शनो के मूल सिद्धान्त है। दर्शनो की संख्या अनन्त हो सकती है। एक विशेष दृष्टि का ही नाम तो **'दर्शन'** है। अतएव इस उपस्थित भूमि के उपयुक्त जो उपनिषद्-वाक्य है, उन्ही वाक्यो के आधार पर बादरायण ने सूत्रो की रचना की है। **सांख्य-भूमि** मे 'जड प्रकृति' का अर्थात् 'शुद्ध सत्त्व' का, 'पुरुष' पर जो आरोप है, उसका विचार कर 'पुरुष' के शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त करना **वेदान्त-भूमि** मे इष्ट है।

---

[1] सदानन्द—वेदान्तसार, पृष्ठ ७ जीवानन्दपुत्र संस्करण, कलकत्ता।

[2] उमेश मिश्र—बैक ग्राउण्ड ऑफ बादरायणसूत्र, कल्याण-कल्पतरु, गोरखपुर।

साहित्य

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि वेदान्त-दर्शन का मूल ग्रन्थ उपनिषद् है, अतएव कभी-कभी 'वेदान्त' शब्द से केवल 'उपनिषद्' का भी ग्रहण होता है। परन्तु उन्ही मूल वाक्यो के आधार पर बादरायण ने केवल अद्वैत के प्रतिपादन के लिए सूत्र बनाये, अतएव ब्रह्मसूत्र तथा उसके ऊपर लिखे गये ग्रन्थो के द्वारा प्रतिपादित शास्त्र 'वेदान्त' समझा जाने लगा।

ब्रह्मसूत्र

पाणिनि ने अष्टाध्यायी[1] मे जिस 'भिक्षुसूत्र' का उल्लेख किया है, वह यही 'ब्रह्मसूत्र' है। सन्यासियो को 'भिक्षु' कहते है और उन्ही के पढने योग्य उपनिषदो के आधार पर लिखा गया पाराशर्य, अर्थात् पराशरपुत्र व्यास द्वारा रचित यही 'ब्रह्मसूत्र' है। इस ग्रन्थ में उल्लिखित न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य के जो सिद्धान्त है, वे गौतमसूत्र या ईश्वरकृष्ण की कारिकाओ से बहुत पहले के सिद्धान्त है। सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद तथा शून्यवाद का जो उल्लेख है, वे भी वस्तुत. प्राचीन भारतीय दार्शनिक मत है। इनका उपनिषदों मे भी सूक्ष्म रूप में उल्लेख है। अतएव यह 'ब्रह्मसूत्र' बहुत प्राचीन ग्रन्थ है।

यह वेदान्त-दर्शन 'उत्तर-मीमासा' के नाम से प्रसिद्ध है। जैमिनि की मीमांसा 'पूर्व-मीमासा' कही जाती है। '**पूर्व-मीमांसा**' जैमिनि ने सूत्र-रूप मे बारह अध्यायो मे बनायी। कहते है कि जैमिनि ने इन अध्यायो के बाद चार अध्यायों मे '**संकर्षण-काण्ड**' (**देवता-काण्ड**) लिखा था जो उपलब्ध नहीहै। इस प्रकार 'पूर्व-मीमांसा' सोलह अध्यायो मे समाप्त है। उसी सिलसिले मे चार अध्यायो मे **उत्तर-मीमांसा** या ब्रह्मसूत्र लिखा गया। इन दोनो ग्रन्थो मे बहुत-से आचार्यो के नाम आये है। इन बातो से ऐसा मालूम होता है कि इन बीस अध्यायो का रचयिता कोई एक था, चाहे वह जैमिनि हो या बादरि या बादरायण। पूर्व-मीमासा मे 'कर्मकाण्ड' का तथा उत्तर-मीमासा मे 'ज्ञानकाण्ड' का विचार है। जितने आचार्य उन दिनो थे, वे सभी पूर्व और उत्तर दोनों मीमासाओ के विद्वान् थे। इसी लिए 'जैमिनिसूत्र' मे जिनके नाम आये है, उनके नाम 'ब्रह्मसूत्र' मे भी है।

---

[1] पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः—४-३-११०।

इन प्राचीन आचार्यों मे बादरि, आश्मरथ्य, आत्रेय, काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि के मतों का उल्लेख मिलता है। इनके ग्रन्थों की उपलब्धि नही है।

वेदान्त की आचार्य-परम्परा

इनके पश्चात् भिन्न-भिन्न दर्शन के ग्रन्थो मे भर्तृप्रपञ्च, श्रीवत्साक, भर्तृमित्र, ब्रह्मनन्दी, टक, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, बोधायन, भर्तृहरि, सुन्दरपाण्ड्य, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्म-दत्त, आदि वेदान्त के आचार्यो के नाम मिलते है। इन सबके मतो का उल्लेख मिलता है। परन्तु किसी के ग्रन्थ उपलब्ध नही है। इन आचार्यो मे आश्मरथ्य, औडुलोमि तथा भर्तृप्रपञ्च '**भेदाभेदवादी**' थे। भास्कर '**ब्रह्मपरिणामवादी**' थे।

ब्रह्मसूत्र के ऊपर सबसे प्राचीन टीका, जो आज उपलब्ध है, शकराचार्य का **भाष्य** है। कहा जाता है कि **शंकराचार्य** का जन्म ७८८ ईस्वी मे तथा मृत्यु ८२० ईस्वी मे हुई थी। इनके गुरु '**गोविन्दपाद**' तथा परम-गुरु '**गौडपाद**' थे। गौडपाद ने माण्डूक्य उपनिषद् पर एक गम्भीर कारिका-ग्रन्थ लिखा है, जिसमे बौद्धमत का बहुत प्रभाव है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

शंकराचार्य (नवम शतक)

यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि शंकराचार्य के समय मे बौद्धों का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से दक्षिण में था। वे लोग वैदिक सम्प्रदाय का नाश करने मे तत्पर थे। यह देखकर बौद्ध आदि नास्तिको के मत का खण्डन करने के उद्देश्य से तथा वैदिक सम्प्रदाय को पुनरुज्जीवित करने के लिए शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। यही कारण है कि शाकर वेदान्त के तत्त्वों को समझने के लिए हमे आचार्य के भाष्यों से वह सहायता नही मिलती, जो कि उनके छोटे-छोटे ग्रन्थो से तथा स्तोत्रो से।

समस्त ससार में आज भारतीय दर्शन ने **शंकराचार्य** के नाम से जितनी प्रसिद्धि प्राप्त की है, उतनी न किसी आचार्य के नाम से और न किसी ग्रन्थ के नाम से।

शंकराचार्य का समय

इनका सिद्धान्त इतना व्यापक है, तथापि खेद है कि अभी तक इनके प्रादुर्भाव के समय के सम्बन्ध मे तथा इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के सम्बन्ध मे विद्वानों मे एकवाक्यता नही है। फिर भी नीचे दिये हुए कुछ आभ्यन्तर प्रमाणों के द्वारा यह कहा जाता है कि वह अष्टम शतक के अन्त भाग मे उत्पन्न होकर नवम शतक के आदि मे ही मर गये। इसी मत को बहुतो ने स्वीकार किया है। इसके लिए निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती है—

(१) शकराचार्य के चार प्रधान शिष्यों में सुरेश्वराचार्य सबसे अधिक मान्य थे। सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थ मे प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक 'धर्मकीर्ति' का उल्लेख किया है। धर्मकीर्ति का समय ६३५ से ६५० ई० माना जाता है। इसलिए शकर को ६५० के परवर्ती होना चाहिए।

(२) शकराचार्य ने स्वय अपने भाष्य[1] मे 'धर्मकीर्ति' की एक कारिका[2] के 'सहोपलम्भनियमादभेदः' अश को उद्धृत किया है।

(३) दिङ्नाग की 'आलम्बनपरीक्षा' से 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासते' शकर ने उद्धृत[3] किया है। इसी प्रकार शकर ने जैनाचार्य 'अकलंक देव' के गुरु 'समन्तभद्र' के मत का भी उल्लेख किया है। 'अकलंक' राष्ट्रकूटराज साहसतुग के सभा-पण्डित थे। साहसतुंग का समय ७५३ ई० है।

इन सभी बातो को ध्यान मे रखकर शकर को आठवी सदी के अन्त भाग में रखा जाता है।

विद्वानो मे यह प्रसिद्ध है कि शकर पहले शाक्त थे और पश्चात् वैष्णव हुए। अन्त मे सबसे विरक्त होकर सन्यासी होकर अद्वैत-वेदान्त के प्रतिपादक हुए।

शंकराचार्य की रचना

शाक्त होकर इन्होंने अनेक शक्ति के स्तोत्र लिखे तथा वैष्णव की भावना से विष्णु के स्तोत्र लिखे। इसी प्रकार शिव के स्तोत्र इन्होंने लिखे। अद्वैत-वेदान्त के सम्बन्ध में अनेक स्तोत्र तथा छोटे-बडे ग्रन्थ इन्होने लिखे।

इन ग्रन्थो के आधार पर विचार करने से यह कहा जा सकता है कि भारतीय सस्कृति में शिव, शक्ति तथा विष्णु एव अन्य देवताओ के भी एक साथ उपासक व्यवहार-भूमि मे लोग होते है। पारमार्थिक भूमि मे तो इन सबमे अभेद-बुद्धि होने के कारण प्राय अद्वैत तत्त्व के ही उपासक विद्वान् होते है। शकराचार्य ने इसी बात को ध्यान मे रखकर भिन्न-भिन्न देवताओ के स्तोत्रो की रचना की थी। इनकी रचनाएँ

---

[1] २-२-२८।

[2] **सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।**
भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्यतेन्दाविवाद्वये ॥—'प्रमाणविनिश्चय' तथा 'प्रमाणवार्त्तिक'।

[3] **ब्रह्मसूत्रभाष्य, २-२-२८।**

बहुत है, इसमें सन्देह नही, किन्तु परवर्ती शंकराचार्यों ने भी जो ग्रन्थ या स्तोत्र आदि लिखे, सभी में शंकराचार्य का ही नाम दे दिया गया है। अब यह अत्यन्त कठिन समस्या है कि कौन-सी रचना आदि-शकर की है और कौन-सी परवर्ती शंकराचार्यों की। इसका निर्णय करने के लिए अभी तक कोई सिद्धान्त निश्चित नही हो सका, फिर भी कुछ ग्रन्थ है, जिनमे सन्देह नही है। जैसे—ब्रह्मसूत्रभाष्य, गीताभाष्य, दशोपनिषद्भाष्य, माण्डूक्यकारिकाभाष्य विष्णुसहस्रनामभाष्य, विवेक-चूड़ामणि, उपदेशसाहस्री, गायत्रीभाष्य, आदि।

जैसा पहले कहा गया है—शाकर वेदान्त के तत्त्वों का ज्ञान विशेष रूप से शंकराचार्य के छोटे-छोटे ग्रन्थों से तथा स्तोत्रों से हो सकता है, उनके भाष्य, (विशेष कर ब्रह्मसूत्रभाष्य) परमत-खण्डन की ही दृष्टि से लिखे गये प्रतीत होते है।

शंकराचार्य ने अद्वैतमत को सर्वश्रेष्ठ माना है। ज्ञानमार्ग का चरम लक्ष्य **'अद्वैत'** है। इसका अनुसरण शकर के अनुयायियो ने भी किया है। शकर के चार मुख्य शिष्य थे—सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, त्रोटकाचार्य तथा हस्तामलकाचार्य।

शंकराचार्य के शिष्यों के ग्रन्थ

सुरेश्वराचार्य का गृहस्थाश्रम में 'मण्डन मिश्र' नाम था, ऐसी, मिथिला में और अन्यत्र के विद्वानो मे भी, प्रसिद्धि है। इन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि, बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्त्तिक, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक, दक्षिणामूर्ति-स्तोत्रवार्त्तिक, पञ्चीकरणवार्त्तिक, आदि ग्रन्थ लिखे है। **पद्मपादाचार्य** ने पञ्चपादिका, विज्ञानदीपिका (विज्ञानचन्द्रिका) तथा प्रपञ्चसारतन्त्र की टीका लिखी है। अन्य दो शिष्यो की रचनाओ के सम्बन्ध मे कोई निश्चित प्रमाण नही है।

भास्कराचार्य

भास्कराचार्य वैष्णव-सम्प्रदाय के त्रिदण्डीमत के वेदान्ती थे। यह शकर के समकालीन थे। इन्होने ब्रह्मसूत्र पर एक छोटा-सा भाष्य लिखा है। यह **ब्रह्म-परिणामवादी** है। इनका कहना है कि ब्रह्म के शक्ति-विक्षेप से ही सृष्टि और स्थिति का व्यापार निरन्तर चल रहा है। यह 'ज्ञान' और 'कर्म' दोनों से मोक्ष मानते है।

सर्वज्ञात्ममुनि—सुरेश्वराचार्य के शिष्य 'सर्वज्ञात्ममुनि' ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर **'संक्षेप-शारीरिक'** नाम की एक पद्यात्मक व्याख्या लिखी।

वृद्ध वाचस्पति मिश्र ने शांकर भाष्य पर 'भामती' नाम की अति उत्तम व्याख्या लिखी है। इनका 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' नाम का वेदान्तग्रन्थ, जिसका उल्लेख भामती मे है, अब प्राय लुप्त ही हो गया है। इस पुस्तक का पता हमें पुर्निया (विहार) मे अपने एक सम्बन्धी के यहाँ लगा, किन्तु खोज करने पर वह ग्रन्थ नही मिला।

वाचस्पति मिश्र (प्रथम)

प्रकाशात्मा—पद्मपाद की 'पञ्चपादिका' पर प्रकाशात्मा ने 'विवरण' नाम की व्याख्या लिखी। इसी को लेकर 'भामती-प्रस्थान' से भिन्न 'विवरण-प्रस्थान' बना है।

अद्वैतानन्द—'रामानन्द तीर्थ' के शिष्य अद्वैतानन्द थे। इन्होने शारीरक-भाष्य पर '**ब्रह्मविद्याभरण**' नाम की एक उत्तम व्याख्या लिखी है।

चित्सुखाचार्य—'तत्त्वदीपिका' नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ चित्सुखाचार्य ने लिखा है। यह 'चित्सुखी' के नाम से जगद्विदित है। यह ग्रन्थ भी उत्तम है।

अमलानन्द—'अनुभवानन्द' के शिष्य अमलानन्द थे। इनका दूसरा नाम **व्यासाश्रम** था। इन्होने 'भामती' के ऊपर '**कल्पतरु**' नाम की व्याख्या लिखी है। अमलानन्द ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक '**वृत्ति**' भी लिखी है।

अखण्डानन्द—'आनन्दगिरि' के शिष्य अखण्डानन्द थे। इन्होने 'पञ्चपादिका-विवरण' पर '**तत्त्वदीपन**' नाम का एक सुन्दर व्याख्यान लिखा है।

प्रकाशानन्द—'दृष्टिसृष्टिवाद' के प्रचारक प्रकाशानन्द थे। इन्होने '**वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावली**' नाम के ग्रन्थ मे इसी मत का विचार किया है।

सोलहवी शताब्दी के सन्यासियों मे मधुसूदन सरस्वती बहुत प्रसिद्ध वेदान्ती हुए। इन्होने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमे **सिद्धान्तबिन्दु**, **अद्वैतरत्नरक्षण**, '**वेदान्त-कल्पलतिका**, आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध है। परन्तु '**अद्वैतसिद्धि**' तो इनका अमर ग्रन्थ है। इसके समान दूसरा ग्रन्थ प्राय. दर्शन में नही है। मधुसूदन के वेदान्त मत मे '**भक्ति**' का सम्मिश्रण है।

मधुसूदन सरस्वती

इनके अतिरिक्त श्रीहर्ष, प्रत्यक्-स्वरूपाचार्य, गीर्वाणेन्द्र सरस्वती, नृसिंहाश्रम, नृसिंह सरस्वती, अप्पय्य दीक्षित, सदानन्द यति तथा सदानन्द काश्मीरक, धर्मराजाध्वरीन्द्र, गोविन्दानन्द, आदि अनेक उत्तम वेदान्ती हुए हैं, जिनके ग्रन्थो से वेदान्त-साहित्य का भण्डार भरा है।

'ब्रह्मसूत्र' के सम्वन्ध मे एक वात कह देना आवश्यक है। उन दिनों जव संस्कृत के ग्रन्थ लिखे जाते थे, तव कामा, फुलस्टाप आदि विरामचिह्नों का प्रयोग नही होता था। अतएव अपनी वुद्धि के अनुसार एक विचारधारा को निश्चय कर वेदान्त-मत के विशिष्ट आचार्यों ने 'ब्रह्मसूत्र' पर अपने मत के अनुकूल भाष्य लिखे है। सूत्रो का विभाजन भी अपने मतानुकूल ही किया है। यही कारण है कि इस समय ब्रह्मसूत्र पर विभिन्न मतो का प्रतिपादन करने वाले ग्यारह भाष्य वर्तमान है। इनके सूत्रो की सख्या में भी भेद है। इनके नाम और समय नीचे दिये जाते है—

> १. **शांकरभाष्य** (७८८-८२०), २. **भास्करभाष्य** (नवम शतक), ३. **रामानुजभाष्य** (वारहवी शताब्दी), ४. **निम्वार्कभाष्य** (तेरहवी शताव्दी), ५. **माध्वभाष्य** (तेरहवाँ शतक), ६. **श्रीकण्ठभाष्य** (तेरहवाँ शतक), ७. **श्रीकरभाष्य** (चौदहवाँ शतक), ८. **वल्लभभाष्य** (१४७९-१५४४), ९. **विज्ञानभिक्षुभाष्य** (सोलहवाँ शतक), १०. **बल-देवभाष्य** (अठारहवाँ शतक), एव ११. **शक्तिभाष्य** (वीसवाँ शतक)।

तत्त्वविचार

साख्य-भूमि के अनन्तर जव साधक आगे की भूमि की तरफ चलता है तो वह उसी भूमि मे पहुँचता है जहाँ आत्मा के 'अस्तित्व' तथा उसके 'चित्' स्वभाव के सम्वन्ध मे उसे सर्वथा विश्वास रहता है। इनके लिए साधक को प्रमाण की आवश्यकता नही होती। न्याय-वैशेषिक ने 'आत्मा' की पृथक् **'सत्ता'** को प्रमाणित किया और साख्य-योग ने उसके **'चित्'** की अभिव्यक्ति की। इस प्रकार चित्-स्वरूप पुरुप का अनुभव साधक को होता है। जैसा पहले कहा गया है कि साख्य का **मुक्त पुरुष** अभी भी 'सत्त्व' अश से सर्वथा मुक्त नही है। उसे इस भूमि मे मुक्त करना है और आत्मा के शुद्ध रूप का साक्षात्कार करना है। साथ ही साथ 'सत्त्व अंश' की परीक्षा भी करनी आवश्यक है। इसके ज्ञान के विना 'आत्मा' का ज्ञान भी नही होगा। ये ही दो वाते इस भूमि में साधक को विशेष रूप से अध्ययन करनी है।

उपक्रम

उपर्युक्त वात को ध्यान मे रखते हुए साधक तत्त्वो के विचार मे प्रवृत्त होता है। इस भूमि मे पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र तत्त्व है—**ब्रह्म** या **आत्मा**, जिसका

स्वरूप है 'आनन्द'' ।[१] इसके अतिरिक्त जो कुछ देख पडता है वह अतत्त्व है, जिसे अवस्तु, अज्ञान, माया, आदि भी कहते हैं । 'अतत्त्व' को जानना इसलिए आवश्यक है कि वस्तु या तत्त्व या आत्मा 'अवस्तु' से पृथक् की जा सके। अवस्तु के ज्ञान के विना 'अवाङ्मनसगोचर' वस्तु का ज्ञान साधारण लोगो को नही हो सकता।

सत्ता का स्वरूप

यहाँ पर इतना कहना आवश्यक है कि शाकर वेदान्त-दर्शन में 'सत्ता' तीन प्रकार की है—'पारमार्थिकी', 'प्रातिभासिकी' तथा 'व्यावहारिकी' ।

पारमार्थिकी सत्ता—जिस वस्तु का अस्तित्व त्रिकाल मे अबाधित हो, वही **पारमार्थिक सत्** है। ऐसी सत्ता एकमात्र '**ब्रह्म**' की है।

प्रातिभासिकी सत्ता—अन्धकार मे दूर से घास के पास एक 'वस्तु' को देखकर उसे लोग 'सर्प' समझ लेते है और वहाँ से भय के कारण दूर हट जाते हैं। उनके शरीर मे भय की चेष्टाएँ होती है। इससे स्पष्ट है कि उस मनुष्य को 'सर्प' का भान हुआ है। परन्तु थोड़ी ही देर मे एक दूसरा व्यक्ति दीपक लाकर जब उस 'वस्तु' को दिखाता है, तो उस भयभीत व्यक्ति को स्पष्ट मालूम होता है कि वह 'वस्तु' 'सर्प' नही है, वह तो एक 'रस्सी' है। इससे पूर्व का उसका 'सर्पज्ञान' वाधित हो जाता है।

इस प्रकरण मे 'सर्प' का होना वाधित हो गया और उसका सर्प-'ज्ञान' 'भ्रान्ति' है ऐसा निश्चित हुआ। जितने समय तक सर्प का ज्ञान उसे था, उतनी देर के लिए तो 'सर्प' का अस्तित्व मानना ही पडता है, क्योकि उस ज्ञान के भय आदि चिह्न उस व्यक्ति मे देख पडते है। परन्तु वह बाद को वाधित हो जाता है, उसका भय दूर हो जाता है और वह 'ज्ञान' **मिथ्या** कहा जाता है। वह ज्ञान क्षणिक है, अतएव उससे व्यवहार भी नही होता। 'सर्प'-ज्ञान के इस अस्तित्व को '**प्रातिभासिकी सत्ता**' कहते है। प्रतिभासमात्र के लिए उसका अस्तित्व है।

व्यावहारिकी सत्ता—जिसके अस्तित्व को ससारदशा मे व्यवहार के लिए 'सत्य' मानते है, वही **व्यावहारिकी सत्ता** है। इस सत्यभावना का नाश ब्रह्मज्ञान होने से होता है, अन्यथा नही।

---

[१] 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म'; 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्यात्', इत्यादि।

शाकर वेदान्त मे ब्रह्म को छोडकर और सभी पदार्थ 'असत्' है। इन पदार्थों का आरोप ब्रह्म पर होता है। 'ब्रह्म' आरोप का 'अधिष्ठान' है। माया की विक्षेप-शक्ति के कारण जो सृष्टि होती है, वह मायिक है, भ्रान्ति है। यह आरोप 'तत्त्वज्ञान' के द्वारा बाधित हो जाता है। ब्रह्म को अधिष्ठान मान कर जितने कार्य जगत् मे होते है, वे ही नही, प्रत्युत समस्त जगत् ही, ब्रह्म का 'विवर्त' है।

विवर्त का अर्थ—तत्त्व मे अतत्त्वों के भान को ही 'विवर्त' कहते है—

'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा 'विवर्त' इत्युदाहृतः।'

परिणाम या विकार का अर्थ—परिणाम मे एक तत्त्व से यथार्थ रूप मे दूसरा तत्त्व अभिव्यक्त होता है—

'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा 'विकार' इत्युदीरितः।'

किन्तु 'विवर्त' मे सभी वस्तुएँ जल के ऊपर बुद्बुदो के समान मिथ्या है। इसी लिए श्रुति ने भी कहा है—

'वाचारम्भणं विकारो' नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।'

अध्यास

*यह जो 'अवस्तुओ' का वस्तु' मे आरोप होता है, यही **'मिथ्या ज्ञान'** है, यही* **'आरोप'** है, यही **'अध्यास'** है। जैसे—शरीर को आत्मा मानना, इन्द्रियो को आत्मा मानना, आदि। यहाँ 'आत्मा' मे शरीर, इन्द्रिय, आदि का **'अध्यास'** होता है। रज्जु मे सर्प को मान लेना भी 'अध्यास' ही है।

ब्रह्म या आत्मा

'ब्रह्म' निर्विशेष तत्त्व है। यह सर्वव्यापी और चेतन है। वस्तुत इसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण की आवश्यकता नही है, यह स्वय सिद्ध है, स्वप्रकाश है, तथापि अनादि अज्ञान से मुग्ध जीव इसे नही देखता, प्रत्युत इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्ति जीव को घेरे रहती है। इसी लिए इस भ्रान्ति को दूर करना वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है। स्वप्रकाश तत्त्व

---

[1] 'विकार' शब्द का 'परिणाम' अर्थ है। पूर्व समय में 'विकार' शब्द भी 'विवर्त' के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। जैसे—भवभूति ने उत्तररामचरित में किया है—'आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् 'विकारान्'—यहाँ वस्तुतः 'विवर्तान्' के अर्थ में 'विकारान्' प्रयुक्त है।

को देखने के लिए दीपक का प्रयोजन नही है, किन्तु उस अज्ञानरूपी अन्धकार को, जिसने उसे अनादि काल से आच्छन्न कर रखा है, दूर करना है। इसलिए इस अज्ञान के स्वरूप का विवेचन पहले करना आवश्यक है। 'जड' के सम्पर्क में आने से ही 'चैतन्य' का भान होता है, उसी प्रकार 'जड़' के ज्ञान की प्राप्ति से ही 'चैतन्य' का ज्ञान होता है, अन्यथा नही।

यह '**अज्ञान**' वही 'शुद्ध सत्त्व' है, जो साख्य की मुक्ति-दशा मे भी 'पुरुष' से सम्बद्ध रह जाता है। इसी को '**अविद्या**' और '**माया**' भी कहते है। शकर ने

अज्ञान और माया

'अविद्या' और 'माया' में कोई भेद नही किया है, किन्तु परवर्ती 'विद्यारण्य' ने इन दोनों मे भेद माना है। उनका कहना है कि सत्त्व, रजस् तथा तमस्, इन तीनो गुणो की साम्यावस्था '**प्रकृति**' है। इसके दो भेद

अविद्या और माया

है—एक '**माया**' और दूसरी '**अविद्या**'।[1] रजस् और तमस् की मलिनता से रहित, अतएव **विशुद्ध सत्त्व-प्रधाना** प्रकृति को '**माया**' कहते है और **मलिन सत्त्व-प्रधाना** प्रकृति को 'अविद्या' कहते है। 'माया' से आच्छन्न ब्रह्म को '**ईश्वर**' तथा 'अविद्या' से आच्छन्न ब्रह्म को '**जीव**' कहते है।[2]

इस अज्ञान का अस्तित्व है, इसमे अपना ही साक्षात् अनुभव प्रमाण होता है। जैसे हम कहते है—'मै अज्ञ हूँ', 'मै यह नही जानता', इत्यादि। श्रुति भी प्रमाण है—'**देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्**'[3], अर्थात् 'प्रकृति के कार्य पृथिव्यादि के द्वारा देवात्म-शक्ति आच्छादित है।' यह न 'सत्' है और न 'असत्'। दो ही कोटियाँ सम्भावित होती है। यह इन दोनो से विलक्षण है। अतएव इसे '**अनिर्वचनीय**' कहते है। **माया** 'ब्रह्म' के समान 'सत्' नही है। यह त्रिकाल मे अवाधित नही है। इसका तत्त्वज्ञान से वोध होता है, जैसे—रज्जु मे सर्प-ज्ञान होने के पश्चात् अन्य प्रमाणो से रज्जु का ही होना निश्चित हो जाने पर 'रज्जु' मे सर्प का 'ज्ञान' वाधित हो जाता है। इसलिए 'अज्ञान' 'सत्' भी नही है। खरहे के सीग की तरह यह 'असत्', अर्थात् तुच्छ भी नही है, इसकी

[1] चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिंबसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥—पञ्चदशी, १-१५

[2] सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिंबो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥—पञ्चदशी, १-१६।

[3] श्वेताश्वतर, १-३।

प्रतीति होती है। इस प्रकार वाधित तथा प्रतीयमान, इन दोनो विरुद्ध धर्मो से युक्त होने के कारण इसे न सत् कह सकते है और न असत् ही कह सकते है। इसी लिए इसे 'अनिर्वचनीय' कहा है।

यह त्रिगुणात्मिका है, अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीनो गुणों का स्वरूप है। यह ज्ञान-विरोधी है, अर्थात् तत्त्वज्ञान होने से इस माया का नाश होता है। भगवान् ने भी गीता मे कहा है—

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'[1]

परन्तु उपर्युक्त धर्मों के कारण इसे अभावस्वरूप समझना भ्रान्ति है। यह 'भावरूप' है। यह अत्यन्त अप्रसिद्ध नही है। 'माया है', 'अज्ञान से ज्ञान आवृत होता है', इस प्रकार 'माया' का भान होता है।

माया की शक्ति

इस अज्ञान की दो शक्तियाँ है—'आवरण' और 'विक्षेप'। **'आवरण-शक्ति'** से युक्त अज्ञान 'अतितुच्छ' तथा 'परिच्छिन्न', अर्थात् सीमित होने पर भी अपरिच्छिन्न, अलौकिक, स्वप्रकाश एव सर्वव्यापी 'आत्मा' को आच्छादित करता है, जिससे आत्मा वद्ध की तरह हो जाती है। वस्तुत. यह आत्मा को आच्छादित नही करती, किन्तु सा्रक की बुद्धि को इस प्रकार आच्छादित कर देती है कि साधक आत्मा को नही देख पाता। जिस तरह एक छोटा सा मेघ का टुकडा लोगो की दृष्टि के सामने आकर अनेक योजनविस्तृत सूर्यमण्डल को देखने वाले को देखने नही देता।[2]

इसके अतिरिक्त 'अज्ञान' मे एक **'विक्षेप-शक्ति'** है। आवरण-शक्ति से 'वस्तु' या 'तत्त्व' तो ढक जाता है, उस वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नही होता, किन्तु उसके स्थान पर उस वस्तु के सम्बन्ध मे नाना प्रकार की भिन्न वस्तुओ की विचित्र कल्पना की जाती है। जैसे—अज्ञान से आच्छादित रज्जु को न देखकर, उसके स्थान मे, उस वस्तु के सम्बन्ध मे, 'सर्प' की कल्पना करना कि 'यह सर्प है', विक्षिप्त-शक्ति के सामर्थ्य का फल है। इसी प्रकार 'आत्मा' को स्वरूप के आवरणशक्ति-

---

[1] ७-१४।

[2] घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद् भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥
—हस्तामलकस्तोत्र, १०।

सम्पन्न अज्ञान के प्रभाव से न देखकर, उसके स्थान मे उसे आकाश आदि समस्त जगत् समझ लेना भ्रान्ति है। यही **अज्ञान की विक्षेप-शक्ति** है। इसी शक्ति के प्रभाव से निर्विकार, अकर्ता आत्मा को कर्ता, भोक्ता, सुखी, दु खी, आदि कल्पनाओं से हम लोग युक्त समझते है। इसी शक्ति के प्रभाव से समस्त विश्व का आरोप इसी आत्मा में होता है। इसी 'शक्ति' के द्वारा 'आब्रह्मस्तम्ब' पर्यन्त जगत् की सृष्टि होती है।[1]

सृष्टि का कारण

इन दोनो शक्तियो से आच्छादित चैतन्य या आत्मा में क्रिया होती है। इसे ध्यान मे रखना है कि वस्तुत आत्मा मे क्रिया नही होती, क्रिया तो रजोगुण के रहने के कारण माया मे ही होती है, किन्तु अज्ञान के प्रभाव से अज्ञान का धर्म आत्मा मे आरोपित होता है, जिसके कारण 'आत्मा' भी क्रियाशील मालूम होती है और इसी क्रिया के द्वारा जगत् की सृष्टि होती है। अर्थात् मायावच्छिन्न 'चैतन्य' जगत् का कारण है।

चैतन्य के दो स्वरूप

इस चैतन्य मे दो स्वरूप है—एक तो है **चैतन्य**, दूसरा है **मायारूप उपाधि**। इन दोनो से आकाश आदि की सृष्टि होती है। जब इस सृष्टि के लिए प्रधानता उपाधि से युक्त चैतन्य को दी जाती है, तब **'चैतन्य'** सृष्टि का **'निमित्त कारण'** है और जब चैतन्य की माया-रूप उपाधि को प्रधानता दी जाती है, तब मायोपाधिविशिष्ट **'चैतन्य'** सृष्टि का **'उपादान कारण'** है। इससे यह स्पष्ट है कि मायोपाधिविशिष्ट चैतन्य ही सृष्टि का उपादान कारण है।

यहाँ पर यह ध्यान मे रखना चाहिए कि सृष्टि क्रमश होती है। प्रथम सूक्ष्म, फिर स्थूल तथा स्थूलतर एव स्थूलतम इसी क्रम से सृष्टि होती है। यह क्रमिक विकास समस्त ब्रह्माण्ड मे होता है। जो विकास एक व्यक्ति मे होता है, वही समष्टि मे भी होता है और प्रत्येक विकसित अवस्था का अपना-अपना स्वरूप भी भिन्न है। इन सभी अवस्थाओ मे मायोपाधि-चैतन्य ही जगत् के विकास का कारण है।

यहाँ एक प्रश्न है कि **माया** एक है या अनेक ? **'अजामेकाम्'**[2] इस श्रुति मे तो माया 'एक' कही गयी है, किन्तु **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**[3]—इस श्रुति मे माया

---

[1] **विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्—वाक्यसुधा, १४।**

[2] **श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४–५।**

[3] **ऋग्वेद, ६-४७-१८।**

'अनेक' कही गयी है। इन दोनो श्रुतिवाक्यो में किस प्रकार समन्वय हो सकता है और कोन-सा मत ठीक है? इसका विचार आवश्यक है। उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि 'एक' और 'अनेक', यह भावना हमारी वुद्धि के ऊपर निर्भर है, परन्तु इसे स्मरण रखना चाहिए कि 'माया' एक हो चाहे अनेक, तत्त्व मे इससे कोई अन्तर नही होता। जैसे—किसी 'वन' मे केवल आम के वृक्ष है। अव इस 'वन' को जब हम समष्टिरूप मे देखते है, अर्थात् जितने वृक्ष है, उन सबके समूह को एकत्र अपनी वुद्धि का विषय बना कर देखते है, तब वह **'एक वन'** देखने में आता है और जब उसी वन के प्रत्येक वृक्ष को पृथक्-पृथक् वुद्धि का विषय वना लेते है, तव उसी वन मे **'अनेक वृक्ष'** होने का भी बोध होता है। इसी प्रकार अज्ञान के विकास मे समूहरूप मे एक अज्ञान को वुद्धि का विषय वनाने से **'एक'** और अनेक को पृथक्-पृथक् विषय वनाने से **'अनेक'** का बोध होता है। इनमें केवल वुद्धि के भेद से ही अन्तर है। इसी प्रकार 'माया' 'एक' भी है और 'अनेक' भी है। 'एक' और 'अनेक' का भान तो हमारी वुद्धि पर निर्भर है। इसी बात का पुन. विशेष रूप से नीचे हम विचार करते है।

माया एक या अनेक ?

इस माया का एक 'विगुद्ध सत्त्व' स्वरूप है। यह उसकी सूक्ष्मतम अवस्था है। इस अवस्था में 'सत्त्व' प्रधान है और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान है। इस माया से अवच्छिन्न चैतन्य मे जव क्रिया उत्पन्न होती है, तव उससे पृथक्-पृथक् अनेक स्वरूप वनते है। इन सभी स्वरूपो को जव एक दृष्टि का विषय मान कर एक साथ हम देखते है, तव ये सभी वस्तुएँ **समष्टिरूप** मे हमे भान होती है और जब इन्हे भिन्न-भिन्न वुद्धि का विषय हम वनाते है, तव ये **व्यष्टिरूप** मे भान होती है, जैसा ऊपर कहा गया है। दूसरा भी उदाहरण दिया जा सकता है, जैसे—अनेक छोटे-छोटे जलो के समूह को हम 'जलाशय' समझते है, किन्तु उन्ही को भिन्न-भिन्न रूप मे देखकर केवल 'जल' कहते है। वास्तविक भेद तो कोई नही है। भेद है केवल उपाधि का और हमारी वुद्धि का।

समष्टिरूप अज्ञान—उपर्युक्त वातो को ध्यान मे रखकर जव हम ससार के समस्त जीवो के 'अज्ञानो' को एक ज्ञान का विषय मानकर **समष्टिरूप** मे देखते है, तो स्पष्ट होता है कि इस चैतन्य की उपाधि 'उत्कृष्ट' है तथा 'विशुद्ध सत्त्व' इसमे प्रधान है। इस उपाधि से घिरा हुआ चैतन्य या आत्मा या ब्रह्म **सविशेष** हो जाता है। इसे **'ईश्वर'** कहते है, अर्थात् समस्त अज्ञानो से अवच्छिन्न 'चैतन्य' **'ईश्वर'** है।

ईश्वर

स्थावर और जगम समस्त प्रपञ्च का साक्षी होने तथा समस्त अज्ञानों को प्रकाशित करने के कारण यह 'ईश्वर' '**सर्वज्ञ**' है। सभी जीवो को उनके कर्मानुसार फल देने के कारण यह '**सर्वेश्वर**' है। सभी जीवो को अपने-अपने कर्मों में प्रेरणा देने के कारण यह '**सर्वनियन्ता**' है। प्रमाणो के द्वारा यह जाना नही जा सकता, इसी लिए यह '**अव्यक्त**' भी है एव सभी जीवो के अन्तर्हृदय में स्थित होकर उन्हें नियन्त्रित करने के कारण यह '**अन्तर्यामी**' है तथा समस्त चराचर विश्व का विवर्त-रूप में अधिष्ठान होने के कारण यह '**जगत् का कारण**' भी है।

केवल लीला के लिए सृष्टि

जगत् का कारण होने पर भी '**ईश्वर**' केवल लीला के लिए, बिना किसी प्रयोजन के सृष्टि करता है। जैसे सभी कामनाओ से पूर्ण कोई राजा केवल लीला के लिए ही क्रीडा-विहार में प्रवृत्त होता है या जिस प्रकार बाह्य किसी प्रयोजन के न रहने पर भी स्वभाव से ही शरीर में श्वास और प्रश्वास चलते है।[1]

आनन्दमय कोष

समस्त विश्व का **कारण-शरीर** 'ईश्वर' है। इस कारणावस्था मे प्रकृति और पुरुष (अर्थात् माया और ब्रह्म) के अतिरिक्त न तो कोई स्थूल और न सूक्ष्म कार्य-रूप प्रपञ्च विद्यमान रहता है, इसीलिए यह '**आनन्दमय**' अवस्था है। थैली के रूप मे यह 'कारण-शरीर' चैतन्य को घेरे हुए है, इसी लिए यह '**आनन्दमय कोष**' कहा जाता है। इस स्वरूप में समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म उपाधिरूप '**प्रपञ्च**' लय होता है, सभी शान्त रहता है, इसलिए इसे '**सुषुप्ति**' भी कहते है।

यह तो '**समष्टि-अज्ञान**' का स्वरूप हुआ।

व्यष्टिरूप अज्ञान—इसी प्रकार समस्त अज्ञान के भिन्न-भिन्न रूप को भिन्न-भिन्न ज्ञान का विषय मानकर, भिन्न-भिन्न रूप मे देखने से 'अज्ञान' के '**व्यष्टि-स्वरूप**' का भी विवेचन किया जाता है। इस 'व्यष्टि' मे उपाधि 'निकृष्ट' होने के कारण यह 'मलिन सत्त्व'-प्रधान है। इससे आच्छादित चैतन्य '**प्राज्ञ**' कहलाता है, अर्थात् एक अज्ञान से अवच्छिन्न 'चैतन्य' '**प्राज्ञ**' कहलाता है। यह अल्पज्ञ, अनीश्वर, आदि गुणो से सम्पन्न है। यह एक जीव के अहंकार आदि का कारण होने के कारण '**कारणशरीर**' है, अर्थात् सुषुप्तिकाल मे अहकार आदि

प्राज्ञ

---

[1] शांकर भाष्य, २-१-३३।

शरीर के उत्पादक सभी तत्त्व केवल सस्कारमात्र मे जीव में रहते हैं। इस सुषुप्ति अवस्था में न तो इन्द्रियाँ हैं और न इन्द्रियो के विषय हैं, इसलिए शान्ति है, आनन्द का आधिक्य है। व्यष्टि-रूप में भी एक थैली की तरह चैतन्य घिरा हुआ है, इसलिए यह आनन्दमय कोष भी कहा जाता है। पञ्चीकृत व्यावहारिक स्थूल शरीर अपने कारण, अपञ्चीकृत शरीर मे लय हो जाता है। उसी प्रकार स्वप्नावस्था का प्रपञ्च अपने कारण, अज्ञान मे लीन हो जाता है। अतएव इस अवस्था मे सभी का लय हो जाने के कारण यह 'सुषुप्ति' कहा जाता है। इसमे स्थूल तथा सूक्ष्म 'शरीर' के प्रपञ्च का लय होता है।

आनन्दमय कोष

इन दोनो स्वरूपो मे अज्ञानावच्छिन्न 'चैतन्य', अर्थात् 'ईश्वर' और 'प्राज्ञ' चैतन्य से प्रदीप्त अति सूक्ष्म अज्ञानवृत्ति के द्वारा सुषुप्ति अवस्था मे आनन्द का अनुभव करते हैं। इन दोनो अवस्थाओ मे वास्तविक भेद नही है। भेद है केवल उपाधि के तारतम्य के कारण। जैसे—स्थूल जलाशय-रूप उपाधि से अवच्छिन्न 'आकाश' और 'तद्गतप्रतिबिम्बाकाश' मे वास्तविक भेद नही है। उपाधियो के हट जाने से एक ही 'निरवच्छिन्न आकाश' रह जाता है।

'ईश्वर' और 'प्राज्ञ', ये दोनो अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के सूक्ष्मतम रूप की अवस्थाएँ हैं।

यहाँ यह ध्यान मे रखना है कि 'चैतन्य' मे तो कोई सूक्ष्म और स्थूल रूप होते नही, वह तो नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ 'आत्मा' है। सूक्ष्म और स्थूल रूप होते हैं 'माया' या 'अज्ञान' के। अतएव यह जो सूक्ष्म से स्थूल पर्यन्त क्रमिक विकास देख पडता है, वह जड 'माया' का ही विकास है, न कि 'चैतन्य' का। वह तो जैसा सूक्ष्म रूप मे है, वैसा ही स्थूल रूप मे भी रहता है।

इसमे विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता है। परन्तु सत्त्व, रजस् तथा तमस्, ये गुण सतत परिणामी हैं, सतत एक-से नही रहते। इसलिए जब तमोगुण का प्राधान्य होता है, तब उसी विक्षेप-शक्ति से सम्पन्न अज्ञानोपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की क्रमशः उत्पत्ति होती है।[1] इन उत्पन्न भूतो मे सत्त्व, रजस् और तमस्,

भूतों की सृष्टि

---

[1] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-१।

ये तीनो गुण अपने-अपने कारण से अपने-अपने 'कार्य' मे आ जाते है। इन्ही पाँच भूतों को वेदान्त मे 'सूक्ष्म भूत' या 'तन्मात्राएँ' या 'अपञ्चीकृत भूत' कहते है। इन्ही से क्रमश सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल भूतो की उत्पत्ति होती है, जैसा आगे कहा गया है।

आकाश, आदि भूतों मे, प्रत्येक मे भी, तो तीनो गुण है। जव इनमे पृथक्-पृथक् सात्त्विक अंश का प्राधान्य होता है, तव पृथक्-पृथक् **व्यष्टि**-रूप मे आकाश के सात्त्विक अश से **श्रोत्र** इन्द्रिय, वायु के सात्त्विक अश से **त्वग्** इन्द्रिय; तेजस् के सात्त्विक अश से **चक्षु** इन्द्रिय, जल के सात्त्विक अंश से **रसना** इन्द्रिय तथा पृथिवी के सात्त्विक अश से **घ्राण** इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। ये पाँच **ज्ञानेन्द्रियाँ** है। इनके द्वारा क्रमश शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का ज्ञान होता है।

ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति

आकाश आदि पाँचो भूतो के **समष्टि** सात्त्विक अंशो से 'निश्चयात्मिका' अन्त करण की **'बुद्धि'** नाम की वृत्ति, 'सकल्प-विकल्पात्मिका' अन्त करण की **'मन'** नाम की वृत्ति, 'अनुसन्धानात्मिका' अन्त.करण की **'चित्त'** नाम की वृत्ति तथा 'अभिमानात्मिका' अन्त करण की **'अहंकार'** नाम की वृत्ति उत्पन्न होती है। ये वृत्तियाँ प्रकाशस्वरूप है, इसी से मालूम होता है कि ये सात्त्विक अश से उत्पन्न है।

अन्तःकरणो की उत्पत्ति

विज्ञानमय कोष—इनके उत्पन्न होने के पश्चात् वुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियो के सम्मिलन से कोष के समान एक कार्यवस्तु शरीर मे उत्पन्न होती है, उसे **'विज्ञानमय कोष'** कहते है।

'विज्ञानमय कोष' से घिरा हुआ चैतन्य **'जीव'** कहा जाता है। यही इस लोक से परलोक जाता है। यहाँ यह ध्यान मे रखना है कि जाना, आना आदि क्रियाएँ चैतन्य मे नही होती। चैतन्य तो व्यापक तथा निष्क्रिय है। वह 'विभु' होने के कारण सर्वत्र रहता ही है। अतएव वस्तुतः 'विज्ञानमय कोष' ही चैतन्य की सहायता से इस लोक तथा परलोक मे जाता और आता है। चैतन्य के प्रतिविम्व को पाकर 'विज्ञानमय कोष' मे क्रिया उत्पन्न होती है। यही **जीव** कर्ता, भोक्ता, सुखी, दु खी है। यही इस ससार मे रह कर भोग करता है। इसी के जन्म और मरण होते है। यही वद्ध है। इसी की मुक्ति होती है।

जीव

मनोमय कोष—ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर 'मन' शरीर के अन्दर एक कोष के समान स्वरूप बनाकर चैतन्य को घेर लेता है। उसे **'मनोमय कोष'** कहते हैं। यह कोष 'विज्ञानमय कोष' की अपेक्षा अधिक जड़ होता है। इसमें प्रधान रूप से सकल्प-विकल्प-वृत्ति होती है।

आकाश आदि भूतो के रजस् अंश से, पृथक्-पृथक् **व्यष्टि**-रूप मे क्रम से, **कर्मेन्द्रियाँ** उत्पन्न होती हैं। अर्थात् रजोगुण-प्रधान आकाश से **'वाग्-इन्द्रिय'**, रजोगुण-प्रधान वायु से **'हाथ'**, रजोगुण-प्रधान अग्नि से **'पैर'**, रजोगुण-प्रधान जल से **'पायु'-इन्द्रिय** तथा रजोगुण-प्रधान पृथिवी से **'उपस्थ-इन्द्रिय'** की उत्पत्ति होती है।

कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति

आकाश आदि भूतो के मिलित, अर्थात् **समष्टि**-रूप मे, रजस् अश से ऊपर की तरफ चलने वाली, नासिका के अग्र भाग मे रहने वाली **'प्राण'**, नीचे की तरफ जाने वाली, पायु आदि स्थानो मे रहने वाली **'अपान'**, चतुर्दिक् चलने वाली, समस्त शरीर मे रहने वाली **'व्यान'**, कण्ठ मे रहने वाली, ऊर्ध्वगमनशील, बाहर निकल जाने वाली **'उदान'** तथा खाये-पिये गये पदार्थों को समुचित परिपाक कर रस, रुधिर, आदि धातुओ में परिणत करने वाली **'समान'** नाम की वायु उत्पन्न होती है। इन पाँचो के अतिरिक्त 'नाग', 'कूर्म', 'कृकर', 'देवदत्त' एव 'धनञ्जय' नाम के वायु के और भी पाँच प्रभेद कुछ लोग मानते है, किन्तु विद्वानो का कहना है कि ये उपर्युक्त पाँच वायुओ मे ही अन्तर्भूत हैं।

पांच प्राणों की उत्पत्ति

प्राणमय कोष—पाँच कर्मेन्द्रियो के साथ उपर्युक्त ये पाँच वायुएँ मिलकर एक कोष के समान स्वरूप बनाकर चैतन्य को कोष की तरह आच्छादित किये हैं। इसी को **'प्राणमय कोष'** कहते हैं।[1]

ये ही पाँच कोष हैं जो हमारे शरीर के भीतर भिन्न-भिन्न कार्य करते है, जैसे **'विज्ञानमय कोष'** ज्ञानशक्तिमान् होकर 'कर्ता' का कार्य करता है। इसमे **'ज्ञानशक्ति'** प्रधान है। **'मनोमय कोष'** मे **'इच्छाशक्ति'** प्रधान है। यह 'करण' का कार्य करता है। **'प्राणमय कोष'** मे **'क्रियाशक्ति'** का प्राधान्य है। यह 'कार्य'-रूप मे हमारे सामने उपस्थित होता है।

---

[1] ये सभी कोष 'माया' के ही विकास हैं। चैतन्य तो सर्वत्र एक ही रूप में रहता है। उपाधि के रूप में ये भिन्न-भिन्न कोष 'चैतन्य' को घेर लेते हैं और चित् के द्वारा प्रतिबिम्बित होकर अपने स्वभाव के अनुकूल क्रिया करते हैं।

सूक्ष्म शरीर—इन तीनो कोषों के एकत्र होने से एक 'सूक्ष्म शरीर' बन जाता है। इसमे 'सत्रह अग' होते है—'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ', 'पाँच कर्मेन्द्रियाँ', 'पाँच वायुएँ' तथा 'बुद्धि' और 'मनस्'। इसी शरीर में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति, ये तीनो शक्तियाँ रहती है और अपने-अपने अनुरूप कार्य करती है।

समष्टिरूप सूक्ष्म शरीर—यह भी सूक्ष्म शरीर प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न है। यही इसकी **व्यष्टि** अवस्था है, किन्तु समस्त विश्व के सूक्ष्म शरीरो की एक **समष्टि** अवस्था भी होती है। सूक्ष्म शरीरो की इस **समष्टि** से घिरा हुआ चैतन्य **'सूत्रात्मा'** या **'हिरण्यगर्भ'** या **'प्राण'** कहा जाता है। इस समस्त विश्व के समष्टिरूप सूक्ष्म शरीर मे 'ज्ञानशक्ति', 'इच्छाशक्ति' तथा 'क्रियाशक्ति', ये तीनो शक्तियाँ रहती है। स्थूल प्रपञ्च की अपेक्षा यह सूक्ष्म है, वासनाएँ इसमे अभिव्यक्त रूप मे रहती है, इसलिए यह 'स्वप्नावस्था' के समान है। इसी लिए 'स्थूल प्रपञ्च का लय-स्थान' भी यह कहा जाता है।

सूत्रात्मा

व्यष्टिरूप सूक्ष्म शरीर—इसी सूक्ष्म शरीर की **व्यष्टि** से आच्छन्न चैतन्य **'तैजस'** कहा जाता है। इसमे भी ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति, ये तीनो शक्तियाँ है। स्थूल शरीर की अपेक्षा यह सूक्ष्म है। विज्ञान आदि तीनो कोष इसमे है। वासनाएँ इसमे प्रवुद्ध रहती है, इसलिए यह 'स्वप्न-अवस्था' के समान है। इसमे 'स्थूल शरीर का लय' हो जाता है।

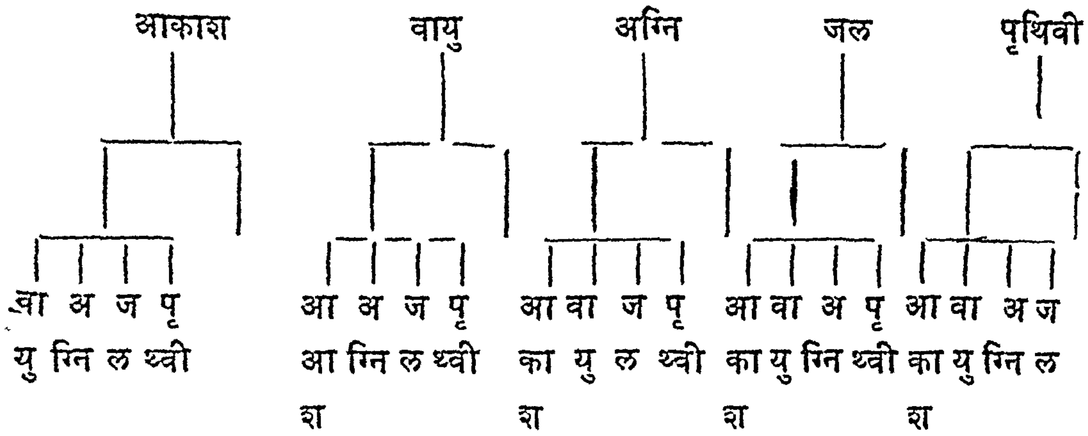
तैजस

ये दोनो, **सूत्रात्मा** और **तैजस** इस स्वप्न अवस्था मे सूक्ष्म मनोवृत्तियो के द्वारा सूक्ष्म विषयो का अनुभव करते है। **सूत्रात्मा** और **तैजस** मे भी केवल उपाधियो के कारण भेद है, चैतन्य तो दोनो अवस्थाओ मे समान ही है।

पञ्चीकरण—'अपञ्चीकृत' भूतो का स्वरूप सूक्ष्म है। इसमे पुन विकसित होकर जड 'प्रकृति' या 'माया' स्थूल स्वरूप को प्राप्त करती है। यह अवस्था **'पञ्चीकृत'** की अवस्था है। भूतो के **'पञ्चीकरण'** की प्रक्रिया नीचे दी जाती है—

पाँच भूतो मे प्रत्येक को दो समान भागो मे बाँट दिया जाय। इस प्रकार दस भाग होते है। उनमे से प्रत्येक के प्रथम भाग का चार समान भागो मे विभाग कर, प्रत्येक भाग मे अपने से इतर चार भूतो के चार भागो को एक-एक मे मिला देने से आधा मे तो चार भूत होगे और आधा मे वह भूत स्वय रहेगा। इस प्रकार

पुन इनके सघटन से पाँच-पाँच का एक-एक **'संघात'** हो जाता है। ये ही **'पञ्चीकृत'** भूत है।[1] इनको समझाने के लिए नीचे एक चित्र दिया जाता है—



$=\frac{१}{८}$(वा+अ+ज+पृ)+$\frac{१}{२}$आकाश=पञ्चीकृत स्थूल आकाश

$=\frac{१}{८}$(आ+अ+ज+पृ)+$\frac{१}{२}$वायु=पञ्चीकृत स्थूल वायु

$=\frac{१}{८}$(आ+वा+ज+पृ)+$\frac{१}{२}$अग्नि=पञ्जीकृत स्थूल अग्नि

$=\frac{१}{८}$(आ+वा+अ+पृ)+$\frac{१}{२}$जल=पञ्जीकृत स्थूल जल

$=\frac{१}{८}$(आ+वा+अ+ज)+$\frac{१}{२}$पृथ्वी=पञ्चीकृत स्थूल पृथ्वी

इस प्रकार अभिव्यक्त हुए पञ्चीकृत स्थूल-भूतों मे क्रमश: 'आकाश' मे **शब्द**, 'वायु' मे **शब्द और स्पर्श**, 'अग्नि' मे **शब्द, स्पर्श** एव **रूप**, 'जल' मे **शब्द, स्पर्श, रूप और रस** तथा 'पृथ्वी' मे **शब्द, स्पर्श, रूप, रस** तथा **गन्ध** अभिव्यक्त होते है। इन्ही पञ्चीकृत भूतो से क्रमश स्थूल, स्थूलतर तथा स्थूलतम कार्यो की अभिव्यक्ति होकर सात ऊपर और सात अधोलोको को मिलाकर चौदह भुवनों से युक्त **ब्रह्माण्ड** की तथा उसमे रहने वालो के चार प्रकार के शरीरो की एव उनके भोजनादि के योग्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है।

स्थूल शरीर—ये चार प्रकार के होते है। इनमे जो **'जरायु'** से उत्पन्न हो, वे **'जरायुज'** कहे जाते है, जैसे मनुष्य, पशु, आदि। जो **'अण्डों'** से उत्पन्न हो, वे **'अण्डज'** है, जैसे पक्षी, पन्नग, आदि। जो **'स्वेद'**, 'गर्मी', 'घर्म', आदि से निकले, वे **'स्वेदज'** कहे जाते है, जैसे मशक, यूका, आदि तथा जो पृथ्वी को फोडकर निकले, उन्हे **'उद्भिज्ज'** कहते है, जैसे वृक्ष, लता, आदि।

स्थूल शरीर

---

[1] पञ्चदशी, १-२७।

समष्टि स्थूल प्रपञ्च—इन चारो प्रकार के स्थूल शरीरो के भी व्यष्टि और समष्टि रूप हो सकते है। इनकी समष्टि से जब चैतन्य घिर जाता है, तो वह 'वैश्वानर' या 'विराट्' कहा जाता है। इन स्थूल रूप मे विकसित विराट् स्वरूप का यही समष्टिरूप 'स्थूल शरीर' है। यह 'जाग्रत्' भी कहा जाता है। यही 'अन्नमय कोष' है।

विराट्

व्यष्टि स्थूल प्रपञ्च—इन स्थूल शरीरो की 'व्यष्टि' से आच्छन्न चैतन्य 'विश्व' कहा जाता है। इसमे सूक्ष्म शरीर के अभिमान के साथ-साथ स्थूल शरीर की भी भावना रहती है। अन्नमय होने के कारण यह 'अन्नमय कोष' है। यह प्रकृति का जाग्रत् स्थूल शरीर स्वरूप है। इसमे स्थूल रूप मे भोग होता है।

विश्व

विश्व तथा **वैश्वानर** रूप स्थूल शरीरो से आवृत 'चैतन्य' ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्त करणो के द्वारा स्थूल विषयो का भोग करता है। इन दोनो मे भी भेद केवल उपाधियो के द्वारा मालूम होता है। तात्त्विक वस्तु तो दोनो में वही एक 'चैतन्य' है।

जड़ प्रकृति का यह स्थूलतम स्वरूप है। इस प्रकार 'कारण', 'सूक्ष्म' तथा 'स्थूल' प्रपञ्चो के एक-दृष्टि के विषय होने से समष्टि-रूप मे एक '**महान् प्रपञ्च**' होता है। इन प्रपञ्चो मे रहने वाले 'ईश्वर'-'प्राज्ञ', 'सूत्रात्मा'-'तैजस' तथा 'वैश्वानर'-'विश्व', इन सबमे भी कोई वास्तविक भेद नही है। भेद तो है केवल उपाधियो के कारण, जैसे—मसी-पात्र मे रहने वाला 'आकाश', घट मे रहने वाला 'आकाश' तथा बहुत बड़े हॉल मे रहने वाला 'आकाश', इन तीनो मे कोई भी भेद नही है। 'आकाश' तो समान रूप मे सभी मे विद्यमान है। देखने मे जो भेद है वह केवल उपाधियो के कारण। ये सभी भिन्न-भिन्न उपाधियो से अवच्छिन्न 'चैतन्य' के स्वरूप है। साथ ही साथ 'निर्विशेष' एव सब प्रकार की उपाधियो से रहित **तुरीय चैतन्य** भी है। उसके साथ भी उपाधियो से अवच्छिन्न चैतन्य का 'अभेद' ही है। उपाधियो को हटा देने से 'चैतन्यमात्र' रह जाता है और 'चैतन्य' मे तो किसी प्रकार का कोई भी भेद नही है।

'महान् प्रपञ्च'

अविद्या के कारण ये सभी स्वरूप भिन्न-भिन्न मालूम होते है। 'आवरण-शक्ति' के कारण 'निर्विशेष' ब्रह्म का ज्ञान होता नही, साथ ही साथ उपर्युक्त प्राकृतिक उपाधियो के भेदो का, 'विक्षेप-शक्ति' के प्रभाव से उस अधिष्ठानस्वरूप

अज्ञान से आवृत 'ब्रह्म' में आरोप रहता है। इसी से यह प्रत्येक अवस्था मे भिन्न-भिन्न मालूम होता है, परन्तु वस्तुत सर्वत्र एकमात्र चैतन्य एक ही रूप मे विद्यमान है। इसी लिए तो श्रुति कहती है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**।[1]

'वस्तु' या यथार्थ तत्त्व के स्वरूप को माया की 'आवरणशक्ति' के प्रभाव से न देखकर और 'विक्षेपशक्ति' के प्रभाव से उसी 'वस्तु' को भिन्न-भिन्न रूपो मे समझना ही **'आरोप'** है। यही **'अध्यास'** भी कहलाता है, जैसा ऊपर कहा गया है।

अध्यास या आरोप

यह जो **अध्यारोप** है, 'आत्मा' मे 'अनात्मा' की भावना है, अर्थात् **अध्यास** है, उसे दूर कर, जिस प्रकार सर्प की भावना को दूर कर पुन. रज्जु की ही भावना स्थिर हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा का साक्षात्कार करने पर, पुन कूटस्थ, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, स्वप्रकाश, चिदानन्द-स्वरूप 'आत्मा' के ज्ञान मे प्रतिष्ठित हो जाना, उस 'अध्यारोप' का **'अपवाद'** है।

अपवाद

वेदान्ती अद्वैत-दर्शन मे जीवात्मा और परमात्मा मे तादात्म्य मानते है। भेद तो कल्पित है, 'उपाधि' के कारण है। उस 'उपाधि' का नाश होते ही **'जीव'** अपने स्वरूप को प्राप्त होता है और वही स्वरूप तो **'ब्रह्म'** या **'परमात्मा'** है। इसी बात को श्रुति ने अनेक महावाक्यो के द्वारा समझाया है, जैसे—**'तत्त्वमसि'** का अर्थ।

'तत् त्वम् असि'। आचार्य अपने शिष्य को कहते है—**'त्वं तत् असि'**—तुम वह हो। सामने बैठा हुआ, शरीरधारी, सीमित ज्ञान वाला, शरीर, इन्द्रिय आदि से युक्त पुरुष (=**तुम**) परोक्ष, सर्वव्यापी, चित्-आनन्द-स्वरूप, वह=तत्=**ब्रह्म** हो।

ये दोनो 'त्वम्' और 'तत्' परस्पर विरुद्ध धर्मो से युक्त होते हुए भी अभिन्न कैसे हो सकते है? साधक इसको समझने के लिए प्रयत्न करता है। अभ्यास के द्वारा उसे यह विश्वास हो जाता है कि **तुम** बराबर है **'चैतन्य+ऊपर जितने सीमित जीव के गुण कहे गये है'** तथा 'वह' बराबर है **'चैतन्य+ऊपर जितने अपरिच्छिन्न ब्रह्म के गुण कहे गये है'**। इन दोनो भावनाओ मे 'चैतन्य' तो समान रूप से दोनो मे ही है। उसमे कोई भेद या विरोध नही है। दोनो के गुणो मे परस्पर अत्यन्त भेद है। अतएव जब आचार्य कहते है—**'त्वं तत् असि'**, तब उनके कहने का अभिप्राय यही है कि 'त्व' का **'चैतन्य'** और 'तत्' का **'चैतन्य'** एक ही है। अन्य गुण जो दोनो

---

[1] **छान्दोग्य, ३-१४-१।**

के सम्बन्ध मे कहे जाते है, वे तुच्छ है। तस्मात् उन भेदक तुच्छ बातो का परित्याग कर एक चैतन्य दूसरे चैतन्य से भिन्न नही है, दोनो एक है। यह जहत्-अजहत्-लक्षणा[1] के द्वारा 'तत्त्वमसि' इस 'महावाक्य' का वाक्यार्थ-बोध हो जाता है।

इस प्रकार साधक आचार्य के उपदेश के प्रभाव से 'तत्त्वमसि', इस 'महावाक्य' के द्वारा अपने को साक्षात् ब्रह्म समझने लगता है। तब उसके मन मे भावना होती है—'सोऽहं ब्रह्म' तथा पश्चात् 'अहं ब्रह्मास्मि' (मै ब्रह्म हूँ)। अर्थात् आचार्य के द्वारा उपदेश प्राप्त कर, अध्यारोप और उसके अपवाद 'को अनुभव कर, 'तत्' और 'त्वम्' दोनो के अर्थ को साक्षात् अनुभव कर, ब्रह्म का अखण्ड-बोध प्राप्त कर, अपने 'जीव' को नित्य, शुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव का अनुभव करने लगता है। पश्चात् 'ब्रह्म' को विषय बना कर 'अहं ब्रह्मास्मि' (मै ब्रह्म हूँ)—इस स्वरूप की, अखण्डाकार आकार वाली, उसकी 'चित्त-वृत्ति' हो जाती है।

उस अखण्डाकार आकार वाली 'चित्त-वृत्ति' का एकमात्र लक्ष्य विषय तो अब 'ब्रह्म' ही है। अतएव उसी की ओर लक्ष्य कर वह 'वृत्ति' प्रवृत्त होती है। ब्रह्म

---

[1] 'शब्द' की एक प्रकार की 'वृत्ति' है, जिसे 'लक्षणा' कहते हैं। जब 'अभिधा' वृत्ति से किसी वाक्य के अर्थ का बोध नहीं होता, तब उससे सम्बद्ध एक दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली जो दूसरी वृत्ति होती है, उसे 'लक्षणा' कहते हैं। जैसे—'गंगायां घोषः' गंगा की धारा में अहीरो का एक छोटा-सा गाँव है। इस वाक्य का, अभिधावृत्ति के द्वारा, कोई समन्वित अर्थ नहीं होता, इसलिए 'लक्षणा' से 'गंगा' शब्द का 'गंगा की धारा' अर्थ न करके 'गंगा का तीर' अर्थ किया जाता है। इसमें 'गंगा' शब्द का मुख्य अर्थ का परित्याग किया जाता है और यह 'जहत्-लक्षणा' कहा जाता है।

इसी प्रकार 'शोणो धावति' (लाल रंग दौड़ता है), इस वाक्य के मुख्यार्थ से कोई समन्वित अर्थ नहीं निकलता। लाल रंग जड़ है, वह दौड़ नहीं सकता, इसलिए 'लक्षणा' के द्वारा 'लाल रंगवाला घोड़ा दौड़ता है', ऐसा अर्थ किया जाता है। इस अर्थ में 'मुख्यार्थ' का भी ग्रहण होता है। अर्थात् 'लाल रंग को साथ लेकर घोड़ा दौड़ता है।' यह 'अजहत्-लक्षणा' कहा जाता है। उस वाक्य में, जिसमें 'छोड़ा' भी जाय और 'न भी छोड़ा जाय'—जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' (यह वही देवदत्त है), विरुद्ध धर्म का परित्याग और समान वस्तु का ग्रहण होता है। इसे ही 'जहत्-अजहत्-लक्षणा' कहते हैं।

के साथ साक्षात्कार होने के पूर्व ही उस **'वृत्ति'** को, ब्रह्म को घेरे हुए **'अज्ञान'** का, सामना करना पड़ता है। उस 'वृत्ति' के साथ चित् का प्रतिबिम्ब भी रहता ही है। उसके प्रभाव से वह **'चित्प्रतिबिम्बित चित्तवृत्ति'** उस अज्ञान का नाश कर देती है।

अज्ञान का नाश

'चित्त' और उसकी 'वृत्ति' भी तो अज्ञान के ही स्वरूप हैं। अतएव कारण के नाश से कार्य का नाश होता ही है, इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म को घेरे हुए अज्ञान के नाश के साथ-साथ 'चित्त' और उसकी 'वृत्ति' का भी नाश हो जाता है। इसके पश्चात् वह चित्-प्रतिबिम्ब लौटकर पुन ब्रह्मस्वरूप का हो जाता है और अन्त में एकमात्र 'ब्रह्म' रह जाता है। यही **'जीव'** और **'ब्रह्म'** का **ऐक्य** है। यही **ब्रह्मसाक्षात्कार** है। यही वेदान्त का परम लक्ष्य है।

चित्तवृत्ति का नाश

ब्रह्मसाक्षात्कार

इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए योगसाधन का अभ्यास सर्वथा अपेक्षित है। 'श्रवण', 'मनन' और सर्वाङ्गपूर्ण 'निदिध्यासन' से युक्त समाधि के द्वारा ही चित्त-वृत्ति का शोधन हो सकता है और तभी वह चित्त-वृत्ति ब्रह्म-गत अज्ञान का नाश करने मे समर्थ हो सकती है। इसलिए साधक को **'अष्टांग योग'** का अभ्यास करना चाहिए।

योगसाधना की आवश्यकता

ऊपर यह कहा गया है कि ब्रह्म-साक्षात्कार के साथ-साथ समस्त अज्ञान तथा उसके कार्यों का भी नाश हो जाता है। चित्त मे जो 'प्रतिबिम्ब' था, वह भी 'ब्रह्मस्वरूप' हो जाता है। पुन. 'ब्रह्म' को छोड़ कर और तो कुछ भी नही बचता। जीव और ब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। यही तो शाकर वेदान्त की **मुक्ति** है।

मुक्ति

जीव और ब्रह्म के एक हो जाने से तथा उस जीव के लिए माया के विलीन हो जाने से, **'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन',**[1] यह श्रुतिवाक्य प्रमाणित हो जाता है। इसके परे तो 'गन्तव्य' पद नही रहता। अतएव इसी अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार करने पर साधक अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है और दु ख से सर्वदा के लिए छुटकारा भी प्राप्त कर लेता है।

जीव और ब्रह्म का ऐक्य

---

[1] अध्यात्मोपनिषद्, ६३।

तत्त्वज्ञानियो का अनुभव है कि यह 'ब्रह्म' आनन्द-स्वरूप है। श्रुति में भी इसके लिए अनेक प्रमाण है—"**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्**"[1], '**सच्चिदानन्दं ब्रह्म**'[2], '**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात**'[3], '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**'[4] इत्यादि। इस आनन्द को पाकर साधक 'आनन्दमय' हो जाता हैं। न्यायवैशेषिक मे '**सत्**' रूप की, साख्य-योग में '**चित्**' रूप की तथा वेदान्त मे '**आनन्द**' रूप की अभिव्यक्ति होती है। यह आनन्द का साक्षात्कार नित्य है। अतएव मुक्तावस्था मे सभी उपाधियो से रहित होकर 'जीव' ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। जीव और ब्रह्म मे कोई भेद नही रहता। आनन्द तो है, किन्तु आनन्द का अनुभव करने वाला कोई नही है। इसी लिए कहा है कि ब्रह्म '**अवाङमनसगोचर**' है।

जीवन्मुक्ति

साधक को यह पूर्व से ही मालूम है कि प्रारब्ध कर्म के क्षय के विना 'मुक्ति' नही मिलती। इसलिए शाकर वेदान्त मे भी यदि '**संचित**' और '**क्रियमाण**' कर्म के नाश होने पर जीवितावस्था ही में तत्त्वज्ञान हो जाय, तो वह जीव **प्रारब्ध कर्म** के क्षय पर्यन्त शरीर को पूर्ववत् धारण किये रहेगा। इस अवस्था को '**जीवन्मुक्ति**' कहते हैं। अब साधक कोन कर्म नही करेगा, जिससे आगे पुन. उसे कोई नवीन शरीर धारण करना पड़े। 'जीव' ज्ञान के द्वारा सभी 'सचित' और 'क्रियामाण' कर्मोका नाश कर देगा, तथापि ज्ञानोदय के पूर्व जिस प्रकार का जीवनयापन वह करता था उसी प्रकार से जीवन को अनासक्त हो कर व्यतीत करेगा। प्रारब्ध कर्म' के क्षय होने पर, शरीर का पतन हो जायगा और वह सर्वथा '**मुक्त**' हो जायगा।

प्रमाण विचार

वेदान्त मे भी एक प्रकार से, **व्यावहारिकी सत्ता** को ध्यान मे रखने से, यह कहा जा सकता है कि 'दो ही तत्त्व' हैं। एक पारमार्थिक तत्त्व—'**ब्रह्म**' और दूसरा व्यावहारिक तत्त्व—'**जगत्**' या '**माया**'। ब्रह्मके ज्ञान से ही परम पद की प्राप्ति होती है। परम पद तो **ब्रह्म** ही है, उसका ज्ञान तो श्रुति-प्रमाण से होता है। उसके ज्ञान के

---

[1] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-४।

[2] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-४।

[3] तैत्तिरीय उपनिषद्, ३-६।

[4] बृहदारण्यक उपनिषद्, ३-९-२८।

लिए तो एकमात्र प्रमाण है—शब्द। इसलिए यद्यपि वस्तुत. वेदान्त मे अन्य प्रमाणों के विचार की आवश्यकता ही नही है, परन्तु 'ब्रह्म' का ज्ञान बिना 'माया' की सहायता के, साधारण लोगो के लिए, हो नही सकता। ज्ञानियो के लिए तो यथार्थ में 'एक' ही 'प्रमाण' है। परन्तु 'माया', अर्थात् प्रपञ्च का ज्ञान तो प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणो से ही होता है। अतएव यद्यपि ब्रह्म को जानने के लिए लौकिक प्रमाणो की आवश्यकता नही है, तथापि जगत् की वस्तुओ के ज्ञान के लिए तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो का भी वेदान्त में निरूपण किया जाना आवश्यक है, अन्यथा 'प्रपञ्च' का ज्ञान नही होगा और 'ब्रह्म' का भी ज्ञान नही हो सकेगा।

प्रमाणों की संख्या

इसी दृष्टि को लेकर वेदान्त मे भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि, ये छ. प्रमाण माने जाते है। प्रत्यक्ष प्रमा का करण 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है। वेदान्त मे प्रत्यक्ष प्रमा तो 'चैतन्य' ही है। यह ब्रह्म, या चैतन्य, **'अपरोक्ष'** है। इसके लिए श्रुति प्रमाण है—**'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'**[1]।

प्रत्यक्ष-प्रमाण

वेदान्त मे भी प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए साख्य के समान चित्-प्रतिविम्ब के सहित 'चित्तवृत्ति' अहकार और मन को लेकर इन्द्रियो के द्वारा विषय के साथ सम्पर्क मे आते ही विषयाकाराकारिता हो जाती है। यही परिणाम **'वृत्ति'** है।[2] विषय जड है, अतएव चित्त मे प्रतिविम्वित जो चित् है वह विपय-प्रदेश मे जाकर न केवल विपयगत अज्ञान का नाश करता है, किन्तु जड विषय को भी प्रकाश मे लाता है। तभी उस जड विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

जड़ वस्तु का प्रत्यक्ष

'ब्रह्म' के प्रत्यक्ष के लिए, जैसा ऊपर कहा गया है, 'अध्यारोप' और 'अपवाद' के द्वारा अपने मे आत्मा का अनुभव करने पर साधक की चित्-प्रतिविम्बिता चित्तवृत्ति अपने अन्दर विद्यमान पर-ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए प्रवृत्त होती है। सबसे पहले वह 'चित्तवृत्ति' अज्ञान का नाश कर साथ ही साथ अपना भी नाश करती है। 'ब्रह्म' तो स्वप्रकाश है, उसे

ब्रह्म का प्रत्यक्ष

---

[1] वृहदारण्यक, ३-४-१।

[2] वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।

प्रकाश मे लाने के लिए किसी अन्य प्रकाश का प्रयोजन नहीं होता। अतएव चित्त का नाश होने पर विछुडा हुआ वह प्रतिविम्व वादको स्वय ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। यही ब्रह्म की **अपरोक्षानुभूति** है।

यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—'निर्विकल्पक' तथा 'सविकल्पक'। इन भेदो के लक्षण न्याय-वैशेषिक के लक्षण के समान है। पुन. प्रत्यक्ष के दो भेद है—'जीवासाक्षी' तथा 'ईश्वरसाक्षी'। अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य 'जीव' है और अन्त करणरूप उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य 'जीवसाक्षी' है। एक मे अन्त.करण 'विशेपण' है, जैसे—रूपविशिप्ट घट मे 'रूप' विशेपण है और दूसरे मे अन्त करण उपाधि है, जैसे—कर्णछिद्र से अवच्छिन्न आकाश 'श्रोत्र' है। यहाँ कर्णछिद्र 'उपाधि' है। अन्त करण जड है। इसके द्वारा घट, पट आदि विषयों का प्रकाश नहीं हो सकता, फिर इनका प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। अतएव विषय को अवभासन के लिए चैतन्योपाधि की आवश्यकता होती है। यह **'जीवसाक्षी'** प्रत्येक आत्मा मे है, इसलिए यह नाना है।

प्रत्यक्ष के भेद

जीवसाक्षी

मायोपहित चैतन्य को **ईश्वरसाक्षी** कहते है। यह एक ही है, क्योकि उसकी उपाधिभूत माया एक ही है। **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**, यहाँ बहुवचन का प्रयोग माया की शक्ति के लिए है, जो अनेक है। यह अनादि है, क्योकि उसकी उपाधि भूत माया अनादि है। माया से अवच्छिन्न चैतन्य **'परमेश्वर'** है। माया के विशेपणरूप मे रहने से **'साक्षित्व'** होता है। यही **'ईश्वरत्व'** और **'साक्षित्व'** मे भेद है।[1]

ईश्वरसाक्षी

इस प्रकार **साक्षी** के दो प्रकार होने से प्रत्यक्ष ज्ञान मे भी दो भेद है—**ज्ञेयगत** और **ज्ञप्तिगत**। 'ज्ञप्ति' तो स्वप्रकाश है, इसलिए 'ज्ञप्तिगत' प्रत्यक्ष का लक्षण है **'चित्त्वम्'**। ज्ञेयगत प्रत्यक्ष का निरूपण ऊपर कहा ही गया है।

पुन प्रत्यक्ष के दो भेद है—**इन्द्रियजन्य** और **इन्द्रिय से अजन्य**। पाँच ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा पृथक्-पृथक् जो साक्षात् ज्ञान हो, वे सभी **इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष** है। **'मन'** वेदान्तमत मे इन्द्रिय नहीं है। अतएव सुख, दु ख आदि का जो प्रत्यक्ष है, वह **इन्द्रिय से अजन्य** है।

अद्वैत में मन इन्द्रिय नहीं

---

[1] वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।

घ्राण, रसना तथा त्वग् इन्द्रियाँ अपने स्थान मे स्थित होकर ही ज्ञान उत्पन्न करती है, किन्तु चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियाँ स्वयं विषय के पास जाकर उस विषय का ज्ञान उत्पन्न करती है। 'श्रोत्र' चक्षु के समान सीमित है, इसलिए वह भी वीणा आदि के पास जाकर शब्द को ग्रहण करती है। यही कारण है कि 'वीणा के शब्द को हम ने सुना', ऐसी प्रतीति होती है। इससे स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिकमत के समान **'वीचीतरंगन्याय'** या **'कदम्बमुकुलन्याय'** से कान तक आने मे अनन्त शब्द की उत्पत्ति की कल्पना को वेदान्ती नही मानते।[1]

न्याय-वैशेषिक से भेद

व्याप्ति-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान **'अनुमिति'** है, उसके करण को **'अनुमान प्रमाण'** कहते है। न्याय-वैशेषिक की तरह ये लोग 'तृतीय लिंग परामर्श' को अनुमान नही मानते, क्योकि वह 'अनुमिति' का हेतु नही है। व्याप्ति के स्मरण की भी आवश्यकता इन्हे नही है, उसमे गौरव है और मानने मे कोई प्रमाण भी नही है।

अनुमान

इनके मत मे केवल **'अन्वयानुमान'** ही होता है। इसमे 'केवलान्वयी' तथा 'व्यतिरेक अनुमान' नही हो सकते।[2]

अन्य प्रमाणो में कोई विशेष भेद नही है। जिस प्रकार मीमासको ने उनका अर्थ किया है उसी प्रकार उन्ही अर्थो को वेदान्ती लोग भी स्वीकार करते है। यही कारण है कि **'व्यवहारे तु भाट्टनयः'** वेदान्तियो का सिद्धान्त है। इसलिए उनका विचार यहाँ नही किया गया।

आलोचन

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साख्य के सिद्धान्तों को स्वीकार करके उसके अनन्तर 'वेदान्त-भूमि' का विचार किया जाता है। साख्य ने 'आत्मा' को 'चित्स्वरूप' माना, उसे वेदान्तियो ने स्वीकार कर लिया। किन्तु केवल चैतन्य मे कोई आकर्षण नही है और जब तक वास्तव मे 'ब्रह्म-तत्त्व' सर्वथा अपूर्व न होगा, तब तक इसके लिए लोग इतने व्याकुल क्यो हो? अतएव जिज्ञासा की अपेक्षा होती है कि इस

आनन्द की खोज

---

[1] वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।

[2] वेदान्तपरिभाषा, अनुमानपरिच्छेद।

बौद्धदर्शन मे विज्ञानवादी तथा शून्यवादी अद्वैतमत के ही प्रतिपादक थे। इसी प्रकार शाक्त और शैवागम मे भी अद्वैतमत का ही प्रावान्य है। जैनमत मे भी समन्तभद्र[1] ने अद्वैतमत का उल्लेख किया है। समन्तभद्र शकराचार्य से प्राचीन थे। 'विवर्त' शब्द का प्रयोग भवभूति ने भी किया है और सम्भव है कि शंकर के पूर्व में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ हो। इन बातो से यह स्पष्ट है कि दर्शनो का वर्गीकरण करने के बाद भी अद्वैतवाद के आदि प्रवर्तक शकराचार्य नही है।

परन्तु इन सभी अद्वैतमतों मे कुछ न कुछ भेद है और यह भेद होना भी स्वाभाविक है। सभी आचार्यो का एक दृष्टिकोण तो है नही। 'गौडपाद' शकर के परम गुरु थे। अपनी माण्डूक्यकारिकाओं मे इन्होने भी अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है। कुछ विद्वानो का कहना है कि बौद्ध-अद्वैतवाद का प्रभाव गौडीपाद की कारिकाओ में स्पष्ट है और उसका प्रभाव शंकराचार्य पर भी पड़ा है। परन्तु प्राचीन दार्शनिक विचारधाराओं के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि शंकर के ऊपर बौद्धमत का प्रभाव नही पडा। शकर उपनिपदो के पूर्ण ज्ञाता थे। दार्शनिक तत्त्वो की उन्हे साक्षात् अनुभूति अवश्य रही होगी। ऐसी स्थिति मे वेद के मन्त्रो से लेकर उपनिषद् पर्यन्त जिस अद्वैतमत का प्रतिपादन है, उसीके आधार पर या उसीसे प्रभावित होकर शकर ने अद्वैत का प्रतिपादन किया है, यही कहना उचित मालूम होता है। मुझे तो यही विश्वास है कि अन्य अद्वैतवादियो ने भी, चाहे वे बौद्ध हो या बौद्धेतर हो, उपनिपदो ही से प्रभावित होकर अपने-अपने ग्रन्थो मे अद्वैतमत का प्रचार किया है। फिर भी कुछ न कुछ अपना-अपना वैलक्षण्य सभी के अद्वैतवाद मे है ही।

उपर्युक्त भावनाओ के प्रभाव ही से कुछ विद्वानो ने तो 'शकर' को प्रच्छन्न बौद्ध[2] भी कहा है। भास्कर ने तो शकर के प्रति आक्षेप करते हुए कहा है—

> 'विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिकबौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति'।[3]
>
> 'ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽप्यनेन न्यायेन सूत्रकारेणैव निरस्ता वेदितव्याः'॥[4]

---

[1] 'अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्धयते'—आप्तमीमांसा, २४।

[2] मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।

[3] भास्करभाष्य, १-४-२५।

[4] भास्करभाष्य, २-२-२९।

परन्तु यह विचार या आक्षेप आग्रहवश ही है और फिर अपने-अपने दृष्टिकोण से परम तत्त्व का प्रतिपादन करने मे सभी स्वतन्त्र है।

गौडपाद ने—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष बालिशः ॥
कोटयश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्ट. स सर्वदृक् ॥[1]

इन कारिकाओ मे 'आत्मा' को 'अस्ति', 'नास्ति', 'अस्ति-नास्ति' तथा 'नास्ति-नास्ति', इन चार कोटियो से अस्पृष्ट कहा है, अर्थात् 'आत्मा' न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् उभयात्मक है और न सत्-असत् से विलक्षण ही है। इस प्रकार की 'आत्मा' का जिन्होने दर्शन किया है, वे ही 'सर्वदृक्', अर्थात् 'सर्वदर्शी' है। यही बात बहुत पहले बौद्ध विद्वान् नागार्जुन ने माध्यमिक-कारिका मे कही थी—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥

इनके अतिरिक्त बहुत-से दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्द है जिनका बौद्ध-दर्शन और शाकर मत, दोनो में एक ही अर्थ मे प्रयोग किया गया है। इन सभी समानताओ को देखते हुए भी यही कहना उचित है कि **'परमार्थतत्त्व'** के स्वरूप-विचार मे दोनो मतो मे भेद नही है। दोनो मतो ने व्यावहारिक सत्ता से भिन्न पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया है। अतएव पारमार्थिक दृष्टि से जब परम तत्त्व का विचार ये दोनों करते है, तो अनेक प्रकार की समानता का होना दोनो मे स्वाभाविक है। सम्भव है, **गौडपाद** ने बौद्धमत के शब्दो का प्रयोग जान बूझ कर किया हो। ये सभी बाते शकर से भी छिपी नही थी। शकर ने भी उसी परम तत्त्व का पारमार्थिक दृष्टि से ही प्रतिपादन किया है। अतएव इन सबमे इस प्रकार की सदृश-भावना का होना कोई आश्चर्य नही है। परन्तु इससे यह नही कहा जा सकता कि वेदान्तियो ने बौद्धो से भावो का ग्रहण किया है। **'परम तत्त्व'** के स्वरूप का वास्तविक वर्णन तो

---

[1] कारिका, अलातशान्तिप्रकरण, ८३-८४।

शब्दो के द्वारा किया नही जा सकता, फिर भी शब्दो को छोडकर अन्य कोई साधन भी नही है, जिसके द्वारा उसके सम्बन्ध मे कुछ भी कहा जा सके। 'परम तत्त्व' का स्वरूप ही ऐसा है कि जो कोई उसका प्रतिपादन करेगा, वह उसी प्रकार के शब्दो का तथा भावो का प्रयोग करेगा ही। किन्तु इसमे ज्ञानपूर्वक किसी ने दूसरे से ले लिया है, यह कहना उचित नही है।

मूल तत्त्व के सम्बन्ध मे तो मुझे विश्वास है कि बौद्धो ने तथा शकर ने उपनिषदों से ही अपनी-अपनी भावना की प्राप्ति की थी। यही गौडपाद के सम्बन्ध मे भी कहना उचित है।

त्रयोदश परिच्छेद

काश्मीरीय शैव-दर्शन

अद्वैत भूमि

शाकर वेदान्त की '**माया**' के रहस्य को शाकर वेदान्त-भूमि मे साधक नही समझ सका। **माया** कहाँ से आयी ? किस प्रकार चैतन्य को अज्ञान ने घेर लिया ? क्यो घेरा ? इत्यादि प्रश्न जिज्ञासु के मन मे उदित होते हैं। 'माया' अनादि है। अनादि काल से 'ब्रह्म' उससे आच्छन्न है, 'जीव' और 'ईश्वर' भी अनादि है। यह सब समाधान होने पर भी मन मे सन्तोष नही होता। वेदान्त का 'ब्रह्म' **चैतन्य** और **आनन्द-**स्वरूप है। साख्य-पुरुष **चैतन्य-**स्वरूप है, परन्तु इस 'चैतन्य' या 'आनन्द' से क्या लाभ ? इनमे यदि '**कर्तृत्व**' ही न हो, तो आकर्षण ही क्या है ? यदि 'ब्रह्म' सर्वशक्तिमान् है, परन्तु उस शक्ति का कुछ भी उपयोग न किया गया या ब्रह्म स्वय न कर सका, तो उस शक्ति से क्या प्रयोजन ? परन्तु 'कर्तृत्व' तो जड मे मानते है, इसलिए साधक की जिज्ञासा की वेदान्त-भूमि मे निवृत्ति न हो सकी। अतएव वह साख्य के **पुरुष** तथा वेदान्त की **माया** या **ब्रह्म** को विशेष रूप से जानने के लिए अग्रसर होता है। दूसरी भूमि पर पहुँचते ही इन तत्त्वो को साधक बहुत विचित्र रूप में पाता है। वहाँ तो सभी वस्तुएँ **चिन्मय** देख पड़ती है। उस 'चिन्मय जगत्' मे किसी से कोई भिन्न नही है। उस भूमि मे एकमात्र तत्त्व है—**परम शिव**। वह 'चित्' है, उससे ही सभी चिन्मय पदार्थ आविर्भूत होते है और फिर उसी मे लीन हो जाते हैं। 'सृष्टि' तो उनका 'उन्मीलन' मात्र है। इसलिए कहा गया है—

'अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना'[1]

'उन्मीलनम् अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्'[2]

---

[1] **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३२।**

[2] **प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ६।**

इस भूमि को 'शैव-दर्शन' की भूमि या प्रत्यभिज्ञा-भूमि कहते हैं। इसी का सक्षेप मे यहाँ विचार किया जाता है।

काश्मीरीय शैव-दर्शन को **'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन'** भी कहते है। यह वहुत प्राचीन दर्शन है। इसकी व्यापकता काश्मीर प्रान्त मे थी। अतएव उसी नाम से यह प्रसिद्ध भी है।

नामकरण

इसे **'त्रिक-दर्शन'** तथा **'माहेश्वर-दर्शन'** भी प्राचीनो ने कहा है। यह शैवागम है। यह भी एक 'अद्वैत-वाद' है, जो **'ईश्वरा-द्वयवाद'** के नाम से प्रसिद्ध है। आगमाचार्य अभिनवगुप्त इसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन मे भी अज्ञान है, माया है, किन्तु यह स्वतन्त्र नही है। यह परम तत्त्व क अधान है। उसकी लीला से इस अज्ञान का उदय और लय दोनो

ब्रह्माद्वैत तथा ईश्वराद्वयवाद मे भेद

होते है। अज्ञान का उदय होने पर भी परम तत्त्व के स्वरूप मे कोई भी परिवर्तन नही होता। 'माया' का खेल तथा उससे सृष्टि, सभी उसी परम शिव की लीला है। वह तो आप्तकाम है, आत्माराम है, उसमे किसी प्रकार की इच्छा नही। जगत् तो प्रयोजनरहित, उसका क्रीड़ामात्र है।

शाकर-दर्शन मे माया या अज्ञान किसी के अधीन नही है। इसी मे 'कर्तृत्व' है। **'ब्रह्म'** शुद्ध, साक्षी, अधिष्ठानरूप, चैतन्यस्वरूप, अकर्ता है, किन्तु शैव-दर्शन मे 'माया' या अज्ञान शिव के अधीन है। **'परम शिव'** स्वतन्त्र, चिन्मय, ज्ञानस्वरूप तथा कर्तृस्वरूप है। शैव-दर्शन मे 'विमर्श' ही शिव का स्वभाव है। 'ज्ञान' और 'क्रिया', दोनो ही उसके लिए एक समान है। "उसकी क्रिया ही **'ज्ञान'** है, क्योकि वह ज्ञाता का धर्म है तथा उसके कर्तृस्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही **'क्रिया'** है। इस ज्ञान और क्रिया की उन्मुखता का नाम **'इच्छा'** है। इसी कारण आत्मा इच्छामय हे अथवा इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया, इन तीनो शक्तियो से युक्त स्वातन्त्र्यमय है।"[१]

शैव-दर्शन की 'आत्मा' सर्वदैव और स्वभाव से ही सृष्टि, स्थिति, सहार, अनुग्रह एव विलय को करने वाली है, परन्तु शाकर मत के ब्रह्म मे ये बाते नही है। यही एक वहुत वडा भेद **ब्रह्माद्वैतवाद** और **ईश्वराद्वयवाद** मे है।[२] यही कारण है कि ब्रह्मवाद मे आत्मा का स्वस्फुरण उक्त प्रकार का न होने के कारण वह सत्य होते हुए भी असत् के समान है। 'महार्थमजरी' टीका मे महेश्वरानन्द ने कहा है—

---

[१] महामहोपाध्याय डाक्टर श्री गोपीनाथ कविराज, कल्याण (शिवांक), पृष्ठ ८३।

[२] प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ २२-२३।

यद्यपि ब्रह्माद्वैतवाद 'अद्वैत' है, किन्तु वस्तुत वह 'द्वैत' ही समझा जाना चाहिए। यही बात 'संविदुल्लास' मे भी लिखी गयी है।

आगमशास्त्र मे 'अद्वैत' का अर्थ है—'दो का नित्य सामरस्य'। तभी तो वह अखण्ड, पूर्ण हो सकता है, किन्तु शाकर वेदान्त मे ब्रह्म 'सत्' है, परन्तु माया को शकर 'सत्' नही कह सकते, फिर इन दोनो मे 'सामरस्य' तो हो ही नही सकता। विमर्शशक्ति के समान 'माया' ब्रह्म की शक्ति नही हो सकती। **'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या'** यह तो वस्तुत अद्वैत नही है, यह द्वैत या द्वैताभास हो सकता है।

दो का नित्य सामरस्य 'अद्वैत' है

इन भेद-द्योतक बातों को मन मे रखकर सात्विक 'शैवागम' की अद्वैत भूमि मे प्रवेश करता है।

साहित्य

इस शैव-दर्शन का साहित्य विस्तीर्ण है। इसके साठ-सत्तर ग्रन्थ जम्मू-काश्मीर सस्कृत सिरीज मे प्रकाशित हुए है, जिनमे 'शिवसूत्र' तथा उस पर 'वृत्ति' भास्कर का 'वार्तिक', क्षेमराज की 'विमर्शिनी', 'प्रत्यभिज्ञाहृदय', 'तन्त्रालोक', 'तन्त्रसार', 'प्रत्यभिज्ञाकारिका', 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा', आदि बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

वसुगुप्त, कल्लट, सोमानन्द, उत्पलाचार्य, अभिनवगुप्त, भास्कर, क्षेमराज, जयरथ, आदि ज्ञानी विद्वान् इस मत के प्रचारक हुए है।

तत्त्वविचार

अन्य दर्शनो की तरह शैव-दर्शन का भी अपना एक विशेष क्षेत्र है। इस क्षेत्र मे वस्तुत एकमात्र तत्त्व है **'शिव'**। उसी से अन्य सभी तत्त्व अभिव्यक्त होते है। तथापि अभिव्यक्त तत्त्वो को लेकर शैव-दर्शन मे निम्नलिखित तत्त्व है—साख्य-दर्शन के स्थूल भूतो से लेकर प्रकृति तथा पुरुष-तत्त्व पर्यन्त पचीस तत्त्वो को उसी क्रम मे शैव-दर्शन भी मानते है।

तत्त्व

भेद इतना है कि साख्य-दर्शन मे 'पुरुष' और 'प्रकृति' नित्य है, स्वतन्त्र है, किन्तु शैव-दर्शन मे ये 'अनित्य' है, 'परतन्त्र' है। 'प्रकृति'-तत्त्व यहाँ **'माया'** के नाम से प्रसिद्ध है। इसके साथ पाँच तत्त्व है—**'कला'**, **'विद्या'**, **'राग'**, **'काल'** और **'नियति'**। ये पाँच माया के **'कञ्चुक'** है। इन पाँच तत्त्वो के अन्त प्रवेश करने से इनके स्वरूप

का ज्ञान हो जाता है और माया से छुटकारा मिलता है। उसके बाद 'माया' की अपेक्षा दूसरे सूक्ष्म तत्त्व मे साधक प्रवेश करता है और शुद्ध सत्त्व-विशिष्ट पुरुष **'शुद्ध विद्या'** के रूप मे साधक को देख पडता है। इसी को **'सद्विद्या'** भी कहते है। यह **'सद्विद्या'**-तत्त्व **'ईश्वरतत्त्व'** मे लीन हो जाता हे और साधक को **'ईश्वरतत्त्व'** में अनुभव करने का अवसर मिलता है। **'ईश्वरतत्त्व' 'सदाशिवतत्त्व'** मे, **'सदाशिवतत्त्व' 'शक्तितत्त्व'** मे तथा **'शक्तितत्त्व' 'परम-शिवतत्त्व'** मे परिणत हो जाता है। वहा पहुँचकर साधक शिव-शक्ति के सामरस्य का अनुभव करता है। यही **पूर्णावस्था** है। यही इस दर्शन का अपना परम लक्ष्य है।

इस प्रकार 'माया' से लेकर 'शिवतत्त्व' पर्यन्त ग्यारह तत्त्व नये है। साख्य के पचीस तत्त्वो को मिलाकर शैव-दर्शन मे छत्तीस तत्त्व है। इनमे से प्रथम पचीस तत्त्वो का विचार साख्यशास्त्र मे हो चुका है। उसे यहाँ दुहराने का कोई प्रयोजन नही है। अत उन्हे छोडकर अन्य ग्यारह तत्त्वो का विचार यहाँ किया जाता है।

शिवतत्त्व

प्रत्येक जीव मे रहने वाला **शिवतत्त्व** ही **'आत्मतत्त्व'** है। यह चैतन्यरूप है।[1] इसी को 'परा सवित्', 'परमेश्वर', 'शिव' या 'परम शिव' भी कहते है। यह तत्त्व न केवल जीव मे ही है, प्रत्युत जितनी वस्तुएँ ससार मे है, जड़ या चेतन, सभी मे व्यष्टि तथा समष्टि-रूप से वर्तमान है। यह अनन्त वस्तुओ मे रहने पर भी एक है और एक रूप मे सभी वस्तुओ मे है। यह देश और काल से अतीत है और फिर भी सभी देशो मे तथा सभी कालो मे एक रूप मे वर्तमान है। यह नित्य और अनन्त है। यह समस्त विश्व मे व्यापक रूप मे है और 'विश्वातीत' भी है। वस्तुत , जैसा बाद को कहा जायगा, समस्त विश्व इसी तत्त्व का अभिन्न रूप है। परम शिव स्वय छत्तीस तत्त्वो के रूप मे जगत् मे भासित होता है। विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय तथा प्रकाशैकघन इस **शिवतत्त्व** का ही अपने से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त प्रत्येक तत्त्व, अभिन्न रूप मे, स्फुरण है।[2] इस तत्त्व के अतिरिक्त वस्तुत और कुछ भी 'ग्राह्य' या 'ग्राहक'-रूप मे नही है। यही परम शिव भट्टारक नाना वैचित्र्यो के रूप मे स्वय स्फुरित होता है।[3] यह इच्छा, ज्ञान तथा क्रियात्मक है एव पूर्णानन्द स्वभाव का है।

---

[1] **चैतन्यमात्मा,—शिवसूत्र, १, १।**

[2] **'अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति'—प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ८।**

[3] **प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ३, ८; शिवदृष्टि, १–२।**

यह तत्त्व प्रकाशात्मा है, अर्थात् 'विमर्श' ही इसका स्वभाव है। 'सृष्टि-अवस्था' मे विश्वाकार होने से, 'स्थिति' मे विश्व को प्रकाशन द्वारा तथा 'सहार' मे आत्मसात् करने से 'शिव' मे पूर्ण जो अकृत्रिम अहभाव है उसी को **'विमर्श'** शक्ति कहते है।[1] यदि शिव मे 'विमर्श'-शक्ति न हो, तो वह 'अनीश्वर' तथा 'जड़' हो जायँगे। चित्, चैतन्य, परा वाक्, परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरता, आदि शब्दो से आगमो मे **'विमर्श'** का ही वर्णन किया जाता है।

विमर्शशक्तितत्त्व

इस शक्ति में अनन्त स्वरूप है, किन्तु इनमे पाँच स्वरूप बहुत ही महत्त्व के है—

(१) **'चित्-शक्ति'**—यह प्रकाशरूप है।[2] इसी के द्वारा शिव अपने को 'स्वप्रकाश' समझते है।

(२) **'आनन्द-शक्ति'**—जिसके द्वारा शिव 'आनन्दमय' है और अपने मे आनन्द का साक्षात्कार करते है।

(३) **'इच्छा-शक्ति'**—जिसके द्वारा जगत् की सृष्टि, सहार और अन्य सभी कार्य शिव करते है।

(४) **'ज्ञान-शक्ति'**—जिसके कारण शिव स्वय 'ज्ञानस्वरूप' है।

(५) **'क्रिया-शक्ति'**—जिसके कारण शिव सभी स्वरूपो को धारण कर सकते है।

शक्ति के इन पाँचो स्वरूपो से सम्पन्न शिव अपने आप समस्त विश्व की अभिव्यक्ति करते है। वस्तुत यह जगत् 'शिव' की शक्ति का ही विस्तृत रूप है, जिसे परम शिव ने अपने मे (स्वभित्तौ) स्वेच्छा से अभिव्यक्त किया है। परन्तु इसे ध्यान मे रखना है कि विना 'शक्ति' के 'शिव' एक प्रकार से जडवत् ही है। इसी 'शक्ति' के सहारे 'शिव' अपने मे 'अह' का बोध प्राप्त करते है। इसी लिए शकराचार्य ने भी कहा है—

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।"[3]

---

[1] पराप्रावेशिका, पृष्ठ १-२।

[2] तन्त्रसार, आह्निक १।

[3] आनन्दलहरी, १।

परन्तु यह भी सत्य है कि बिना शिव के 'शक्ति' भी नही रह सकती और न कुछ कर ही सकती है। इन दोनो मे अभेद है, तादात्म्य है, सामरस्य है। तभी तो परम शिव 'पूर्ण' है।

जब इस शक्ति मे 'उन्मेष' होता है, तब 'सृष्टि' होती है और जब वह 'आँख मूद लेती' है, तब जगत् का 'लय' हो जाता है। यह उन्मेष और निमेष अनादि और अनन्त है। इसी उन्मेष के कारण 'सदाशिवतत्त्व' की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति-तत्त्व का प्रथम और स्थूल 'उन्मेष' है। इसे 'सादाख्य' तत्त्व भी कहते है। इसे सतत ध्यान मे रखना है कि शैव-दर्शन मे 'सृष्टि' शक्ति का 'उन्मेष' है, अर्थात् जो वस्तु पहले से थी, उसी की अभिव्यक्ति होती है। कोई नवीन वस्तु, बाहर रहने वाले, की उत्पत्ति नही होती। यह अन्तर्वर्ती निमेष है।[1] इस अवस्था मे 'इच्छाशक्ति' की प्रधानता है, क्योकि 'अहं' अश अस्फुट रहता है और 'अह' अश प्रधान रूप में उसे आच्छादित किये रहता है। इसलिए 'मै हूँ' इस प्रकार की प्रतीति होती है अर्थात् जगत् का अव्यक्त रूप मे यहाँ भान होता है।

सदाशिवतत्त्व

ईश्वरतत्त्व—जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति यहाँ स्पष्ट होती है। **'अहम्'** अश गौण होता है और **'इदम्'** अश की प्रधानता यहाँ रहती है।

'इदम् अहम्', इस प्रकार की प्रतीति विमर्शशक्ति मे उल्लसित होती है। यहाँ 'ज्ञानशक्ति' की प्रधानता है।

शुद्धविद्या या सद्विद्या—इस भूमि मे **'अहम्'** और **'इदम्'** इन दोनो रूपो मे ऐक्य की प्रतीति रहती है। **'मै=यह हूँ'**, यही भावना इस भूमि मे जाग्रत रहती है। इसमे 'क्रियाशक्ति' प्रधान है।

मायातत्त्व—इस भूमि मे पूर्वभूमि की ऐक्यप्रतीति पृथक्-पृथक् हो जाती है। **'अहम्'** अश 'पुरुष'-रूप मे तथा 'इदम्' अश 'प्रकृति'-रूप मे यहाँ अभिव्यक्त होते है। यहाँ अचित्, अर्थात् जड मे 'प्रमातृत्व' का आभास होता है। यह कला आदि पाँच भावो का उपादान कारण है।

इस भूमि मे **'मायाशक्ति'** के द्वारा परमेश्वर अपने रूप को आच्छादित कर लेता है, तभी वह **'पुरुष'**-तत्त्व होकर पृथक् हो जाता है। माया से मुग्ध कर्मो को अपना बन्धन

---

[1] ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३-१-३।

समझता हुआ यही संसारी पुरुष है। परमेश्वर से अभिन्न होता भी, इसका मोह परमेश्वर मे नही होता।

माया के पाँच कंचुक—'परम शिव' सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, व्यापक असंकुचित शक्तिसपन्न होते हुए भी, अपनी इच्छा से संकुचित होकर कला, विद्या, राग, काल तथा नियति, माया के इन पाँच कञ्चुको के रूप मे स्वयं अभिव्यक्त होते है।[१]

इन्ही पाँच कंचुको के कारण क्रमश परम शिव के उपर्युक्त गुणो में भी सकोच हो जाता है। इसलिए कुछ करने की सामर्थ्य, कुछ ही जानने का सामर्थ्य, अपूर्णता का बोध, अनित्यत्व का बोध तथा सकुचित शक्ति का ज्ञान 'पुरुष' को अपने मे होने लगता है।

पुरुषतत्त्व—क्रमशः इन्ही पाँच कञ्चुकों को आवरणरूप मे स्वीकार कर 'पुरुष' संसारी हो जाता है। इन्ही पाँचो से आवृत चैतन्य 'पुरुषतत्त्व' है। परम शिव के स्वरूप को आवृत करने के कारण ये 'कञ्चुक' कहे जाते है।

प्रकृतितत्त्व—महत्तत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रकृतितत्त्व है। यह सत्त्व, रजस् और तमस् की 'साम्यावस्था' है। इस अवस्था मे गुणो में प्रधान गौण भाव नही होता। ये गुण प्रकृतितत्त्व मे परस्पर विभक्त नही है।

अन्तःकरण

बुद्धितत्त्व—'यह ऐसा है', इस प्रकार निश्चय करने वाली शक्ति 'बुद्धि' तत्त्व है। यह सत्त्वप्रधान होने के कारण 'स्वच्छ' है। इस तत्त्व मे ही चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की 'योग्यता' है।

अहंकारतत्त्व—'यह मेरा है', 'यह मेरा नही है', इस प्रकार अभिमान का साधन 'अहंकार' तत्त्व है।

मनस्तत्त्व—'करूँ या न करूँ', इस प्रकार सकल्प और विकल्प का कारण 'मन' है। ये तीनो 'अन्तःकरण'-रूप तत्त्व है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को ग्रहण करने वाली, क्रमश श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है। अन्तःकरण के अनन्तर इनकी अभिव्यक्ति होती है।

---

[१] देखिए, परिशिष्ट

पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वचन, आदान, विहरण (चलना-फिरना), विसर्ग (मल त्याग), (लौकिक) आनन्द के साधन क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ है।

पाँच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध,ये पाँच समान रूप के है। प्रत्येक मे, अपने को छोड़कर, अन्य कुछ भी नही रहता। इसीलिए इन्हे तन्मात्राएँ कहते है।

पंचभूत—अवकाश देने वाला 'आकाश', सजीवन 'वायु', दाहक और पाचक 'अग्नि', पिघलनेवाला, भिगोनेवाला 'जल' तथा धारण करने वाली 'पृथिवी', ये पाँच भूततत्त्व है।

जिस प्रकार वट-बीज मे, शक्तिरूप मे, बड़ा वटवृक्ष विद्यमान रहता है, उसी प्रकार ये सभी तत्त्व,अर्थात् चराचर समस्त विश्व, परम शिव के हृदयरूपी बीज के अन्दर 'शक्ति', रूप मे वर्तमान रहते है। जिस प्रकार घट, सकोरा आदि, मृत्तिका से बने हुए पदार्थो का वास्तविक रूप 'मृत्तिका' ही है या जल, नीबू-जल, गुलाब-जल तथा अन्य जलीय पदार्थो का वास्तविक रूप साधारण 'जल' ही है, उसी प्रकार 'पृथिवी' से लेकर व्युत्क्रम रूप मे 'माया' पर्यन्त सभी तत्त्व 'सत्' ही है। इन 'सत्' मे से भी धात्वर्थव्यञ्जक प्रत्यय के अंश को छोड़ देने पर केवल 'प्रकृतिरूप' मे 'सकार' ही रह जाता है। इस 'प्रकृति' के अन्तर्गत इकतीस तत्त्व है। इसके ऊपर 'शुद्धविद्या', 'ईश्वर', 'सदाशिव', ये तत्त्व ज्ञान और क्रियाशक्ति-स्वरूप है। ये सभी 'औ'-रूप शक्तितत्त्व मे अन्तर्भूत है। इसके परे ऊर्ध्व तथा अध. लोको के सृष्टिस्वरूप दो 'विसर्जनीय' (:) है। इस प्रकार के हृदय-बीज के स्वभावरूप, महामन्त्रस्वरूप, विश्वमय, अर्थात् सर्वाकार एव विश्वोत्तीर्ण, अर्थात् निराकार, परम शिव है।

छत्तीस तत्त्वो का यह अति सक्षिप्त विवरण है। यहाँ सूक्ष्म से स्थूल तत्त्वो की क्रमिक अभिव्यक्ति का निदर्शन किया गया है।

व्युत्क्रमसृष्टि—इसी बात को अब स्थूल से क्रमशः सूक्ष्म तत्त्व की ओर किस प्रकार साधक जाता है, उसका निरूपण नीचे किया जाता है—

'पृथिवीतत्त्व' से लेकर 'प्रकृतितत्त्व' पर्यन्त तो सांख्य के समान ही तत्त्वो का विचार है। यही 'प्रकृति' विशुद्ध होकर 'मायातत्त्व' मे लीन हो जाती है। 'माया' के 'पाँच कञ्चुक' परम शिव के सभी गुणो को सकुचित कर देते है। इसीलिए 'पुरुष-तत्त्व' मे आकर परमशिव की शक्ति सकुचित हो जाती है।

इन तत्त्वो से परे जब सूक्ष्मतर तत्त्व मे साधक प्रवेश करता है, तब 'पुरुष' अपने को सूक्ष्म प्रपञ्च, जो स्थूल प्रकृति का सूक्ष्म रूप है, के बराबर का समझने लगता है। इस अवस्था मे 'मैं=यह हूँ',इस प्रकार की प्रतीति उल्लसित होती है। इसमे 'मैं' चैतन्य है और 'यह' प्रकृति है। यहाँ 'मै' और 'यह' दोनो बराबर महत्त्व के होते है। अभी भी द्वैतभान स्पष्ट है। इसके अनन्तर, वह 'पुरुष' सूक्ष्म प्रपञ्च के साथ तादात्म्यबोध करने लगता है और **'यह=मैं हूँ'**, ऐसी प्रतीति उसके विमर्शशक्ति मे भासित होने लगती है। इस परिस्थिति में **'यह'** अंश को प्रधानता मिलती है। इस अवस्था को **'ईश्वरतत्त्व'** कहते है।

धीरे-धीरे **'यह'** अश **'मैं'** मे लीन हो जाता है और 'मै हूँ' इतनी ही प्रतीति रह जाती है। किन्तु फिर भी **द्वैतभान** स्पष्ट है। **'मैं'** और 'हूँ', ये दोनो स्वरूप **'विमर्श'** में भासित होते है। इस अवस्था को **'सदाशिव'** तत्त्व कहते है।

अब इस 'हूँ' को भी दूर करना उचित है। पश्चात् इससे भी सूक्ष्म भूमि मे जब साधक प्रवेश करता है तब उसे केवल 'अहं' की प्रतीति होने लगती है। इसे **'शक्ति-तत्त्व'** कहते है। यही **'परम शिव'** की **'उन्मीलनावस्था'** है। इसी अवस्था मे साधक **'परम शिव'** के स्वरूप को समझ सकता है। यही आत्मा के आनन्द-स्वरूप का प्रथम बार भान होता है। यही **'शक्ति'** और **'शक्तिमान्'** की युगल मूर्ति है। यह अवस्था भी एक प्रकार से 'द्वैत' की ही है, किन्तु वस्तुत कहना कठिन है कि **'द्वैत है या अद्वैत'**। यह **'द्वैत'** भी है और **'अद्वैत'** भी है। यह अवस्था अन्त मे **'परम शिव'** मे लीन हो जाती है। यही **'शिवतत्त्व'** है।

चिन्मय सामरस्य की अवस्था—यहाँ पहुँचकर जिज्ञासु अपने अस्तित्व को **परम शिव** मे लीन कर देता है। किन्तु परम शिव मे लीन होने पर भी कोई तत्त्व अपने स्वरूप को नष्ट नही करता। सभी तत्त्व **'परम शिव'** मे लीन होकर **'चिन्मय'** हो जाते हैं। यही मनुष्य-जीवन तथा दर्शन का चरम लक्ष्य है। यहाँ **शुद्ध अद्वैत** है। चिन्मय 'शिवतत्त्व' मे सभी 'चिन्मय' हो जाते है। वस्तुत. **शिवशक्ति** के **'सामरस्य'** की अवस्था तो यही है। अतएव यथार्थ मे **'अद्वैत'** तत्त्व का ज्ञान यही होता है।

जीवितावस्था मे स्थूल शरीर को धारण किये हुए यदि यह ज्ञान होता है, तो उसे **'जीवन्मुक्ति'** कहते है। इस अवस्था मे भी अविचल रूप मे एक 'चित्' ही रहता है। **संविद्रूपा शक्ति** इस अवस्था मे भी रहती है, अत-एव **चिदानन्द** का लाभ जीवन्मुक्त को भी होता है। शरीर के पतन के पश्चात् वह **'परम शिव'** मे ही प्रविष्ट और उसी मे लीन हो जाता है।

जीवन्मुक्ति

आलोचन

जैसा ऊपर कहा गया है समस्त विश्व एक ही 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' का उल्लसित रूप है। सभी चिन्मय हैं। परम शिव सर्वथा स्वतन्त्र होकर बिना किसी की सहायता से, केवल अपनी ही 'शक्ति' से, सृष्टि को लीला के लिए उद्भासित करते हैं और लीला का संवरण भी कर लेते हैं। वस्तुतः यहीं आकर साधक को 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन', तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वास्तविक अनुभव होता है।

यहीं भारतीय दर्शन के पूर्ण स्वरूप का अनुभव होता है। चार्वाक-भूमि से आरम्भ कर क्रमशः एक भूमि के अनन्तर दूसरी भूमि पर आकर, परम तत्त्व के आभास का अनुभव करता हुआ, साधक सूक्ष्म जगत् की तरफ अग्रसर होता है और धीरे-धीरे इसी परम शिवतत्त्व में पहुँच कर परम शिव के साथ एक हो जाता है।

इसी प्रकार स्थूल जगत् से सूक्ष्म जड़ परमाणु में, फिर उसी को सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम बनाकर सांख्य में उसे सत्त्व, रजस् तथा तमस् के स्वरूप में साधक देखता है। उन्हें भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर 'माया' के कञ्चुकों के रूप में परिणत पाता है। उसके पश्चात् यह जड़ माया का रूप चैतन्य-रूप 'शुद्धविद्या' के बराबर का हो जाता है। पश्चात् चैतन्य के प्रतीक 'अहं' और जड़ के प्रतीक 'इदं' में गौण-प्रधान तथा प्रधान-गौण-भाव का सम्बन्ध होने लगता है। अन्त में 'इदं' भाव 'अहं' में लीन हो जाता है और इसके भी पश्चात् 'अहं' भाव भी 'परम चैतन्य' में लीन होकर सर्वदा के लिए परम तत्त्व में विलीन हो जाता है। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर यह कहा जाता है कि वास्तविक अद्वैत तत्त्व का स्वरूप काश्मीरीय शैव-दर्शन में ही देखने में आता है, न कि शांकर या अन्य किसी वेदान्त में। अन्त में इसके समर्थन में महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथकविराज ने जो कहा है उसका यहाँ उद्धरण कर इस दर्शन का विचार समाप्त किया जाता है—

"शंकर ब्रह्म को सत्य और माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। इसलिए वाक्य द्वारा जितना ही अद्वैतभाव का उत्कर्ष दिखाने की चेष्टा की गयी है, उतना ही पूर्ण भाव के प्रकाश में बाधा पड़ी है। वे 'माया' को सत्य नहीं मान सकते, इसी से उनका अद्वैतभाव 'व्यावृत्तिमूलक' (एक्सक्लूसिव), 'संन्यासमूलक' (बेस्ड ऑन रिननसिएशन ऑर एलिमिनेशन') है, 'अनुवृत्ति' कि वा 'ग्रहणमूलक' '(आलइम्ब्रेसिंग) नहीं। 'माया' ब्रह्मशक्ति, ब्रह्माश्रित है, पर 'ब्रह्म' सत्य है, परन्तु विचार-

ब्रह्म और माया के स्वरूप का विचार

दृष्टि से 'माया' 'सदसद्विलक्षण' है। किन्तु 'माया' को स्वीकार कर उसको ब्रह्म-मयी, नित्या और सत्यस्वरूपा मानने से 'ब्रह्म' और 'माया' की 'एकरसता' हो जाती है। यह 'एकरसता' माया को त्याग कर या तुच्छ समझकर नही, बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझने मे है।

बादल के द्वारा दृष्टि-शक्ति के ढक जाने पर हम कहते है कि 'मेघ' ने सूर्य को ढक लिया है, किन्तु यह 'मेघ' क्या स्वयमेव सूर्य से ही उत्पन्न नही है? क्या 'मेघ' सूर्य की महिमा नही है? सुतरां जो 'सूर्य' है वही 'मेघ' है, क्योकि वह उसी की 'शक्ति' है। 'मायामेघ' भी इसी प्रकार 'ब्रह्म' से आविर्भूत होता है, उसी के आश्रय में आत्म-प्रकाश करता है और उसी मे विश्राम भी करता है। जो 'माया' है वही 'ब्रह्म' है। **'ब्रह्म'** स्वयं ही, मानो अपने को अपने द्वारा, अर्थात् अपनी शक्ति-माया के द्वारा, ढक लेता है, परन्तु ढकने पर भी पूर्णतः ढक नही जाता। क्योकि वह अनावृत रूप है। अत. कहना पड़ता है कि वही अपना 'आवरक' (ढकने वाला) है और वही अपना 'उन्मीलक' (खोलने वाला) है। उसके अतिरिक्त और है ही क्या? 'ब्रह्म' और 'माया' एक ही वस्तु है। 'ब्रह्म' सत्य, 'माया' मिथ्या है, ऐसा कहने पर प्रकारान्तर से द्वैताभास आ ही जाता है। जिस अवस्था मे 'माया' मिथ्या है, उस अवस्था में 'ब्रह्म' भी मिथ्या है, क्योकि 'माया' को मिथ्या अनुभव करते ही 'माया' की सत्ता का स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है, और 'माया' को स्वीकार करने से ही उस अवस्था मे जो 'ब्रह्म-बोध' होता है, वह 'मायाकल्पित' वस्तु है। यह बात वेदान्ती को भी किसी-न-किसी प्रकार स्वीकार करनी ही पडती है। इधर 'माया' को सत्य समझने मे 'ब्रह्म' भी सत्य हो जाता है। 'माया' की विचित्रता के अनुसार यह 'ब्रह्मबोध' भी विचित्र ही होगा और वे सभी बोध समानरूप से सत्य होगे। उस समय जगत् के यावत् पदार्थ ब्रह्मरूप मे प्रतिभात होगे। सभी सत्य है, सभी विस्मय और आनन्दमय है, इस तत्त्व की उपलब्धि होगी। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**, यह उपनिषद्वाक्य उस समय सार्थक हो जायगा। 'माया' अथवा तत्प्रसूत जगत् का त्याग करके नही, वर उसको साक्षात् 'ब्रह्मशक्ति' और उसके विकासरूप मे अनुभव करने से, आलिगन करने से ही जीवन की सार्थकता सम्भव हो सकती है।

'शक्ति' सत्य है, सुतरा 'जीव' और 'जगत्' भी सत्य है—मिथ्या नही हैं, इसलिए सभी वस्तुत 'शिवमय' है। यह वैचित्र्य एक का ही विलास है, भेद-अभेद का ही आत्मप्रकाश है, शक्तिरूप किरणराशि शिवरूप सूर्य का अपना ही स्फुरण-मात्र है, अन्य कुछ भी नही। भगवान् शंकराचार्य के **'तमःप्रकाशवद्विरुद्धयोः'** पद की

यथार्थता स्वीकार करके भी यह बात कही जा सकती है कि प्रकाश से ही घर्षण के द्वारा अन्धकार का आविर्भाव होता है और अन्धकार ही घर्षण के द्वारा प्रकाश में पर्यवसित होता है। दोनो ही नित्य सयुक्त है, स्वरूप मे समरसभावापन्न हैं। घर्षण से प्राधान्य का विकास होता है। इस प्राधान्य के अनुसार व्यपदेश होता है। आगमशास्त्र का यही सिद्धान्त है।

'पुरुष' से 'प्रकृति' कि वा 'प्रकृति' से 'पुरुष' एकान्तत. पृथक् नही है, हो भी नही सकते। भेद और अभेद दोनो के अन्दर साम्यदर्शन होने पर और कोई आशंका नही रह जाती, क्योकि दोनो एक के ही दो प्रकार है। इसी को **'शिवशक्ति का सामरस्य'** या **'चिदानन्द की प्राप्ति'** कहते है।

यही वास्तविक अद्वैत है। इसी के प्राप्ति के लिए भक्ति, कर्म तथा ज्ञान की अपेक्षा होती है। इसी को पाने पर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है। यही भारतीय दर्शन का तथा जीवन का चरम लक्ष्य है।

उपसंहार

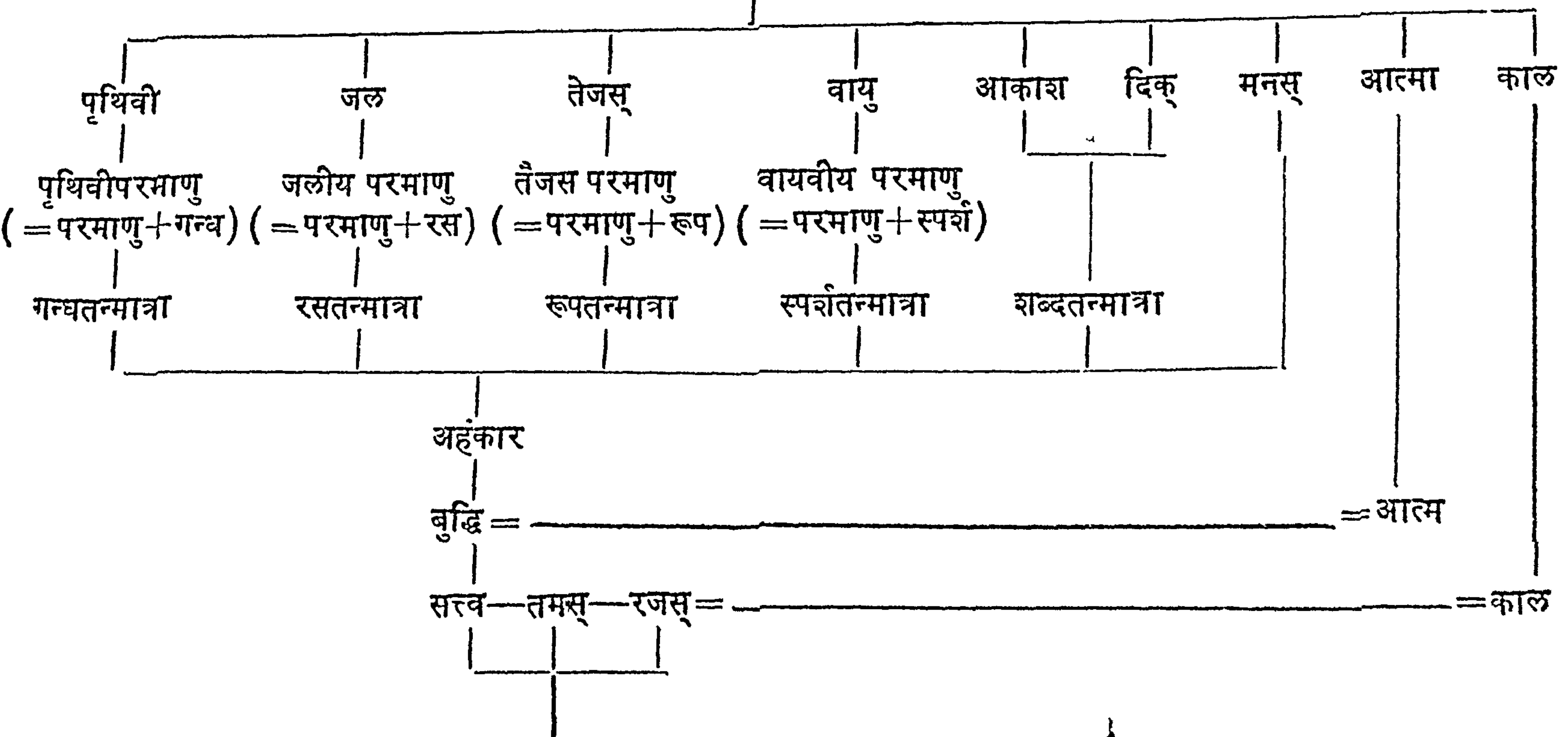
इन परिच्छेदो मे संक्षेपरूप से भारतीय दार्शनिक विचार-धारा का स्वरूप उसके अनादि रूप से लेकर अन्त पर्यन्त प्रदर्शित किया गया है। यह धारा अविच्छिन्न रूप मे बहती हुई प्रत्येक भूमि का सिञ्चन कर, उसे उर्वरा बनाती हुई अपने **गन्तव्यपद** को प्राप्त करती है। यह बहुत दीर्घ यात्रा है। इसके आद्यन्त स्वरूप को देखने के लिए जो साधक इस मार्ग मे आते है, उनके लिए अनेक **विश्राम-भूमियाँ** है और ये विश्राम-स्थान अनन्त भी हो सकते है। साधको को इसका आदि नही मिलता, फिर भी काल्पनिक आदि बनाकर वही से वे प्रस्थान करते है। मार्ग मे अनेक प्रकार की विषम भूमि को पार करते हुए, साधक अन्त मे वही पहुँच जाता है, जहाँ से वह चला था, क्योकि वह **पूर्ण** है और **अखण्ड** है।

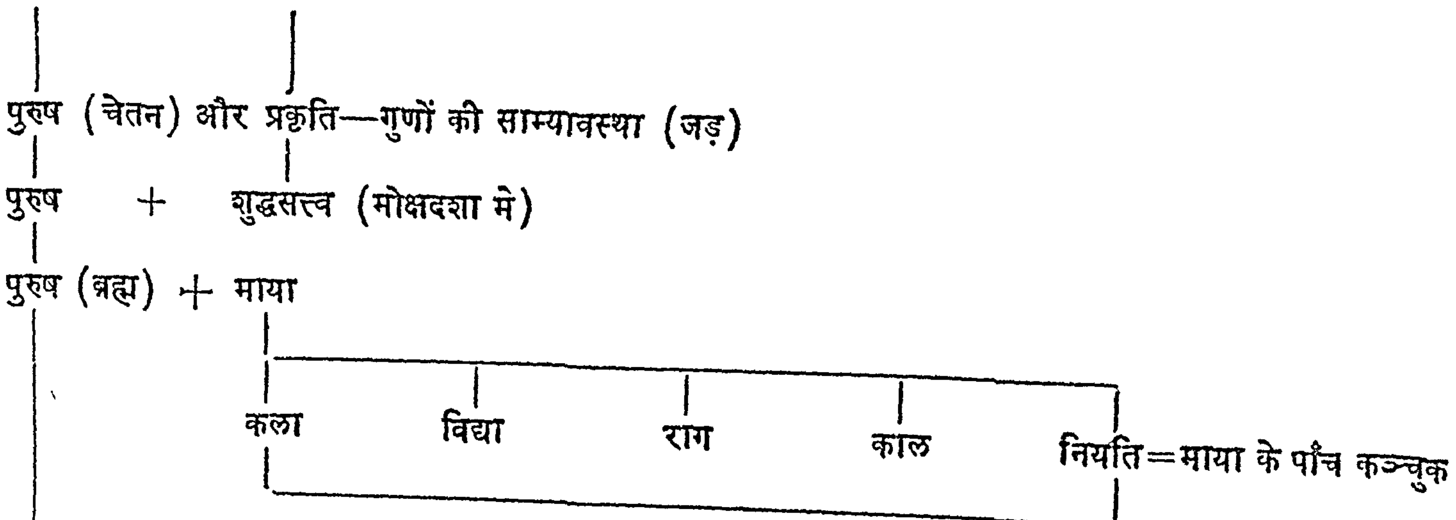
स्थूलतम जड़ पदार्थ का अनेक प्रकार से संशोधन करने के पश्चात् वही जड़ पदार्थ सूक्ष्मतम रूप में पहुँच कर चिन्मय देख पड़ता है। वस्तुत. **तत्त्व** एक है, दृष्टि के भेद से स्थूल और सूक्ष्म रूप मे भिन्न-भिन्न देख पड़ता है। किन्तु समदृष्टि करने से, भेद मे अभेद का भान स्पष्ट मालूम होता है। यथार्थ मे दो तत्त्व हो नही सकते। जगत् का प्रवाह एक ही है। मार्ग भी तो एक ही है। उसी से होकर सभी को चलना है—

'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'

भारतीय दर्शन एक प्रकार से भिन्न-भिन्न स्तर पर, भिन्न-भिन्न भूमि के अनुरूप, एक **व्यावहारिक शास्त्र** है, तथापि यह अनुभव करने का ही विषय है। अनुभव करने के विना इसके उद्देश्य को लोग नही समझ सकते और फिर तदनुरूप इसके ज्ञान से व्यावहारिकता (Practicability) का भी ज्ञान नही प्राप्त कर सकते। तत्त्व के साक्षात्कार के बिना इसके स्वरूप का ज्ञान होना असम्भव है। इसका हमारे व्यावहारिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध ही नही, प्रत्युत हमारा **'जीवन'** और **'भारतीय दर्शन'** दोनों एक ही तत्त्व के दो रूप हैं—एक **सैद्धान्तिक** और दूसरा **व्यावहारिक**। भूमि-भेद से व्यवहार मे भी भेद है, जिस प्रकार सिद्धान्त मे भेद है। परन्तु भेद मे अभेद है, उसे ही देखना है, उसी का साक्षात् अनुभव करना है। यह अनुभव या दर्शन शुष्क और नीरस नही है। इसमे **आनन्द** है, **स्फुरण** है, **पूर्णता** का ज्ञान है तथा **स्वातन्त्र्य-बोध** है। इसी दृष्टि से भारतीय दर्शन का अध्ययन करने से उसके रहस्य का ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नही।

चार्वाक-दर्शन से आरम्भ कर काश्मीरीय शैव-दर्शन पर्यन्त भिन्न-भिन्न भूमि में तत्त्वों के क्रमिक विकास को इस चित्र में दिखाया गया है—




पुरुष (चेतन) और प्रकृति—गुणों की साम्यावस्था (जड़)
पुरुष + शुद्धसत्त्व (मोक्षदशा मे)
पुरुष (ब्रह्म) + माया
कला
विद्या
राग
काल
नियति=माया के पाँच कञ्चुक
शुद्धविद्या या सद्विद्या (=मैं=यह हूँ)। इस अवस्था में 'मैं' अंश और 'यह' अंश दोनों बराबर महत्व के हैं।
ईश्वरतत्त्व=(यह मैं हूँ)। यहाँ 'यह' अंश प्रधान हो जाता है और 'मैं' अंश गौण रहता है।
सदाशिवतत्त्व='मैं' 'हूँ' (का बोध)
शक्तितत्त्व='मैं' का बोध
परम शिवतत्त्व (शिवशक्ति का सामरस्य) का यही अखण्ड अद्वैत है।

चतुर्दश परिच्छेद

वैष्णव-दर्शन

(वैष्णव-सम्प्रदाय)

भारतीय शास्त्रों के दो प्रधान विभाग है—निगम और आगम। वेद तथा वेदमूलक ज्ञान एव क्रियाप्रधान शास्त्र को 'निगम' कहते है। 'आगम' से सावारण रूप मे सभी शास्त्र लिये जाते है, किन्तु जव यह 'निगम' शब्द के साथ-साथ प्रयुक्त होता है, तव इससे तन्त्र-शास्त्र या शक्ति या भक्तिप्रधान शास्त्र ही समझा जाता है। इसी लिए 'आगम' शब्द का अर्थ करते हुए प्राचीन ग्रन्थकारो ने लिखा है—

आगम और निगम

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥

इस श्लोक मे 'वासुदेवस्य मत' यह देखकर 'आगम' के साथ वैष्णव-सप्रदाय का सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है। इसमे भक्ति की प्रधानता है, और प्राय· यह शास्त्र शिवपार्वती के सवाद-रूप मे पूर्व मे रहा है, ऐसा मालूम होता है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया—ये सव भक्ति के व्याप्य है और उसी को पुष्ट करते है। नारद ने भी अपने 'भक्ति-सूत्र' मे कहा है—

भक्ति का महत्त्व

'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा'[1]

अर्थात् कर्म, ज्ञान और योग से भी वढ कर 'भक्ति' है। 'देवीभागवत' मे भी कहा गया है—

---

[1] ४.२५।

'मत्सेवातोऽधिकं किंचित् नैव जानाति कर्हिचित्'[1]

आगम के अनुसार मोक्ष भी 'भक्ति' का व्याप्य ही है, जैसा कि 'नारदपंचरात्र' में कहा गया है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः ।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याः चेटिकावदनुव्रताः ॥

अर्थात् हरि की भक्ति तो महादेवी है और मुक्ति, भुक्ति, आदि उनकी चेटियाँ है। अतएव मुमुक्षुओं को भक्ति को ही ग्रहण करना चाहिए। इसी लिए नारद ने कहा है—

'तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः'[2]

इनके मत मे 'परा भक्ति' ही जीवन का परम पुरुषार्थ है।

भक्ति-शास्त्र के आचार्य

भक्तिशास्त्र के अनेक प्राचीन आचार्य हुए हैं—पाराशर्य, गर्ग, शाण्डिल्य, नारद, कुमार, शुक्र, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, अरुणि, बलि, हनूमान्, विभीषण, काश्यप तथा बादरायण।[3] किन्तु इन सभी आचार्यो ने अपने भिन्न-भिन्न ग्रन्थ लिखे या नही, यह मालूम नही। केवल नारद और शाण्डिल्य के भक्ति-सूत्रो से हम परिचित हैं। इसके अतिरिक्त काशी के किसी दाक्षिणात्य विद्वान् के घर से एक और भी भक्तिसूत्र-रूप ग्रन्थ मिला है, जो कि 'सरस्वतीभवन स्टडीज' मे प्रकाशित हुआ है।[4] इसी भक्ति-शास्त्र के बल पर 'पंचरात्र' और 'भागवत' सम्प्रदायो ने अपने-अपने अस्तित्व को स्थिर किया है। ये दोनो सम्प्रदाय यद्यपि इस समय एक ही हो गये है, किन्तु पहले दोनो अलग-अलग थे। इस समय ये दोनो ही वैष्णव-सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है। इन्ही के अन्तर्गत 'त्रिदण्डी' सम्प्रदाय भी था। यह बहुत प्राचीन सम्प्रदाय है।

---

[1] ७.३७।

[2] ४.३३।

[3] 'नारदसूत्र', १०—२३; 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र', २.१.२९.३०।

[4] भाग २, पृष्ठ ७४-८१।

'वैष्णव-सम्प्रदाय' प्राचीन काल से चार प्रधान विभागों में विभक्त है—

(१) **श्रीसम्प्रदाय**—इसके प्रधान संस्थापक श्रीरामानुजाचार्य हुए। बाद में श्रीरामानदस्वामी ने इसका प्रचार बढाया, इसलिए इसे **'रामानंद-सम्प्रदाय'** और इसके अनुयायी को **'रामानंदी'** भी कहते हैं। इसका दार्शनिक मत **'विशिष्टाद्वैत'** के नाम से प्रसिद्ध है।

(२) **हंससम्प्रदाय**—इसके प्रवर्तक सनकादि और प्रधान संस्थापक निम्बार्काचार्य हुए। अतएव यह **'निम्बार्क-सम्प्रदाय'** भी कहलाता है और बाद को हरिव्यास स्वामी ने इसका प्रचार किया, इसलिए यह **'हरिव्यासी'** भी कहा जाता है। इसका दार्शनिक मत **'द्वैताद्वैत** या **'भेदाभेद'** कहा जाता है।

(३) **ब्रह्मसम्प्रदाय**—इसके प्रधान प्रवर्तक ब्रह्मा और संस्थापक 'मध्वाचार्य' हुए। पश्चात् गौडस्वामी ने इसका विशेष प्रचार किया। इसलिए यह **'मध्वसम्प्रदाय'** और **'गौड़िया सम्प्रदाय'** भी कहलाता है। इसका दार्शनिक सिद्धात **'द्वैतवाद'** कहा जाता है।

(४) **रुद्रसम्प्रदाय**—रुद्र इसके प्रधान प्रवर्तक और विष्णुस्वामी प्रधान संस्थापक हुए। बाद को वल्लभाचार्य ने इसका विशेष प्रचार किया। इसलिए यह **'विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय'** और **'वल्लभ-सम्प्रदाय'** भी कहलाता है। इसका दार्शनिक मत **'शुद्धाद्वैत'** कहा जाता है।

'शक्तिसंगमतंत्र'[१] के अनुसार गौण और मुख्य भेद से तंत्रोक्त वैष्णव-सम्प्रदायों की संख्या निम्नलिखित दस है—

(१) **वैखानस**—यह 'स्मार्त-वैष्णव' कहा जाता है। इसके अनुयायी वैखानस मुनि के उपदेश के अनुसार दीक्षित होते हैं।

(२) **श्रीराधा-वल्लभी**—वैष्णवों के प्रसिद्ध आचार तथा व्यवहार का पालन विशेष रूप से इस सम्प्रदाय मे नित्य होता है। विष्णुमंत्रों का जप ये लोग सदैव करते रहते हैं। शांतभाव को प्रधान मान कर, संसार की प्रत्येक वस्तु से अपने चित्त को हटा कर, केवल विष्णु की चिंता में लगाना, इनका प्रधान ध्येय है।

---

[१] १—८।

इसके आदि प्रवर्तक एक हरिवंश गोस्वामी थे जिनका जन्म संवत् १५५९ वि० (१५०३ ई०) मे आगरा मे हुआ था। इनका पैत्रिक स्थान सहारनपुर जिले के 'देववनवास' नामक ग्राम मे था। पूर्ण वयस्क होने पर यह वृन्दावन गये, और वहाँ इन्होने एक नवीन सम्प्रदाय स्थापित किया, जिसे लोग 'राधावल्लभ' के नाम से कहने लगे। कहा जाता है कि इनके श्वशुर ने इन्हें एक राधावल्लभ की मूर्ति दी थी और उसी के नाम पर यह सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुआ। इन्होने वड़े खर्च से सवत् १६४१ वि० में राधावल्लभ का एक सुन्दर मन्दिर वृन्दावन मे वनवाया। ये लोग वैष्णव-चिह्न शरीर मे धारण करते थे।

(३) गोकुलेश—इस सम्प्रदाय के लोग नाना प्रकार के आभूपणो का धारण करना, सुगधित द्रव्यो को शरीर मे लगाना तथा गौओं से प्रेम करना, अपना मुख्य कर्तव्य समझते है। ये लोग कृष्ण के 'केलि-समय' के स्वरूप को धारण करते है और अपने शरीर, अर्थ तथा प्राण को कृष्ण को समर्पण करते है। ऊपर से ये लोग 'कृष्ण' के उपासक मालूम होते है, किन्तु अंत करण मे ये 'शक्ति' के उपासक है। गानविद्या से इनका अधिक प्रेम है। ये अपने शरीर को लताओ से लपेटना पसंद करते हैं। इस सम्प्रदाय को वैष्णवो ने सर्वसिद्धिकर माना है। ये सव स्मार्त और वैष्णव के लौकिक कलह मे लगे रहते है और शिव और विष्णु के ऐक्य भाव को नही मानते।

(४) वृन्दावनी—इस सम्प्रदाय के लोगों को किसी वात की आशा नही रहती है। ये सव अपने को पूर्ण-काम मानते है। ये सर्वदा प्रसन्नचित्त हो कर विष्णु की भक्ति मे लीन रहते है। स्त्रियो के ध्यान मे भी ये लोग रहते है और उनके सग से चचल भी हो जाते है। ये वनविहार पसन्द करते है और सुगधित द्रव्य शरीर मे लगाते है। 'सारूप्य-मोक्ष' का ज्ञान इन्हे रहता है।

(५) रालानंदी—'रा' से 'शक्ति' तथा 'म' से 'शिव' समझा जाता है। इन दोनो का सामरस्यप्रयुक्त जो आनन्द है, उमी मे ये लोग मग्न रहते है। ये शातचित्त, प्रसन्नात्मा तथा विचारवान् होते है और वस्तुमात्र मे समान रूप का अनुभव करते है। रामानदस्वामी ने, जिनका जन्म-काल १३०० ई० कहा जाता है, इस सम्प्रदाय को चलाया।

(६) **हरिव्यासी**—पापों का नाश करने मे ये तत्पर रहते हैं। ये विष्णुभक्त और जितेन्द्रिय होते है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि—इन अष्टाग योगों का ये पूर्ण अभ्यास करते है और परार्थ मे ही अपना समय लगाते है। ये शिव और शक्ति के स्वरूप को धारण करते है।

इस सम्प्रदाय के आदि सस्थापक बुदेलखंड के निवासी हरिराम शुक्ल थे जिनका जन्म १५१० ई० मे हुआ था। इन्ही का दूसरा नाम हरिव्यासी मुनि था। यह श्रीभट्ट के शिष्य और परशुराम के गुरु थे। निम्बार्काचार्य की बनायी हुई 'दशश्लोकी' की एक टीका भी इन्होने लिखी है। इन्होने १५५५ ई० मे वृन्दावन जाकर पहले 'राधावल्लभ-सम्प्रदाय' को स्वीकार किया, किन्तु बाद मे उसे छोड कर एक दूसरा नया सम्प्रदाय अपने नाम पर ही चलाया।

(७) **निम्बार्क**—इस सम्प्रदाय वाले स्वातंत्र्यप्रेमी होते है। ये लोग पूजा के बाह्य स्वरूप मे ही नियमपूर्वक लगे रहते है। ये विष्णु के अनन्य भक्त होते है और प्रसन्नचित्त रहते है। ये अपने आचरणो को तथा शरीर एव वस्त्रो को स्वच्छ रखते है। ये स्मार्तों के द्रोही होते है।

(८) **भागवत**—इस सम्प्रदाय के लोग पूर्ण विष्णुभक्त होते है। ये अपनी इन्द्रियो को अपने वश मे रखते हुए सदैव प्रसन्न रहते है। स्मार्तों का गौरव इन्हे रहता है, किन्तु ये शिव के विद्वेषी यहाँ तक होते है कि भूल से यदि किसी शैव के साथ इनका ससर्ग हो जाय, तो झट स्नान कर लेते है। शरीर को स्वच्छ रखना और सुंदर वेश बनाना इनका कर्तव्य है। ये अरुण वेश धारण करते है।

(९) **पांचरात्र**—इस सम्प्रदाय वाले पंचरात्रि-व्रत करते है। ये रण्डा को श्रीकृष्ण का प्रसाद कह कर पूजते है। ये शिव की निन्दा तो करते ही है, वैष्णवो की भी निन्दा करते है।

(१०) **वीर वैष्णव**—ये केवल विष्णु-भक्त होते है और अन्य सब देवताओ की निदा करते है।

इन वैष्णव-सम्प्रदायो मे से कुछ ही ऐसे है, जिनमे दार्शनिक विचार है, उनका सक्षेप मे यहाँ विचार किया जा रहा है।

पञ्चदश परिच्छेद

भेदाभेद-दर्शन

(भास्कर-वेदान्त)

वेदान्तसूत्र मे सात प्राचीन वेदान्तियो के मतों की चर्चा है। उनमे से 'आश्मरथ्य' तथा 'औडुलोमी' भेदाभेदवाद के पोषक थे। इनके अतिरिक्त 'भर्तृप्रपञ्च' भी भेदाभेदवादी थे। साथ ही साथ 'भर्तृप्रपञ्च' तथा 'ब्रह्मदत्त' ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। इनसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि प्राचीन काल मे भी ये मत प्रसिद्ध थे। परवर्ती काल में 'भास्कर' ने भी भेदाभेदवाद तथा ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को स्वीकार किया। उपर्युक्त वेदान्तियो मे केवल 'भास्कर' का ही एकमात्र ग्रन्थ हमे इस समय उपलब्ध है। इनका मत स्वतन्त्र है। शकराचार्य के समकालीन अथवा ठीक परवर्ती यह थे। इसलिए इनके विचारो का यहाँ उल्लेख करना अनुचित न होगा।

भेदाभेदवाद की परम्परा

नवम शतक के प्रारम्भ मे ही भास्कर का समय कहा जा सकता है। पद्मपादाचार्य की 'विज्ञानदीपिका' की 'विवृति'[1] मे इनका उल्लेख है। दशम शतक के वृद्ध वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' मे इनके मत की चर्चा नाम लेकर की है।[2] यामुनाचार्य (ग्यारहवी सदी), चित्सुखाचार्य (तेरहवी सदी), वर्धमान उपाध्याय (चौदहवी सदी), आदि लोगों ने इनकी चर्चा की है।

भास्कर, नवम शतक

---

[1] कारिका १४, ।

[2] ब्रह्मसूत्र, ३-३-२८-२९ ।

वैष्णवसम्प्रदायों मे एक 'त्रिदण्डी' सम्प्रदाय भी था। उसी सम्प्रदाय के आचार्य भास्कर थे। इनका एकमात्र ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र पर 'भाष्य' है। सम्भवतः छान्दोग्य उपनिषद् की व्याख्या भी इन्होने की थी।[१]

भास्कर का सिद्धान्त

'भास्कर' भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। इनका कहना है कि केवल 'ज्ञान' से मोक्ष नही होता, 'कर्म' की भी आवश्यकता है। 'ज्ञान' की उत्पत्ति श्रवण-मनन-रूप साधन से होती है, 'कर्म' से नही। इसी लिए जिस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के लिए शम, दम, आदि योगागो का अनुष्ठान जीवन भर करना आवश्यक है, उसी प्रकार आश्रम-कर्मो का अनुष्ठान भी आवश्यक है, तभी मोक्ष मिलता है, अन्यथा नही। कर्म का त्याग किसी भी अवस्था मे नही हो सकता। भास्कर का कहना है कि ब्रह्मसूत्रकार का भी यही अभिप्राय है।[२]

इनका दूसरा सिद्धान्त है कि संसारावस्था मे 'जीव' परमात्मा से भिन्न है, किन्तु मोक्षावस्था मे यह परमात्मा मे मिल जाता है। इसलिए जीव और परमात्मा मे भेद और अभेद दोनो है। वस्तुतः 'जीव' तथा 'परमात्मा' मे स्वभाव से ही 'अभेद' है, किन्तु ससाररूपी उपाधि के कारण 'भेद' भी है। यही 'भेदाभेदवाद' भास्कर का सिद्धान्त है।

ये दो बाते भास्कर-वेदान्त के मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इन्हीको ध्यान मे रखकर इन्होने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है।

तत्त्वविचार

ब्रह्मतत्त्व

भास्कर-मत मे एकमात्र तत्त्व 'ब्रह्म' है। इसी को 'परमात्मा' तथा 'ईश्वर' भी कहते है।[३] आगम के ही द्वारा इस तत्त्व का ज्ञान हो सकता है। यह सत् और अद्वितीय है। जगत् का उपादान कारण भी 'ब्रह्म' है। यह 'सत्कार्यवादी' है। अतएव 'कारण-ब्रह्म मे ही कार्य-ब्रह्म विद्यमान रहता है', यह इनका कथन है।

---

[१] छोन्दोग्ये चायमेवार्थोऽस्माभिः प्रदर्शितः—भास्करभाष्य. ३-१-८।

[२] अत्र हि ज्ञानकर्मसमुच्चयान्मोक्षप्राप्तिः सूत्रकारस्याभिप्रेता—भास्करभाष्य, पृष्ठ २ (काशी संस्करण)।

[३] ब्रह्मसूत्रभाष्य, पृष्ठ ६-७।

'ब्रह्म' का स्वाभाविक परिणाम भास्कर मानते हैं। इनमे अचिन्त्य शक्ति है और उनकी ही विक्षेप-शक्ति से सृष्टि और उसकी स्थिति निरन्तर चलती रहती है।[1]

ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम

जिस प्रकार स्वभावत गाय के थन से दूध निकल पडता है, उसी प्रकार स्वभाव से ही इनसे सृष्टि रूप मे परिणाम होता है। सृष्टि करने मे 'जीवात्मा' की तरह इनकी शक्ति क्षीण नही होती। इसलिए भाष्य मे ब्रह्म के सम्बन्ध मे कहा है—"अप्रच्युत-स्वरूपस्य। एकमात्र इसका दृष्टान्त मकडा मे मिलता है। जैसे, अप्रच्युतस्वरूप (मकड़े का) तन्तु ही (जालरूप) पटरूप मे परिणत होता है और जैसे अप्रच्युत-स्वभाव 'आकाश' से ही वायु की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अप्रच्युतस्वभाव 'ब्रह्म' से जगत् परिणमित होता है। परिणाम मे ब्रह्मरूप जगत् हो जायगा, किन्तु जगत्-रूप ब्रह्म नही होता।

निरवयव ही होने के कारण ब्रह्म का 'परिणाम' होता है। इनके मत मे वस्तुत. सावयव वस्तु का 'परिणाम' हो नही सकता। 'परिणाम' तो स्वभाव से

परिणाम का कारण

होता है। सावयव या निरवयव होना परिणाम का प्रयोजक नही है। इसी लिए दूध से दधि होता है, न कि जल से, क्योकि जल का यह स्वभाव नही है। यदि परिणाम-शक्ति अवयव मे हो, तो अवयव का भी अवयव और फिर उसका भी अवयव है। इस प्रकार कोई व्यवस्था न रह सकेगी।[2] परिणमन-क्रिया मे 'ब्रह्म' पृथक् रहता है, 'परिणाम' तो स्वभाव से होता रहता है।[3]

चेतन 'ब्रह्म' से तो चेतन ही पदार्थो का परिणाम उचित है, फिर यह जगत् जड़ क्यो है? इसके उत्तर मे भास्कर कहते है कि चेतन 'ब्रह्म' का समस्त परिणाम

चिन्मय जगत्

भी 'चेतन' ही है, परन्तु वह चैतन्य सभी वस्तुओ मे एक-सा देख नही पड़ता। इसीलिए किसी मे उसकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्षगोचर है, जैसे—जीव, किसी मे सर्वथा अगोचर है, जैसे—पत्थर। यही कारण है कि पत्थर आदि मे स्वातन्त्र्य नही है।

---

[1] परमात्मा स्वयमात्मानं कार्यत्वेन परिणमयामास—भाष्य, १-४-२५; स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणामयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणाम-यति—भाष्य, पृष्ठ ९७।

[2] भाष्य, २-१-१४, पृष्ठ ९६।

[3] भाष्य, २-१-१४, पृष्ठ ९७। न हि सावयवत्वं वस्तुपरिणामे प्रयोजकम्, अपि तु वस्तुगता तादृशी शक्तिरेव—वेदान्तरत्नमञ्जूषा, पृष्ठ ७३।

यद्यपि पूर्ण स्वातन्त्र्य एकमात्र 'ब्रह्म' मे ही है, किन्तु किसी रूप मे थोड़ी स्वतन्त्रता 'जीव' मे भी है। प्रलयकाल मे जितने पदार्थ जगत् मे है, सभी अपने विकृतिरूप का परित्याग कर देते है। तब निर्विकार होकर 'ब्रह्म' में लय को प्राप्त करते है।

कार्यकारण-भाव

कार्यकारणभाव के सम्बन्ध मे भास्कर का कहना है कि कार्य 'सत्' है। कारण ही भिन्न-भिन्न अवस्था को प्राप्त कर कार्य का रूप धारण कर लेता है। एकमात्र तत्त्व 'ब्रह्म' है। वही 'परिणाम' के द्वारा जगत् के रूप मे परिणमित हो जाता है। 'प्रपञ्च' 'ब्रह्म' का 'धर्म' या एक 'अवस्था' है। इसलिए ब्रह्म और जगत् की सत्ता मे कोई भेद नही है। इसलिए कार्य और कारण मे कोई भी भेद नही है।[1] ये भी **'सत्कार्यवाद'** को स्वीकार करते है। ऐसा होने पर भी जब 'कारण' कार्यरूप मे परिणत होता है और एक भिन्न आकार धारण कर लेता है, तब दोनो मे वस्तुत किसी तरह का भेद हो ही जाता है। इसी लिए 'घटाकाश' घट के नष्ट हो जाने से, घट से बहिर्भूत आकाश मे लीन हो जाता है। **'जीव'** अपनी उपाधि के नष्ट हो जाने से, ब्रह्म मे एक हो जाता है। यही तो **'भेदाभेदवाद'** है। कार्य से भेदाभेद का पता चलता है। शक्ति और शक्तिमान् मे अभेद और भेद, दोनो ही ठीक है। शक्तिमान् के एक होने पर भी शक्तिगत भेद का निराकरण नही किया जा सकता है। यही भास्कर ने कहा है—

'तस्मात् सर्वमेकानेकात्मकम्, नात्यन्तं भिन्नमभिन्नं वा'

अवस्था और आकृति के भेद से कार्य और कारण मे भेद है, अन्यथा नही। **जीव** और **प्रपञ्च,** ये दो शक्तिमान् ब्रह्म की शक्तियाँ है। इसी लिए प्रलयावस्था मे 'प्रपञ्च' और मुक्तावस्था मे 'जीव' ब्रह्म मे लय को प्राप्त करते है।

जगत् मिथ्या नही है—'प्रपञ्च' ज्ञानी के लिए भी सत्य है, क्योकि वह उसे ब्रह्म के शक्तिरूप मे देखता है और अज्ञानी के लिए तो सत्य है ही। भास्कर का कहना है कि जगत् को मिथ्या तो किसी ने देखा नही है।

जीव—'जीव' ब्रह्म की 'भोक्तृशक्ति' है, आकाश आदि उसकी 'भोग्यशक्ति' है। अज्ञान और कर्म के कारण 'जीव' बन्धन मे पड गया। ससारावस्था मे ही यह 'जीव' रहता है, मुक्ति मे तो परमात्मा मे लीन हो जाता है। यह नित्य और

---

[1] भाष्य, २-१-१४।

'अणु' रूप है। 'अणु'-परिमाण का होने के ही कारण मरने पर एक शरीर को छोड दूसरे में प्रवेश कर सकता है।[1] 'अणु' होने पर भी 'जीव' को समस्त शरीर का सुख, दु ख, आदि का ज्ञान होता है। परन्तु यह 'अणुत्व' भी औपाधिक और अस्वाभाविक है। जब तक द्वैतभान रहता है, तभी तक यह रहता है, वाद को तो परमात्मा के स्वरूप का हो जाता है। इसी प्रकार 'कर्तृत्व' भी जीव का स्वाभाविक धर्म नही है, अन्यथा जीव को मुक्ति ही नही मिलती। मुक्ति मे परमात्मा मे लीन हो जाने से इसका 'कर्तृत्व' भी जाता रहता है।

जीव अणु है

मुक्ति—उपाधियों से मुक्त होकर जीव के अपने स्वाभाविक स्वरूप धारण करने को **'मुक्ति'** कहते हैं। इसके दो भेद हैं—**'सद्योमुक्ति'** और **'क्रममुक्ति'**। जो साक्षात् कारण-स्वरूप 'ब्रह्म' की उपासना करने पर 'मुक्ति' पाते हैं, वह **'सद्योमुक्ति'** है, क्योकि यह तत्क्षण मे प्राप्ति होती है और जो कार्य-स्वरूप ब्रह्म के द्वारा 'मुक्ति' पाते है, उनकी मुक्ति **'क्रममुक्ति'** है। अर्थात् अच्छे कार्य करने से मरने पर देवयानमार्ग से अनेक लोको मे घूमते हुए हिरण्यगर्भ के साथ वे जीव 'मोक्ष' पाते हैं।

मुक्ति के भेद

जीवन्मुक्ति नहीं मानते—शरीर का पतन होने से ही **'मुक्ति'** होती है। अतएव इनके मत मे **'जीवन्मुक्ति'** की अवस्था नही है।[2]

'मुक्ति' देने वाला **पदार्थ ज्ञान** तो जीवन भर श्रवण, मनन, आदि उपासना तथा कर्मानुष्ठान करने से मिलता है। मोक्ष के लिए चेष्टा करने से मनुष्य को 'मुक्ति' नही मिलती, किन्तु **कर्मानुष्ठान** से। यह शम, दम आदि योगानुष्ठान से होता है। इस 'योग' के बारम्बार अभ्यास से 'मुक्ति' मिलती है।

मुक्ति-प्राप्ति की प्रक्रिया

मुक्तिदशा मे 'सम्बोध' या 'ज्ञान' जीव या आत्मा मे रहता है। मुक्तजीव मन के द्वारा मुक्ति मे आनन्द का अनुभव करता है। परमात्मा मे राग से 'मोक्ष' और ससार मे राग से 'बन्धन' होता है।

---

[1] भाष्य, १-२-१; १-३-१३; ३-२-२२।

[2] भाष्य, ३-४-२६।

कर्म की आवश्यकता—जिस प्रकार अपवर्ग के लिए यथार्थ ज्ञान अपेक्षित है, उसी प्रकार जीवन भर आश्रमकर्म करने की अपेक्षा रहती है।[1] जब तक आजीवन कर्म करते न रहा जाय, तब तक दुःख-बीज का नाश नही होगा।

विद्या के द्वारा श्रवण आदि के निरन्तर अभ्यास से अज्ञान का नाश होता है। आजीवन कर्म के अभ्यास से ही ज्ञान को पाकर साधक के शरीर का पतन हो जाता है, तभी 'भेद-ज्ञान' का नाश होता है। संसारी तथा पारलौकिक कर्म का भी क्षय हो जाता है और 'जीव' सर्वज्ञत्व आदि को प्राप्त करता है और उसका 'कर्तृत्व-ज्ञान' नष्ट हो जाता है। ज्ञान से, 'प्रारब्ध कर्म' को छोड़ कर, अन्य सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, 'प्रारब्ध' तो भोग से ही नष्ट होता है।[2]

निवृत्तिमार्ग की प्रक्रिया—भास्कर के मत में निवृत्तिमार्ग का क्रम है कि सब से पहले वाग्न्द्रियो का व्यापार मन में संयमित होता है। मन का व्यापार ज्ञानात्मिका बुद्धि में, बुद्धि को महान् आत्मा मे या भोक्ता में, स्थापित करना चाहिए। पश्चात् महान् आत्मा को, अर्थात् जीवात्मा को, शान्त, प्रपञ्चातीत, सर्वव्यापी, परमात्मा के साथ सयुक्त कर 'स एवाहमस्मि'—'वही मैं हूँ' इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। यही योगाभ्यास है। इसमे सिद्धि मिलने से विष्णुपद की प्राप्ति होती है।

योगाभ्यास

भास्करमत मे 'ब्रह्म' की प्राप्ति के लिए 'चित्त की एकाग्रता' को 'ध्यान', प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि और मन के 'युगपत्संधान' को 'धारणा' तथा श्रद्धा और प्रयत्न के साथ-साथ नित्य 'चिन्ता' को 'समाधि' कहते हैं।

ध्यान, धारणा एवं समाधि का अर्थ

इस प्रकार सक्षेप मे **भास्करमत** का विचार समाप्त हुआ।

---

[1] भाष्य, १-१-४।

[2] भाष्य, ४-१-१५।

षोडश परिच्छेद

विशिष्टाद्वैत-दर्शन

(रामानुज-वेदान्त)

यह मत श्री-सम्प्रदाय[1] के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रधान केन्द्र तामिल प्रान्त कहा जा सकता है।[2] इस प्रान्त के इतिहास से ज्ञात होता है कि वहाँ बहुत पूर्व वैष्णव-धर्म-प्रवर्तक बारह भक्त हुए थे, जिनके नाम हैं—सरोयोगिन्, भूतयोगिन्, महद्योगिन् या भ्रातयोगिन्, भक्तिसार, शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त, गोदा, भक्ताङ्घ्रिरेणु, योगिवाहन और परकाल।[3] इनके बाद छ वैष्णवाचार्य हुए, जिनमे नाथमुनि[4] और उनके पौत्र यामुनाचार्य बहुत प्रसिद्ध थे। मध्यवीथिभट्ट और कृष्णपाद भी प्राचीन आचार्य थे।[5] कहा

श्री-सम्प्रदाय की गुरुपरम्परा

नाथमुनि

---

[1] इसे 'श्री'-सम्प्रदाय इसलिए नही कहते कि इसमें 'लक्ष्मी' भी नारायण के साथ-साथ पूज्या हैं, और इसलिए यह एक प्रकार का शाक्त-दर्शन कहा जा सके, किन्तु इस सिद्धान्त में सर्वत्र 'श्री' शब्द का प्रयोग केवल 'आदर' का द्योतक है। ये लोग हर नाम के पहले 'श्री' लगाते हैं, जैसे ब्रह्मसूत्र के ऊपर श्रीरामानुजाचार्य के भाष्य का नाम 'श्री-भाष्य' है। इसी तरह से, ये लोग वैष्णव को 'श्री-वैष्णव' कहते है, इत्यादि। अर्थात् इनके मत में 'श्री' शब्द का प्रयोग केवल 'आदर' के अर्थ मे सर्वत्र किया गया है।

[2] श्रीमद्भागवत, ११-५-३८-४०।

[3] एल् कृष्णस्वामी ऐयंगर,—लाइफ ऐंड टाइम्स इत्यादि, पृष्ठ ३-४।

[4] तत्त्वमुक्ताकलाप के अंत में।

[5] तत्त्वत्रयभाष्य, पृष्ठ २, ५।

जाता है कि नाथमुनि दसवी शताब्दी मे हुए।[1] यह परकालमुनि के शिष्य थे। 'न्यायतत्त्व' और 'योगरहस्य' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ है।[2] इनके बाद यामुनाचार्य हुए, जिन्होने वैष्णव-सम्प्रदाय को वैदिक सिद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न किया।

यामुनाचार्य

'आगमप्रामाण्य', 'महापुरुषनिर्णय', 'सिद्धित्रय', 'गीतार्थ-सग्रह', 'चतु श्लोकी' तथा 'स्तोत्ररत्न' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यामुनमुनि श्रीरंगम मे रहते थे।

यामुनमुनि के प्रधान शिष्य प्रसिद्ध श्रीरामानुजाचार्य थे। रामानुज का दूसरा नाम लक्ष्मण था। इनका जन्म १०१७ ई० में हुआ। इनके पिता का नाम केशव भट्ट,

रामानुजाचार्य

जो रामानुज के जन्म के कुछ ही दिन बाद परलोक सिधारे। बाल्यावस्था मे साधारण शिक्षा प्राप्त कर इन्हे वेदान्त पढने की उत्कट इच्छा हुई और यह अपनी मौसी के पुत्र गोविन्द के साथ काञ्ची आकर 'यादवप्रकाश' से वेदान्त पढने लगे। किन्तु यहाँ उन्हें सन्तोष नही हुआ। इतने मे यामुनमुनि ने रामानुज के गुणो से प्रसन्न होकर इन्हें श्रीरगम बुलाया। परन्तु रामानुज के श्रीरंगम पहुँचने के पूर्व ही यामुनमुनि का देहान्त हो चुका था। श्रीरगम पहुँच कर रामानुज ने 'बादरायणसूत्र' के ऊपर एक भाष्य रचने की प्रतिज्ञा की और पुनः काञ्ची लौट कर चले आये। पेरि अनवि नामक सन्यासी से इन्होने संन्यास ग्रहण किया, पुन श्रीरगम जाकर स्थिर हो गये। इसके पश्चात् अपने एक शिष्य की, जिसे 'बोधायनवृत्ति'[3] कण्ठस्थ थी, सहायता से रामानुज ने 'श्री-भाष्य' की रचना की और बाद मे 'वेदांतसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'वेदान्तदीप' तथा 'गीताभाष्य', आदि ग्रन्थो की भी रचना की।

इनके अनुयायियो मे 'तत्त्वत्रय' के रचयिता लोकाचार्य, 'पचरात्ररक्षा' आदि ग्रन्थो के कर्ता वेदान्तदेशिक, 'यतीन्द्रमतदीपिका' के रचयिता श्रीनिवासाचार्य आदि बहुत प्रसिद्ध विद्वान् हुए है।

---

[1] सर एस० राधाकृष्णन्—इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ ६६८।

[2] राधाकृष्णन्—इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ ६६८।

[3] कहा जाता है कि बोधायन ने ब्रह्मसूत्र पर एक 'वृत्ति' लिखी थी। किन्तु यह उपलब्ध नहीं है। कुछ लोगों का विश्वास है कि इसी 'वृत्ति' में ब्रह्मसूत्र का वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट किया गया है।

तत्त्वविचार

रामानुज के अनुसार 'चित्', 'अचित्' और 'ईश्वर', ये ही तीन मूलतत्त्व है। इनमे 'ईश्वर' तो प्रधान अगी है और 'चित्' तथा 'अचित्', इसके दो विशेषण या अंग है। इसीलिए यह मत **'विशिष्ट-अद्वैतवाद'** कहलाता है।

१—चित्-तत्त्व

चित्-तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से भिन्न है। यह स्वप्रकाश, आनन्दरूप या सुखरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त या अतीन्द्रिय, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार है तथा ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर इसका नियामक है, अर्थात् 'ईश्वर' की बुद्धि के अधीन इसका सब व्यापार होता है। 'ईश्वर' ही इसका धारक है और यह 'ईश्वर' का अगभूत भी है।[१]

जीवात्मा का ज्ञान सर्व-व्यापक है, इसी लिए इसके भोग मे कोई भी प्रतिबन्धक नही होता और एक ही काल मे एक आत्मा अनेक शरीर ग्रहण कर सकती है।[२] यही जीव 'ज्ञाता', 'भोक्ता' और 'कर्ता' है। ससारी कार्यो के प्रति आत्मा मे स्वाभाविक 'कर्तृत्व' नही है।[३] जीव मे जो 'स्वातन्त्र्य' है, वह 'ईश्वर'-प्रदत्त है। इन दोनो मे सेव्य-सेवक-भाव है। जीव जो कुछ करता है, सब ईश्वर-प्रेरित होकर ही करता है।[४]

जीवात्मा के तीन भेद है—'बद्ध', 'मुक्त' तथा 'नित्य'।

(१) **बद्ध-जीव**—'बद्ध' उन्हे कहते है जिनका सासारिक जीवन अभी समाप्त नही हुआ है। इनके रहने का स्थान चौदहो भुवन है। ब्रह्मा से लेकर अति तुच्छ कीडे मकोड़े तक सभी जीव **'बद्ध'** है।

इन बद्ध जीवो की उत्पत्ति के सवन्ध मे कहा गया है कि भगवान् के नाभिकमल से ब्रह्मा हुए और उनसे रुद्र, सनक, सनन्दन,

---

[१] तत्त्वत्रय, पृष्ठ ५, २४।
[२] तत्त्वत्रय, पृष्ठ १३।
[३] तत्त्वत्रय, पृष्ठ १९-२०।
[४] तत्त्वत्रय, पृष्ठ २०-२१।

सनातन तथा सनत्कुमार; नारद आदि 'देवर्षि' वशिष्ठ, भृगु, आदि 'ब्रह्मर्षि' तथा पुलस्त्य, मरीचि, दक्ष, कश्यप, आदि नौ 'प्रजापति' उत्पन्न हुए।[१] इनसे देवगण, इन्द्र, वह्नि, यम, नैऋत, वरुण, मरुत्, कुवेर, ईश, ब्रह्मा तथा अनंत, ये दश 'दिक्पाल'; विश्वभुक्, विपश्चित्, विभु, प्रभु, शिखि, मनोजव, अद्भुत, त्रिदिव, वलि, इन्द्र, सुशांति, सुकीर्ति, ऋतुधाता तथा दिवस्पति, ये चौदह 'इन्द्र'[२]; स्वयंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुप, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि तथा इन्द्रसावर्णि, ये चौदह 'मनु'; असुर; पितृगण; सिद्ध; गंधर्व; किन्नर; किंपुरुष; विद्याधर आदि; धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभास, ये आठ 'वसु'; अज, एकपात्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, अपराजित, त्र्यंबक, महेश्वर, वृषाकपि, शंभु, हरण तथा ईश्वर, ये ग्यारह 'रुद्र'; विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र तथा उरुक्रम, ये बारह 'आदित्य'; दोनों अश्विनीकुमार; दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, आदि 'देवयोनि'; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, आदि 'मनुष्यगण'; पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, पतंग, कीट, आदि 'तिर्यक्-गण'; वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुध तथा तृण, आदि 'स्थावर'; ये सब क्रमश उत्पन्न हुए।

इनमे से तिर्यक्-गण, स्थावर, आदि को छोड अन्य सब 'शास्त्रवश्य' कहलाते है। इनमे से कुछ तो 'भोग' की इच्छा रखते है और कुछ 'मोक्ष' की। भोगियो मे भी कुछ तो 'अर्थ' और 'काम' को अपना ध्येय मानते है और कुछ केवल 'धर्म' को। धार्मिक बुद्धि वाले 'परलोक' को मानते है तथा देवताओ एव भगवान् मे श्रद्धा और भक्ति रखते है। मुक्ति की इच्छा रखने वाले कुछ तो केवल ज्ञान द्वारा 'प्रकृति' तथा 'पुरुष'

---

[१] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ३२। यहाँ 'मनुस्मृति' में लिखा है कि ब्रह्मा ने प्रजाओं को उत्पन्न करने के लिए दश प्रजापति बनाये, जिन्हें 'ब्रह्मर्षि' कहते हैं। इन के नाम हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु और नारद—१-३४-३५।

[२] देवीपुराण, कालव्यवस्थाध्याय।

के 'विवेक' को ही अपना ध्येय समझते है, कुछ 'भक्ति' तथा 'प्रपत्ति' के द्वारा भगवान् मे लीन हो जाना अपना कर्तव्य समझते है।

भक्ति के अधिकारी—इस भक्ति-मार्ग मे देवताओ के अतिरिक्त, केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को ही अधिकार है, शूद्र को नहीं। जो सब तरह से दरिद्र है तथा जिन्हे भगवान् की शरण छोड अन्य उपाय न हो तथा जो अपना सर्वस्व भगवान् को समर्पण कर दे, वे ही 'प्रपन्न' कहलाते है। इनमे से कोई तो भगवान् द्वारा धर्म, अर्थ और काम, इन तीनो की प्राप्ति को अपना ध्येय मानते है और कोई केवल 'मोक्ष' को ही अपना चरम उद्देश्य समझते है। 'मोक्ष' की इच्छा रखने वाले ससार से विरक्त होकर, सत्संग से विवेक-बुद्धि को प्राप्त कर, सद्गुरु के समीप जाकर भगवान् के चरणो मे अपने को समर्पित कर देते है।

इसके अधिकारी सभी होते है। इनमें से कुछ तो ऐसे होते है जो प्रारब्ध-कर्म को मानते हुए अपने शरीर के स्वाभाविक अवसान-समय की प्रतीक्षा करते है। वे 'दृप्त' कहलाते है और जो इस ससार मे अपने को प्रज्वलित अग्नि के मध्य मे जलते हुए के समान मानकर शीघ्र इससे छुटकारा चाहते है, वे 'आर्त' कहलाते है।

(२) **मुक्त जीव**—इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे जीव है जो '**मुक्त**' कहलाते है। ये लोग भगवान् की आराधना का उपाय जान कर अपना कर्तव्य समझ कर भगवान् की नित्य तथा नैमित्तिक आज्ञा का, किकर के समान, पालन करते है, भगवान् तथा भगवद्भक्तो के प्रति कोई अपराध भूल से भी न हो, इसका सतत ध्यान रखते है। अपने शरीर को छोडने के समय, ये अपने सुकृत तथा दुष्कृत के भोग को नाश कर हृदय मे परमात्मा का ध्यान करते हुए मुक्ति के द्वारस्वरूप सुषुम्ना नाडी मे प्रवेश कर ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर हृदय के साथ-साथ सूर्य की किरणो के सहारे अग्निलोक को चले जाते है। मार्ग मे दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, सवत्सर के अभिमानी देवता लोग तथा वायु इनका सत्कार करते है। इसके बाद 'जीव' सूर्यमण्डल को भेद कर नभोरन्ध्र से होते हुए सूर्यलोक को पहुँच जाते है। इसके बाद चन्द्र, विद्युत्, वरुण, इन्द्र तथा प्रजापतियो द्वारा मार्ग दिखाये जाने पर आतिवाहिक गणो

के साथ-साथ चन्द्रादि लोको से होते हुए 'जीव' वैकुण्ठ की सीमा में विद्यमान 'विरजा' नाम के तीर्थ में पहुँच जाते है। यहाँ आकर ये 'जीव' **सूक्ष्म-शरीर** का परित्याग करते हैं।

यहाँ पर 'जीव' अमानुषीय हाथो के स्पर्श के कारण अप्राकृतिक **दिव्य शरीर** को धारण करते हैं। यहाँ पर इनका स्वरूप चतुर्भुज हो जाता है तथा ये ब्रह्म-अलकारो से युक्त हो जाते है। फिर इन्द्र, प्रजापति, आदि नगर-द्वारपालो की आज्ञा से श्रीवैकुण्ठ नाम के दिव्य नगर मे ये प्रवेश करते है। इसके वाद गरुड़ तथा अनंत से युक्त झंडो से सजाये हुए दीर्घ प्राकारो सहित गोपुरो को पार करते हुए 'ऐरम्मद' नाम के अमृत-सरोवर तथा 'सोमसवन' नाम के अश्वत्थ को देखकर, हाथ मे माला लिये हुए पाँच सौ दिव्य अप्सराओ द्वारा आदर-सत्कार पाते हुए, ब्रह्म-गन्धादियो से अलकृत होकर, अनत, गरुड़, विष्वक्सेन आदि को प्रणाम करते हुए तथा उनसे सम्मान पाकर महामणिमण्डप के पास पहुँच कर, पलग के पास अपने आचार्य को देखते है। उन्हे प्रमाण कर 'जीव' पलग के पास जाते है।

वहाँ धर्मादि पीठ के ऊपर अनत-कमल पर बैठे हुए, हाथ में चामर लिये हुए विमला आदि से सेवित, श्रीभूलीला के साथ, शख, चक्र, आदि दिव्य आयुधों से युक्त, चमकते हुए किरीट, मकराकृति कुण्डल, गले के हार,, केयूर, श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि, मुक्ता, दामोदर-बन्धन, पीताम्बर, काञ्चीगुण, नुपुर, आदि अनेक दिव्य भूषणो से विभूषित, अनत उदार कल्याण-गुणो के सागर **श्रीभगवान् को देखकर** उनके कमल-चरणों पर अपना सिर रखकर 'जीव' प्रणाम करते है। इसके वाद श्रीभगवान् अपनी गोद मे बिठा कर प्रत्येक 'जीव' से पूछते हैं—'तुम कौन हो'? उत्तर मे 'जीव' कहता है—'मै ब्रह्म-प्रकार हूँ', अर्थात् मै एक प्रकार का 'ब्रह्म' हूँ। फिर भगवान् उसकी तरफ देखते है और इसी से 'जीव' को अत्यन्त हर्षानुभव प्राप्त होता है तथा सव तरह के, सभी अवस्था के उपयुक्त, भगवान् के प्रति सेवक-भाव तथा स्नेह 'जीव' मे आविर्भूत हो जाता है और इन सवका अनुभव 'जीव' को होने लगता है। ऐसे जीव **'मुक्त'** कहलाते है।

५ 'मुक्त जीव' ब्रह्म के समान भोग करते हैं। ये भी अनेक है तथा सब लोको मे अपनी इच्छा से विचरण कर सकते है।[1]

(३) नित्य जीव—'नित्य जीव' उन्हे कहते है जो कभी भी ससार मे न आये हो।[2] इनमे ज्ञान का सकोच कभी नही रहता। ये भगवान् के विरुद्ध आचरण कभी नही करते। ईश्वर की नित्य इच्छा से ही इनके भिन्न-भिन्न अधिकार अनादि काल से नियत है। भगवान् के अवतार के समान इनके भी अवतार स्वेच्छा से ही होते है। अनत, गरुड, विष्वक्सेन, आदि 'नित्य जीव' है।[3]

आत्मा मे 'अचित्' के ससर्ग से अविद्या, कर्म, वासना तथा रुचि उत्पन्न होती है और अचित् के निवृत्त होने से ही अविद्या आदि की निवृत्ति भी होती है।[4]

इन तीनो प्रकार के चेतनो मे जो 'ज्ञान' है, वह 'आत्मा' के स्वरूप के समान नित्य, द्रव्यात्मक, अजड तथा आनंद-स्वरूप है।[5] 'आत्मा' के स्वरूप मे सकोच और विकास नही है और न अपने को छोड वह दूसरे किसी का प्रकाशक ही है। किन्तु 'ज्ञान' सकोच एव विकास से युक्त है तथा अपने से अतिरिक्त का ही प्रकाशक है।

ज्ञान और आत्मा में भेद

मुक्तावस्था मे 'ज्ञान' सभी आत्माओं मे पूर्णतया विकसित रहता है। किसी का 'ज्ञान' सदैव व्यापक रहता है, जैसे—देवताओं का, किसी का कभी व्यापक नही रहता, जैसे—बद्ध जीवो का तथा किसी का कभी-कभी व्यापक रहता है, जैसे—मुक्त पुरुषो का।[6]

मुक्तावस्था में ज्ञान

२—अचित् तत्त्व

अचित् तत्त्व जड तथा विकारवान् है। इसके तीन भेद होते है—'शुद्धसत्त्व', 'मिश्रसत्त्व' तथा 'सत्त्वशून्य'।

---

[1] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ३२-३६।

[2] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ३६।

[3] तत्त्वत्रय, पृष्ठ २६।

[4] तत्त्वत्रय, पृष्ठ २६।

[5] तत्त्वत्रय, पृष्ठ ३५।

[6] तत्त्वत्रयभाष्य, पृष्ठ ३५-३६।

(१) शुद्धसत्त्व—शुद्धसत्त्व मे रजोगुण तथा तमोगुण नही रहते। इसी लिए यह नित्य है। यह ज्ञान एव आनन्द का जनक है। विना किसी कर्म के केवल भगवान् की इच्छा से यह 'शुद्ध सत्त्व' नित्य धाम के वस्तुमात्र का आकार धारण कर लेता है। इसी से समस्त वैकुण्ठ धाम, विमान, गोपुर, मण्डप, प्रासाद, आदि तथा 'नित्य मुक्त' जीव एव भगवान् का देह-पर्यंत बना है। यह अपूर्व तेजोमयी वस्तु है, जिसका पता नित्य मुक्तो को तथा ईश्वर को भी नही मिलता है। इसके स्वरूप का निर्णय करना अत्यंत कठिन है।[1] कोई इसे जड कहते है और कोई अजड़। अजड कहने वालो के मतानुसार नित्यमुक्त' तथा 'ईश्वर' के ज्ञान के विना ही, यह स्वय प्रकाशमान् है। ससारियो को इसका अनुभव नही होता। 'शुद्धसत्त्व' शरीरादि-रूप मे परिणत होता है और बिना किसी विषय के ही इसका भान होता है। शब्द, स्पर्श, आदि इसके धर्म है।

(२) मिश्रतत्त्व—मिश्रसत्त्व मे तीनो गुण मिश्रित रहते है। यह बद्ध पुरुषो के ज्ञान तथा आनन्द का आवरणस्वरूप है। इसी के कारण विपरीत ज्ञान भी उत्पन्न होता है। यह नित्य तथा ईश्वर की जगत्सृष्टिस्वरूप क्रीडा मे 'परिकर', अर्थात् सहायक है। यही विकारो का उत्पादक होने के कारण 'प्रकृति', ज्ञान का विरोधी होने के कारण 'अविद्या' तथा विचित्र सृष्टि करने के निमित्त 'माया' कहलाता है। शब्दादि पॉच विषय, पॉच इन्द्रियां, पाँच भूत, पॉच प्राण, प्रकृति, महत्, अहंकार तथा मन इसी के बढते हुए परिणाम है।

(३) सत्त्वशून्य—सत्त्वशून्य एव त्रिगुणशून्य तत्त्व 'काल' है। यह प्रकृति तथा प्राकृतिक पदार्थो के परिणाम का हेतु है। यह भी नित्य तथा ईश्वर का क्रीडापरिकर एव शरीर है। विना 'काल' के अधीन हुए ईश्वर भी जगत् की सृष्टि नही कर सकता है। नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत-प्रलय इसी 'काल' के अधीन है।

शुद्धसत्त्व तथा मिश्रसत्त्व से जीवात्मा तथा ईश्वर का भोग्य (विषय), भोगस्थान (चतुर्दश भुवन) तथा भोगसामग्री (चक्षुरादि) बनती है।

---

[1] तत्त्वत्रय, पृष्ठ ४१।

३—ईश्वरतत्त्व

आत्मा (चित्) तथा जड (अचित्) ईश्वराश्रित है। चित् और अचित् इनकी देह है। इनको छोड कर पृथक् स्वरूप मे चित् और अचित् नही रह सकते। अनन्त ज्ञानवान्, आनद का एकमात्र स्वरूप, ज्ञान, शक्ति, आदि अच्छे गुणो से विभूषित, समस्त जगत् की सृष्टि, स्थिति एव सहार करने वाला, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का देने वाला, विचित्र शरीर धारण करने वाला तथा लक्ष्मी, भू एव लीला का नायक 'ईश्वर' है। यह चारो प्रकार के भक्तो का आश्रयदाता है। अज्ञानियो के लिए ज्ञानस्वरूप, अशक्तो के लिए शक्तिस्वरूप, अपराधियो के लिए क्षमास्वरूप, मन्दो के लिए शीलस्वरूप, कुटिलो के लिए सीधा स्वभाव धारण करने वाला, दुष्ट हृदय वालो के लिए सुहृद्-स्वरूप 'ईश्वर' ही है।

ईश्वर का स्वरूप

'ईश्वर' इतना दयालु है कि दूसरो को दु:ख मे देखकर आह भरता है तथा उनके कल्याण के मार्ग को ढूँढ निकालता है। यही 'ईश्वर' अपनी इच्छा से सकल जगत् का कारण-स्वरूप है। ससार को उत्पन्न करने का एकमात्र प्रयोजन 'भगवत्-लीला' है। ससार का सहार करना भी भगवान् की लीला ही है। यही 'ईश्वर' स्वय जगत्-रूप मे परिणत हो जाता है। भगवान् की देह के स्वरूप का वर्णन करते हुए लोकाचार्य ने कहा है[1]—

> "यह उसके अपने स्वरूप तथा गुण के अनुरूप, नित्य, एक-रूप, शुद्धसत्त्वमय, अत्यत तेजोमय, सुकुमार, सुन्दर, लावण्ययुक्त, सुगधि-युक्त, यौवनावस्था को धारण करने वाला, दिव्य रूपवान् तथा योगियो का एकमात्र ध्येय है। भगवान् का शरीर उसके असली स्वरूप को जीव की देह के समान कभी भी नही छिपा सकता है। भगवान् का शरीर सकल जगत् को मोहने वाला है। इस रूप के दर्शन से सांसारिक समस्त भोग्य पदार्थों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। भगवान् के रूप का दर्शन तीनो तापो का नाश करने वाला है। 'नित्य मुक्तो' के द्वारा सतत ध्यान करने योग्य यह भगवान् का स्वरूप है। दिव्य भूषणो से तथा दिव्य अस्त्रो से सदैव यह शरीर युक्त

[1] तत्त्वत्रय, पृष्ठ ११८-११९; तत्त्वत्रयभाष्य, पृष्ठ ११९-१२१।

रहता है। यह भक्तो का रक्षक है, धर्म की रक्षा के लिए जब कोई जीव जगत् मे अवतार लेता है तो वह भगवद्देह से ही आविर्भूत होता है।"

ईश्वर का स्वरूप पाँच प्रकार का है—

(१) 'पर'—यही वासुदेव-स्वरूप कहलाता है। यह स्वरूप काल की गति से परे है। इसका कभी परिणाम नही होता है। निरवधि आनन्द से सदा यह विभूषित रहता है। यही पर स्वरूप भगवान् का 'षाड्गुण्यविग्रह'[1] कहलाता है। इसी को वैकुण्ठ मे देवता लोग नेत्रों से तथा ज्ञान से देखते रहते है।

(२) 'व्यूह'—यह स्वरूप विश्व की लीला के निमित्त है। यह 'संकर्पण', 'प्रद्युम्न' तथा 'अनिरुद्ध' के स्वरूप मे वर्तमान है। ससारियो की रक्षा तथा मुमुक्षु एवं भक्तो के प्रति अनुग्रह दिखाने के लिए यह स्वरूप है। 'पर' स्वरूप मे तो ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज, ये छ. गुण सदैव वर्तमान है, किन्तु 'व्यूह' मे केवल दो गुण प्रकट रूप मे वर्तमान रहते है, अर्थात् ज्ञान तथा बल संकर्षण के स्वरूप मे प्रकट है। प्रद्युम्न मे ऐश्वर्य तथा वीर्य गुण एव अनिरुद्ध मे शक्ति और तेज रहते है।

संकर्षण-स्वरूप के द्वारा शास्त्रप्रवर्तन तथा जगत् का संहार, प्रद्युम्न-स्वरूप के द्वारा धर्मोपदेश एवं मनु, चारो वर्ण, आदि शुद्ध-वर्गो की सृष्टि तथा अनिरुद्ध-स्वरूप के द्वारा रक्षा, तत्त्वज्ञान का प्रदान, कालसृष्टि तथा मिश्रसृष्टि का निर्वाह भगवान् करते है।

(३) विभव—यह अनत होने पर भी गौण और मुख्य भेद से दो प्रकार का होता है। मुख्य विभव श्रीभगवान् का अश तथा अप्राकृत देहयुक्त है। यही स्वरूप मुमुक्षुओ के लिए उपास्य है। भगवान् के साक्षात् अवतार को मुख्य तथा 'स्वरूपावेश' एवं 'शक्त्यावेश' अवतार को गौण कहते है।

---

[1] ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज से परिपूर्ण भगवान् की देह को 'षाड्गुण्यविग्रह' कहते है। तत्त्वत्रयभाष्य, पृष्ठ १२४।

अवतार—भगवान् की इच्छा से साधुओ के परित्राण, दुष्कृतों के विनाश तथा धर्म के सस्थापन के लिए अवतार होता है।

(४) अन्तर्यामी—इस स्वरूप से भगवान् जीवो के अन्त करण मे प्रवेश कर जीवो की सकल प्रवृत्तियो का नियमन करते है। इसी रूप से भगवान् स्वर्ग, नरक, आदि स्थानो मे सभी अवस्थाओ मे सभी जीवो की सहायता करते है।

(५) अर्चावतार—यह भक्त की रुचि के अनुसार मूर्ति मे रहने वाली भगवान् की उपास्य मूर्ति है।

भगवान् की 'उपासना' को ही निदिध्यासन, योग, ज्ञान या भक्ति कहते है। ध्यान के द्वारा भक्तिसाधन होता है और उसी से भगवान् प्रसन्न होते है। इनके मत मे बन्धन पारमार्थिक है। अतएव जीव और ब्रह्मसम्बन्धी अभेदबुद्धि के द्वारा उस 'बन्धन' का नाश नही हो सकता। बन्धन-निवृत्ति केवल ईश्वर की प्रीति और प्रसन्नता पर निर्भर है। अभेद-ज्ञान एक प्रकार से मिथ्या होने के कारण इससे 'बन्धन' और दृढ हो जाता है। जीव 'भोक्ता' है, प्रकृति 'भोग्य' है तथा ईश्वर इसका 'प्रेरक' है। यह भेद इनके स्वरूप मे रहता है और अभेद-ज्ञान इस पारमार्थिकस्वरूप भेद को नष्ट करता है। इसी लिए उसे मिथ्या ज्ञान माना गया है।

भगवान् की उपासना

अभेदज्ञान मिथ्या ज्ञान है

रामानुज के मतानुसार **वर्णाश्रमोचित कर्म** करने से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से 'भक्ति' और भक्ति से 'मोक्ष-प्राप्ति' होती है।

प्रसगवश रामानुज के मत के अनुसार यहाँ ज्ञान के स्वरूप का विवेचन किया जाता है। **ज्ञान** स्वयप्रकाश तथा विभु है। 'नित्य जीवो' का तथा 'ईश्वर' का 'ज्ञान' नित्य एव व्यापक है। 'बद्ध जीव' का 'ज्ञान' तिरोहित रहता है। 'मुक्तो' का 'ज्ञान' पहले तिरोहित रहता है, पश्चात् आविर्भूत होता है। ये लोग भी 'ज्ञान' को 'स्वत प्रमाण' मानते है। सकोच तथा विकास की अवस्था को लेकर ही ज्ञान की उत्पत्ति एव नाश का प्रयोग होता है।

ज्ञान-स्वरूप-विचार

ज्ञान को रामानुज मतवाले 'द्रव्य' मानते है। यद्यपि आत्मा का गुण भी ज्ञान है, तथापि प्रभा के समान यह गुण और द्रव्य दोनो हो सकता है, इसलिए अपने आश्रय

से अन्यत्र भी 'ज्ञान' रह सकता है।[1] मुक्तो का 'ज्ञान' एक ही काल में नेत्र या सूर्य के तेज के समान अनत देहो के साथ संयुक्त हो सकता है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न, ये सब 'ज्ञान' के ही स्वरूप है। 'ज्ञान' मन का सहकारी है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, स्मृति, सशय, विपर्यय, भ्रम, विवेक, व्यवसाय, मोह, राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, धैर्य, चापल्य, दंभ, लोभ, क्रोध, दर्प, स्तभ, द्रोह, अभिनिवेश, निर्वेद, आनन्द, सुमति, दुर्मति, सुप्रीति, तुष्टि, उन्नति, शाति, काति, विरक्ति, रति, मैत्री, दया, मुमुक्षा, लज्जा, तितिक्षा, विचारणा, जिगीषा, मुदिता, क्षमा, चिकीर्षा, जुगुप्सा, भावना, कुहना, असूया, जिघासा, तृष्णा, दुराशा, वासना, दुर्वासना, चर्चा, श्रद्धा, भक्ति, प्रपत्ति, आदि जो जीव के गुण है, वे सब 'ज्ञान' के ही अवस्था-विशेष है।[2]

आश्रय से अन्यत्र भी ज्ञान है

उक्त सभी गुणो मे भक्ति तथा प्रपत्ति का विशेष स्थान है। इन्ही दोनो से प्रसन्न होकर 'ईश्वर' मोक्ष देते है। ये ही मोक्ष के साधन है। कर्मयोग और ज्ञान-योग आदि भी भक्ति के ही द्वारा मोक्ष-साधक है, अन्यथा नही।[3] इसी 'प्रपत्ति' को 'शरणागति' भी कहते है। इसी के सहारे अर्जुन को श्रीकृष्ण भगवान् ने उपदेश दिया था, जैसा गीता मे कहा गया है—

भक्ति तथा प्रपत्ति

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥[4]

प्रमाण-निरूपण

रामानुज के मत मे भी समस्त पदार्थ 'प्रमाण' और 'प्रमेय' के भेद से दो प्रकार के है। 'प्रमेय' का सक्षिप्त वर्णन ऊपर हो चुका, अब 'प्रमाण' के सम्बन्ध मे भी कुछ लिखना आवश्यक है। प्रमा, अर्थात् यथार्थज्ञान, के करण को 'प्रमाण' कहते है। इनके मत मे प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये प्रमाण के तीन भेद है।

---

[1] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ २६।

[2] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ २७।

[3] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ २९।

[4] गीता, अध्याय २, श्लोक ७।

प्रत्यक्ष प्रमाण—हम लोगो की इन्द्रियो के द्वारा साक्षात् यथार्थज्ञान का जो करण है वही 'प्रत्यक्ष' है। इसके 'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक' दो भेद है।

प्रत्यक्ष के भेद

नीला, पीला, आदि गुण तथा अवयव-संस्थान आदि से विशिष्ट प्रथम वार जो विषय का ज्ञान होता है, वही 'निर्विकल्पक' है। ऊहापोह-सहित गुण तथा अवयव-सस्थान आदि से विशिष्ट दूसरी, तीसरी बार जो वस्तु का ज्ञान होता है, वही 'सविकल्पक' प्रत्यक्ष है।

न्यायमत से भेद—यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि दोनो ही भेदों मे विशिष्ट-विषयक ज्ञान इनके मत में माना गया है, अतएव नैयायिको के सिद्धात से यह सर्वथा विलक्षण है। रामानुज के मत में अविशिष्टग्राही ज्ञान होता ही नही।[१]

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पाँचों इन्द्रियो के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ये लोग 'समवाय-सम्बन्ध' के स्थान में एक आश्रय-संबंध मानते है। ये इन भेदो के अतिरिक्त अर्वाचीन और अनर्वाचीन और भी ज्ञान के दो भेद मानते है। फिर 'अर्वाचीन' के दो भेद है—'इन्द्रियसापेक्ष' और 'इन्द्रियानपेक्ष'। 'इन्द्रियानपेक्ष' भी फिर दो प्रकार का है—'स्वय-सिद्ध' और 'दिव्य'। योगजन्य प्रत्यक्ष 'स्वयं-सिद्ध' है तथा भगवत्प्रसाद-जन्य प्रत्यक्ष 'दिव्य' है। 'अनर्वाचीन' प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय की कोई भी अपेक्षा नही रहती, जैसे—नित्य मुक्त जीव तथा ईश्वर का ज्ञान।[२]

स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और अभाव (जो इनके मत मे भाव-स्वरूप है) एव ऊह, संशय तथा प्रतिभा, ये सब प्रत्यक्ष-प्रमाण के अतर्भूत माने जाते है।

भ्रम भी यथार्थज्ञान है—ये लोग 'सत्ख्याति वादी' है, इसलिए इनके मत मे ज्ञान के सभी विषय सत्य है। यथार्थ मे 'सर्वं विज्ञानं यथार्थम्', इसके अनुसार 'भ्रम' आदि भी यथार्थ है, मिथ्या नही। तथापि यदि कोई किसी ज्ञान को भ्रमात्मक कहते है, तो यह ध्यान मे रखना चाहिए कि उस ज्ञान के द्वारा लौकिक व्यवहार मे वाधा उत्पन्न होने के कारण से ही वे उसे भ्रमात्मक कहते है। इसलिए 'स्वप्नज्ञान' भी इनके मत मे सत्य ही है।

---

[१] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ३।

[२] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ४।

चैतन्य के भेद—ये तीन प्रकार के 'चैतन्य' मानते हैं—अन्तःकरणावच्छिन्न, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य। जब ये तीनो चैतन्य एकत्र होते है, तभी 'साक्षात्कार' कहा जाता है।[1]

साक्षात्कार

अनुमान प्रमाण 'व्याप्य' के व्याप्यत्व के अनुसंधान से किसी व्यापक का जो ज्ञान है, उसके 'करण' को **'अनुमान'** और उसके फल को 'अनुमिति' कहते है। व्याप्य और व्यापक मे **'उपाधि'**-रहित जो एक नियत सम्बन्ध है, उसे ही **'व्याप्ति'** कहते हैं। व्याप्ति का ज्ञान बार-बार दो वस्तुओं को एकत्रित देखने से होता है। **'अन्वय'** और **'व्यतिरेक'** दो प्रकार की 'व्याप्ति' होती है। 'अन्वयव्यतिरेकी' और 'केवलान्वयी', अनुमान के दो भेद, ये लोग मानते हैं। 'केवल-व्यतिरेकी' मे साध्य अप्रसिद्ध होने के कारण व्यतिरेक-व्याप्तिदुर्ग्रह है, इसलिए इसे ये लोग नही मानते।[2]

अनुमान

अनुमान के अवयव—साधारण रूप से अनुमान के 'प्रतिज्ञा', 'उपनय', 'निगमन', 'हेतु' तथा 'उदाहरण', को ये भी स्वीकार करते है, किन्तु **'व्याप्ति'** और **'पक्षधर्मता'**, इन दोनो अनुमान के प्रधान अंगो की सिद्धि केवल 'उदाहरण' तथा 'उपनय' के ही द्वारा होती है, इसलिए कभी तीन और कभी दो ही अवयवो को ये मानते है। यथार्थ मे इनका कहना है कि जितने अवयवो के द्वारा विपक्षी को अपना सिद्धात समझाया जा सके, उतने ही अवयवो को मानना चाहिए।

इनके मत मे 'उपमान', 'अर्थापत्ति' और 'तर्क' तथा 'कथा', 'जल्प', 'वितण्डा', 'छल', 'जाति' और 'निग्रहस्थान', ये सब अनुमान के ही अतर्भूत है।

शब्द प्रमाण—अनाप्तो से नही कहा गया जो 'वाक्य', उससे उत्पन्न जो उसका 'अर्थ', उसी के ज्ञान को **'शब्द ज्ञान'** तथा उसके करण को **'शब्द प्रमाण'** कहते है।

इनके मत मे **वेद** 'अपौरुषेय' और नित्य है। 'शिक्षा' आदि **षडंग** से युक्त **'वेद'** **प्रमाण** है।

आप्त-रचित **'स्मृति'**, यदि श्रुति से अविरुद्ध हो तथा आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्तादि की प्रतिपादक हो तो, वह भी प्रमाण है।

[1] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ५।

[2] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ८।

वेद-मूलक पुराण और इतिहास भी प्रमाण हैं। इनमे भी जो विरोध-प्रतिपादक हैं, वे अप्रमाण हैं।

'श्रीपंचरात्रागम' मे वेदो से कही भी विरोध न होने के कारण, यह सर्वथा प्रमाण है। 'वैखानस-आगम' और 'धर्म-शास्त्र' वेदों के अविरुद्ध होने से प्रमाण हैं।

वकुल, आभरण, आदि विद्वानो की उक्तियाँ सभी प्रमाणतर हैं और श्रीरामानुज का श्रीभाष्य आदि तो प्रमाणतम ग्रन्थ है।

मिश्रसत्त्व मे तीनो गुण हैं। इसी को प्रकृति, माया, अविद्या, आदि कहते हैं। यह नित्य है। भगवान् के सकल्प से इसकी साम्यावस्था मे वैषम्य उत्पन्न होता है। इसी से यह कार्योन्मुखावस्था को प्राप्त कर 'अव्यक्त' कहलाता है।

सृष्टि-प्रक्रिया

पहले 'महत्' की उत्पत्ति होती है। गुण के अनुसार इसके तीन भेद हैं। इससे 'अहंकार' उत्पन्न होता है। गुणानुरूप इसके भी तीन भेद हैं—'वैकारिक', 'तैजस' और 'भूतादि'। वैकारिक और भूतादि से ग्यारह इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं। 'मन' भी इनके मत में ज्ञानेन्द्रिय है, इसलिए छ तो 'ज्ञानेन्द्रियाँ' और पाँच 'कर्मेन्द्रियाँ' हैं। इन्द्रिय का परिमाण 'अणु' है। जब 'जीव' योग के बल से दूसरे के शरीर में प्रवेश करता है और अन्य लोको मे भी भ्रमण करता है, उस समय भी 'इन्द्रियाँ' जीव के साथ रहती हैं। मुक्ति मे ये जीव का साथ छोड़ देती हैं और प्रलय-पर्यन्त या तो इसी ससार में रहती हैं या जिनके इन्द्रियाँ नही हैं, वे इन्हे ग्रहण कर लेते हैं।[1]

[1] यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ १७।

सप्तदश परिच्छेद

द्वैताद्वैत-दर्शन

(निम्बार्क-वेदान्त)

भगवान् ने हंस के रूप मे सबसे पहले इस सम्प्रदाय के सिद्धातो को सनक आदि को सिखलाया। उन सबने फिर कुमार को सिखाया। कुमार से नारद और नारद से निम्बार्काचार्य को ये उपदेश मिले।[1] इसी लिए यह 'हंस-सम्प्रदाय' और 'निम्बार्क-सम्प्रदाय', दोनो नामो से प्रसिद्ध है। 'निम्बार्क' भगवान् के सुदर्शन-चक्र के अवतार माने जाते है। इनके पिता अरुण मुनि और माता जयन्ती देवी थी। किसी-किसी मत से इनकी माता और पिता के नाम क्रमश. सरस्वती और जगन्नाथ थे। ये निंबापुर या निंब या वैदूर्यपत्तन वाले तैलगी ब्राह्मण थे। इनका जन्म किसी वैशाख शुक्ल तृतीया मे हुआ था। डाक्टर भडारकर के मतानुसार ये लगभग ११६२ ई० मे मरे थे।[2] इसलिए इनका जीवनकाल बारहवी सदी का प्रथम भाग होना चाहिए।

परिचय

निम्बार्काचार्य बड़े विद्वान् थे। इनमे अलौकिक शक्ति थी। कहा जाता है, एक समय इन्होने अपनी शक्ति से एक सन्यासी को, नीम के पेड़ पर, अस्त हो जाने पर भी सूर्य का दर्शन कराया था, इसी लिए इनका 'निम्बार्क' नाम पडा।[3]

साहित्य

'वेदान्तपारिजातसौरभ', 'सिद्धान्तरत्न', 'दशश्लोकी', 'श्रीकृष्णस्तव', 'वेदान्त-कौस्तुभ', 'वेदान्तकौस्तुभप्रभा', 'पाचजन्य', 'तत्त्वप्रकाशिका' तथा 'सकलाचार्यमतसग्रह' आदि ग्रथ इनके मत के प्रतिपादक है।

---

[1] वेदान्तपारिजातसौरभ, १-३-८; केशवस्वामी-रचित गीता की टीका।

[2] वेदान्तपारिजातसौरभ—भूमिका, पृष्ठ ३; डाक्टर आर० जी० भंडारकर—वैष्णविज्म एंड शैविज्म, पृष्ठ ६२।

[3] भक्तमाल, सर्ग, २२।

तत्त्व-निरूपण

निम्वार्कमत का दार्शनिक सिद्धान्त 'भेदाभेद' या 'द्वैताद्वैत' है। इस मत मे 'जीवात्मा', 'परमात्मा' या ईश्वर और जड, 'प्रकृति', ये तीन तत्त्व है। ये तीनो आपस मे भिन्न-भिन्न है। इसी लिए ये द्वैतवादी है। जीव तथा प्रकृति, ये दोनो परमात्मा के अधीन है। परमात्मा ओत-प्रोत-भाव से जीव और जड मे वर्तमान है। परमात्मा के विना इन दोनो की स्थिति ही नही हो सकती। परमात्मा से उनका इतना ही अंतर है जितना कि समुद्र का उसकी तरग से।[1] इसलिए एक प्रकार से ये 'अभेदवादी' भी है।

१—जीवात्मा

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इत्यादि श्रुति के आधार पर ये लोग जीव को 'अणु' मानते है।[2] प्रत्येक प्राणी मे 'जीव' भिन्न-भिन्न है और इसी से सुख-दुख के वैचित्र्य का समाधान हो सकता है। यह अनत और गुणमयी माया से वद्ध है। यह ज्ञान का आश्रय और ज्ञानस्वरूप भी है। इसी लिए इन्द्रियो के विना भी 'जीव' मे ज्ञान रहता है।[3]

जीव का स्वरूप

जीव द्रष्टा, भोक्ता, कर्ता और श्रोता, सभी है। यह 'अणु' होने पर भी समस्त शरीर के सुख-दुख का अनुभव करता है। इसी से समस्त शरीर मे प्रकाश भी है। 'अणु' होने पर भी गुणो के कारण जीव 'विभु' भी है, किन्तु इसमे सर्वगतत्व नही है। जीव स्वतत्र नही है। यह अपने ज्ञान, कर्म, मोक्ष तथा वन्धन, सवके निमित्त 'ईश्वर' पर निर्भर है। परमात्मा के अनुग्रह से सज्जन लोग जीवात्मा का भी ज्ञान प्राप्त करते है।[4] यह आनन्दमय नही हो सकता। अपने किये हुए कर्म का भोग यह स्वय करता है। यह भी नित्य है।

जीव के भेद—'जीव' दो प्रकार के है—'बद्ध' और 'मुक्त'।

---

[1] वेदान्तपारिजातसौरभ, १-२-५-६; २-१-१३।

[2] सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ १०; वेदान्तपारिजातसौरभ, २-३-१९, २२।

[3] सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ ९-११।

[4] सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ ११; वेदान्तपारिजातसौरभ, २-३-२३, २४, २५, २८, २९।

बद्ध—अनादि कर्म और वासना के फलस्वरूप देव, मनुष्य तथा तिर्यक्, आदि का शरीर धारण कर उसमें आत्मा या आत्मीय वस्तु का जो दृढ़ अभिमान रखते हैं, वही 'बद्ध' है। ये जीव वर्णाश्रमधर्म का पालन करते हुए, मरने के बाद अपने कर्मानुसार फल का भोग कर अवशिष्ट भोग के लिए पुन. जन्म ग्रहण करते हैं। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने के समय 'जीव' सूक्ष्म भूतों से युक्त रहते हैं।

मुक्त—इनके अतिरिक्त जीव 'मुक्त' हैं। मुक्त जीव भी दो प्रकार के होते हैं—

एक तो 'नित्य मुक्त', जैसे गरुड, विष्वक्सेन, भगवान् के विविध आभूषण, जैसे वंशी, आदि।

दूसरे जो सत्कर्म करते हुए पूर्व-जन्म के कर्मो का भोग संपन्न कर ससार के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होने पर ये सब अर्चिरादि-मार्ग से परज्योति स्वरूप को पाकर अपने यथार्थ स्वरूप मे आविर्भूत होते हैं और फिर लौटकर इस ससार में नही आते। इनमे से कोई तो ईश्वर-सादृश्य को प्राप्त करते हैं और कोई अपनी आत्मा के स्वरूप के ज्ञानमात्र से ही तृप्त हो जाते हैं।

मुक्त जीव भी भोग भोगते हैं। इसके लिए जीव को अपना कोई-शरीर धारण करना आवश्यक नही है। स्वप्न के समान भगवत्-सृष्ट-शरीर आदि के द्वारा, कदाचित् भगवान् की लीला के अनुसार केवल संकल्पमात्र से ही शरीर उत्पन्न कर मुक्त जीव भोग प्राप्त करते हैं।[1] इनका ऐश्वर्य जगत् के व्यापार से शून्य है।

मुक्त जीव का भोग

२—जड तत्त्व या प्रकृति

जड़ तत्त्व के भेद—जड़ पदार्थ के तीन भेद है—

(१) **अप्राकृत**—इसका उपादान सत्त्व, रजस् और तमस् नही है।[2] यह प्रकाशस्वरूप है। भगवान् का शरीर, उनके सब आभूषण, नगर,

---

[1] वेदान्तपारिजातसौरभ, ४-४-१३, १५।

[2] सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ १२।

उपवन आदि सभी वस्तुएँ इसी से बनी है और ईश्वर की नित्य-विभूति का स्वरूप भी इसीमे देख पड़ता है।

(२) **प्राकृत**—इस श्रेणी के समस्त पदार्थ 'प्रकृति' से उत्पन्न होते हैं। ससार के सभी जड़ पदार्थ 'प्राकृतिक' हैं।

(३) **काल**—यह तत्त्व 'प्राकृत' और 'अप्राकृत' दोनो से भिन्न है। यह नित्य और विभु है।[1]

उक्त तीनों **जड़ तत्त्व** जीवात्मा के समान नित्य हैं।

३—ईश्वर तत्त्व

तीसरा तत्त्व **ईश्वर** है, जो 'परमात्मा', 'वैश्वानर', 'ब्रह्म', 'पुरुषोत्तम', 'भगवान्', आदि नामों से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व स्वभाव से ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश, इन पाचो दोषो से शून्य है।[2] यह क्षर और अक्षर दोनो से ही उत्कृष्ट है। सर्वज्ञ, सबसे अचिन्त्य और अनन्त शक्ति वाला, ब्रह्मा, ईश और काल, आदि सबका नियंता, स्वतत्र, यज्ञ, आदि सत्कर्मो का फल देने वाला, विश्व और जन्म आदि, का कारण, एकमात्र 'वेद-प्रमाण' से जानने योग्य, सबसे भिन्न और फिर सबसे अभिन्न भी, विश्वरूप भगवान् ही **ईश्वर-तत्त्व** है।[3] यह स्वयं आनदमय है और जीवो के आनन्द का कारण भी है। यह पुण्य-पाप से परे है। मुमुक्षु लोग इसी ईश्वर का ध्यान करते है। यह जीवात्मा से भिन्न है, इसलिए अहित और अकरणादि दोष इसमे नही लगता। यह सबका द्रष्टा है। अमृतत्व और अभयत्व इसी मे है।

ईश्वर के गुण—अनन्यशरण उपासको के ऊपर अनुग्रह दिखाने के लिए भगवान् उनके इच्छानुरूप स्वरूप धारण करता है। निरतिशय सुखस्वरूप भी यही है। तीनो काल मे रहने वाला तथा कार्यमात्र का और आकाश का धारक 'ईश्वर' ही है। भूत और भविष्य का स्वामी तथा नित्य आविर्भूत-स्वरूप यही है। इसमे स्वाभाविक आनन्द, ज्ञान, बल और क्रिया है। 'ईश्वर' सभी शक्तियों

---

[1] सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ १२।

[2] योगशास्त्र में भी 'ईश्वर' का यही लक्षण है।

[3] वेदान्तपारिजातसौरभ, १-१-२, ४, १०, १२।

से सपन्न है और सब कुछ कर सकता है। 'वासुदेव', 'सकर्षण', 'प्रद्युम्न' तथा 'अनिरुद्ध', ये चारो स्वरूप इसी के अग है।[1] मुमुक्षु लोग गोपियो के सहित वृष-भानुकन्या के साथ वैकुठ मे बैठे हुए श्रीकृष्ण भगवान् की ही उपासना करते है। केवल प्रपत्ति से ही इसका अनुग्रह होता है। यही ससार का उपादान तथा निमित्त कारण है। सर्वशक्तिमान् ब्रह्म अपनी शक्ति के विक्षेप के द्वारा अपने को जगत् के आकार मे परिणत कर, अव्याकृत-स्वरूप, शक्ति और कृति से युक्त होकर, परिणत

जगत् परमात्मा का परिणाम है

होता है, अर्थात् जिस प्रकार दूध कार्यरूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार अपनी असाधारण शक्ति से युक्त परमात्मा भी जगत् के आकार मे परिणत होता है।[2] प्रलयावस्था मे जीवात्मा और जगत् दोनो ही सूक्ष्म रूप मे भगवान् में ही लीन होकर रहते

जगत् ब्रह्म-स्वरूप है

है। यह सब भूतो की अतरात्मा है, इसलिए जगत् की वस्तुमात्र, चर और अचर, सब ब्रह्मस्वरूप ही है। अतएव यथार्थ वस्तु का ज्ञान भी यथार्थ है। मिथ्या ज्ञान इनके मत मे नही हो सकता।[3] 'मन' अपनी नानाविध वृत्ति से जीव का उपकार करता है।

सृष्टिप्रक्रिया—त्रिवृत्करण-प्रक्रिया के अनुसार शरीर की सृष्टि इस मत मे मानी जाती है। इसलिए पृथ्वी से विष्ठा, मास और मन, जल से मूत्र,

सृष्टि-निरूपण

शोणित और प्राण और तेजस् से हड्डी, मज्जा और वाक् शरीर मे[1] उत्पन्न होते है। इससे यह भी मालूम होता है कि 'मन' पार्थिव वस्तु है।[4]

प्राण—अवस्थान्तर-प्राप्त वायु ही 'प्राण' है। महाभूतो के समान यह भी उत्पन्न होता है। यह जीव का उपकरण है। देह और इन्द्रियो का 'विधारण' 'प्राण' का असाधारण कार्य है। यह 'अणु'-परिमाण का है।[5]

---

[1] वेदांतपारिजातसौरभ, १-१-१२, १५, २१, २२; १-२-२, ५, ६, ८, १०, १३, २५, २७, ३०; १-३, ९, १०, १९, २४, २७; २-१-२१, २९।

[2] दशश्लोकी, ५, ८-९; वेदांतपारिजातसौरभ, १-४-३६; २-१-२३।

[3] वेदांतपारिजातसौरभ, १-१-२; १-२-१९।

[4] वेदांतपारिजातसौरभ, २-४-१२, २०।

[5] वेदांतपारिजातसौरभ, २-४-७, ९, १०, ११, १३, १७।

यथार्थ में जाग्रत जीव के वैराग्य के निमित्त ही ससार की गति मानी जाती है। 'सृष्टि' भाव-पदार्थ से होती हे। इन्द्रियाँ भी एक प्रकार का तत्त्व है। जीव के साथ इनका स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध है। विषय का ग्रहण करना इनका काम है। ये ग्यारह हैं।

स्थूल देह मे जो गर्मी है, वह 'सूक्ष्म शरीर' का धर्म है। पापियों को चन्द्रगति नही मिलती। 'दक्षिणायन' मे भी मरने पर विद्वानो को ब्रह्म-प्राप्ति होती है। यमालय मे जो जाते हैं, उन्हे दु ख का अनुभव होता है। शूद्रों को ब्रह्म-विद्या का अधिकार नही है। वेद नित्य है। 'विश्व' चित् और अचित् रूप, अचित्य, दिचित्र-सस्थान-संपन्न तथा असंख्येय नाम और रूप, आदि विशेषो का आश्रय है।

इस प्रकार के सिद्धान्तों को मानते हुए निम्बार्काचार्य ने अपना देश छोड कर वृन्दावन आकर दैष्णव-मत का प्रचार किया। रामानुज ने लक्ष्मी-नारायण को प्राधान्य दिया और निम्बार्क ने राधा-कृष्ण को। रामानुज ने भक्ति और प्रपत्ति मे भेद माना, किंतु निम्बार्क ने भक्ति को भी प्रपत्ति मे ही मिला दिया। रामानुज ने चित् और अचित् मानते हुए भी विशिष्ट ईश्वर की प्रधानता स्वीकार कर अद्वैत-वाद को माना, परन्तु निम्बार्क ने द्वैत और अद्वैत दोनो मे एक ही प्रकार की प्रधानता मानी, अतएव द्वैताद्वैत-सिद्धान्त की ही स्थापना की। इन प्रधान भेदो के अतिरिक्त अन्य गौण वातो मे इन दोनों मतो मे प्राय: समानता मालूम होती है।[1]

रामानुज और निम्बार्क-मत में भेद

[1] विशेष ज्ञान के लिए, महामहोपाध्याय डाक्टर उमेश मिश्र द्वारा अंग्रेजी में रचित 'निम्बार्क स्कूल आफ वेदान्त' देखिए।

अष्टादश परिच्छेद

द्वैत-दर्शन

(माध्व-वेदान्त)

इस दर्शन का प्रचार मध्वाचार्य ने किया। यह वायु देवता के अवतार माने जाते है। इनका जन्म ११९९ ई० मे कन्नड़ प्रदेश मे हुआ था। इनके पिता का नाम 'मध्वदेव' और माता का 'देवता' था। इनका प्रसिद्ध नाम 'आनदतीर्थ' और '**पूर्णप्रज्ञ**' था, किन्तु पिता इन्हें 'वासुदेव' कहा करते थे। जन्म से ही इनमे कुछ वैलक्षण्य था। इन्होने बहुत ही अल्प वयस मे सन्यास ग्रहण करने की उत्कट इच्छा प्रकट की, किन्तु माता-पिता के अनुरोध से इनकी इच्छा उस समय पूरी न हो सकी। कुछ दिन बाद जब इनकी माता को दूसरा पुत्र हुआ, तब इन्होने संन्यास ग्रहण कर लिया और तब से '**पूर्णप्रज्ञ**' के नाम से यह प्रसिद्ध हुए।

परिचय

इसके बाद यह भारत-भ्रमण के लिए निकले और हरिद्वार पहुँचे। यहाँ कुछ दिन रह कर बदरिकाश्रम की तरफ चले गये और किसी एकात स्थान मे इन्होने योगाभ्यास और तपस्या की। कहा जाता है कि तपस्या के अत मे व्यासदेव ने इन्हे दर्शन दिया और वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए तथा 'वादरायणसूत्र' के ऊपर एक भाष्य-रचना करने की आज्ञा दी। इन्होने 'वादरायणसूत्र', 'उपनिषद्' तथा 'गीता' की अपने मतानुसार टीका की। इनके अनेक प्रसिद्ध शिष्य हुए, जिन्होने इनके मत के समथन मे ग्रन्थो की रचना की। 'अनु-व्याख्यान', 'न्यायसुधा', 'पदार्थ-सग्रह', 'मध्वसिद्धान्त-सार', आदि ग्रन्थ इनके सम्प्रदाय के बहुत प्रसिद्ध है। इनका दाशनिक सिद्धान्त '**द्वैतवाद**' है।

तत्त्वविचार

पदार्थनिरूपण—पूर्णप्रज्ञ के अनुसार पदार्थ दस है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव। इनका सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

द्रव्य-निरूपण

दो विवादशील वस्तुओ मे जो द्रवण अर्थात् गमन-प्राप्य हो वही 'द्रव्य' है। उपादान-कारण को भी 'द्रव्य' कहते है, अर्थात् जिसका परिणाम हो या जिस रूप मे परिणाम हो, दोनों ही 'द्रव्य' है। उपादान भी दो प्रकार के होते है—एक तो 'परिणाम' और दूसरा 'अभिव्यक्ति'।[1]

द्रव्य का लक्षण

'द्रव्य' के पुन बीस भेद है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल, तथा प्रतिबिंब।[2] इनमे परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश तथा वर्ण की तो अभिव्यक्ति होती है और शेष का परिणाम होता है।[3] इन द्रव्यो का सक्षिप्त परिचय देना उचित है—

द्रव्य के भेद

(१) **परमात्मा**—यह अनंत गुणो से पूर्ण है। लक्ष्मी आदि की अपेक्षा परमात्मा का ज्ञान अनत-गुण अधिक है। इसमे श्रुत, अश्रुत, विरुद्ध, ये सभी गुण नित्य वर्तमान है। इसका ज्ञान महाशुद्ध, चितिस्वरूप, समस्त विशेषो का स्पष्ट रूप से दर्शनात्मक, नित्य, एक ही प्रकार का, सूर्य-प्रभा के समान निरन्तर वस्तुमात्र का प्रकाशक, अभिमान और दोषो से रहित तथा सदैव विकारहीन है।[4]

लक्ष्मी मे भी प्राय. ये सभी गुण है, किन्तु भेद इतना ही है कि **'परमात्मा'** मे जो विशेष है, वह **'लक्ष्मी'** मे नही। यह सभी अत्यन्त सूक्ष्म विशेषो के साथ अपने को तथा दूसरों को भी देखता है।

सृष्टि, स्थिति, सहार, नियम, अज्ञान, बोधन, बध तथा मोक्ष, इन कार्यो को परमात्मा निरन्तर करता है। दूसरा कोई भी इन्हे नही कर सकता। अतएव परमात्मा **'एकराट्'** कहलाता है। विना सर्वज्ञ हुए ये कार्य नही किये जा सकते, इसलिए वह 'सर्वज्ञ' है।[5] प्रकृत्यादि जड़

[1] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ २३ (क)।

[2] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १ (ख)।

[3] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ २३ (क)।

[4] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ २३ (क)।

[5] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ २४ (क)।

पदार्थ, ब्रह्मादि जीव तथा महालक्ष्मी, सबसे यह अत्यत भिन्न है। शरीर के बिना परमात्मा भी सृष्टि आदि नही कर सकता, इसलिए परमात्मा का भी शरीर है। यह शरीर नित्य, ज्ञानात्मक, आनदात्मक तथा अप्राकृतिक है। इसका प्रत्येक अग आनदमय और चित्स्वरूप है। यह सर्वस्वतत्र और एक ही है। इसके समान या इससे परे कोई भी नही है। कोई भी मुक्त पुरुप इसका साम्य-लाभ नही कर सकता है, ऐक्य तो दूर है।

जीव के प्रत्येक रूप मे परमात्मा परिपूर्ण रूप से वर्तमान है। इसलिए सभी अवतारो मे भगवान् पूर्ण रूप से वर्तमान रहता है। अवतारों के सबन्ध मे बन्धन और मुक्ति का प्रश्न ही नही हो सकता, क्योकि ये अजर, अमर और चिदानन्दमय हैं। इनमे परस्पर किसी प्रकार का भेद नही है। भगवान् का अपना रूप तथा आविर्भूत रूप, कोई भी देश, काल तथा गुण से परिच्छिन्न नही है।

सृष्टि, प्रलय, नियमन, ज्ञान, अज्ञान, जीव का बधन, अर्थात् ईश्वरेच्छा, अविद्या, कामकर्म, लिगशरीर, त्रिगुणात्मक मन, स्थूल शरीर तथा मोक्ष, ये सब परमात्मा के अधीन हैं।[1] परमात्मा वैकुंठ मे सब प्रकार का भोग करता है। लक्ष्मी आदि के साथ ब्रह्मा आदि मुक्त जीव वैकुण्ठ मे परमात्मा को पूजते हैं। लक्ष्मी के स्वरूप के अपराजित 'विमिता' नाम के चिन्मय सुवर्ण के बने हुए परम दिव्य पलग पर भगवान् शयन करता है। अविद्या, विद्या, सत्त्वादि तीनो गुण, देहोत्पत्ति, सुख-दु ख, ये सब परमात्मा के अधीन हैं, इसलिए यह नित्य बध और मोक्ष से रहित है और 'नित्य मुक्त' है।

'मुक्त जीव' अपनी इच्छा से शुद्धसत्त्वमय देह धारण कर उसके द्वारा यथेष्ठ भोग का अनुभव कर पुन स्वेच्छा से उसे त्याग देते हैं। इस शरीर मे रजोगुण तथा तमोगुण के न रहने के कारण उनमे शरीर-धारण-जन्य बन्धन नही रहता। इसे ही 'लीला-विग्रह' कहते हैं। फिर भी यह 'प्राकृत शरीर' ही है।[2] किसी-किसी के मत मे मुक्त

[1] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १४७ (ख)।

[2] श्रीसंप्रदाय के अनुसार शुद्धसत्त्वमय लीला-विग्रह 'अप्राकृत' देह है।

जीव पाञ्चभौतिक शरीर के द्वारा भी भोग कर सकता है। किन्तु यह कर्म से उत्पन्न नही है, इसलिए इस शरीर में इसे हम लोगों की तरह सुख-दु:ख का ज्ञान नही होता और न उससे किसी प्रकार का बंधन ही उसे प्राप्त होता है। यह शरीर उसका स्वेच्छा-स्वीकृत शरीर कहलाता है।[1]

(२) लक्ष्मी—यह परमात्मा से भिन्न किन्तु केवल उसी के अधीन है। ब्रह्मा आदि जीव 'लक्ष्मी' के पुत्र है और प्रलय मे ये सब 'लक्ष्मी' मे ही लीन हो जाते है। परमात्मा की कृपा से बलवती 'लक्ष्मी' एक क्षण मे विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय, महाविभूति, वृत्तिप्रकाश, नियमावृत्ति, बधन तथा मोक्ष को सपादन करती है। हिरण्यगर्भादि जीवो की अपेक्षा, भगवान् की प्रीति, भक्ति और ज्ञान मे 'लक्ष्मी' कोटि-गुण अधिक है।

परमात्मा के समान 'लक्ष्मी' भी नित्य मुक्त और आप्तकाम है। ऐसा होने पर भी यह विष्णु की सदैव उपासना करती है। लक्ष्मी और विष्णु का सम्बन्ध अनादि है, इसलिए ये दोनो अनादि-नित्य, अनादि-युक्त, अनादि-मुक्त तथा अनादि-कृत हैं। ये परमात्मा की पत्नी है। ये दोनो नित्य मुक्त है, अतएव इनके परस्पर सयोग से सुख की अभिव्यक्ति तो हो ही नही सकती, फिर भी इनमे पति-पत्नी का सम्बन्ध मानने का कारण यह है कि भगवान् 'आत्मरमण' होने पर भी 'लक्ष्मी' के प्रति अनुग्रह-पूर्वक 'लक्ष्मी' मे स्वस्त्री-रूप मे प्रवेश कर दूसरे रूप मे क्रीडा करते है, अर्थात् 'लक्ष्मी' मे वर्तमान अपने ही रूप के साथ भगवान् क्रीड़ा करते है। लक्ष्मी भी चिद्रूप और अनत है।

लक्ष्मी की मूर्तियाँ—श्री, भू, दुर्गा, नृणी, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता, जयती, सत्या, रुक्मिणी, आदि सभी लक्ष्मी की मूर्तियाँ है। ये भगवान् के उर:स्थल मे रहती है और इस अवस्था मे 'यज्ञ' नाम को धारण करती है। 'दक्षिणा' मूर्ति के साथ भगवान् को अत्यत सुख होता है। यह भी अप्राकृत शरीर है। यह देश और काल से ही

[1] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ३६ (ख), ३७(क)।

पूर्ण है, न कि गुण से, और यही परमात्मा और लक्ष्मी के आनंत्य का भेदक है।

(३) **जीव**—ससारी जीव अज्ञान, दु ख, भय, मोह, आदि दोषों से युक्त है। ब्रह्मा और वायु में भी ये दोष हैं। 'अज्ञान' ने चार बार और 'भय' तथा 'शोक' ने दो बार ब्रह्मा पर आक्रमण किया था। विष्णु के वश मे रहने वाली, उन्ही की सूक्ष्म प्रकृति श्री, भू तथा दुर्गा 'ब्रह्मा' आदि को भय देती है, किंतु 'रुद्र' आदि मे जिस प्रकार भय आदि स्थिर होते है, उस प्रकार 'ब्रह्मा' मे नही। अज्ञान भी 'ब्रह्मा' के शरीर को स्पर्शमात्र कर बाहर चला जाता है। ब्रह्मा का मोह मिथ्या ज्ञान-रूप नही है, किंतु नियत अपरोक्ष-ज्ञान का अभावरूप है। 'ब्रह्मा' का भी शरीर पाञ्चभौतिक है और और बन्धन मे पड़ा है। वह भी मोक्ष चाहते है।

ऐसे **'जीव'** असख्य हैं। ये इतने सूक्ष्म है कि एक परमाणु-प्रदेश मे भी अनत जीव रहते हैं। यह आनंत्य केवल व्यक्तिगत ही नही है, किन्तु गणगत भी है, जैसे—ऋजुगण, असुरगण, इत्यादि।

जीव के भेद—जीव के तीन भेद हैं—मुक्तियोग्य, तमोयोग्य तथा नित्यससारी।

मुक्तियोग्य पुनः पाँच प्रकार के हैं—**'देव'**, जैसे—ब्रह्मा, वायु, आदि; **'ऋषि'**, जैसे—नारदादि; **'पितृ'**, जैसे—विश्वामित्र आदि; **'चक्रवर्ती'**, जैसे—रघु, अंबरीष आदि तथा **'मनुष्योत्तम'**। इन जीवो मे अनेक तारतम्य है।

तमोयोग्य पुन. दो प्रकार के हैं—'चतुर्गुणोपासक' और 'एक-गुणोपासक'। जो सत्, चित्, आनद और आत्मा-रूप मे ईश्वर की उपासना करते है, वे तो **'चतुर्गुणोपासक'** है और जो केवल आत्मा को ही परम देव भगवान् समझ कर उसकी उपासना करते है, वे **'एक-गुणोपासक'** है। इस उपासना के द्वारा कोई-कोई इसी शरीर मे रहते ही मुक्ति पाते है और इनका आक्रमण नही होता, जैसे—तृणजीव, स्तंब, इत्यादि।

वे पुन. चार प्रकार के हैं—दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य।

नित्य संसारी—ये जीव सदैव सुख-दुःख भोगते है। ये मध्यम मनुष्य ही होते हैं और अनत है। ये सदैव स्वर्ग, नरक तथा पृथ्वी में घूमते रहते है।

जीव के स्वरूप में भेद—**रामानुज** के मत मे ब्रह्मादि जीवों में केवल ससार-दशा मे ही अंतर है। मुक्त होने पर ये सभी जीव समान हैं और परमात्मा के साथ भी इनका साम्य मोक्ष में हो जाता है। **तार्किकों** के अनुसार भी मुक्ति-दशा मे एक तरह से सभी जीव समान हैं। परन्तु मुक्त जीव और परमात्मा मे फिर भी भेद है, क्योंकि परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वकर्ता और सर्वोत्तम है। **मायावाद** मे भी सभी जीव परमात्मा से अभिन्न है। भेद तो केवल भ्रम है।

परन्तु **माध्वमत** मे ससार तथा मोक्ष, दोनो ही अवस्थाओ मे जीवो मे भी परस्पर भेद है। परमात्मा इन सबसे भिन्न है।[1] इसी कारण मुक्त जीवो में परस्पर उनके काम, सकल्प तथा आनन्द मे भी अतर है और इसी से ये मुक्त जीव भी शुभ्र कर्म करते है।

इसी प्रकार परमानद को पाये हुए आविर्भूत-स्वरूप योगियो मे भी परस्पर भेद है। फिर भी जो मुक्त जीवो मे साम्य कहा जाता है, उसका अभिप्राय यह है कि उनमे दुःखाभाव, परानन्द तथा लिंगभेद एक ही सदृश है और ज्ञान के भेद से परमानद के आस्वादन मे भी भेद है।

(४) **अव्याकृत आकाश**—इसे एक प्रकार से **'दिक्'** ही समझना चाहिए। सृष्टि-काल मे इसमे न तो कोई विकार और न प्रलय-काल मे इसका नाश होता है। इसी लिए इसे **'अव्याकृत'** कहते हैं। इसे गगन, साक्षिगोचर तथा प्रदेश भी कहते है। यह नित्य है और अहकार के तामस अश से उत्पन्न **'भूताकाश'** से भिन्न है। यह एक, व्याप्त और स्वगत है। पूर्व, दक्षिण, आदि विभाग इसके स्वाभाविक अवयव हैं। इसी कारण जिस स्थान मे सूर्यादि नही भी होते, जैसे वैकुठ मे, वहाँ भी पूर्व आदि दिशाओ का ज्ञान होता है।

---

[1] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ३२(क)।

'भूताकाश' से यह भिन्न है, क्योंकि 'अव्याकृत आकाश' रूपरहित, कूटस्थ, साक्षिसिद्ध, विभु और क्रिया-रहित है, किन्तु 'भूताकाश' रूपयुक्त, देहाकार मे विकारशील, तामस तथा अहकार का कार्यरूप, एक और अविभु एव गतिशील है। लक्ष्मी इसकी अभिमानिनी देवी है। इन्ही के अधीन यह है।[1]

(५) प्रकृति—साक्षात्, जैसे—काल और तीनो गुणो का या परम्परा, जैसे—महदादि का उपादान 'प्रकृति' है। इसी से यह द्रव्य भी है। यह जड़ा, परिणामिनी, तीनो गुणो से अतिरिक्त, अव्यक्त और नानारूपा है। महाप्रलय के अनतर नवीन सृष्टि का उपादान कारण होने से, यह 'नित्य' है। क्षण, लव, आदि काल के विभागो का भी कारण यह है, इसी से व्यापक भी है। इसकी अभिमानिनी देवी 'रमा' है। जीवो के 'लिंग-शरीर' की समष्टिरूप 'प्रकृति' ही है। महाप्रलय मे यह अकेली रहती है।

(६) गुणत्रय—'सत्त्व', 'रजस्' और 'तमस्' इन तीनो गुणो के समुदाय को 'गुणत्रय' कहते है। भगवान् ने सृष्टिकाल मे 'मूला प्रकृति' से सत्त्वराशि, रजोराशि तथा तमोराशि को उत्पन्न किया। इसी से महदादि सृष्टि होती है। सृष्टि के लिए इन तीनो गुणो मे निम्नलिखित परिमाण रहता है—

तमस् से दो गुना रजस् और रजस् से दो गुना सत्त्व। तमोगुण महत्तत्त्व से दस गुना अधिक परिमाण का है। महत्तत्त्व के चारों ओर यह दशगुणित तमोगुण घिरा हुआ है।

प्रकृति से पहले केवल शुद्ध सत्त्व उत्पन्न होता है। सत्त्व और तमोगुण के मिश्रण से रजोगुण तथा सत्त्व एव रजोगुण के मिश्रण से तमोगुण होता है। रजोगुण मे १ भाग रजस्, १०० भाग सत्त्व और १।१०० भाग तमस् है। तमोगुण मे १ भाग तमस्, १० भाग सत्त्व और १।१० रजस् है। गुणो के इसी वैषम्य को 'सृष्टि' कहते है।

[1] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ३३(क), ३५(ख)।

सृष्टिकाल मे सत्त्वगुण कभी मिश्रित नही रहता है, यह सर्वदा शुद्ध ही रहता है। गुणो की साम्यावस्था को ही 'प्रलय' कहते है।

रजोगुण से जगत् की 'सृष्टि', रजोगुण मे विद्यमान सत्त्व गुण से 'स्थिति' तथा तमोगुण से 'सहार' होता है। सत्त्व की अभिमानिनी 'श्री', रजस् की अभिमानिनी 'भू' तथा तमस् की अभिमानिनी दुर्गा एव रमा है। ब्रह्मा, आदि भी गुणत्रय के अभिमानी देवता है।

(७) महत्तत्त्व—इसका उपादान साक्षात् गुणत्रय का अश है। सभी गुण महत्तत्त्व-रूप मे नही परिणत होते, कारण, महत्तत्त्व की अपेक्षा मूला प्रकृति दशगुण अधिक है। प्रलय-काल मे महत्तत्त्व गुणत्रय मे लीन हो जाता है। उस समय महत्तत्त्व बारह भागो मे विभक्त होता है। उससे दस भाग शुद्ध सत्त्व मे, एक भाग रजस् मे तथा एक भाग तमस् में प्रवेश करता है और फिर सृष्टिकाल मे शुद्ध सत्त्व का दस भाग तथा रजस् का एक भाग तमोगुण के साथ मिल जाता है। तब महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसमें तीन भाग रजस् है और एक भाग तमस् है। इस प्रकार चारो भागो से युक्त महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व मे विद्यमान रजोगुण मे सत्त्व गुण का भी कुछ अश है; इसलिए महत्तत्त्व मे भी सत्त्व गुण का अश रहता ही है। इस महत्तत्त्व का परिमाण तमोगुण की अपेक्षा दशगुण न्यून है। ब्रह्मा तथा वायु अपनी स्त्रियो सहित महत्तत्त्व के अभिमानी देवता है।

(८) अहंकारतत्त्व—महत्तत्त्वगत तमोगुण के भाग से 'अहंकार' की उत्पत्ति होती है। इस मे दस भाग 'सत्त्व गुण', एक अश 'रजस्' तथा रजस् का दसवाँ हिस्सा 'तमस्' है। यह महत्तत्त्व से दशाश न्यून है। गरुड, शेष, रुद्र, आदि इसके अभिमानी देवता है।

अहंकार के भेद—इसके तीन भेद है—वैकारिक, तैजस तथा तामस।

(९) बुद्धितत्त्व—महत्तत्त्व से 'बुद्धितत्त्व' की उत्पत्ति होती है। यह दो प्रकार का है—तत्त्वरूप तथा ज्ञानरूप। इनमे ज्ञानरूप बुद्धि गुण-विशेष है। यह तत्त्व नही माना जाता है। तैजस अहकार के द्वारा यह उपचित होता है। ब्रह्मा से लेकर उमा पर्यन्त इसके अभिमानी देवता है।

(१०) **मनस्तत्त्व**—यह भी दो प्रकार का है—तत्त्वरूप और उससे भिन्न। 'वैकारिक' अहकार से **मनस्तत्त्व** की उत्पत्ति होती है। रुद्र, गरुड़, शेष, काम, इन्द्र, अनिरुद्ध, ब्रह्मा, सरस्वती, वायु और चन्द्रमा, ये इसके अभिमानी देवता हैं।

तत्त्वभिन्न 'मन' इन्द्रिय है। यह भी दो प्रकार की है—नित्य और अनित्य।

नित्य मनोरूप इन्द्रिय—'परमात्मा', लक्ष्मी, ब्रह्मा, आदि सभी जीवो के स्वरूप-भूत है। यह साक्षी कहलाती है। इसी लिए यह चैतन्य-स्वरूप है। **बद्ध जीवो** का मन 'चेतन' और 'अचेतन', दोनो है। किन्तु **मुक्तो** का मन केवल 'चेतन' ही है। भगवान् यद्यपि अपने स्वरूप से ही सब भोगो को भोग सकता है, तथापि जीव की देह मे रह कर वह जीव की इन्द्रियो के द्वारा ही भोग भोगता है।

अनित्य मनोरूप इन्द्रिय ब्रह्मादि सब जीवो मे है और यह बाह्य पदार्थ है। यह पाँच प्रकार की है—मन, बुद्धि, अहकार, चित्त तथा चेतना। **'मन'** सकल्प-विकल्पात्मक है। निश्चयात्मिका **'बुद्धि'** है। अपने रूप से भिन्न मे अपने रूप की मति को ही **'अहंकार'** कहते हैं। **'चित्त'** स्मरण का हेतु है। कार्य करने की शक्ति स्वरूप-चैतन्य ही **'चेतना'** है।

(११) **इन्द्रियतत्त्व**—अपने-अपने विषयो के प्रति गमन की शक्ति जिसमे हो वह **'इन्द्रिय'** है। यह भी दो प्रकार की है—**तत्त्वभूत** एव **तत्त्वभिन्न** और भी इसके दो भेद हैं—**'ज्ञानेन्द्रिय'** और **'कर्मेन्द्रिय'**। फिर भी ये 'नित्य' और 'अनित्य' भेद से दो प्रकार की है। इनमे **तत्त्वरूप** और अनित्य **ज्ञानेन्द्रियाँ** एव **कर्मेन्द्रियाँ** तो तैजस अहकार से उत्पन्न है, किन्तु तत्त्वभिन्न और नित्य **'ज्ञानेन्द्रियाँ'** तथा **'कर्मेन्द्रियाँ'** परमात्मा, लक्ष्मी, आदि सब जीवो की **स्वरूप-भूत** है। ये **साक्षी** कहलाती है।

परमात्मा और लक्ष्मी की दस इन्द्रियाँ प्रत्येक गंध आदि सब पदार्थों की ग्राहक है, परन्तु मुक्त तथा बद्ध जीवो की इन्द्रियाँ केवल अपने ही विषय की ग्राहक है। ब्रह्मादि सब जीवो की इन्द्रियाँ अनित्य एवं तत्त्वभिन्न है। ब्रह्मादि की भी स्थूल इन्द्रियाँ है और इनकी उत्पत्ति के

सम्बन्ध में कारण यह कहा गया है कि ब्रह्माण्डान्त पचभत सृष्टि के अनंतर ब्रह्मादिगत सूक्ष्म इन्द्रियाँ ही पाचो भूतो से तथा अहकार से वृद्धि को प्राप्त होती है। ये ही बाद को स्थूल इन्द्रियाँ हो जाती ह।[1] अतएव ये **प्राकृत इन्द्रियाँ** ह। ब्रह्मा आदि तथा सूर्य आदि इन इन्द्रियो के अभिमानी देव हैं।

स्वरूपभूत इन्द्रियाँ 'साक्षी' कही जाती है। मुक्तावस्था में, इनके द्वारा साक्षात् सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। ससारावस्था में भी **साक्षी-स्वरूप** इन्द्रियों के आत्मा, मन, मनोधर्म, सुख-दु ख आदि, अविद्या, काल एव अव्याकृताकाश साक्षात् विषय है। बाह्यन्द्रियो के द्वारा शब्द आदि भी **'साक्षिगोचर'** है। ज्ञातभाव से या अज्ञात भाव से सभी अतीन्द्रिय पदार्थ **साक्षिगोचर** हैं।

(१२) **तन्मात्रातत्त्व**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध, ये पाँच विषय **'मात्रा'** (अर्थात् इन्द्रियो के द्वारा जानने के योग्य) कहलाते है। ये भी दो प्रकार के है—तत्त्वरूप तथा उससे भिन्न। **तत्त्वरूप** तामस अहकार से उत्पन्न होते है तथा इन्हे **'पंचतन्मात्रा'** कहते है। ये द्रव्य है। **इनसे भिन्न** आकाशादि के गुण जो शब्दादि है, वे न तो तत्त्व है और न द्रव्य ही है। उमा, सुपर्णी, वारुणी, वृहस्पति, आदि इनके अभिमान रखने वाले देव है।

(१३) **भूततत्त्व**—इन सब तन्मात्राओ द्वारा तामस अहंकार से आकाश आदि पाँचो भूतो की उत्पत्ति होती है। शब्द से 'आकाश' की उत्पत्ति होती है। इसके अभिमान रखने वाले देवता विनायक है। अहकार से दशगुण न्यून 'आकाश' है।

(१४) **ब्रह्माण्डतत्त्व**—महत् से लेकर पृथिवी-पर्यन्त **'प्राकृत'**-पदार्थ है। **ब्रह्माण्ड** तो **विकृत** पदार्थ है। महदादि की उत्पत्ति अलग-अलग एकमात्र उपादान से होती है, किन्तु ब्रह्माण्ड तो चौबीसो उपादानो से उत्पन्न होता है। इसी लिए कहा गया है कि इन चौबीस तत्त्वो के द्वारा विष्णु बीज-रूप मे होकर अपने स्वरूप को ब्रह्माण्ड के रूप मे परिणत करते है। यह पचास कोटि योजन-विस्तीर्ण है।

---

[1] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ४२ (क)।**

यह ब्रह्माण्ड एक ही है और घड़े के दो भागों के समान इसके दो टुकडे है। ऊपर का हिस्सा तो सोने का है और नीचे वाला चाँदी का। सोने वाला भाग 'द्यौ' (आकाश) कहलाता है और चाँदी वाला 'पृथ्वी'।[1] इस ब्रह्माण्ड को भगवान् कूर्मरूप में तथा वायुरूप में धारण किये हुए है। यही सभी प्राणियो का तथा चौदहों भुवन का आवासस्थान है। सन्धि-स्थल में क्षुर की धार के समान सूक्ष्म छिद्रों से युक्त है।[2] इसके अभिमान रखने वाले देव चतुर्मुख, यम, शेष, सुपर्ण, आदि है।[3]

ब्रह्माण्ड के अतर्गत सृष्टि करने के लिए भगवान् ने महत् आदि तत्त्वो के अश को अपने उदर मे रख कर ब्रह्माण्ड के भीतर प्रवेश किया। इसके पश्चात् जलशायी भगवान् के उदर के भीतर वर्तमान जलरूप उपादान कारण से नाभि के द्वारा कमल उत्पन्न हुआ।[4] उससे चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। इसके बाद फिर ब्रह्माण्ड के भीतर देवताओ की, मन की तथा आकाश आदि पचभूतो की क्रमश उत्पत्ति हुई।[5]

(१५) अविद्यातत्त्व—'पचभूत' की सृष्टि के बाद चतुर्मुख ने 'अविद्या' की उत्पत्ति की। यथार्थ मे 'अविद्या' या 'माया' अनादि है। अतएव इसकी उत्पत्ति नही होती, फिर इसकी उत्पत्ति हुई, इस कथन से यह जानना चाहिए कि सूक्ष्म रूप से तो 'अविद्या' सर्वदैव है, फिर भी सृष्टि के लिए इसका स्थूल रूप आवश्यक है। अतएव ब्रह्माण्ड के बाहर ही अविद्या के स्थूल रूप को उत्पन्न कर परमात्मा ने ब्रह्माण्ड के मध्य मे रहने वाले चतुर्मुख मे उसे रखा और ब्रह्मा ने उसे अपने शरीर से बाहर निकाला। इसी से इसकी उत्पत्ति मानी जाती है।[6] पचभूतो के तमोगुण ही इसके उपादान है।[7]

---

[1] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ५३ (ख)।

[2] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ५४ (क-ख)।

[3] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ५४ (ख)।

[4] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ५५ (क)।

[5] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ५५ (क)।

[6] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ५६ (क-ख)।

[7] तात्पर्य, तृतीय स्कन्ध।

अविद्या की श्रेणियाँ—इसकी पाँच श्रेणियाँ होती हैं, जिन्हें क्रमश. मोह, महामोह, तामिस्र, अधतामिस्र तथा तम कहते है। विपर्यय, आग्रह, क्रोध, मरण तथा शार्वर इनके क्रमिक नामातर हैं।[1]

अविद्या के अन्य भेद—इसके 'जीवाच्छादिका', 'परमाच्छादिका', 'शैवला' तथा 'माया', ये भी चार भेद होते है।[2] 'अविद्या' के ये भेद सभी प्रकार जीव के ही आश्रित रहते है। प्रत्येक जीव के लिए भिन्न-भिन्न अज्ञान है। इसकी अभिमानिनी देवी दुर्गा है।[3]

(१६) वर्णतत्त्व—अकारादि 'वर्ण' के ५१ भेद होते है। इन्ही वर्णो से लौकिक तथा वैदिक सभी शब्द वने हुए है। इन वर्णो में प्रत्येक वर्ण देश और काल की अपेक्षा आकाश के समान व्यापक, अनादि तथा नित्य है।[4] 'वर्ण' नित्य द्रव्य होने के कारण किसी मे समवाय-सबन्ध से नही रहता।

(१७) अंधकारतत्त्व—अंधकार भी एक 'द्रव्य' है। यह तेज का अभाव नही है। यह प्रकाश का नाशक है। यदि यह अभाव-स्वरूप होता, तो 'नील रग' का अधकार इधर-उधर जाता है', ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव नही होता। नील-रूप तथा चलन-रूप क्रिया का आश्रय होने के कारण 'अधकार' का मूर्त द्रव्य होना सिद्ध होता है।[5]

'अंधकार' जडा प्रकृतिरूप उपादान से ही उत्पन्न होता है और वह इतना घनीभूत हो जाता है[6] कि दूसरे कठोर द्रव्य के समान वह भी हथियार से काटा जाता है।[7] महाभारत के युद्ध मे जब सूर्य चमक ही रहा था, उसी समय श्रीकृष्ण भगवान् ने इसे उत्पन्न किया था।[8]

---

[1] तात्पर्य, तृतीय स्कन्ध।
[2] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ५६ (ख)।
[3] तात्पर्य, एकादश स्कन्ध।
[4] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ५९ (ख)।
[5] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६० (ख)।
[6] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६१ (क)।
[7] पदार्थसग्रह, पृष्ठ ६१ (क)।
[8] निर्णय।

भावरूप द्रव्य होने के ही कारण ब्रह्मा ने इसका पान किया था। स्वतंत्र रूप से इसकी उपलब्धि लोगों को होती है और यह अन्य वस्तुओं को ढँक देता है, इसलिए इसका 'भावरूप' होना निश्चित है।[1]

(१८) वासनातत्त्व—स्वप्न में देखी जाने वाली बातों के उपादान कारण को 'वासना' कहते हैं।[2]

स्वप्नविचार—माध्व के मत में 'स्वप्न' में अनुभूत बातें सभी सत्य मानी जाती हैं। 'स्वप्न' शुभदायक और अशुभदायक भी होता है। यदि 'स्वप्न' मिथ्या ही होता, तो इसके सम्बन्ध में शुभ और अशुभ का प्रयोग ही नही होता।[3]

जाग्रत् अवस्था में 'स्वप्न' की बातें नही दीख पड़ती। इसका कारण यह है कि ईश्वर से प्रेरित होकर वे विद्युत् के समान स्वप्नावस्था में ही उत्पन्न होती है और नष्ट भी हो जाती है।[4]

स्वप्न की उत्पत्ति—जाग्रत् अवस्था में जिन बातों का अनुभव होता है, उन्ही अनुभवो से अन्त करण के सहारे ये वासनाएँ उत्पन्न होती है। अत.करण ही इनका आश्रय है। ये अनुभव अनादिकाल से चले आ रहे है और प्रत्येक जीव के मन में सस्कार-रूप से वर्तमान रहते है। अपनी इच्छा से ये ही मनोगत सस्कार जीव को दिखाई देते है और यही दिखाई देना 'स्वप्न' कहलाता है।

मनोरथ तथा स्वप्न—मनोरथ तथा ध्यान में भी तो संस्कार से उत्पन्न विषय का अनुभव मन के द्वारा होता है और स्वप्न मे भी ऐसा ही होता है, फिर 'मनोरथ' तथा 'स्वप्न' के अनुभवो में भेद इतना ही है कि 'मनोरथ की सृष्टि' मनुष्य के प्रयत्न से होती है, किन्तु 'स्वप्न की सृष्टि' अदृष्ट के सहारे ईश्वर के अधीन है।[5]

---

[1] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६१ (क)।

[2] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६१ (ख)।

[3] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६१ (ख)।

[4] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६२ (क)।

[5] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६२ (क-ख)।

ध्यान और वासना—इसी प्रकार ध्यान या उपासना मे भी जो भगवान् के सदृश आकार दिखाई देता है, वह भी वासनामय है, क्योकि भगवान् साक्षात् ध्यान-विषय तो है नही। चित्त का प्रतिबिंब ही उस समय दिखाई देता है। अतएव श्रवण तथा दर्शन, आदि से उत्पन्न मानसिक वासनामय वस्तु का अवलोकन करने को ही आचार्यों ने **'ध्यान'** कहा है।[1]

(१९) **कालतत्त्व**—आयु का व्यवस्थापक **'काल'** कहलाता है। क्षण, लव, त्रुटि, इत्यादि इसके अनेक रूप हैं। नैयायिको की तरह माध्व ने 'काल' को नित्य नही माना है। इनके मत मे 'काल' प्रकृति से उत्पन्न होता है और उसी मे लय भी होता है।[2] प्रलय-काल मे भी काल की उत्पत्ति मानी जाती है और इसी लिए काल का आठवाँ हिस्सा **'प्रलय-काल'** कहलाता है।[3] काल मे भी काल होता है, जैसे—**'इदानीं प्रातः कालः'**। यहाँ 'इदानी' भी तो कालवाचक ही है।[4] 'काल' सबका आधार है। अनित्य होने पर भी 'काल' का **प्रवाह** नित्य है। यह सब कार्यों की उत्पत्ति का कारण भी है।[5]

(२०) **प्रतिबिंबतत्त्व**—'बिब' से अलग न रहने वाला और उसके सदृश ही तत्त्व **'प्रतिबिंब'** है।[6] बिब के ही अधीन इसकी सत्ता और क्रिया होने से यह क्रियावान् कहलाता है।[7] स्वय प्रतिबिंब मे क्रिया नही है।[8] बिब और प्रतिबिब मे कही ज्ञान, आनद, आदि गुणो से तथा कहीं चैतन्य, हाथ, पैर, आदि के होने से सादृश्य है। इसी लिए परमात्मा का प्रतिबिब दैत्यो मे भी है।[9]

---

[1] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६२ (क-ख)।

[2] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६३ (क)।

[3] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६३ (ख)।

[4] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६५ (क)।

[5] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६५ (क)।

[6] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ६५ (ख)।

[7] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६५ (ख)।

[8] गीताभाष्य।

[9] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६५ (ख)।

प्रतिबिंब के भेद—यह 'प्रतिबिंब' नित्य और अनित्य, दोनो है। परमात्मा[1] से अतिरिक्त जितने चेतन है, सभी परमात्मा के 'प्रतिबिंब' है और ये 'प्रतिबिंब' सभी नित्य है, क्योकि परमात्मा-रूप बिंब का तथा अन्य चेतनो का अथवा उनकी सन्निधि का नाश कभी नही होता। दर्पण मे जो मुख का प्रतिबिंब है, वह बिंब-स्वरूप मुख के नाश से अथवा दर्पण-रूप उपाधि के नाश से या उनकी सन्निधि के नाश से, नष्ट होता है। अतएव ये सब अनित्य प्रतिबिंब है। छाया, परिवेष, इन्द्रचाप, प्रतिसूर्य, प्रतिध्वनि, स्फटिक का लौहित्य, इत्यादि भी प्रतिबिंब कहलाते है।[2]

गुण-निरूपण

द्रव्य के बाद 'गुण' दूसरा तत्त्व है। माधव ने 'गुण' का 'दोष' से भिन्न अर्थ मे प्रयोग किया है। इनके मत मे रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, गुरुत्व, लघुत्व, मृदुत्व, काठिन्य, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, आलोक, शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गांभीर्य, सौंदर्य, धैर्य, स्थैर्य, शौर्य, औदार्य, सौभाग्य, आदि अनेक गुण माने गये है।

गुण के भेद

इन गुणो मे रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द पृथ्वी मे 'पाकज' तथा 'अपाकज', दोनो है, किन्तु अन्य द्रव्यो मे केवल अपाकज ही है। माध्वमत मे 'पीलुपाकवाद' नही मानते, क्योकि यह प्रक्रिया प्रत्यक्ष-विरुद्ध है।

कर्म-निरूपण

कर्म का लक्षण—साक्षात् या परंपरा से पुण्य और पाप का जो असाधारण कारण है, वही 'कर्म' है। '**कर्म**' के तीन भेद है—'विहित', निषिद्ध' तथा 'उदासीन'।

(१) **विहित कर्म**—विधिपूर्वक की गयी यज्ञादि क्रिया '**विहितकर्म**' है।

---

[1] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६६(क)।

[2] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ९८(क)।

इसके काम्य और अकाम्य दो भेद है। फल की इच्छा से किया गया कर्म **'काम्य'** है और ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए किया गया कर्म **'अकाम्य'** है। ये दोनो प्रकार के 'कर्म' ब्रह्मा से लेकर छोटे से छोटे जीव तक सभी करते है।

'प्रारब्ध कर्म' भी काम्य ही है। इसमे भी पूर्वतन काम्य कम दो प्रकार का है—'प्रारब्ध' और 'अप्रारब्ध'। **प्रारब्ध** का नाश नही होता। **अप्रारब्ध** फिर दो प्रकार का है—**इष्ट** और **अनिष्ट**। 'इष्ट' का भी नाश नही होता।

सत्यलोक के आधिपत्य तथा जगत् के सर्जन आदि से भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ब्रह्मा जो कर्म करते है, वही उनका **काम्य कर्म** है। लक्ष्मी-नारायण के जो तपस्यादि कर्म है, वे लीला के लिए या शत्रुओ को मोहने के लिए होते है। ये 'काम्य' नही कहलाते।

(२) **निषिद्ध कर्म**—मन, वाणी और शरीर से अपने से बडो का अपराध करना ही **'निषिद्ध कर्म'** है। इसके अतिरिक्त जिन कर्मों का वेद या तन्मूलक शास्त्र मे निषेध है, वे भी **'निषिद्ध कर्म'** है, जैसे—'न **कलञ्जं भक्षयेत्**'—कलज को न खाना चाहिए।

(३) **उदासीन कर्म**—'विधि' और 'निपेध' से भिन्न कर्म **'उदासीन'** कहलाते है।

उदासीन कर्म अनेक प्रकार के है—'उत्क्षेपण'—ऊपर फेकना, 'अपक्षेपण'—नीचे फेकना, 'आकुचन'—सिकुड़ना, 'प्रसरण'—फैलना, 'गमन'—जाना, 'भ्रमण'—घूमना, 'वमन'—कै करना, 'भोजन'—खाना, 'विदारण'—फाड़ना, इत्यादि। ये कर्म चेतन और अचेतन दोनों मे ही रहते है।

कर्म के अन्य भेद—कर्म पुन दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। ईश्वर, जीव, आदि चेतनों के स्वरूप-भूत कर्म **'नित्य'** है, जैसे—सृष्टि, सहार तथा गमन, इत्यादि। **'अनित्य'** कर्म शरीर आदि अनित्य वस्तुओ मे है।

सामान्य-निरूपण—'सामान्य' के दो भेद है—'नित्य' और अनित्य'। 'जाति' और 'उपाधि' इसके दो और भी भेद है। शास्त्रीय जाति-व्यवहार का जो

विषय है, वही 'जाति' है, जैसे—ब्राह्मणत्व। इतर निरूपणाधीन निरूपण जिसमें हो, वह **'उपाधि'** है, जैसे—'प्रमेयत्व', 'जीवत्व', 'देवत्व', इत्यादि। जाति, जो 'यावद्वस्तु-भावि' है, वह **'नित्य'** है, किन्तु 'ब्राह्मणत्व', मनुष्यत्व', इत्यादि 'अयावद्वस्तु-भावि' होने के कारण **'अनित्य'** है। इसी तरह **'उपाधि'** भी नित्य और अनित्य है। 'सर्वज्ञत्व' परमात्मा मे 'नित्य' उपाधि है, किन्तु 'प्रमेयत्व' घट आदि मे 'अनित्य' है।

विशेष-निरूपण—देखने मे भेद न रहने पर भी भेद के व्यवहार का कारण **'विशेष'** है। यह सभी पदार्थों मे है। यह अनत है। इसी 'विशेष' के कारण गुण और गुणी मे भेद किया जाता है, किन्तु विशेषो मे भी परस्पर भेद के लिए उस पर अन्य 'विशेप' नही माना जाता है। वह स्वय 'विशेष' का काम कर लेता है। यह भी नित्य और अनित्य है। ईश्वरादि नित्य द्रव्य मे तो **नित्य विशेष** है, घटादि अनित्य द्रव्य मे **अनित्य विशेष** है। ये **'समवाय'** नही मानते।

विशिष्ट-निरूपण—विशेपण के सबंध से विशेष का जो आकार है, वही **'विशिष्ट'** है। नित्य और अनित्य इसके भी दो भेद है। सर्वज्ञत्व आदि विशेपणों से विशिष्ट परब्रह्म आदि **'नित्य विशिष्ट'** है। दण्ड आदि विशेपणों से विशिष्ट दडी आदि **'अनित्य विशिष्ट'** है।

अंशी-निरूपण—हाथ, वितस्ति, आदि से अतिरिक्त पट, गगन, आदि प्रत्यक्ष-सिद्ध पदार्थ **'अंशी'** है। आकाशादि तो **'नित्य अंशी'** है, किन्तु पट आदि **'अनित्य अशी'** है।

शक्ति-निरूपण—'शक्ति' के चार भेद है—'अचिन्त्य शक्ति', 'सहज शक्ति', 'आधेय शक्ति' और 'पदशक्ति'।

(१) **अचित्य शक्ति**—अघटित घटना मे पटीयसी शक्ति ही **'अचित्य शक्ति'** है। वह परमेश्वर मे सपूर्ण रूप से है और लक्ष्मी, ब्रह्मा, आदि की अपेक्षा परमात्मा मे अवधिरहित है। बैठे रहने पर भी दूर चला जाना, अणुत्व और महत्त्व, दोनो को एक ही समय मे अपने में रखना इत्यादि **अचिन्त्य शक्ति** के उदाहरण है। लक्ष्मी मे परमात्मा की शक्ति से अनंत अश न्यून शक्ति है। लक्ष्मी की शक्ति के कोटिगुण न्यून ब्रह्मा तथा वायु की शक्ति है। इस प्रकार तारतम्य सभी द्रव्यों में है।

(२) **सहज शक्ति**—कार्यमात्र के अनुकूल स्वभावरूप शक्ति ही **'सहज शक्ति'** है, जैसे—दण्ड आदि मे घट बनाने की अनुकल शक्ति है। यह अतीन्द्रिय है। एक प्रकार से यह कारण धर्म-विशेष ही है। यह सभी पदार्थों मे है। यह भी नित्य और अनित्य है—नित्य द्रव्य मे **नित्य** और अनित्य द्रव्य में **अनित्य** है।

(३) **आधेय शक्ति**—अन्य वस्तु में आहित, अर्थात् दी हुई शक्ति, **'आधेय शक्ति'** है, जैसे—प्रतिष्ठित प्रतिमा की ही पूजा होती है। उसमे प्रतिप्ठारूप क्रिया के द्वारा प्रतिमा मे पूर्व न रहने वाले देवता का सान्निध्य होता है। उसे ही **'आधेय शक्ति'** कहते हैं। इसी प्रकार **'व्रीहीन् प्रोक्षति'** इससे व्रीहि मे, कामिनी-चरण के आघात से अशोक-वृक्ष में अकालिक पुष्प की उत्पत्ति तथा औषध-लेपन से काँस के पात्र में दौड़ने की शक्ति, आदि **'आधेय शक्ति'** के उदाहरण हैं।

(४) **पदशक्ति**—पद और उसके अर्थ मे जो वाच्य-वाचक-भाव संबंध है, वही **'पदशक्ति'** है। गोपद से गो-अर्थ का ज्ञान जिससे हो, वही 'पदशक्ति' है। यह स्वर, ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य मे रहती है। 'मुख्या' और 'परम मुख्या' इसके भेद हैं। परमात्मा मे सभी शब्दो की **परम मुख्या** शक्ति है, अन्य मे केवल **मुख्या**।

सादृश्य-निरूपण—'यह इसके सदृश है', 'वह उसके सदृश है' इन वाक्यों मे जिससे परस्पर प्रतियोगी तथा अनुयोगी का अनुभव होता है, वही **'सादृश्य'** है। यह नाना है। यह भी नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार का है। नित्य द्रव्य मे **नित्य** और अनित्य द्रव्य मे **अनित्य** है।

अभाव-निरूपण—प्रथम प्रतिपत्ति, अर्थात् ज्ञान मे निषेधात्मक भान ही **'अभाव'** है। 'प्रागभाव', 'प्रध्वंसाभाव', 'अन्योन्याभाव' तथा 'अत्यंताभाव', ये चार इसके भेद हैं।

(१) **प्रागभाव**—कार्य की उत्पत्ति से पूर्व ही कारण मे रहने वाला उस वस्तु का जो अभाव है, वही **'प्रागभाव'** है।

(२) **प्रध्वंसाभाव**—उत्पत्ति के अनंतर ही उस वस्तु का नाश होने पर वस्तु मे रहने वाला अभाव **'प्रध्वंस'** है।

(३) **अन्योन्याभाव**—सार्वकालिक परस्पर जो अभाव है, वही '**अन्योन्याभाव**' है। यह पदार्थ-स्वरूप ही है। यह पुनः नित्य में रहने वाला '**नित्य**' है, जैसे—जीवो के आपस के भेद। अनित्य मे रहने वाला '**अनित्य**' है, जैसे—घट-पट मे।

(४) **अत्यन्ताभाव**—अप्रामाणिक प्रातियोगिक जो अभाव, अर्थात् असत् प्रातियोगिक जो अभाव है, वही '**अत्यंताभाव**' है, जैसे—शशशृंग।

कारण-विचार

'कारण' के दो भेद हैं—'उपादान' तथा 'अपादान'। परिणामी कारण को ही '**उपादान**' कारण और '**अपादान**' को ही '**निमित्त**' कारण भी बताया गया है।

करण के भेद

कार्य सत् और असत् दोनो होता है। उत्पत्ति के पूर्व कारण-रूप मे तो 'सत्' है, किन्तु कार्य-रूप मे वह 'असत्' है। परन्तु उत्पत्ति के बाद कार्य-रूप मे तो 'सत्' है और कारण-रूप मे 'असत्' है। उपादान और उपादेय मे भेद और अभेद, दोनो ही हैं। द्रव्य के साथ-साथ रहने वाले गुण, क्रिया, जाति, आदि का गुणी, क्रियावान् तथा व्यक्ति के साथ क्रम से अत्यत अभेद है। द्रव्य के साथ-साथ न रहने वालो मे भेद और अभेद, दोनो ही हैं।

ज्ञान-विचार

अत.करण का परिणाम '**ज्ञान**' है। इसका उत्पत्ति-क्रम यह है—आत्मा का मन के साथ सयोग होता है, मन का इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय अपने विषय के

ज्ञान की उत्पत्ति की प्रक्रिया

साथ सयुक्त होती है। तब अत करण का परिणाम होता है और इसी परिणाम को '**ज्ञान**' कहते हैं। ज्ञान से इच्छा और इच्छा से प्रवृत्ति होती है। अत करण मे रहने वाले ज्ञान के साथ बाहर के घट, पट, आदि का सयोग नही हो सकता, अतएव इन दोनो मे '**विषय-विषयिभाव**' सबध माना गया है।

प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इन्द्रिय और अर्थ का सयोग है। गुण, क्रिया, आदि के साथ भी इन्द्रिय का सयोग ही होता है। इन्द्रिय और अर्थ के सयोग के द्वारा चक्षु

प्रत्यक्ष ज्ञान

आदि छ· इन्द्रियाँ ज्ञान को उत्पन्न करती हैं। सस्कार के द्वारा मन '**स्मरण**' का कारण है। इनके मत मे '**यथार्थ-स्मृति**' भी प्रमाण है। प्रत्यक्ष आदि जन्य-ज्ञान सविकल्पक ही होता है, निर्विकल्पक नही

प्रत्यक्ष के भेद—प्रत्यक्ष के आठ भेद हैं—साक्षि, यथार्थ ज्ञान तथा छः इन्द्रियों से साक्षात् उत्पन्न ज्ञान।

अनुमान के भेद—अनुमान के तीन भेद हैं—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी। अनुमान मे उतने ही अवयव माने जाते है, जितने 'अनुमिति' के लिए आवश्यक हो। पाँच अवयवों का होना आवश्यक नही है।

शब्द के भेद—पौरुषेय और अपौरुषेय के भेद से आगम दो प्रकार का है। आप्तो[1] से कहे जाने पर ही '**पौरुषेय**' प्रमाण है। '**अपौरुषेय वेदवाक्य**' सभी प्रामाणिक है।

वेद के अपौरुषेय होने में एक तो श्रुति (वेद) ही प्रमाण है और दूसरी वात यह है कि यदि वेद पौरुषेय होता तो धर्म और अधर्म, आदि की सिद्धि ही नहीं होती।

स्वतः प्रामाण्य—इनके मत में प्रमाणों का प्रामाण्य स्वत. होता है। ज्ञान के कारणमात्र से ही ज्ञानगत प्रामाण्य का भी बोध होता है, इसलिए उत्पत्ति मे **स्वतस्त्व** है और जहाँ कहीं प्रामाण्यग्रह होता है, वहाँ ज्ञान-ग्राहक साक्षी के ही द्वारा प्रामाण्यग्रह होना नियत है। इस प्रकार '**ज्ञान**' मे भी **स्वतस्त्व** है। '**अप्रामाण्य**' तो '**परतः**' होता है और परत. जाना भी जाता है।

सृष्टिप्रक्रिया

प्रलय के अन्त में सृष्टि करने की परमात्मा को इच्छा होती है। तब वह प्रकृति के गर्भ मे प्रवेश कर उसे कार्योन्मुख करता है। वाद मे तीन गुणों मे परस्पर

सृष्टिक्रम

वैषम्य उत्पन्न होता है। इसके वाद महत् से लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त तत्त्वों की तथा उनका अभिमान रखने वाले ब्रह्मा आदि देवताओ की वह सृष्टि करता है। फिर चेतन और अचेतन अशों को उदर मे नि क्षेप कर परमात्मा ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है। तब देवताओ के मान से हजार वर्ष के अन्त मे अपनी नाभि से पद्म (कमल) को उत्पन्न करता है। उस पद्म से चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और चतुर्मुख ब्रह्मा जगत् की उत्पत्ति के निमित्त हजार दिव्य वर्ष-पर्यन्त तपस्या करते ह। उस तपस्या से प्रसन्न भगवान् अपने शरीर से पंचभूतो की सृष्टि करता है।

---

[1] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १००(क)।

पचभतों की सहायता से परमात्मा के द्वारा सूक्ष्म रूप मे उत्पन्न किये हुए चतुर्दश लोकों को चतुर्मुख के अन्दर प्रवेश कर उन्ही के नाम को धारण कर स्थूल-रूप मे परमात्मा उत्पन्न करता है। बाद को सभी देवता अड के भीतर से उत्पन्न होते है। इस प्रकार क्रमश: अवशिष्ट सृष्टि होती है।

दस अवतार

जब राजसिक तथा तामसिक प्रकृति के लोग सात्त्विको पर उपद्रव करने लगे तभी भगवान् के भिन्न-भिन्न **अवतार** हुए। इनमे **श्रीकृष्ण** को छोड कर और सभी अवतार परमेश्वर के अशभूत है। किन्तु एकमात्र अवतार **श्रीकृष्ण** स्वय भगवान् है।[१] सबसे पहले **'मत्स्य'** अवतार हुआ। मत्स्य अवतार दो बार हुआ। **'कूर्म'** अवतार भी दो बार हुआ, क्योकि अमृत-मंथन दो बार हुआ था। **'वराह'** अवतार भी दो बार हुआ। **'नृसिंह'** अवतार एक बार हुआ। **'वामन'** अवतार भी दो बार हुआ। **'राम'** अवतार एक ही बार त्रेतायुग में हुआ। **'परशुराम'** अवतार भी एक ही बार हुआ। इसी प्रकार **'कृष्ण'** अवतार भी एक ही बार हुआ। **'बुद्ध'** तथा **'कल्कि'** अवतार भी एक ही बार हुआ। ये दस **अवतार** है।

इनके अतिरिक्त और भी अवतार हुए है, जैसे—**'व्यास'** अवतार 'राम' अवतार से पहले हुआ था। 'स्वायभुव' मनु के समय मे **'यज्ञ'** और **'ऋषभ'**, ये दोनों अवतार हुए।[२] इन सभी अवतारो का एकमात्र प्रयोजन दुष्टदमन तथा सज्जनोद्धार है।

भगवान् नाना रूप से जगत् मे आकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह तथा तुरीय, इन अवस्थाओ के द्वारा जीवो का पोषण करता है। **'जाग्रत्'**-अवस्था ब्रह्मादि सभी चेतनो मे होती है, **'स्वप्नावस्था'** सभी जीवो की होती है। **'सुषुप्ति'** तथा **'मोह'** अवस्थाएँ रुद्रादि सभी जीवो की है। **'तुरीयावस्था'** मोक्ष है। **'गर्भावस्था'** मे भी भगवान् ही सबका पोषक है।

इसी प्रकार प्रलयरूप **संहार** भी होता है। **प्रलय** दो प्रकार का है—महाप्रलय और अवांतरप्रलय।

महाप्रलय—तीनों गुणो से लेकर ब्रह्मांड-पर्यन्त के अभिमानी ब्रह्मा आदि का नाश **महाप्रलय** मे होता है।[३] इस अवसर पर भगवान् सृष्टि के नाश की इच्छा

[१] **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' भागवत, प्रथम स्कंध।**

[२] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १११ (क-ख)।**

[३] **मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ११६ (ख)।**

करते हुए, 'शेष' या 'संकर्षण' के भीतर प्रवेश कर मुख से अग्नि की ज्वाला निकालता है और उससे आवरण-सहित ब्रह्माण्ड जल कर भस्म हो जाता है। सभी कार्य अपने-अपने कारण मे लीन होकर केवल प्रकृतिमात्र रह जाती है। लक्ष्मी भी जलस्वरूपा हो जाती है और उस महान् जल-राशि में लक्ष्मी-स्वरूप एक वट के पत्र पर 'शून्य नाम' के (शून्यनामा) नारायण शयन करते है।[1] प्रलय में अन्य कोई आश्रय न होने के कारण सभी 'जीव' नारायण के उदर में प्रविष्ट होकर रहते है। श्वेतद्वीप, अनत-आसन तथा वैकुंठ मे 'श्री' के अशों का नाश प्रलय मे नही होता। 'अन्धतमस' का भी नाश नही होता। 'रौरव' आदि नरकों का नाश होता है।

संहार

'अवांतर प्रलय' के दो विभाग है—'दैनंदिन-प्रलय' तथा 'मनुप्रलय'।

(१) **दैनन्दिन प्रलय**—प्रतिदिन ब्रह्मा की रात्रि आने पर जो नाश होता है, वह 'दैनन्दिन प्रलय' है। इस अवस्था मे भूः, भुव तथा स्व., इन्ही तीनो लोकों का नाश होता है। इन्द्र आदि इस समय मे महर्लोक को चले जाते है।

(२) **मनुप्रलय**—प्रत्येक मनु के भोगकाल की समाप्ति के अवसर पर जो नाश होता है, वही 'मनुप्रलय' है। इसमें भूलोक के मनुष्यादि-मात्र का नाश होता है। अन्य दोनों लोको के वासी महर्लोक को चले जाते है और तब ये तीनों लोक जल से पूर्ण रहते है।

सभी 'ज्ञान' परमात्मा के अधीन है। शरीर, स्त्री, आदि का **'ममता-रूप ज्ञान'** तो ससार का कारण होता है और योग्य **'अपरोक्ष-रूप ज्ञान'** मोक्ष का हेतु होता है। चतुर्मुख से लेकर उत्तम श्रेणी के मनुष्य-पर्यंत सज्जीवो को ही **अपरोक्ष ज्ञान** होता है, तमोयोग्यो को नही होता। मोक्ष के हेतु **अपरोक्ष-रूप ज्ञान** के साधन निम्नलिखित है—

ज्ञान का विचार

नाना प्रकार के सांसारिक दु.ख को देख कर सतों की संगति से इहलौकिक तथा पारलौकिक फल मे विराग उत्पन्न होना, शम, दम, तितिक्षा, आदि गुणों से युक्त होना, अध्ययन मे निरत होना, शरणागति, गुरुकुलवास, गुरु के उपदेश द्वारा सत्-शास्त्रो का श्रवण, उनका मीमासा आदि के द्वारा मनन, यथायोग्य गुरुभक्ति, परमात्मा में भक्ति, अपने से नीचो के प्रति दया, अपने समानो के प्रति स्नेह, अपने

[1] भागवत, तृतीय स्कन्ध।

से उच्चों मे भक्ति, ज्ञानपूर्वक निष्काम होना, शास्त्रो मे निषिद्ध बातो का त्याग, भगवान् मे सबका समर्पण, जीवो मे, देवो मे तारतम्य को समझना और भगवान् को सबसे ऊँचा जानना, पाँच प्रकार के भेदो का ज्ञान,[1] प्रकृति और पुरुष में विवेक-ज्ञान, अयोग्यो की निन्दा और उपासना। ये ब्रह्मा से लेकर सभी योग्य जीवों के लिए मोक्ष-प्राप्ति के हेतु हैं। इनका अभ्यास करना आवश्यक है।

'उपासना' के दो भेद हैं—सर्वदा शास्त्र का **अभ्यास** करना तथा **ध्यान** करना। किसी को **अभ्यास** से और किसी को **ध्यान** से **अपरोक्ष-ज्ञान** मिलता है।

उपासना-विचार

ध्यान—अन्य सभी विषयो को हेय दृष्टि से देखते हुए भगवान् के विषय में अखण्ड स्मृति[2] को ही **'ध्यान'** कहते है। इसी को 'निदिध्यासन' तथा 'समाधि' भी कहा गया है। यह श्रवण तथा मनन के द्वारा अज्ञान, सशय तथा मिथ्या ज्ञान का नाश होने पर होता है।

गुणोपासना—भगवान् के भिन्न-भिन्न गुणो के अनुसार उपासना मे भी अनेक प्रकार होते हैं। कोई आत्मस्वरूप एकमात्र **गुण** को लेकर भगवान् की उपासना करते है, वे **एक-गुणोपासक** हैं। उत्तम श्रेणी के मनुष्य सत्, चित्, आनन्द तथा आत्म-स्वरूपवत्त्व, इन चारो **गुणों से विशिष्ट** भगवान् की उपासना करते हैं।

इसी प्रकार देवो मे भी **ब्रह्मा** वेद मे कहे हुए अनत गुण और क्रिया से विशिष्ट भगवान् का ध्यान करते हैं। क्रिया-अश को लेकर सामान्य रूप में भगवान् की उपासना **सरस्वती** करती हैं।

अपने-अपने अधिकार के अनुसार **देवता लोग** भगवान् के भिन्न-भिन्न अंश को लेकर उपासना करते है। कोई-कोई **ऋषि** अपनी देह के अंतर्गत **बिंब** की ही उपासना करते हैं। **अप्सराओं** को काम-भक्ति से उपासना करनी चाहिए। **देवताओं की स्त्रियों** को श्वशुरभाव से भगवान् की उपासना करनी चाहिए। अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उपासना करने से 'मुक्ति' मिलती है। अन्यथा उपासना का फल अनर्थ को प्राप्त करता है।[3]

---

[1] जीव-ईश-भेद, जीवो में परस्पर भेद, जड़-ईश-भेद, जड़ों में परस्पर भेद तथा जड़-जीव-भेद।

[2] तंत्रसार।

[3] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १४० (ख)।

उपासना के भेद से दृष्टि मे भी भेद है, जैसे—कोई अतर्दृष्टि, कोई वहिर्दृष्टि, कोई अवतार-दृष्टि और कोई सर्वदृष्टि होते है। ऋषि लोग अंत प्रकाश वाले होते है, इसलिए वे 'अंतर्दृष्टि' कहे जाते है। मनुष्य वहि प्रकाश के होते है, अतएव वे 'वहिर्दृष्टि' होते है। देवता सर्वप्रकाश होते है अत वे 'सर्वदृष्टि' है। अतएव मनुष्यो को अग्नि तथा प्रतिमा (मूर्ति) की उपासना करनी चाहिए।[1] उपासना के अनुसार ही ज्ञान भी होता है।[2]

इन साधनाओ के द्वारा **'मोक्ष'** होता है। इनके अतिरिक्त हरि का स्मरण, कीर्तन, जप, अर्चन, द्वादशी-व्रत[3], आदि अनेक साधन है, जो भक्ति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के हेतु है। 'अज्ञान' तथा 'वधन' परमात्मा के अधीन है।

मोक्ष-विचार

मोक्ष भी परमात्मा के अधीन है। उक्त साधनो के द्वारा **अपरोक्ष-ज्ञान** होने के बाद परम भक्ति उत्पन्न होती है। तव भगवान् की अत्यन्त प्रसादप्राप्ति होती है। इससे प्रकृति, अविद्या आदि से **'मोक्ष'** मिलता है।

मोक्ष के भेद—मोक्ष चार प्रकार का है—'कर्मक्षय', 'उत्क्रातिलय', 'अर्चिरादि-मार्ग' और 'भोग'।

(१) **कर्मक्षय**—अपरोक्ष-ज्ञान होने पर सभी सचित पापों का, अनिष्ट तथा पुण्यों का सब तरह से नाश हो जाना ही **'कर्मक्षय'** कहलाता है।

प्रारव्ध कर्म का नाश भोग से ही होता है। सत्यलोक के आधिपत्य-रूप पुण्यात्मक प्रारव्ध-फल का अनुभव ब्रह्मा को शत ब्रह्म-कल्पपर्यन्त होता है। गरुड़ तथा शेष को पुण्य-पाप-रूप प्रारव्ध का अनुभव पचास ब्रह्मकल्पपर्यन्त होता है। इन्द्र और काम को वीस ब्रह्मकल्पपर्यन्त एव सूर्य, चन्द्र आदि देवताओ को दस ब्रह्मकल्पपर्यन्त **प्रारव्ध कर्म** का अनुभव होता है। अन्य उत्तम श्रेणी के मनुष्यो को एक ब्रह्मकल्पमात्र अनुभव होता है।

---

[1] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १४१ (क)।

[2] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १४१ (ख)।

[3] द्वादशी तिथि ही हरिवासर है। इसलिए द्वादशी-व्रत हरि की उपासना का अंग कहा गया है।

प्रारब्ध कर्म के भोगफल का अनुभव समाप्त कर सुषुम्नारूपी ब्रह्मनाडी के द्वारा देह से निकल कर जीव ऊपर उठता है। यहाँ से कोई वायु द्वारा चतुर्मुख तक पहुँचते है और किसी को सीधे परमात्मा की प्राप्ति होती है।

(२-३) **उत्क्रान्तिलय-अर्चिरादिमार्ग**—देवताओ का न तो **उत्क्रमण** होता है और न **अर्चिरादिमार्ग** ही होता है। मनुष्य आदि को ही दोनो प्राप्त होते है। किन्तु इससे 'मुक्ति' नही होती।

क्रममुक्ति—उत्तम जीवो मे देह का लय हो जाने से **क्रमशः मोक्ष** मिलता है। उत्तरोत्तर देहो मे क्रमश. लय होते-होते चतुर्मुख की देह मे जब जीव प्रविष्ट हो जाता है, तब ब्रह्मा के साथ-साथ विरजा नदी[१] में स्नान करने से लिंग-शरीर का नाश[२] हो जाता है। लिंग-शरीर का नाश हो जाने से जीव-संबंध का, अर्थात् जीवत्व का नाश समझा जाता है।

(४) **भोगमोक्ष**—अन्त में **सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य** तथा **सायुज्य**—चार प्रकार से मुक्ति मे भी जीव **भोग** प्राप्त करता है। इन सभी अवस्थाओं मे तारतम्य है। अपनी-अपनी उपासना के अनुसार सभी ईर्ष्या, असूया, आदि से रहित हो कर आनद मे मग्न रहते है। ये मुक्त जीव ससार मे फिर नही आते। ब्रह्मा आदि जीव जब मुक्त हो जाते है, तब उनमे सृष्टि करने का व्यापार नही रहता।

---

[१] मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १५९ (क-ख)।

[२] पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १५९ (ख)।

एकोनविंश परिच्छेद

शुद्धाद्वैत-दर्शन

(वल्लभ-वेदान्त)

शुद्धाद्वैत-संप्रदाय का विशेष प्रचार वल्लभाचार्य ने किया। इन्होंने अपने मत को 'शुद्धाद्वैत' के नाम से ही चलाया। इनके मत मे ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व माना गया है। अन्य सभी वस्तुएँ ब्रह्म से अभिन्न है और इसलिए नित्य भी है।[1] यथार्थ मे जगत् अक्षय और नित्य है, किन्तु विष्णु की माया से इसका आविर्भाव और तिरोभाव या उत्पत्ति और नाश होता है।[2] व्यवहारदशा में भी सभी वस्तुएँ ब्रह्मस्वरूप मानी जाती है। इस सप्रदाय के लोग धर्म और धर्मी मे तादात्म्य-सबंध मानते है, इसलिए घृत के द्रवत्व-रूप धर्म के समान आगतुक प्रपंचरूप धर्म को ब्रह्मरूप धर्मी से भिन्न नही मानते। माया को भगवान् की शक्ति मान कर, शक्ति और शक्तिमान् में अभेद मानते हुए, इनके मत मे एकमात्र ब्रह्म ही प्रमेय रह जाता है।[3] निराकार, सच्चिदानंद तथा सर्वभवनसमर्थ (सभी होने के योग्य) ब्रह्म बिना किसी निमित्त के अपने अंश से, धर्मरूप से, क्रियारूप से तथा प्रपचरूप से देख पड़ता है। 'ब्रह्म' धर्मरूप से पहले ज्ञान, आनद, काल, इच्छा, क्रिया, माया तथा प्रकृति के रूप मे रहता है। किन्तु सर्वदा ऐसा नही रहता। आपादक-हेतुस्वरूप 'काल' पहले नही रहता और उसका आविर्भाव होने पर वही 'काल' इसका नियामक बन जाता है, इसी लिए उक्त अवस्था सर्वदा एक-सी नही रहती है। 'काल' के साथ-साथ उत्पन्न इच्छा आदि शक्तियो का सदा एक-सा रहना भगवान् ने ही किया, अतएव ये भी नित्य है। इसमे काल ही क्रियाशक्तिरूप है।

उपक्रम

ब्रह्म ही एक-मात्र प्रमेय

---

[1] पुरुषोत्तम-प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५४।

[2] स्मृतिप्रमाण।

[3] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५४।

'इच्छा' तो 'अभिध्यान-स्वरूपा', अर्थात् 'सकल्पात्मिका' है। इसी को 'काम' भी कहते है, जैसा कि श्रुति मे कहा गया है—'सोऽकामयत'। भगवान् तदाकार ही है। सकल्प के दो भेद है—'वहु स्याम' (मै वहुत हो जाऊँ) और 'प्रजायेय'[1] (उत्पन्न हो जाऊँ)।

इन दोनो 'सकल्पो' मे पहला तो भेद वतलाता है, इसलिए 'काल' से अतिरिक्त क्रिया, ज्ञान तथा आनद-रूप सत्, चित् और आनद-रूप ब्रह्म का धर्म अपने मे भेद दिखलाते हुए अपने आश्रय 'ब्रह्म' को भी भिन्न करता है, अर्थात् उसे भी क्रियावान्, ज्ञानी तथा आनदवान् वनाता है। इस प्रकार सत्-चित्-आनन्द-रूप 'ब्रह्म' भी हाथ-पैर वाला होकर साकार रूप धारण कर लेता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार भिन्न होने पर भी अपनी इच्छा से अभिन्न रह कर **ब्रह्म** अखण्ड ही है।

माया

ब्रह्म की शक्ति उसके **सत्-अंश** की 'क्रियारूपा' तथा **चित्-अंश** की 'व्यामोहरूपा' **'माया'** है। यह त्रिगुणात्मिका है। यह ससार की कर्तृरूपा 'माया' का अश है और जगत् की उत्पत्ति मे आनदरूप का कारण भी है।[2] किन्तु जगत् का कर्तृत्व भी माया में भगवान् की इच्छा से ही है, वास्तव में मूल कर्तृत्व 'माया' मे नही है।[3]

भगवान् की शक्तियाँ—ज्ञान और **क्रिया,** ये दोनो भगवान् की **शक्तियाँ** है। 'आनन्द' ज्ञानशक्तिमान् तथा क्रियाशक्ति वाला हो जाता है, क्योकि **आनन्द** तो ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति मे चिदश की शक्ति जो 'व्यामोहिका' माया है, (जिसे हम **अविद्या** भी कहते है) वह, चिदश से जव 'ज्ञानरूप-धर्म' पृथक् हो जाता है, तव उसे, अज्ञान मे डाल देती है।

जीव

यद्यपि भगवान् वोवरूप है, तथापि धर्म-रूप ज्ञान के अभाव से मुग्ध हो जाता है और यह समझकर कि आनद तो अलग है, उसके संबंध से आनद हो जायगा, इसलिए 'माया' के साथ मिल जाता है। तव व्याकुल होकर आनद से की गयी सृष्टि में जो **'सूत्रात्मा'** था, जो दशविव प्राणरूप था, उसका अवलवन लेकर रहता है। इस प्रकार प्राण-धारण का प्रयत्न करते हुए चिदश

---

[1] तैत्तिरीय उपनिषद्, २-६।

[2] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५५।

[3] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५५।

को 'जीव' कहते है। सत्-अंश क्रियाशक्ति के अलग हो जान पर अव्यक्त और जड़ हो जाता है। इसके पश्चात् मूलभूत क्रिया-अंश से 'जीव' शरीरादि-रूप से अभिव्यक्त हो जाता है। जब 'क्रिया' बाद को उसके धर्म मे लीन हो जाती है, तब यह भी तिरोहित हो जाता है। इसी प्रकार चित्-रूप भी ज्ञान-शक्ति के अंश-रूप ज्ञान के द्वारा अभिव्यक्त तथा तिरोहित होता है। इसी तरह आनद-रूप का भी विभाग होता है।

सृष्टि-प्रक्रिया

भगवान् मे ससार के पालन तथा नाश, इन दोनो की इच्छा रहती है। इन दोनों इच्छाओ से सत्, चित् तथा आनद-रूप से क्रमशः 'सत्-अश' से जीव के बधन समूहभूत प्राण आदि जड, 'चित्-अश' से जीव, 'आनद-अश' से जीव का नियामक तथा अतर्यामियो का, स्फुलिगो की तरह, आविर्भाव होता है। बद्ध जीवो को जिन्हे भगवान् उस पूर्णज्ञान-शक्ति को देता है, वे उस मोहिका माया को तथा प्रयत्न को छोड देते है, केवल अपने स्वरूप चित्-रूप मे स्थित रहते है, और अपराधीन भी हो जाते है। किन्तु उन जीवो मे जगत्-कर्तृत्व नही होता। वह मायाशक्ति उसमे नही रहती। उन जीवो मे आनद के ही उत्कृष्ट होने के कारण और दूसरा कोई उत्कर्ष नही रहता। फिर भी हीनता इसमे रहती है। आनद के साथ मिल जाने से यह भी आनदरूप हो जाता है। इसे ही वल्लभमत मे 'सृष्टिप्रकार' कहा गया है।[1]

सृष्टि के भेद

'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि', इस श्रुति के अनुसार 'नामसृष्टि' और 'रूपसृष्टि'—दो प्रकार की सृष्टि कही गयी है। 'रूपसृष्टि' का कारण पचात्मक भगवान् है, अर्थात् तत्त्व तो एकमात्र ईश्वर है, किन्तु उसके पाँच अंग है, जैसा कि भागवत मे कहा गया है—

> द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
> वासुदेवात् परो ब्रह्मन्न चाऽन्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥[2]

'द्रव्य' से 'माया' समझना चाहिए। पश्चात् इसी से महाभूत आदि भी लिये जाते है। 'कर्म' जगत् का निमित्त-कारण तथा भूतो का सस्काररूप भी है। 'काल'

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५५।

[2] सुबोधिनी, पृष्ठ ६६।

गुणो का क्षोभक, अर्थात् साम्यावस्था का नाश करने वाला तथा निमित्तरूप भी है। यही 'काल' आधाररूप मे सभी जगह दिखाई पड़ता है। 'स्वभाव' परिणाम का कारण है। 'जीव' भगवान् का अश-स्वरूप भोक्ता है।

अवातर सृष्टि मे 'अधिष्ठान', अर्थात् शरीर, 'कर्ता' जीव, 'इन्द्रिय', 'नाना प्रकार की चेष्टाएँ', अर्थात् प्राण के धर्म, 'दैव', अर्थात् भगवान् की इच्छा, ये माने जाते है। ये सब तत्त्व **'रूपसृष्टि'** मे कहे गये है। **'नामसृष्टि'** मे एकमात्र सूत्ररूप भगवान् सुषुम्ना के मार्ग से शब्द-ब्रह्मरूप मे प्रकाशित होता है। पश्चात् यही शब्द-ब्रह्म नाद, वर्ण, आदि रूप मे प्रतीत होता है।

प्रमेय-निरूपण

प्रमेय अर्थात् जानने योग्य वस्तु एकमात्र **'ब्रह्म'** ही है, जैसा पहले कहा गया है, किन्तु ससारदशा मे जब ब्रह्म साकार हो जाता है, तब उसी के अनेक रूप हो जाते है।

प्रमेय के भेद

परन्तु ये सब ब्रह्म से सभी दशाओ मे अभिन्न रहते है। अस्तु, इन प्रमेयो को वल्लभाचार्य ने तीन भागो मे विभक्त किया है—'स्वरूपकोटि', 'कारणकोटि' तथा 'कार्यकोटि'। इनका क्रमश यहाँ सक्षेप मे विवरण दिया जाता है—

स्वरूपकोटि—इसमे कर्म, काल, स्वभाव तथा अक्षर, ये चार तत्त्व है। यथार्थ मे कर्म, काल और स्वभाव, ये तीनो **अक्षर** के ही रूपातर है।[1] इसलिए इनमे सबसे पहले **'अक्षर'** का विचार किया जाना आवश्यक है।

(१) 'अक्षर' का लक्षण बताते हुए कहा गया है—

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा ।
यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते ॥

'अक्षर' वही रूप है, जिसे अधिष्ठान-रूप मे स्वीकार कर परमात्मा ने प्रकृति और पुरुष का रूप धारण किया, अर्थात् अक्षर-ब्रह्म प्रकृति और पुरुष का भी कारण है।[2] यही 'अक्षर' ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५७।

[2] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५६।

तथा इन दोनो से विशिष्ट तीनो स्वरूपो का मूलभूत, ज्ञान-प्रधान, गणितानद, ब्रह्म, कूटस्थ, अव्यक्त, असत्, सत्तम, इत्यादि शब्दो से कहा जाता है। इसी को **'वैकुंठ'** भी कहते है।[1]

(२) काल—अक्षर का ही स्वरूपातर 'काल' है। वस्तुत 'सच्चिदानद' काल का स्वरूप है, किन्तु व्यवहार मे किंचित् सत्त्व के अश से प्रकट 'काल' है, यह काल का स्वरूप-लक्षण कहा जाता है। यह अतीन्द्रिय है। लौकिक कार्य के अनुसार 'काल' का लक्षण 'नित्यग' तथा सबका आश्रय और सबका उद्भव है। इसी काल से चिर, शीघ्र तथा अतीत, अनागत, आदि व्यवहारो की उत्पत्ति होती है। इसका प्रथम कार्य सत्त्व, रजस् तथा तमस्, इन गुणो मे क्षोभ उत्पन्न करना है। सूर्य आदि इस काल के 'आधिभौतिक' रूप है, परमाणु[2] से लेकर चतुर्मुख के आयु-पर्यन्त 'आध्यात्मिक' रूप है तथा भगवान् स्वय इसका 'आधिदैविक' रूप है, जैसा कि भगवान् ने कहा है—**'कालोऽस्मि'** (मै काल हूँ)।

(३) **कर्म**—**'कर्म'** भी अक्षर का ही रूपातर है। 'विधि' और 'निषेध'-रूप से लौकिक क्रिया के द्वारा प्रदेशत अभिव्यजन के योग्य व्यापक क्रिया ही **'कर्म'** का लक्षण है। इसी को अपूर्व, अदृष्ट तथा धर्माधर्म भी कहते है। **'अदृष्ट'** आत्मा का गुण नही है, यह भी इसी से सिद्ध होता है। 'कर्म' नाना नही है। कर्म की अभिव्यक्ति के अनतर तथा फल-समाप्ति-पर्यन्त इसका प्राकट्य (अर्थात् स्थिति) रहता है और फलभोग की उत्पादक क्रिया के द्वारा क्रमश यह तिरोभूत होने लगता है। इसका प्रधान कार्य 'जन्म' है, जैसा कहा गया है—

'कर्मणा जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्'

(४) **स्वभाव**—यह परिणाम का हेतु है। 'भगवान् की इच्छा का कारक' इसका स्वरूप है। भगवान् की इच्छा से यह भिन्न है। यह व्यापक होने के कारण सभी को अपने नीचे दबा कर स्वय प्रकट होता है। कभी-कभी परिणामस्वरूप कार्य से इसका अनुमान भी होता है।

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ५६।

[2] परमाणु उस 'काल' को कहते है जितने समय मे सूर्य का रथचक्र परमाणुमात्र प्रदेश को व्याप्त करे।

कारणकोटि—प्रमेय का दूसरा भाग 'कारणकोटि' है। इसके अंतर्गत अठाईस तत्त्वो का विचार है। ये भगवान् के भावरूप होने के कारण ही तत्त्व कहलाते हैं। भगवान् की जो असाधारण कारणता है, वह लोक मे अठाईस प्रकार से प्रकट होती है। सत्त्व, रजस् तथा तमस्, ये तीन गुण; पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार; शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध, ये पाँच तन्मात्राएँ; आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथिवी, ये पाँच भूत; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मनस्, 'कारणकोटि' के अंतर्गत ये अठाईस तत्त्व वल्लभ ने माने है। संक्षेप मे इनका वर्णन यहाँ दिया जाता है—

तत्त्व

(१) **सत्त्व**—सुख का अनावरक (अर्थात् आवरण न करने वाला), प्रकाशक तथा सुखात्मक एव सुख और ज्ञान की आसक्ति से जीवो की देहादि के प्रति आसक्ति का कारण 'सत्त्व' गुण है। यह स्फटिक की तरह निर्मल है।[1]

(२) **रजस्**—यह रागस्वरूप है। तृष्णा और प्रीति का जनक है, कर्म की आसक्ति से जीवो की देहादि के प्रति अत्यत आसक्ति का जनक है।[2]

(३) **तमस्**—यह अज्ञान की आवरण-शक्ति से उत्पन्न है। सब प्राणियो को मोह मे डालने वाला है और असावधानता, आलस्य तथा निद्रा से जीवो मे अपनी देह के प्रति आसक्ति उत्पन्न कर उन्हे बन्धन में डालता है।[3]

ये गुण जब भगवान् से ही उत्पन्न होते है, तब इन्हें माया, चित्-शक्तिरूप या आनदशक्तिरूप समझना चाहिए। स्थिति-अवस्था मे जब रजस् और तमस् सत्त्व को दबा कर उन्नत होते है, तब सत्त्व स्वय दुर्बल हो जाता है और कार्य-रूप मे वर्तमान रजस् एव तमस् को दबाने के लिए भगवान् की प्रार्थना कर उन्हे अवतार-रूप मे ससार मे प्रकट करता है। भगवान् तब सत्त्व को ही प्रधान बना कर नाना स्वरूप धारण करता है। सत्त्व के अवयव भी पृथक्-पृथक् रूप धारण

---

[1] गीता, अध्याय १४, श्लोक ६।
[2] गीता, अध्याय १४, श्लोक ७।
[3] गीता, अध्याय १४, श्लोक ८।

करते है। इस प्रकार सभी युग मे अपने अंशभूत धर्म की स्थापना करने के निमित्त तथा सत्त्व की सहायता करने के उद्देश्य से भगवान् अवतार ग्रहण करता है।[१]

जब 'तन्मायाफलरूपेण' इत्यादि 'भागवत' के वचन के अनुसार माया उभयात्मिका चित्-शक्तिरूपा गुणमयी हो जाती है, तब ये तीनो 'गुण' पुरुष की अनुमति से माया के द्वारा वैषम्य को पाकर प्रकृति के धर्म हो जाते है और इनसे हिरण्मय 'महत्तत्त्व' आदि की उत्पत्ति होती है। भगवान् स्वय निर्गुण होते हुए भी सत्-अश से सत्त्व को, चित्-अश से रजस् को तथा आनद-अश से तमस् को उत्पन्न करता है। द्वितीय कल्प मे सच्चिदानदात्मक ब्रह्म से माया उत्पन्न होती है और उसके बाद गुणो के वैषम्य रूप तथा महत्तत्त्वादि की उत्पत्ति आदि होती है।

(४) **पुरुष**—'पुरुष' को ही 'आत्मा' भी कहते है। देह, इन्द्रिय, आदि को दूसरे के निमित्त जो **'अतति'—'व्याप्नोति'—'अधितिष्ठति'**, अर्थात् धारण करती है, वही 'आत्मा' है। यह अनादि, निर्गुण तथा प्रकृति की नियामक है। अह-रूप ज्ञान से यह जानी जाती है। यह स्वय-प्रकाश है। ससार के गुण तथा दोषो से मुक्त रहते हुए भी, यह सभी वस्तुओ से ससर्ग रखती है। मुक्ति की यह उपकारक है। यह देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा अहकार से अतिरिक्त है।

इस निर्गुण आत्मा मे भी 'कर्तृत्व' आदि गुण जो कहे जाते है, वे सृष्टि के अनुकूल भगवान् की इच्छा से तथा प्रकृति आदि के अविवेक से है, अर्थात् वे सगुणत्व आत्मा मे आगतुक धर्म है, स्वाभाविक नही है। अन्यथा इसमे मुक्ति-योग्यता नही हो सकती थी और तब मोक्ष-प्रतिपादक सभी श्रुतियाँ व्यर्थ हो जाती।

पुरुष एक है—पुरुष एक ही है, अनेक नही।[२] शास्त्र मे कहा गया है कि कालचक्र के कारण प्रकृति-रूपा गुणमयी माया मे शक्तिमान्

---

[१] भागवत, १-१०-२४, गीता, अध्याय ४, श्लोक ७।

[२] गीता, अध्याय १०, श्लोक २०।

भगवान् आत्मस्वरूप पुरुष के द्वारा अपनी शक्ति (वीर्य) को रखता है। इस प्रकार करण-रूप मे इस पुरुष की अपेक्षा होती है।[1] इसी पुरुष को साख्यान्तर शास्त्र मे (अर्थात् योगशास्त्र मे) 'ईश्वर' कहते है। इसी बात को आचार्य ने 'भागवत' की टीका 'सुबोधिनी' में भी कहा है—

> "पुरुष एक ही है। पुरुष और ईश्वर में कुछ भी विलक्षणता नहीं है, इसलिए इन्हें दो मानना व्यर्थ है।"

अतएव जीव और ईश्वर मे भी स्वाभाविक भेद नही है, वे तो केवल अवस्था के भेद से दो मालूम होते है। अत 'जीव', 'ईश्वर' और 'पुरुष', ये शब्द एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न नाम है। यह तो तत्त्व-कथन है, किन्तु व्यावहारिक-दशा मे (प्रकृते तु) 'पुरुष' द्वारभूत भगवान् का अश है और ईश्वर भगवान् स्वय है। 'जीव' पुरुष-तत्त्व से भिन्न है। परन्तु चिद्-रूप होने के कारण एक ही जाति के दोनो है अथवा 'पुरुष' का ही अश 'जीव' है। किन्तु 'त्वं आत्मना आत्मान अवेहि' इस श्रुति मे अक्षराश और पुरुषाश के भेद होने का कारण 'जीव' भी दो प्रकार का माना जाता है।[2] लौकिक दशा मे 'जीव' से भिन्न 'ईश्वर' को तो मानना ही पडेगा, अन्यथा भोग का नियम ठीक से नही हो सकता है। 'कर्म' इसी ईश्वर के अधीन है। जैसा श्रुति मे भी कहा गया है—'एष उ एव साधु कर्म कारयति।' 'प्रकृति' और 'पुरुष' का सयोग भी 'ईश्वर' के विना नही हो सकता। यह सयोग अनादि नही माना जा सकता, क्योकि ऐसा होने से मोक्ष की चर्चा भी नही हो सकती है। इसलिए ईश्वर ही इस सयोग का अधिष्ठाता माना जाता है।

(५) **प्रकृति**—इसे '**प्रधान**' भी कहते है। यह भगवान् का मुख्य रूप है। इसे जगत् के उपादानरूप मे भगवान् ने बनाया। यह साम्यावस्था मे प्राप्त तीनो गुणो का स्वरूप-भूत तत्त्व है। जिस प्रकार सच्चिदानदरूप ब्रह्म मे क्रिया, ज्ञान और आनदरूप धर्म रहते है, उसी प्रकार

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६०।

[2] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६०।

इस 'प्रकृति' के त्रिगुणात्मिका होने पर भी उसमे अशत. उद्गत तीनों गुण भी रहते हैं। अतएव इस मत मे प्रकृति और गुणो मे **'धर्म-धर्मिभाव'** भी है। तीन प्रकार की सृष्टि करने के लिए भगवान् ने प्रकृति को ये तीन ऐश्वर्य दिये है। ये सत्, चित् तथा आनद के अश माया-रूपा 'प्रकृति' मे रहते हुए प्रकृति को **'प्रधान'** वनाते है।

किसी प्रकार काल आदि के द्वारा यह अभिव्यक्त नही हो सकता है, अतएव यह **'अव्यक्त'** है। इसी लिए यह नित्य भी है, क्योकि अभिव्यक्त होने से ही यह अनित्य हो जाता तो पुन इससे सृष्टि न हो सकती थी। प्रकृति के साथ-साथ काल आदि भी उत्पन्न होते है और इसी के साथ इनकी स्थिति तथा लय भी होता है।

यह सत् और असत्-स्वरूपा है। कार्य और कारण मे वल्लभ-सम्प्रदाय वाले भेद नही मानते। यह 'ज्ञान' का हेतु भी है, अन्यथा संसारी लोग भी विवेक नही कर पाते और न मुक्त हो सकते। यह 'वैराग्य' का भी कारण है, क्योकि यह सभी विशेषो को आत्मा को दिखाकर फिर निवृत्त हो जाती है। 'प्रकृति' और 'पुरुष' मे यद्यपि अन्यत्र स्वस्वामिभाव सबध है, किन्तु यहाँ वीर्याधान के कारण उनमे सयोग-सबध भी है। 'प्रकृति' और पुरुष' दोनो ही साकार है। यह भगवान् के साकार होने से ही सिद्ध होता है। इसलिए इनमे भी शरीर, इन्द्रियाँ आदि होती है।[१]

प्रकृति के भेद—'प्रकृति' के भी दो भेद माने गये हैं—'व्यामोहिका माया' और 'मूल प्रकृति', अन्यथा ससार मे अवस्था का भेद नही हो सकता था। भगवान् की इच्छा से जब **'मायारूप'** प्रवल रहता है, तब तो पुरुष बद्धावस्था को प्राप्त होकर **'जीव'** कहलाता है और जब 'मूल प्रकृति' की अवस्था आती है, तब स्वरूप मे ही स्थित होकर आत्मा जगत् का कारण होती है।[२]

---

[१] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६३।**

[२] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६०।**

(६) **महत्**—यह 'क्षुब्ध' गुणो से उत्पन्न होता है। क्रियाशक्तिमान् प्रथम विकार तो 'अर्थ' है और ज्ञानशक्तिमान् 'महान्' है। किन्तु एक सूत्र मे बँधे होने के कारण, अर्थात् सर्वथा एक में मिल जाने से, ये दोनो एक ही तत्त्व माने गये है। ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति के कारण एक ही तत्त्व दो तरह का मालूम होता है। इस महत्तत्त्व का शरीर हिरण्मय है। कूटस्थ में रहकर अपने आधारभूत विश्व का यह व्यंजक सात्त्विक है। जगत् का यह अकुर कहलाता है और यह अज्ञान घ्न है और तमस् का नाशक है। यह भगवान् के आविर्भाव का स्थान है। इसी को 'शुद्ध सत्त्व' कहते है। इसी को 'चित्तत्त्व' भी कहते है।[1] इनके मत मे बुद्धि और महान्, ये दो पृथक् पदार्थ है।

(७) **अहंकार**—यह 'महत्' से उत्पन्न होता है। इसे विमोहन, वैकारिक, तैजस, तामस, अह, त्रिवृत् तथा तन्मात्रा, इन्द्रिय एव मनस्, इन तीनो का कारण तथा चित्-अचित्-मय कहते है। यह 'चित्' का आभास होने से चित् और अचित्, इन दोनो का ग्रथिरूप है। दिग्, वात, अर्क, प्रचेतस्, अश्विनीकुमार, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र तथा चन्द्र, इनका भी जनक 'अहंकार' है। 'सकर्षण' रूप का यह अधिष्ठान है। कर्तृत्व, करणत्व तथा कार्यत्व भी इसमे है। फिर शात, घोर और मूढ स्वरूप वाला भी यह है। प्राण और बुद्धि इसी के रूपातर है, जैसा कि कहा गया है—

'ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः बुद्धिः प्राणस्तु तैजसः।'

इन्ही रूपान्तरो के होने से 'अहकार' मे सब इन्द्रियो को बल देने की शक्ति, द्रव्यस्फुरणविज्ञान, इन्द्रियानुग्राहकत्व तथा सशय आदि पाँच वृत्तियाँ है।

(८) **तन्मात्रा**—भूतो की सूक्ष्म अवस्था को 'तन्मात्रा' कहते है। इसमे 'विशेष' नही रहता। 'अहकार' से यह उत्पन्न होता है और अन्य तत्त्वो को उत्पन्न करता है। इसके पाँच भेद है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध। ये योगियो को ही दृष्टिगोचर होते है। **विशेष**

---

[1] **प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६४।**

अवस्था मे ही ये हम लोगो के दृष्टिगोचर होते हैं, जैसा कि साख्य-दशन मे कहा गया है—

'बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पंच विशेषाविशेषविषयाणि।'[1]

इस विषय मे वल्लभ और साख्यमत मे कोई भेद नही है। क्रम से इन पाँच 'तन्मात्राओ' के विशेष लक्षण यहाँ दिये जाते हैं—

(क) **शब्द**—श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य तथा धर्मवान् **'शब्द'** है। शब्द को **'नभस्तन्मात्रं'** अर्थात् आकाश का तन्मात्र[2] तथा द्रष्टा और दृश्य का लिंग[3] भी कहा गया है, जैसे—शब्द सुनकर उसका उच्चारण करने वाले का ज्ञान होता है तथा टंकार आदि शब्द सुनकर 'टकार-शब्द' उत्पन्न करने वाली वस्तु का ज्ञान होता है।[4] कार्य-अवस्था मे 'शब्द' **सविशेष** हो जाता है और यह पाँचो भूतो का गुण है, अर्थात् शब्द सभी भूतों मे रहता है।[5] इसलिए भेरी से उत्पन्न 'शब्द' पृथ्वी का गुण है, क्योकि भेरी पार्थिव वस्तु है और कार्यभूत वस्तु मे वर्तमान शब्द विसरणशील तथा सावयव भी है। कार्यवस्तु मे रहने वाला शब्द उदात्त आदि वैदिक तथा षड्ज आदि लौकिक स्वर के भेद से अनत प्रकार का है। 'शब्द' स्पर्शवान् भी है, जैसे—किसी वाद्य से उत्पन्न शब्द-गत स्पर्श का तथा मर्म को छूने वाले शब्द से उत्पन्न स्पर्श का हृदय मे त्वचा के द्वारा अनुभव होता है, अतएव वल्लभ ने 'शब्द' मे स्पर्शरूप गुण को माना है। इसके बिना **'न कञ्चिन्मर्मणि स्पृशेत्'** (किसी को मर्मस्थान म न छूना चाहिए) इस प्रकार की स्मृति व्यथ हो जायेगी। **'गुणे गुणानंगीकारात्'** (एक गुण मे दूसरा गण नही माना जाता है)

---

[1] सांख्यकारिका, ३४।

[2] भागवत, तृतीय स्कन्ध।

[3] भागवत, द्वितीय स्कन्ध, २५।

[4] सुबोधिनी, २-२५।

[5] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६५।

नैयायिको के इस कथन को ये लोक-प्रत्यक्ष-विरुद्ध मान कर टाल देते है।[1]

शब्द की नित्यता—'शब्द' के नित्य होने के सबध में वल्लभाचार्य का कथन है कि 'वेद' को नित्य मानते हुए उसी का अंशभूत 'वर्ण' यथार्थ मे नित्य ही हैं। फिर भी लोक में उसका सुनाई देना, या न देना, यह तो शब्द के आविर्भाव और तिरोभाव-रूप धर्म के कारण होता है। हृदयाकाश मे भगवान् या ब्रह्म 'नाद'-रूप मे प्रथम अभिव्यक्त होता है। 'शब्द' पहले तो अव्यक्त रहता है, पश्चात् नानावर्णादि-संकल्पक-मनोमय सूक्ष्म रूप को प्राप्त कर भगवान् के मुख से प्रकट होता हुआ मात्रा, स्वर, वर्ण-रूप मे स्थूल भाव से ब्रह्मात्मक वेद-रूप मे वही सूक्ष्म शब्द प्रकाशित होता है। वह नाद-व्यापक होने के कारण हम लोगों के अदर भी प्राण, घोष-रूप मे रहता है। श्रोत्र (कान) की वृत्ति का निरोध करने पर भगवान् के ही द्वारा 'जीव' उसे सुनता है, अन्यथा द्वार के बन्द होने के कारण वह सुनाई नही देता।

स्फोटविचार—इसी **नाद** को **'स्फोट'** भी कहते है। अतएव यही नाद सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा मूलाधार, हृदय, कठ तथा मुख मे परा, पश्यती, मध्यमा तथा वैखरी-रूप मे प्रकट होता है। जिस प्रकार ब्रह्म के सत्, चित् और आनद नाम है, उसी प्रकार शब्द-रूप ब्रह्म के वर्ण, पद और वाक्य नाम है। वास्तविक भेद इनमे नही है, किन्तु काल्पनिक है। 'शब्द' सर्वगत है, अतएव नाना देश मे स्थित वक्ता के प्रयत्न से उन-उन देशो में 'शब्द' सहज में अभिव्यक्त होता है। इसके सर्वगत होने मे अबाधित 'प्रत्यभिज्ञा' ही प्रमाण है और इसी लिए सूर्य के समान एक ही समय मे अनेक स्थलो से 'शब्द' की स्थिति दिखाई पड़ती है।[2]

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६५।

[2] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ २०-२१।

शब्द की उत्पत्ति—'शब्द' की उत्पत्ति मे अन्दर और बाहर वायु ही निमित कारण है। इसके समवायी तो पाँचों भूत है। विशेपकर **आकाश** और अन्य भूत सामान्य रूप से। जहाँ पर 'ध्वनि' अभिव्यक्त होती है, वहाँ से कुछ दूर तक चारों ओर तो यह स्वभाव से ही स्वय जाता है, क्योकि यह 'विसारी' है। बाद को वायु इसे दूर-दूर ले जाती है। इस तरह स्थानांतर मे जाता हुआ 'शब्द' अपना थोडा-थोड़ा अश भिन्न-भिन्न कानों मे लीन करता (रखता) जाता है। जब इसके सभी अश लीन हो जाते है, तब वह आगे के लोगो को सुनाई नही देता। अत मे स्वभाव से ही या 'काल' आदि के द्वारा उसका नाश हो जाता है। शब्द का अश-अश करके नाश होते हुए देख कर इसे निरवयव कहना ठीक नही है।[1]

(ख) **स्पर्श**—त्वगिन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य **'स्पर्श'** है। **'वायु-तन्मात्रत्वं'** इसका लक्षण है। कार्य-वस्तु मे वर्तमान यह 'सविशेप' होकर चार भूतो का गुण है। मात्रा-रूप मे मृदु, कठिन, शीत तथा उष्ण—ये चार इसके भेद है।[2] गुणस्वरूप मे मृदु, पिच्छिल (फिसलना), जैसे—रेशमी कपड़े मे, कठिन, शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत, शीत, लघु, गुरु, सयोग, आदि इसके अनेक भेद होते है।

मृदु आदि शब्द वस्तुत धर्मवाचक होने पर भी अधिक प्रयोग होने के कारण धर्मी के निमित्त भी प्रयुक्त होते है। **लघु स्पर्श** वायु, तेजस्, जल तथा भूमि में रहता है, जैसे सूक्ष्म वायु का स्पर्श, ज्वाला का स्पर्श, तूल (रुई) का स्पश। लघु स्पर्श होने के ही कारण तेजस् ऊपर को जाता है। जल का लघु स्पर्श गगा, यमुना, कूप और नदी के जल को पीन से मुख मे स्पष्ट मालूम होता है। इसी प्रकार **गुरु स्पर्श** भी जल,

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ २२-२३, ६५।

[2] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६५।

वायु और भूमि में है। अन्य शास्त्र में 'गुरुत्व' स्पर्श से अतिरिक्त गुण माना गया है, किन्तु यहाँ 'स्पर्श' का ही भेद 'गुरुत्व' भी है जो स्पर्श होने के ही कारण तौलने पर मालूम किया जाता है। स्पर्श के बिना जहाँ गुरुत्व का ज्ञान होता है वहाँ अनुमान से होता है, न कि प्रत्यक्ष से।

'संयोग' स्पर्श से अतिरिक्तगुण वल्लभ के मत में नहीं माना जाता है। संयोगज संयोग यह नही मानते। संयोग चक्षु से जाना जाता है और 'स्पर्श' त्वगिन्द्रिय से, इसलिए ये दो भिन्न गुण हैं, ऐसा समझना ठीक नहीं है, क्योकि चक्षु में भी त्वगिन्द्रिय तो है ही। इसलिए चक्षु से देखी गयी वस्तु त्वगिन्द्रिय से भी देखी जाती है, यह स्वीकार करना चाहिए। चक्षुरिन्द्रिय में वर्तमान जो 'वायु' है, उसका गुण 'स्पर्श' है, न कि 'चक्षु' का। अतएव मन मे भी 'स्पर्श' है।[1] **'श्लेष'** (जुडा हुआ होना, जैसे अगुलियो का) विभाग का अभावरूप है। **'स्नेह'** भी स्पर्श का ही भेद है, क्योकि यह भी त्वचा से ही जाना जाता है।

(ग) **रूप**—चक्षु से ग्रहण करने योग्य गुण को **'रूप'** कहते है। **'तेजस्तन्मात्रत्वं'** इसका लक्षण कहा गया है। जिस द्रव्य मे यह रहता है, उसी की आकृति के तुल्य इसकी आकृति होती है।[2] 'तन्मात्र-स्वरूप' मे यह एक ही है। 'कार्यस्वरूप' मे भास्वर, शुक्ल, नील, पीत, हरित, लोहित, आदि 'रूप' के अनत भेद है। 'चित्ररूप' भी एक अतिरिक्त रूप है। 'भास्वर रूप' दूसरे का भी प्रकाश करता है, इसलिए अपने आश्रय से अधिक देश मे रहने वाला होता है। यह विसरणशील होता है।

(घ) **रस**—रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण **'रस'** है। 'जलतन्मात्रत्वं' इसका लक्षण है। 'तन्मात्रारूप' मे यह अव्यक्त मधुर है। 'कार्यवस्तु' मे होने से कसैला, मधुर, तिक्त, कडुआ, खट्टा, क्षार

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६७।

[2] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६७।

(नोना) और मिश्र, य सात इसके भद ह। जल म अव्यक्त मधुर 'रस' है। आधारभूत वस्तु के धर्म के सबध से 'रस' म भद उत्पन्न होता है।[1]

(ङ) **गंध**—घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य गण **'गंध'** है। यह 'पथिवी-तन्मात्र' कहलाती है। व्यक्त ओर अव्यक्त के भेद से यह दो प्रकार की है। 'कायरूप' मे करभ (दही-मिश्रित सत की गध[2] या तरकारी आदि की मिश्र गध)', पूति (दुगन्ध), सौरभ्य (सुगधि), शात और उग्र (ये पूति और सौरभ्य के ही भेद है, कमल की गध 'शान्त' है ओर चपा या लहसुन की गध 'उग्र' है) तथा 'अम्ल, जैसे—नीबू की गध और बासी कढी आदि की गध, ये छ प्रकार की गध है। इनके अतिरिक्त अवातर भेद तो अनत है, जैसे धूप, धूम आदि की गध। 'गध' अपने आश्रय से अधिक देश मे रहने वाली होती है, अर्थात् इसका आश्रय-भूत द्रव्य जहाँ नही रहता, वहाँ भी उस द्रव्य मे रहने वाली गध रहती है।

नैयायिक आदि के मत मे जब किसी फूल की गध कही दूर तक फैलती है तो यह समझा जाता है कि वायु के द्वारा उस फूल का भाग दूर तक चला जाता है और उसी के साथ-साथ उसकी सुगधि भी जाती है, अर्थात् द्रव्यरूप आश्रय के बिना उसका गुण कही नही जा सकता है। किन्तु वल्लभाचार्य के अनुसार द्रव्य को छोड कर भी उसका गुण अन्यत्र चला जाता है।[3]

(९) **भूत**—जिन में **सविशेष** शब्द आदि गुण हो, उन्हे **'भूत'** कहते है। आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथ्वी, य **पाँच भूत** है। क्रमश. इनका वर्णन यहाँ किया जाता है—

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६८।

[2] करंभो दधिसक्तवः—अमरकोश, ९-४८।

[3] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ६८।

(क) आकाश—'अवकाशदातृत्वं' (अवकाश देने वाला) या 'बहिरन्तर्व्यवहारविषयत्व' या 'घ्राणेन्द्रियान्तःकारणाधारत्व' 'आकाश' के लक्षण कहे गये है। पहला लक्षण 'आधिदैविक' है। दूसरा 'आधिभौतिक' स्वरूप-लक्षण है। यही लक्षण व्यवहार में उपयोगी भी है। आकाश जन्य है, नित्य नही, क्योकि इसमें विकारित्व सिद्ध होता है, जैसे—'आत्मनः आकाशः संभूतः' इन श्रुति मे भी कहा गया है। आकाश मे रूप नही है। परम महत् परिमाण वाला होने के ही कारण यह 'नीरूप' भी है। आकाश मे नील आदि की प्रतीति भ्रममात्र है। चक्षु अपनी सामर्थ्य से आकाश का ग्राहक नही है, किन्तु आकाश ही अपनी सामर्थ्य से गंधर्वनगर अथवा पिशाच के समान अपने स्वरूप को प्रकट करता है। इसका विशेष गुण[1] 'शब्द' है।

(ख) वायु—इसका लक्षण इनके मत मे 'अरूपित्वे सति चालनव्यूहनद्रव्यशब्दगन्धनयनसर्वेन्द्रियवलदानारयकार्यत्वम्' है। अर्थात् जिसमे रूप न हो और जो डाल आदि को हिलावे, गिरे हुए पत्तो को आधी मे एक जगह मिलावे, द्रव्य, शब्द और गंध को अन्यत्र ले जाने वाली, सभी इन्द्रियो को बल (सामर्थ्य) देने वाली, आदि कार्य करे, वही 'वायु' है। यही प्राणरूप है। 'स्पर्श' इसका विशेष गुण है। 'शब्द' भी इसमे कारण से आता है। इस प्रकार इसमे दो गुण हैं। मीमासक के मतानुसार इसका त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

(ग) तेजस्—'तेजस्' मे पाचन, प्रकाशन, पान, जैसे—जल आदि का, अदन (भोजन), जैसे—अन्न का, हिम (पाला या शीत) का मर्दन (नाश करना), शोषण (सुखाना), ये छः कार्य होते है। यथार्थ मे पान और अदन, ये दोनो कार्य जठराग्नि से ही होते है। अतएव पॉच ही कर्म 'तेजस्' के है। 'क्षुधा' और 'तृष्णा' भी तेजोरूप है। 'रूप' इसका विशेष गुण है। शब्द

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ७१।

और 'स्पर्श' इसमें कारण से आते हैं। इस प्रकार इसम तीन गुण हैं।[1]

(घ) **जल**—क्लेदन (भिगोना), पिण्डन (इकट्ठा करना), तृप्ति (क्षुधा आदि की निवृत्ति करना—भोजन करने पर भी विना जल के तृप्ति नही होती), प्राणन (जीवन), आप्यायन (प्राण को सतोष देना), प्रेरण (बहा ले जाना), ताप को दूर करना तथा एक स्थान मे अधिक होकर रहना, ये आठ कार्य जिसमे हो, वही **'जल'** है। वर्फ आदि मे दूसरे भूत के कारण कठोरपन है। जब बहुत ठडी हवा चलती है, तब जल एकत्रित होकर 'ओला' बन जाता है। 'रस' इसका विशेष गुण है। 'शब्द', 'स्पर्श' तथा 'रूप' इसमे दूसरे से आये हुए गुण है। इस प्रकार 'जल' मे चार गुण है।

(ङ) **पृथ्वी**—साक्षात् समस्त जगत् को धारण करने वाला द्रव्य **'पृथ्वी'** है। वल्लभ **'सत्कार्यवाद'** को ही स्वीकार करते है। 'गध' इसका विशेष गुण है और चार गुण इसमे अन्यत्र से आते है। इस प्रकार इसमे पाँच गुण है।

(१०) **इन्द्रिय—'तैजसाहंकारोपादेयत्वे सति** (तैजसरूप अहकार से इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है) **'ज्ञानक्रियान्यतरकरणम्' 'इन्द्रिय'** का लक्षण है। देह से सयुक्त रहकर अपने फल से आत्मा का जो ज्ञान करावे, वही **'इन्द्रिय'** है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के भेद से 'इन्द्रियाँ' दो प्रकार की है। श्रोत्र आदि पाँच **'ज्ञानेन्द्रियाँ'** है और वाक् आदि पाँच **'कर्मेन्द्रियाँ'** है। ये सभी 'अभौतिक' है, क्योकि ये 'अहकार' से उत्पन्न होती है। भगवान् की इच्छा से, गुणो के परिणाम के भेद से तथा शरीर के अगो के सन्निवेश के भेद से एक ही तैजस अहकार से भिन्न-भिन्न इन्द्रियो की उत्पत्ति मे कोई बाधा नही है। ये 'इन्द्रियाँ' अणु-परिमाण की है और अनित्य भी है।

इनमे 'चक्षु' उद्भूत रूप और उद्भूत रूपवान् तथा सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग तथा 'कर्म'

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ७१।

और इनकी 'जाति' तथा 'समवाय' का ग्राहक है। इसी लिए परमाणु, पिशाच, आदि का चक्षु से ग्रहण नही होता। 'रूप' के द्वारा ही 'चक्षु' द्रव्य का भी ग्राहक है। 'त्वगिन्द्रिय' से उक्त सख्या आदि सभी गुण, उद्‌भूत स्पर्श तथा उद्‌भूत स्पर्श वालो का, उक्त गुणों की 'जाति' और 'समवाय', इन सवका ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'घ्राणेन्द्रिय' से ग्रहण योग्य उद्‌भूत गध और उद्‌भूत गध वाला, उनकी 'जाति' और 'समवाय' है। इसी तरह 'रसनेन्द्रिय' और 'श्रवणेन्द्रिय' को भी जानना चाहिए।

ये दस इन्द्रियाँ राजस है, क्योकि राजस 'वुद्धि' और 'प्राण' से इनका ग्रहण होता है। इनमे से श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, हाथ और पैर, इनके दो-दो रूप है, किन्तु यह प्रत्येक एक ही एक इन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी वस्तुओ के साथ ही ज्ञानजनक होती है।

(११) **मन**—'मन' सकल्प और विकल्पात्मक है। इसे उभयात्मक कहते है, क्योकि यह दोनो प्रकार के कार्यों को करता है। इच्छा (काम) की उत्पत्ति इसी के अधीन है। यह भी एक इन्द्रिय है।

मन के गुण—सुख, दुख, प्रयत्न, द्वेप, अदृष्ट, स्नेह, आदि इसी 'मन' के **गुण** है, न कि आत्मा के। यह भी जन्य है, जैसा कि **'तन्मनोऽसृजत्'** इस श्रुति मे भी कहा गया है। अणु इसका परिमाण है। इसके दो प्रकार के कार्य होते है—आन्तर और वाह्य।

सामान्य—इसका **'आकृति'** और **'व्यक्ति'** मे सन्निवेश किया गया है।

ज्ञान

'ज्ञान' ब्रह्मस्वरूप ही है, जैसा श्रुति मे भी कहा है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। जव-जव भगवान् सृष्टि की इच्छा करता है, तब-तव उसका अनेक प्रकार से आविर्भाव होता है, इसलिए 'ज्ञान' का अनंत भेद होने पर भी यहाँ केवल दस प्रकार का 'ज्ञान' माना गया है। इनमे चार प्रकार का 'ज्ञान' **नित्य** है।

पहला ज्ञान—सवका आत्मस्वरूप, सवका उपास्य, मुख्य, विकार-रहित आत्मा का अपना ही स्वरूप है, जिसे गीता के दसवे अध्याय के बीसवे श्लोक मे कहा गया है—

'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः।'

स्वरूपत यह नित्य है।

दूसरा ज्ञान—यही 'ज्ञान' जब प्रकाश-रूप मे आविर्भूत होता है, तब वह भगवान् का गुणस्वरूप कहलाता है, जैसा कहा गया हैं—

'ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।'

ऐश्वर्य-सपन्न मे वह नित्य है और जीव तथा भगवान् के पार्षद आदि मे उसके देने से प्राप्त होता है।[1] यह दूसरा ज्ञान है।

तीसरा ज्ञान—यही 'ज्ञान', अर्थात् धर्मरूप सर्व-विषयक ज्ञान जब सृष्टि के निमित्त भगवान् के मनोमय आदि नाडी के द्वारा 'वेदरूप शरीर' धारण करता है, तब वह **'तीसरा ज्ञान'** कहलाता है। जैसा कि श्रुति मे है—**'स एष जीवो, विवरप्रसूतिः'**, इत्यादि। वेद-शरीर मे भी वह ज्ञान विराट् रूप के समान अनत है, जैसा 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' मे इन्द्र और भरद्वाज के सवाद मे स्पष्ट कहा गया है—**'अनंता वै वेदाः'** इत्यादि।

चतुर्थ ज्ञान—यही बाद मे विशिष्ट शक्ति वाला होकर ससार का **'बीज'** हो जाता है और इसी से सभी विकृत शब्द सृष्टि के आदि मे होते है। यही भगवान् के आश्रित होने से **'चतुर्थ प्रकार'** का नित्य ज्ञान है।

यही वेदरूप शरीर-विशिष्ट ज्ञान समवाय-सवध से 'प्रमाता' मे तथा निमित्त-रूप से 'प्रमेय' मे रहता है। पश्यतीरूप शब्द तो 'प्रमाता' का आश्रयण करता है, जैसा कि 'वाक्यपदीय' मे भर्तृहरि ने कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥[2]

अर्थात् इस लोक मे (व्यवहार की अवस्था मे) ऐसा कोई भी 'ज्ञान' नही है, जो 'शब्द' से अनुविद्ध न हो। प्रमेय के अनत होने से उसका आश्रयण करने वाला शब्द-शरीर-विशिष्ट ज्ञान भी अनत है। किन्तु वास्तव म वल्लभ के मत म ब्रह्म ही एकमात्र प्रमेय है, इस विचार से यह 'ज्ञान' एक ही है।

---

[1] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ १।

[2] वाक्यपदीय, कांड १, कारिका १२४।

पञ्चम ज्ञान—शब्द और अर्थ तथा शब्द और ज्ञान में नित्य संबंध होने के कारण शब्दविशिष्ट ही 'ज्ञान' प्रमेय का आश्रयण करता है। यही 'पंचम ज्ञान' है। इस अवस्था मे शब्द और अर्थ ज्ञान से अभिभूत है, किन्तु पहले उलटा था।

पञ्चम ज्ञान के भेद—प्रमाता मे अन्त करण और इन्द्रिय का आश्रयण करने वाला 'ज्ञान' **पाँच प्रकार** का है। इन्द्रिय मे एक प्रकार का और अंत.करण में **चार प्रकार** का।

(१) **मन** मे सकल्प और विकल्प-रूप से 'ज्ञान' आश्रित है,

(२) विपर्यास, निश्चय, स्मृति, आदि रूप मे ज्ञान **'बुद्धि'** का आश्रित है,

(३) 'स्वप्नज्ञान' **अहंकार** का आश्रित है और

(४) 'निर्विपयज्ञान' **चित्त** का आश्रित है।

इस प्रकार ज्ञान **दशविध** है।

कार्यरूप छ. प्रकार के 'ज्ञान' मन के धर्म है, आत्मा के नहीं; जैसा श्रुति कहती है—

> **कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिः**
> **ह्रीः धीः भीरित्येतत्सर्वं मन एवेति।**

'ज्ञान' स्थिर होता है, न कि केवल तीन ही क्षण रहता है। उत्पन्न हुए 'ज्ञान' के उद्दीपक शब्द और विषय है। बुद्धि, चेतन, आदि इसी 'ज्ञान' के पर्याय है।

ज्ञान के अन्य भेद—ज्ञान पुन सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद से तीन प्रकार का होता है। **'सात्त्विक ज्ञान'** यथार्थ ज्ञान है और यही **'प्रमा'** कहलाता है। **'राजसिक ज्ञान'** राजस सामग्री से उत्पन्न होता है और यह नाना प्रकार का होता है। यही व्यवहार का उपयोगी ज्ञान है। अतएव परमार्थ-दृष्टि से राजस ज्ञान मे प्रामाण्य नही है। **'तामस ज्ञान'** भी अप्रमाण ही है। पामर तथा नास्तिको का ज्ञान 'तामस' है। अच्छे लोग इसकी निन्दा करते है, अतएव यह हेय है।

ज्ञान का तीसरा भेद—**'राजस ज्ञान'** 'सविकल्पक' ही होता है, क्योकि इसी से लोक मे व्यवहार चल सकता है। 'ज्ञान' यद्यपि पहले निर्विकल्पक ही होता है, किन्तु उससे लौकिक कार्य नही चलता है और यह सात्त्विक रूप मे एक ही प्रकार

का है। वल्लभ दोनों प्रकार के ज्ञान, 'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक', को स्वीकार करते है।

निर्विकल्पक ज्ञान—पहला तो इन्द्रियाश्रित है। है तो यथार्थ मे यह 'सात्त्विक', किन्तु 'राजस' मे ही यह परिगणित होता है।

सविकल्पक ज्ञान के भेद—संशय, विपर्यास, निश्चय, स्मृति तथा स्वाप, ये पाच 'सविकल्पक ज्ञान' के भेद है।[1] 'सुषुप्ति' भी स्वप्न का ही अवातर भेद है। आत्म-स्फुरण वहाँ स्वय हो जाता है।[2] 'चिन्ता' स्मरण के अतर्गत है। 'प्रत्यभिज्ञा' तो निश्चय ज्ञान ही है।

कारण

वल्लभ के मत मे 'कारण' दो ही प्रकार के है—'समवायी' तथा 'निमित्त'। समवाय और तादात्म्य एक ही वस्तु है।

'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा 'शब्द', ये ही तीन 'प्रमाण' इन्होने माने है।

'आकाश' और 'काल' के समान 'दिक्' को भी पृथक् रूप मे इन्होने स्वीकार किया है। इसका ग्रहण साक्षात् नही होता, किन्तु ग्राह्य अर्थ के विशेषण-रूप से।[3]

आलोचन

इन वैष्णव-दर्शनो के तत्त्वों के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि इनकी खोज प्रधान रूप से न्याय-वैशेषिक तथा साख्य-दर्शन के आधार पर ही आश्रित है। वेदान्त के आध्यात्मिक तत्त्वो का विशेष विचार इनमे नही देख पड़ता। भगवान् के सम्बन्ध मे भी जो बहुत-सी बाते कही गयी है, वे सभी उसके बहिरग स्वरूप को ही लेकर है। अतएव ये ऊँचे स्तर के दार्शनिक शास्त्र नही मालूम होते।

इस प्रकार सक्षेप मे उक्त चारो प्राचीन वैष्णव-सप्रदायो का वर्णन यहाँ किया गया है। इनमे से रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य के मत विशेष रूप से आजकल

---

[1] भागवत, तृतीय स्कंध।

[2] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ९।

[3] प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ ३७।

भी प्रचलित है। इनकी अपेक्षा अन्य दोनो सम्प्रदाय गौणरूप मालूम होते है। ये सब भक्ति-मार्ग के उपासक होते हुए भी अपने-अपने उपास्य देवता के भेद के कारण परस्पर भिन्न मालूम होते है। इन सबके उपर्युक्त तत्त्वो का विचार करने से बहुत कुछ समान बाते मिलती है। फिर भी भेद तो स्पष्ट ही है। तत्त्वदृष्टि से भी व्यवहारावस्था मे ऐसा भेद रखना ही पड़ता है। ये भेद न केवल शास्त्रीय बातो में ही देख पडते है, किन्तु उनके रहन-सहन तथा आचार-विचारो मे तो और भी स्पष्ट है।

पहले इन मतो के अनुयायियो में परस्पर विद्वेष नही था, सभी मत को सब कोई आदर-दृष्टि से देखते थे और अपने मत का भी पालन सुचारु रूप से करते थे, किन्तु बाद मे दुराग्रह, आवेश तथा बुद्धि मे कलुषता और सकोच इतना अधिक हो गया कि इनमे से एक के अनुयायी दूसरे मत वाले के शत्रु बन गये और उनके प्रति निंदा आदि कुत्सित व्यवहार करने मे भी अपने वैष्णवत्व की ही रक्षा समझने लगे। इनसे यह स्पष्ट है कि इन लोगो मे पश्चात् भक्ति के उच्च आदर्श का ज्ञान भी नही रहा और मुझे तो यही अनुमान होता है कि ये सभी वैष्णव बहिरग तत्त्वो मे ही लिप्त हो गये है, वैष्णव-सम्प्रदाय की अतरग बातो की ओर न तो इनका ध्यान है और न ये लोग उसे समझने की चेष्टा ही करते है। इसी कारण कही-कही इनके व्यवहार भी लौकिक दृष्टि से निंदनीय समझे जाते है। इनका आदर्श कितना उच्च था और किस प्रकार इनके दिव्य दृष्टि वाले आचार्यो ने भक्ति की पराकाष्ठा का स्वय अनुभव कर सासारिको के लिए भी दयावश सम्प्रदाय को चलाया और योग्य भक्तो को सन्मार्ग दिखाया! किन्तु कैसा अध पतन अब है! इनके यथार्थ तत्त्वो से लोग इस प्रकार अनभिज्ञ हो गये है।कि भक्ति को 'भुक्तिप्रद' न समझकर 'मुक्तिप्रद' समझते है और **'अंधेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः'** इस कहावत को प्रत्यह चरितार्थ कर रहे है। यही एक मात्र हेतु है कि **ज्ञानमार्ग** को ही अब भी लोग निरुपद्रव, कल्याणप्रद तथा मुक्ति देने वाला समझते है।

शब्दानुक्रमणिका

अ

अकलङ्कदेव, ३५०

अकर्मण्यता (विघ्न), ३२७

अक्षर, ४५४

अक्षरतत्त्व (गीता), ७७

अकाम्य कर्म (द्वैत), ४४१

अखण्डस्वरूप, ९

अख्याति, २६५

अघातीय कर्म, ११९, १२२

अङ्गवाह्य श्रुतज्ञान, १२२

अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान, १२२

अङ्गुत्तरनिकाय, १४३

अज्ञान ने आत्मा को घेरा है, १७५

अचित् तत्त्व, ४११-१२

अचिन्त्य शक्ति ४०१, ४४२

अतिकान्तभावनीय, ३३१

अतिदेशक वाक्य, २५७

अतिव्याप्ति दोष, २११-१२

अथर्ववेद, ज्ञान का भण्डार, ३०

अदृष्ट, २३३

अदृष्टजन्मवेदनीय सस्कार, ३३९-४०

अद्वितीय तत्त्व, ९

अद्वैततत्त्व गीता मे सक्रिय तत्त्व है और शकर के अद्वैततत्त्व से भिन्न है, ८०-८१

अद्वैतभाव, व्यावृत्तिमूलक, सन्यासमूलक, ग्रहणमूलक, ३८८

अद्वैतभूमि ३४७, ३७९

अद्वैतवाद, ३७५-७६

अद्वैतवाद और शून्यवाद मे समानता, १७१

अध पतन, जीव का, ९

अध्यवसाय (सविकल्पक), १६०

अध्यारोप, ३६७

अध्यास ३५५, ३६७

अध्वर्यु, यजुर्वेद के पुरोहित, ३१

अधिकार के अनुसार उपदेश, १२, १४

अधिकारभेद, ३१, ३२, १४२

अधिकारी, ११, १२, —बनने का नियम, १२; —के भेद से ज्ञानधारा मे भेद, ५०

अधिपतिप्रत्यय, १५६ टिप्पणी

अनध्यवसाय, २३५

अनन्यभक्ति से परम पुरुष का साक्षात्कार, ७२

अनर्घराघव नाटक, २२८ टिप्पणी

अनर्वाचीन ज्ञान, ४१७

अनागामी, १४०

अनादि कर्म और वासनाएँ, १२

अनासक्त कर्म, ७१-७२

अनादित्व, संसार का, ४

अनिर्वचनीय, ३५६-५७

अनुग्रह, भगवान् का, ६

अनुपलब्धि (अनुमान), १५८-५९; —प्रमाण, १९६

अनुभूति, ऋषियो की, १५
अनुभव के भेद (बौद्ध), १६०
अनुभवरूप ज्ञान, १९१-९२
अनुमान के अवयव, १८९, ४१८
अनुमानप्रमाण (न्याय), १९८, –की प्रणाली, १९९, –के भेद २००; –(मीमासा), २५६, –के भेद (साख्य), ३०८, –(द्वैत), ४४५
अनुयोगद्वारसूत्र, १२१
अनुव्यवसाय, २६३-६४
अनेकान्तवाद, १२१-३१
अनैकान्तिक (हेत्वाभास), १६०; –के भेद, २०९-१०
अनोपासी शिष्य को उपदेश, ५४
अन्त करण की प्रशान्तभावना, ३; –की परिशुद्धि, ११, –से आत्मा की प्राप्ति, ५९, १३६
अन्त करण की शुद्धि उपासना से, १३४; –सत्कर्मो से, २४०
अन्त करण 'द्वारि' है, सब विषयों का ग्रहण करता है (साख्य), ३०७
अन्तर्जगत् मे प्रवेश, १६१; –की सत्ता स्वतन्त्र है, १६१
अन्तर्दृष्टि, ४४९
अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, ५
अन्तरङ्ग तपस्याएँ (जैन), ११९
अन्तरङ्ग, समाधि के, ३३२
अन्त सत्ता (सौत्रान्तिक), १६१
अन्धकार पदार्थ है (कुमारिल), २४६; –तत्त्व (द्वैत), ४३७-३८
अन्धविश्वास, भारतीय दर्शन मे नही, १३
अन्नमयकोष, २६६
अन्यथाख्याति (भट्ट एव मिश्र), २६५, ३२१
अन्यथासिद्ध, २१८
अन्वय-अनुमान, १९९, २०१
अपञ्चीकृत भूत, २९३, ३६२
अपरा प्रकृति, सृष्टि का अधिष्ठान, ७७
अपरोक्षज्ञान (द्वैत), ४४७; –अनुभूति, ६२, ८९, ३७२
अपवर्ग, १८७
अपवाद, ३६७
अपसर्पण कर्म, १८६
अपादान कारण (द्वैत), ४४४
अपेक्षाबुद्धि, २२५
अपौरुषेय वाक्य धर्म मे प्रमाण, २५७
अप्काय जीव, १११
अप्पय्य दीक्षित, २४४
अप्रच्युत-स्वभाव, ४०१
अप्रतिसख्यानिरोध, १५४, १६३
अप्रत्ययकर्म, २३६
अप्राकृत तत्त्व, ४२२-२३
अप्रामाण्य (द्वैत), ४४५
अबाधित विषय, २०२
अभयज्योति, २७, ३२-३३
अभाव के भेद, २३२, –(द्वैत), ४४३-४४, –अभावनिरूपण (द्वैत), ४४३
अभावप्रमाण (प्रभाकर), २६०
अभिधर्मपिटक के विभाग, १४४, –अश्रद्धा, १६१
अभिधर्मसमुच्चय, १६४

अभिध्यानस्वरूपा इच्छा, ४५२
अभिनवगुप्त, ३८०
अभिनिवेश, ३२७-२८
अभिमान के परित्याग से ज्ञान का उदय, २३
अभिव्यक्ति, तत्त्वो की, २९१-९२
अभिसमयालङ्कारकारिका, १६४
अभेद, जीवात्मा और परमात्मा में, ९
अभेदबुद्धि, ऋग्वेद के मन्त्रो में, ३४
अमलानन्द सरस्वती, ८५
अयथार्थ ज्ञान (न्याय), १९२
अयुतसिद्ध, १९४, २१९
अर्चावतार, ४१५
अर्थक्रियासामर्थ्य, १५७
अर्थ (न्याय-वैशेषिक), १८६
अर्थशास्त्र मे दर्शनो की सख्या, १७
अर्थापत्ति, २१७, २५९, —(प्रभाकर), २६०; —के भेद, २५९
अर्वाचीन ज्ञान, ४१७
अर्हत्, १४०
अलौकिक भाव, ३
अवतार का कारण, ७९
अवतारदृष्टि, ४४९
अवतारो का क्रम (द्वैत), ४४६; —के भेद (द्वैत), ४४६
अवस्थाएँ, चार, ५३
अवस्था-परिणाम, २८२, ३३४-३५
अवान्तर प्रलय (द्वैत), ४४७; —के भेद (द्वैत), ४४७
अविज्ञप्ति, १५५ टिप्पणी
अविद्यारूपी आवरण, ९
अविद्यानाश के उपाय, ४९
अविद्या, दुःख का मूल, १३८
अविद्या से शून्य मे जगत् की अभिव्यक्ति, १५०
अविद्या से वाह्यसत्ता मे विश्वास, १६१; —चैत्त धर्म के भेद, १६३
अविद्या-सम्बन्ध अनित्य, २८३
अविद्या और माया, २५६, —के भेद, २३५
अविद्यातत्त्व (द्वैत), ४३६, —की श्रेणियाँ (द्वैत), ४३७; —के भेद, ४३७
अविनाभावसम्बन्ध, ३
अविशेष, २८९
अव्यक्त के धर्म (साख्य), २९५-९७; —की सिद्धि (साख्य), २९९
अव्याकृत आकाश, ४३१-३२
अव्याप्ति, २११-१२
अशीनिरूपण (द्वैत), ४४२, —के भेद, ४४२
अशुक्ल-अकृष्ण-कर्म, ३३७-३८
अष्टाग योग, ७४, १८८, ३२८-२९, ३६९
अष्टाध्यायी, ३४८
असग, १६४; —के ग्रन्थ, १६४
असत्कार्यवाद, २१७, २१८
असत्प्रतिपक्ष, २०२
असत्प्रत्ययकर्म, २३६
असमवायिकारण, २२१-२३
असम्भवदोष, २१२
असम्प्रज्ञात समाधि, ३२३-२४
अस्तिकाय, ९७, १११

अस्मिता, ३२४-२५
अस्मितानुगत, ३२४-२५
असंस्कृत-धर्म, १५३-५४
असिद्ध (हेत्वाभास), १५९, –के भेद, २०३-२०८
अहकार के रहते ज्ञान का उदय नही, ६८
अहकारतत्त्व, ३८५, –का स्वरूप, २८८, ४३३; –के भेद, ४३३
अहभाव की पराजय, ६२, ६८

आ

आईन्स्टाइन का सिद्धान्त, १०
आकस्मिकवाद, ४, ८५
आकाश, आवरण का अभाव, ८८; –अमूर्त द्रव्य (जैन), ११३; –चाक्षुष प्रत्यक्ष (कुमारिल), २४६
आकाक्षा, २१४
आक्षेप, दर्शन पर और परिहार, १२-१३
आगम, ३९४
आचार, नियम, कठोर–पालन असम्भव, १३२
आतिवाहिक शरीर, २७६
आत्मज्ञान का उपदेश, ५२-५३
आत्मतत्त्वविवेक, १८१
आत्मदर्शन, ३४५-४६
आत्मसमर्पण, ३; –से ज्ञान, २६, ३३, ६२, ६४, ७३
आत्मसवेदन, १५७
आत्मा, अविद्या से आच्छन्न, २६८, –जड (चार्वाक, २०, प्रभाकर, ५१), २६६, २७२, –उपयोगमय (जैन), ९७, २६७; –सावयव (जैन), २६७; –देहपरिमाण, २६७; –चित्तसन्तति (बौद्ध), २६७-६८; –चार्वाकभूमि मे, २०, –भौतिक (चार्वाक), २०, ९७, –ज्ञानाश्रय (प्रभाकर), २४५; –न्याय-वैशेषिक-भूमि, २१-२२; –स्वतन्त्र पदार्थ, २१; –सत् (न्याय-वैशेषिक, मीमासा), २६८, –भौतिक नही, २१, –माण्डूक्य उपनिषद् मे, २५; –मोक्षावस्था मे अनेक, १८४, १८७, –साख्य-भूमि, २२, –का सत्-चित्-रूप, २२-२३, –गीता मे, ६५; –और ब्रह्म का ऐक्य, ५७, –का दर्शन और उसके उपाय, ९, –का स्वरूप, १४, २०-२६, ६५; –उपनिषद् मे, ५७-५८, –सबसे प्रिय तत्त्व, ५८; –का लक्षण देना असम्भव, ५८, –की प्राप्ति के उपाय, ५८–५९, –का स्वरूप (जैन), १३१-३२, –का भौतिक स्वरूप, १३२; –भौतिकता से सम्बन्ध (जैन), ९७, –परिणामी (जैन), ९७; –चार पाद, ५३, –के दर्शन से परम पद की प्राप्ति, २६७; –को अविद्या से पृथक् करना, २६८, –के टुकडे किये जा सकते है (जैन), १३२, –मे प्रदेश (जैन), १३२, –को अपने टुकडो से सम्बन्ध (जैन), १३२; –के सम्बन्ध मे बुद्ध का मौन भाव (बौद्ध), १३६-३७, –भूतो मे पृथक् (जैन), ५१, ९७, –मे मोक्ष

में चैतन्य नही, २२; —मे ज्ञान नही, ५१; —मे ज्ञानशक्ति, २६६; -बोधाबोधस्वरूप (भट्टमत), २६६; — स्वप्रकाश (मीमासा), २४१
आत्रेय, २४१
आदि विद्वान् (कपिल), २७०
आधिदैविक तत्त्व, ३
आधिभौतिक तत्त्व, ३
आधेयशक्ति (द्वैत), ४४३
आध्यात्मिक तत्त्व, ३; —भाव, ३, —परिस्थिति, ४; —चिन्तन, ४, ३२; —प्रवृत्ति का ह्रास, २७०, २७१
आनन्द, चिरस्थायी, ८, —की खोज, ७-८, —में तारतम्य, ८, —की प्राप्ति, ५
आनन्दमय कोष, ३६०-६१
आनन्दानुगत, ३२४
आन्तरिक दृष्टि, ५
आन्वीक्षिकी, १७७
आप्तवचन, ३०८
आभरण (विशिष्टाद्वैत), ४१९
आरम्भक सयोग, २२५
आरोप, जड और चेतन मे, ३०६, ३१२, ३२१, ३५५
आर्तजीव, ४०९
आर्यदेव, १६७
आर्यसत्य (बौद्ध), १३९-४८
आलम्बन, ३३९, —प्रत्यय, १५६ टिप्पणी
आलयविज्ञान, क्षणिक विज्ञानो की सन्तति, १६५; —अन्य सात विज्ञानो के साथ, १६५, —वासनाओ का घर, १६५, —चित्त है, १६५; —का अर्थ, १६५; —व्यावहारिक जीवात्मा है, १६५
आलेखन, २४१
आलोचन (वैभाषिक), १६०-६१; —द्वाररूप मे सामर्थ्य-प्रदर्शन (सांख्य), २८९
आवरणशक्ति, ३५७
आसत्ति, २१५
आसुरि, २७३
आस्तिक और नास्तिको के भेद, १४८
आस्रवो का नाश, १४०

इ

इन्द्रिय, का लक्षण, १८५-८६; —का ज्ञान १५६; —तत्त्व (द्वैत), ४३४-३५; —से जाति और अभाव का प्रत्यक्ष, १९४; —और अर्थ का सन्निकर्ष (मीमासा), २५६; —लय, ३२६ टिप्पणी, —भाट्टमत, २४८, —जड और विषय का आश्रय, १६०, —मे परिणाम, ३३५
इन्द्रियात्मवाद, ९३
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, २७७ टिप्पणी

ई

ईशावास्य उपनिषद्, ५२
ईश्वर (साख्य), ३१४-१५; —योग, ३४०-४४, —तत्त्व, २४, ३८२, ३८४, ४१३-१४, ४२३; —के स्वरूप, ४१४-१५, —के गुण, ३४२, ४२३;

—का प्रतीक, ३४२, —निराकरण (मीमासा), २४९, २६६, (जैन), १३३, —चिन्तन से लाभ, ३४३, —की अपेक्षा नही, ९७; —की सिद्धि (उदयन), २२३-२५; —को मानना आवश्यक, १३३
ईश्वरसाक्षी (वेदान्त), ३७२
ईश्वराद्वयवाद (काश्मीरीय शैव-दर्शन), ३८०

उ

उच्च विचार मे प्रेम, ३
उच्छृङ्खलवाद, ४
उज्ज्वलदत्त, ८५
उत्तर मीमासा, २४०
उत्क्रमण, जीवो का, ७६
उत्पल भट्ट, ८५, ३८१
उत्साह अदम्य, ३
उदयनाचार्य, १८१, २२८
उदितप्रत्यय, ३३४
उद्गाता, सामवेद के पुरोहित, ३१
उद्योतकर, ८४, १८०
उदासीन कर्म (द्वैत), ४४०, —के भेद, ४४१
उन्मीलन, ३७९
उपदेश, पारमार्थिक तत्त्व का, १२; —स्नातक को, १३, —'तत्त्वमसि' का, ६२, —अधिकारी को, १३७
उपदेशक वाक्य, २५७
उपनिषद्, शब्द का अर्थ, ४९, —वेदो के, ५२, —का साराश, ५२-५५; —प्राचीनतम, ५६; —बौद्धकाल के पूर्व के है, ५६; —महाभारत के पूर्व के है, ५६; —का प्रामाण्य, ५६; —रचनाकाल, ५५-५६; —का विषय, १५, ५७; —का अपना कोई दर्शन (शास्त्र) नही, ५०-५१; —का ध्येय, ५१, —का वर्गीकरण, ५१; —की देन, १३-१४, —भारतीय विचार-धारा का मूल ग्रथ, १५, ५०; —की विशेषता, १५; —के पढने के अधिकारी, ६४, —का रहस्य, ६२, —मे आतमा और ब्रह्म का ऐक्य, ५७; —मे अविद्यानाश के उपाय, ४९, —में परमात्मा के स्वरूप का निरूपण, ४९-५०; —मे उपासना, ५७; —मे ज्ञान की बाते, ५०, —मे तत्त्वविचार, ५०, —मे तत्त्वो का वर्गीकरण नही, ५०; मे समझाने की युक्तियाँ, ४९; —मे चार्वाकमत, ५०; —मे शून्यवादमत, ५०, —मे वेदान्तमत, ५०; —ज्ञान की खान है, ५०; —मे मतों का खण्डन-मण्डन एव विरोध का अभाव, ५०, —के सभी वाक्य प्रमाण है, ५०; —बादरायणसूत्रो का आधार, ५७; वेदान्त कहा जाता है, ५७
उपवर्ष, २४१
उपसर्पण कर्म, १८६
उपमानप्रमाण, २१४, —मीमासा, २५६, —भट्टमत, २५८, —प्रभाकर मत, २५९
उपादान कारण (द्वैत), ४४४

उपाधि, २०६
उपासना, दर्शन का प्रारम्भिक अग, २८; —अधिकार के अनुसार करना उचित, ३२; —मे अभिमान का तिरस्कार, ३३; —मे साध्य और साधक का ऐक्य, ३४; —के द्वारा परमात्मा के स्वरूप का विचार, ५०; —के भेद (द्वैत), ४४८; —विचार (द्वैत), ४४८; —और वासना (द्वैत), ४३९
उपायप्रत्यय, ३२५-२६
उपेक्षा, ३२७
उमेश मिश्र, ४९ टिप्पणी, ६० टिप्पणी, ७२, ७३, ७९ टिप्पणी

ऋ

ऋग्वेद, २९-३०; —मे चारो वेद के नाम, ३१
ऋग्वेदभाष्यभूमिका, ३१
ऋजुविमलापञ्चिका, २४३
ऋतम्भरा प्रज्ञा, ३३०
ऋषभदेव, ९८
ऋषि, वेदमन्त्र के, ९; —मन्त्रद्रष्टा, २५७

ए

एकप्रत्ययता, ३३४
एकरसता, ३८९
एकाग्र, ३१९-२०
एकाग्रता, ३३४, —परिणाम, ३३४
एकात्मिका सवित्, ३२४
एकायन (विद्या), ५५

ऐ

ऐक्य, ब्रह्म और आत्मा का, ५५
ऐतरेय उपनिषद्, ५४
ऐतिशायन, २४१
ऐतिह्यप्रमाण, २६१
ऐय्यास्वामी, २७९

ओ

ॐकार का स्वरूप, ५३

औ

औलूक्य-दर्शन, २३०

क

कथावत्थु, १४२
कञ्चुक, पाँच, ३८१, ३८५
कण्ठाभरण, २२८
कठोपनिषद्, १०-११, ४९, ५२-५३
कणभक्ष, २२८
कणाद, २२८; —दर्शन, २३०
कनकसप्तति, २७६
कन्दली, २२८
कनसेप्शन ऑफ मैटर, २३३ टिप्पणी, २३६ टिप्पणी
कपिल, अवतार, २७२-७३
करण, २२३
करुणा, ३२७
कल्लट, ३८१
कर्म, की अपेक्षा, २५–२६; —और ज्ञान का सम्बन्ध, २५-२६; —के अन्तर्गत उपासनाएँ, २८, —काम्य, ३२, ४४१, —शुभ से अच्छा जीवन, ६०; —का नाश, भोग से, १३५; —पुद्गल, १२९; —वाद का रहस्य, ४, —का

कारण, जन्म, १२८, –उचित और अनुचित, ७५, –प्रत्येक का, भोग आवश्यक, ७५, –चेतनाजन्य, १५५ टिप्पणी, –अदृष्टरूप मे, १५५ टिप्पणी; –चेतना, १५५ टिप्पणी; –का नाश, १८८; –के भेद (न्याय-वैशेषिक), २३१, २३६; –प्रभाकर, २४६, –प्रत्यक्षगोचर (भाट्ट), २४७; का महत्त्व, ३३७, –के भेद, ३३७-३८; –संस्कार, ३३९; –द्वैतमत, ४४०-४१
कर्मकाण्ड, ३१-३२
कर्माशय (पुण्य-पाप), २७५, ३३९-४०
कामसूत्र, ८४
कामुकायन, २४१
कायव्यूह, १८८
कारण, की आवश्यकता, ६; –का लक्षण, २१८, –के भेद, २१९; –की विशेषताएँ, २२३; –द्वैत, ४४४
कारणशरीर, ३६०
कारणकोटि, ४५६
कारिकावलि, २२९
कार्य (अनुमान), १५८-५९
कार्यकारणभाव (सौत्रान्तिक), १६२, २१७
कार्य और कारण मे सम्बन्ध, २८३
कार्ष्णाजिनि, २४१
कालवाद, ८३-८४
कालतत्त्वविचार (द्वैत), ४३९
कालात्ययापदिष्ट, २११
किरणावली, २२८
कुतर्क, १०
कुमारलात, १६२
कुमारिल भट्ट, २४२
कृष्णकर्म, ३३७
केन उपनिषद्, ५२
केवली पुरुष, ३४०-४१
कैवल्य की प्राप्ति, २३, ३११; –अवस्था ३२५, ३२६
कौटिल्य, १७
क्रममुक्ति, ७६
क्रिटिकल बिब्लिओग्राफी ऑफ पूर्व-मीमांसा, २४१ टिप्पणी
क्लेश, पांच, १८८; –का स्वरूप, ३२७, –के भेद, ३२७-२८
क्षणभंगवाद, १४९
क्षरतत्त्व, गीता मे, ७६
क्षत्रविद्या, ५५
क्षिप्त (चित्त), ३१९-२०
क्षेमराज, ३८१

ख

खण्डदेव, २४४
खण्डसत्त्व, २३, ३१४
खुद्दकनिकाय, १४३
ख्याति ही मोक्ष है (सांख्य), २८१
ख्याति, ३२२ टिप्पणी

ग

गणधर, १०२
गंगेश उपाध्याय, १८१
गदाधर भट्टाचार्य, १८२
गागा भट्ट, २४४

ग्रहण (निर्विकल्पक ज्ञान), १६०
गीता, का साराश, ६५; —भगवान् का साक्षात् उपदेश, ६६; —मे पारमार्थिकी दृष्टि, व्यावहारिकी दृष्टि एवं सामाजिकी दृष्टि, ७१; —दर्शनशास्त्र नही है, ७६; —वास्तविक तत्त्व का प्रतिपादक, ८१; —भाष्य, २६९ टिप्पणी
गुणत्रय, ४३२
गुणस्थान (जैन), १००-१०१
गुण, के भेद (न्याय-वैशेषिक), २३१; —प्रभाकरमत, २४५; भट्टमत, २४६; —का स्वरूप, २८१; —द्वैत, ४४०; —द्रव्य से पृथक् होकर भी रहता है, ४६५
गुणरत्न, २७०
गुणोपासना (द्वैत), ४४८
गुरु का मिलना कठिन, ७०
गुरुगीता मे दर्शनो की संख्या, १७
गुहदेव, ३४९
गोकुलेश, ३९७
गौडपाद, ३७६; —भाष्य, २७७; —कारिका, ५३
गौडिया सम्प्रदाय, ३९६
गौतम बुद्ध, के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी, १३४; —दुर्बल प्रकृति के थे, १३४-३५; —को परिवार से प्रेम, १३५; —के गृहत्याग का कारण, १३५; —परदु ख नही सह सकते थे, १३५; —जीवन्मुक्त थे, १३५
गौतमसूत्र को नाश करने का प्रयत्न, १७०

घ

घातीय कर्म, ११९

च

चक्षु, प्रज्ञा—, ज्ञान—, दिव्य—, ६; —का खुलना, ६; —दर्शनशास्त्र के लिए, ६; सूक्ष्म—, ६
चतु:शतक, १६७; —की व्याख्या, १६७
चन्द्र-मीमांसक, २४३
चन्द्रकीर्ति, १६७
चन्द्रिका व्याख्या, २७८
चरम तत्त्व, ७; —का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप, ७
चार्वाक, ज्ञान की मूढावस्था का विवेचन करने वाला, ८; —दर्शन का स्थान, २१; —का मोक्ष, २२
चित्त, स्वभाव से निराकार, १५०; —में विज्ञानों का उदय, १५०; —की सन्तति क्षणभगिनी, १५०; —की उत्पत्ति, आघात-प्रतिघात से, १५५; —सप्रयुक्त धर्म, १५५; —और चैत्तिक विषयो में आनन्द, १६१; —का वास्तविक तत्त्व से सम्बन्ध, १६१; —के धर्म अनन्त और क्षणिक, १६५, —ही एकमात्र तत्त्व (विज्ञानवाद), १६४; —का स्वरूप, १६४, ३३२; —भूमि, ३१९-२०, —के तीन रूप, ३२१; —की वृत्ति, ३२१-२२; —प्रसाद, ३२७, —विक्षेप, ३२७; —तत्त्व, ४०७-४११

चैतन्य, की भूतों से उत्पत्ति, २०-२१, ५०; —आत्मा का स्वरूप नही, २०, —आत्मा का विशेष गुण, २१; —का प्रतिबिंब, २२; —एक पृथक् पदार्थ, २२; —आत्मा का आगन्तुक धर्म, ५१; —सृष्टि का उपादान, ३५८; —के भेद, ४१८

चैत्तधर्म स्वप्रकाश और निरवयव है, १६३

छ

छल, १९१

छान्दोग्य उपनिषद् ५४-५५,; —में विद्याओ का उल्लेख, ५५; —मे दर्शनो का वर्गीकरण, १६

ज

जगत् सत्य है, ४०२

जगत्, —व्यावहारिक, ५; —बौद्धिक, २२; —चिन्मय, २५; —का विषयगत विभाग, १५३, १५४, —ब्रह्मस्वरूप है, ४२४;

जगदीश, १८२

जगन्नाथ, पडितराज, ३४६

जड़तत्त्व का स्वरूप, ४२२-२३

जनता को ज्ञान से लाभ, ६४

जल्प, १९०

जयनारायण भट्टाचार्य, २२९

जयन्त भट्ट, १७, १८१

जयमगला, २७८

जयरथ, ३८१

जाति, १९१

जिनदत्त सूरि, १७

जिज्ञासा, दर्शन की, ६

जीव अणु है, ४०३

जीव, ४३०-३१, —का संसार में आना, भोग के लिए, ६, ७; —की जन्म-मरण से मुक्ति, ७; —का परम लक्ष्य, ७; —का मातृगर्भ में आना, ७; —का गर्भवास, ७-८; —का गर्भ से बाहर होने पर अनुभव, ८; —की आकांक्षाएँ, ८; —का स्वरूप (द्वैताद्वैत), ४२१; —परम पद से नही लौटना, १९; —साक्षी, ३७२; —और ब्रह्म का ऐक्य ही चरम लक्ष्य है, ३४, —के परिणाम, ११०; —का पोषण भगवान् के द्वारा (द्वैत), ४४६

जीवन, —की उलझनो को सुधारना, ३; —का सादापन, ३; —की झझट, का लक्ष्य, ४, ५, ७, ७५; —की अनुभूति ४; —दु खमय ६, १२; —और दर्शन का सम्बन्ध, ७, —और दर्शन का मुख्य उद्देश्य, ९; —की शक्ति, २४; —की अन्तिम भावना, ७३

जीवन्मुक्ति नही (भेदाभेदमत), ४०३; —जीवन्मुक्ति(साख्य), ३११; (अद्वैत), ३७०, (काश्मीर शैव-दर्शन), ३८७

जीवन्मुक्त, —भी लोक कल्याण के लिए कार्य करते हैं, १३५

जीवात्मा, —की बाते मरने के बाद, ३; —और परमात्मा का अभेद, ९; —का स्वरूप, ५९; —स्वभाव से ज्ञानरहित है (न्याय), १८४; —के गुण, १८५;

–(मीमांसा), २५०; –का स्वरूप (मीमासा), २५०; –(गुरुमत), २५०-५१; –मुक्ति मे स्वतन्त्र, २६६; –के भेद, ४०७-११
जीवनी शक्ति, ६०
जैन, –के तत्त्व, १०७; –दर्शन, आचार-विचार से आरम्भ हुआ है, १३१; -मत मे साधु और गृहस्थ, १३२-३३; –मत में ईश्वर नही मानते, १३३; व्यवहार में पटु नही थे, १३३-३५
जगीषव्य, २७६
जैमिनि, २४१
'ज्ञ' के धर्म, २९७, ३०५; –एक है,अनेक नही, २९७-३००; -की सिद्धि,३००; –की सिद्धि आगम से, अनुमान से नही, ३०९
ज्ञातता, २१७, २६३
ज्ञान का विकास, ५, ८-९ –प्राप्ति के उपाय, ५; –नाश नही, १२; –मार्ग मे क्रम, १९; –के विकास मे विरोध नही, २५; –और कर्म का सम्बन्ध, २५-२६; –का उदय, आत्मसमर्पण से, ३३; –का उपदेश, ६५, –उपदेश स्त्री को, ५५; –के स्वरूप मे अद्वैतवाद और शून्यवाद मे अन्तर नही, ५३-५४; –मरने के पश्चात् नही रहता (चार्वाक), ८३; –की अभिव्यक्ति तपस्या से, १३५; –के चार कारण (बौद्ध), १५६ टिप्पणी, –स्वप्रकाश और स्वत प्रमाण (सौत्रान्तिक), १६२; –के भद, १६५, १९१; –के पर्याय शब्द (न्याय), २३४; –स्वप्रकाश (प्रभाकर), २६६, २६८ –द्रव्य है, ४१५; आश्रय –से अन्यत्र भी रहता है, ४१६, –अविशिष्टग्राही होता ही नही, ४१७; –की उत्पत्ति-क्रम (द्वैत), ४४४, –अन्त.करण का परिणाम (द्वैत), ४४४; –का विचार (द्वैत) ४४७-४८; –परमात्मा के अधीन (द्वैत), ४४७; –नित्य, के भेद (शुद्धाद्वैत), ४६८-७१; –संसार का बीज (शुद्धाद्वैत), ४६९
ज्ञानकर्म समुच्चयवाद, ५२, ३९९-४००
ज्ञानकाण्ड, ३१, ५७
ज्ञानचक्षु, ६
ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति, १९८
ज्ञानवृक्ष, १३५

ट

टक, ३४९
टुप्टीका, २४२

त

तक्की, १७८
तत्त्वकौमुदी, २६८, २७७
तत्त्वचिन्तामणि, १८१
तत्त्वसग्रह, १६८
तत्त्वो का, रहस्य, ३; –साक्षात् अनुभव, १४
तत्त्वज्ञान, का मार्ग, ५, –जीवित अवस्था मे, ६०

तत्त्वो, को शृङ्खलाबद्ध करना, १६; —मे समन्वय, १६

तत्त्वविचार (साख्य), २८६-९०

तत्त्ववैशारदी, ३१९

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, १०३, ११४-१५

तत्त्वो की अभिव्यक्ति, २८६

तथता, १६८

तथ्यसंवृत्ति, १६८

तथागतगर्भ भी आलयविज्ञान है, १६५

तन्मात्राएँ, २८९

तन्त्रवार्तिक, २४२

तन्त्ररत्न, २४३

तन्त्ररहस्य, २४५ टिप्पणी

तर्कविद्या, १७७

तर्क, की आवश्यकता, ११, —बुद्धि पर निर्भर है, १०, —के द्वारा परम तत्त्व को नही प्राप्त कर सकते, १०, १७७; —का स्वतन्त्र स्थान, ११-१४, निर्णय मे सहायक, १३, —तर्क पर निर्भर नही रहना, १३; —के कारण आध्यात्मिक चिन्तन का अध.-पतन, १७१, —का तिरस्कार, १७७; —परिवर्तित हो जाता है, १७७; —प्रमाणो का सहायक, १७७

तर्कपाद, २४१

तर्कशास्त्र, बौद्धो के पहले भी था, १७७; —का उल्लेख, १७७-७८, —की रचना, १७९

तर्कसग्रह, २२९

तर्कामृत, २२९

तात्पर्यटीका, १८०

तात्पर्यज्ञान, २१६

तारतम्य, सुख-दुख में, ४

तार्किकरक्षा, २२९

तीन रत्न (जैन), ९८

तीर्थङ्करों के नाम, ९८; —ईश्वर नहीं हो सकते, १३३

तुरीयावस्था मोक्ष है (द्वैत), ४४६

तेज काय जीव, १११

तेजस् की मात्रा, ग्राहक में, ४

तैत्तिरीय उपनिषद्, १३, ५४

त्रसजीव, ११०

त्रसरेणु, ९०

त्रिकदर्शन, ३८०

त्रिदण्डीमत, ३९५

त्रिपुटी-प्रत्यक्ष, २५५

त्रिंशतिका, १६४

त्रिरूपलिंग (अनुमान) १५७-५९

त्रिवृत्करण-प्रक्रिया, ४२४

त्रोटकाचार्य, ३५१

त्वगिन्द्रिय, प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक, १९६

द

दर्शन —के लिए चक्षु ६; —शब्द का अर्थ, ५, ६, ७, ३४७; —का लक्षण, ६, —स्थूल दृष्टि वाले, ६; —सूक्ष्म दृष्टिवाले, ६; —की मौलिकता, १३; —का वर्गीकरण, १४; —शास्त्र का अभिप्राय, १४; —का स्वरूप, १४; —मे समन्वय, १५, १८, १९, २१; —का पुन वर्गीकरण, १६; —की संख्या, १६-१८; —की सख्या अनियत है

१७; —की सीढियाँ सम्बद्ध हैं, १८; —की सीढ़ी वुद्धि का विकासक्रम, १८; —व्यापक अर्थ, १८; —मे सम्बन्ध, १८; —मे परस्पर विरोध का कारण, १९; —मे क्रम, १९; —सभी परस्पर सापेक्ष हैं, १९, —सभी एक सूत्र मे वधे हैं, १९; —मे वास्तविक विरोध नही, १९; —मे परस्पर भेद, १९; —मे परस्पर सामञ्जस्य, २०; —का अग-कर्म और उपासना, २८; —सोपान का विचार, ५५; —ज्ञान का सोपान है, ५७

दार्शनिक, —सूत्रो के निर्माण का कारण, १६; —विचार की उत्पत्ति, २७; —विचारधारा सृष्टि के आदि से है, ३४

दाक्षिणिक-वन्धन, ३४१

दिगम्वर, ९९; —की शाखाएँ, १०२-३

दिङ्नाग, १६४, ३५०

दिनकरी, २२९

दिव्य कर्म, ३३८

दिव्य चक्षु, ६, ७९

दिव्य वासना, ३३८

दीघनिकाय, १४३; —के भेद, १४३

दीधिति, २२८

दीपशिखा, २४३

दु ख, —मय ससार, ६; —मय जीवन, ६; —से छुटकारा, ६, ७; —प्रिय नही, ७; —का आत्यन्तिक नाश, ७; —की चरम निवृत्ति, ९; —के साधन, ९, अनादिकाल से है, १४; —की आत्यन्तिकी निवृत्ति, २४; —निवृत्ति के उपाय की खोज, २७, —के कारण का ज्ञान, १३७-३८; —नाश के उपाय १३८-३९; —नित्य नही है, १३८; —के भेद १८७

दुर्गाचार्य, ३०

देवताकाण्ड, ३४८

देवता, वेदमन्त्र के, २९

देवल, २७६

देवमातृक देश, ३

देवविद्या, ५५

देवीभागवत, ३९४

देवयानमार्ग, ६१, ७५

देहशुद्धि, १३१

देहात्मवाद, ८५, ९३

दैव (विद्या), ५५

दैवी शक्ति, १, ३

दोष, १८७

द्रष्टा और दृश्य मे भेद नही, ५७

द्रविड़ाचार्य, ३४९

द्रव्य, —पदार्थ परिणामी है (जैन), १८९, —के भेद, २१९, २३०, (मीमासा) २४५, (द्वैत), ४२७; —का लक्षण, २३०, ४२७; —(मीमासा), २४५

द्रव्यसग्रह, १०१ टिप्पणी

द्वादशलक्षणी, २४१

ध

धर्म (सर्वास्तिवाद), १५२, —का लक्षण, २३९ टिप्पणी

धर्मकीर्ति, १५१, १६४, ३५०; —का

अनुमानलक्षण, १५७
धर्मत्रात, १६२
धर्मधर्मताविभाग, १६४
धर्मधातु, १६८
धर्मपरिणाम, २८२, ३३४-३५
धर्ममेधसमाधि, ३२१
धर्मविचार मीमासा का विषय, २३९
धातुओ की सख्या, १५३
ध्यान और वासना (द्वैत), ४३८-३९
ध्रौव्य, १२९-१३०, –स्वरूप (जैन), ११०
ध्वनि, –नित्य शव्द का प्रतीक, २५८, –अनित्य, २५८, –शव्द से भिन्न, २५८

न

नक्षत्रविद्या, ५५
नचिकेता, ४९, ५२
नदीमातृक देश, ३
नय (दृष्टिकोण), १२७-२८
नयकर्णिका, १२८
नवद्वीप, नव्यन्याय का दूसरा केन्द्र, १८२
नव्यन्याय, १८१-८२
नागार्जुन, १६७, –का शून्य का स्वरूप, १६६
नाद, ४६२
नारायण भट्ट, २४४
नारायणीय खण्ड (महाभारत), ८१
नाश स्वत होता है, १६३
निगम, ३९४
निग्रहस्थान, १९१
निर्ग्रन्थमत, ९९
निश्चयकाल, ११४
निर्णय, का अर्थ, १७५; –के लिए तर्क और सशय, १७६; –के तीन साधन, ११, १३
नित्यकर्म, ३१-३२, २५१ टिप्पणी
निद्रा, ३२२-२३
निदिध्यासन, ९; –का अर्थ, ११, १३
निधिविद्या, ५५
निमित्तकारण, २२३
निर्बीजसमाधि, ३२५
निम्वार्क-सम्प्रदाय, ३९६-९७
निर्माणकाय, २२४, २७३ टिप्पणी; –चित्त, २७३
नियतिवाद, ८३-८५
निरुक्त, ३०
निरुद्ध, ३१९-२०
निरोधअवस्था, ३३२; –परिणाम, ३३३
निर्वाण, असस्कृत धर्म नही, मग्ग से उत्पन्न, १६२, –मे धर्मों का अनुत्पाद, १६२, –क्लेशो का अभाव, १६२, –असत्, १६२, –कषायो का नाशस्वरूप, १६२
निर्विकल्पक (विशिष्टाद्वैत), ४१७; –जैन, १२०, –प्रत्यक्ष (न्याय), १९३
निर्वितर्क समाधि, ३२४
निर्विशेष तत्त्व, ३५५
निवृत्तिमार्ग की प्रक्रिया, ४०४
नि स्वभावता ही परमार्थ सत्य है, १६८
नि श्रेयस् की प्राप्ति, १७९
निष्काम कर्म, ६५, ७४

निषिद्ध कर्म (द्वैत), ४४०
नीलकण्ठ दीक्षित, २४४
नैमित्तिक कर्म, ३२; २५१ टिप्पणी
नैषधचरित, २२
न्यायकणिका, १६५ टिप्पणी
न्यायकुसुमाञ्जलि, १८०
न्यायदर्शन की पृष्ठभूमि, १७४
न्यायपरिशुद्धि, १८१
न्यायभूमि, २७२
न्यायमञ्जरी, ९०, १८१
न्यायमुक्तावली, २२९
न्यायरत्नमाला, २४३
न्यायलीलावती, २२८
न्यायावतार, १२७
न्यायवार्तिक, ८४, १८०
न्यायविन्दु, १५६, १५९
न्याय-वैशेषिक मे परस्पर भेद, २३६-३८
न्याय-वैशेषिक-भूमि, २१-२२
न्यायसूत्र, अक्षपाद गौतम की रचना का काल, १६, १७०; —बौद्धो के लिए शत्रुवत् था, १४८; —को बौद्धो ने कई वार दूपित किया, १४८, १८१
न्यायसार, १८१
न्यायसूचीनिवन्ध का महत्त्व, १७९
न्यायशास्त्र, के प्रमेय, १८०, —मे बौद्धो की देन, १७०
न्यूटन का एटोमिक सिद्धान्त, १०

प

पक्षधर मिश्र— 'आलोक' के रचयिता, १८२
पक्षधर्मता, १९९
पक्षवृत्तित्व, २०२
पञ्चकञ्चुक—माया की, २३, २४
पञ्चकोष, ५४
पञ्चतन्मात्रास्वरूप विचार (द्वैत), ४३५
पञ्चभूत—साख्य के, २९२; —२८९
पञ्चभूमि, १६४
पञ्चम वेद महाभारत है, ६७
पञ्चरात्र्यागम, ४१९
पञ्चशिख, २७३
पञ्चास्तिकाय ११२—१३
पञ्चीकरण, ३६४-६५
पतञ्जलि, ३१८
पदशक्ति (द्वैत), ४४३।
पदार्थ —का परिचय १८३; —के भेद (न्याय-वैशेषिक), २३०; —(प्रभाकर-मत), २४४; —(कुमारिल), २४६; —मुरारिमत, २४७, —के भेद, ४२६; —प्राकृत (द्वैत), ४३५; —विकृत (द्वैत), ४३५
पदार्थधर्मसग्रह, २२८
पद्मनाभ मिश्र, २२९
पद्मपादाचार्य, ३५१; —के ग्रन्थ, ३५१
परत. प्रामाण्य, २१६-१७, २६२-६३
परधर्म का अनुसरण अनर्थकारी है, ८१
परब्रह्म-से सृष्टि, ६१, —मे प्रपञ्च का लय, ६१
परम तत्त्व—के देखने का उपाय, ९; —का साक्षात्कार, ११, —ज्योतिर्मय स्वरूप, १४; —अवाङ्-मनसगोचर है, १७२
परम न्याय १९०, २००

परम पद का साक्षात्कार, ७
परम शिव, ३७९
परम सुख—तथा आनन्द, ३; –५
परमाणु—निरवयव है (सौत्रान्तिक), १६२; –के संघात से परिमाण नही बढता (सौत्रान्तिक), १६२; –का स्वरूप, २९०
परमात्मा—मे सृष्टि की इच्छा, २३३; –(मीमासा), २४९; –४२७–२९
परमानन्द, –की प्राप्ति, –८, ९, –दर्शन का परम ध्येय, ११
परमार्थसत्य, १६८-६९
परसत्ता, २३१
परार्थानुमान के अवयव, १८९
परा प्रकृति, –जगत् को धारण करती है, ७७; –का मरने पर एक शरीर से दूसरे में प्रवेश, ७७
परा भक्ति, ३९५
परामर्श, १९९
परा वाक्, २८-२९
परिणाम, –भाव (समय), ११४; २८१; –के भेद, २८२, –वाद, २९६ टिप्पणी; –का स्वरूप, ३३३; –एक ही है, ३३६; –(विकार), ३५५; –शक्ति, ४०१; –निरवयव तत्त्व का, ४०१
परिणामिनित्यत्ववाद, १२९-३०
परीक्षामुखसूत्र, १२०
पश्यन्ती वाक्, २८, २९
पाकजप्रक्रिया, २३७-३८
पाकजोत्पत्ति, २२९
पापकर्माशय, २७५
निग्रहस्थान, [illegible]
पाणिनि, ३४८
पारमार्थिक-दृष्टि, ३, –भूमि, ३; –सत्ता, ३५४
पारमिता, से शून्य का ज्ञान, १६९
पार्थसारथि मिश्र, २४३
पाशुपत, २२४
पिठरपाकवाद, २३७
पितृयान मार्ग, ६१, ७५
पित्र्यम् (विद्या), ५५
पीलुपाकवाद, २३८
पुद्गल, –१११; –के गुण, ११२; –के आकार, ११३; –के भेद, ११३
पुण्यकर्माशय, २७५
पुरुष, –चित्त, निर्लिप्त, त्रिगुणातीत है, २२; –कैवल्य अवस्था मे, २३; –का अखण्ड और अद्वितीय स्वरूपज्ञान सांख्य मे नही है, २३; –कार, ८५; –एक (सांख्य मे), २९७, –बहुत्ववाद का खण्डन और मण्डन, २९८-३००, ३०३-३०४; –तीन प्रकार के सांख्य और गीता मे, ३०५; –और अविद्या का संयोग अनादि है, ३०९-३१०; –मुक्ति मे प्रकृति को देखता है, ३१२, –की वृत्ति, ३२१; –तीन प्रकार के है (योग), ३४३; –तत्त्व, ३८५
पुरुषार्थ, –३१६, –परम, ३१६
पुरुषोत्तमतत्त्व, –७७-७८, –का स्वरूप, ८०, –रूप भगवान् दार्शनिक परम तत्त्व है, ८०
पुरीतत्, १९६

पुष्पदन्त, १७
पूर्णता, ३७५
पूर्णप्रज्ञ, ४२६
पूर्णावस्था, ३८२
पूर्णस्वरूप, ९
पूर्ववत् अनुमान, २००-२०१
पूर्वमीमासा, २४०
पौरुषेय चैतन्य, २७४
पृथिवीकाय जीव, १११
प्रकरण,—आर्यवाचा, १६४, —समहेत्वाभास, २१०; —पञ्चिका, २४४
प्रकाश, वर्द्धमान-रचित, १८२
प्रकृति,—से माया भिन्न है गीता मे, ७९, —की सिद्धि, २९५-९६,—का स्वभाव ३१०, —का कार्य परार्थ है, ३१०, —पुरुषविवेक, २६९, —मे क्षोभ, २८६, —लय, ३२६; —लीन पुरुप, ३४१; —तत्त्व, ३८५,—४३२,—के भेद, ४५९
प्रख्याशील, ३२१
प्रगतिशीलता, दर्शन की, १४
प्रच्छन्न बौद्ध, ५३, ३७६
प्रज्ञा—चक्षु, ६, —का उदय, ३२४-२५; ३२६, —ज्योति, ३३०-३१; —के भेद, ३३१-३२
प्रज्ञापारमिताशास्त्र, १६७
प्रणव, —से जगत् की अभिव्यक्ति. ५३; —३४२
प्रतिबिंब, —तत्त्वविचार (द्वैत), ४३९; —के भेद (द्वैत), ४४०
प्रतिभाप्रमाण, २६१
प्रतिसंख्यानिरोध, —१५४; —(सौत्रान्तिकमत), १६३,—मे प्रज्ञा का उदय, १६३
प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यता, १६६-६७
प्रत्यक् चेतन, ६२
प्रत्यक्ष, —ज्ञान-प्राप्ति का निश्चित उपाय, ५; —के भेद, ५, १९२, २५६, (द्वैत), ४४५; —ही एकमात्र परम तत्त्व का साधक प्रमाण है, १०; —पारमार्थिक, १२१;—व्यावहारिक, १२१;—प्रमाण १९२, —ज्ञान की प्रक्रिया (न्याय), १९६, —की प्रक्रिया, ३०६-७;—एक ही प्रकार का साख्य मे, ३०७-८; —प्रमा, ३७१, —जड़ और ब्रह्म का, ३७१-७२
प्रत्यभिज्ञाभूमि, ३८०
प्रत्येक बुद्ध, १४०
प्रथमकल्पिक, ३३०
प्रदेश, (जैन), १०९, १११
प्रपञ्च बन्धन का कारण है (मीमासा), २५१
प्रपत्ति, ४१६
प्रभाकर मिश्र, २४२
प्रमाण,—सिद्धिसेन दिवाकर का मत,१२१; —का लक्षण (बौद्ध), १५६; —की आवश्यकता,१७६, ३०८,—की सख्या दर्शनो मे, १८३; —का विचार, २२७, (भाट्टमत), २५४-५५, (प्रभाकर), २५५, —के भेद, २५५; —प्रमेयज्ञान

के लिए, ३०६, (साख्य), ३०८-९, तीन (साख्य मे), ३०६; —(योग), ३२२
प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार, १२३
प्रमाद, (विघ्न), ३२७
प्रमेयो का विचार, २२७
प्रलय,—की अवस्था, २३२,—मे जीवात्मा, २३३; —और सृष्टि का अभाव (भाट्टमत), २४९; —के भेद (द्वैत), ४४६-४७
प्रवचनभाष्य, २७१
प्रवृत्ति, —वहिर्मुखी, ४, ५, —विज्ञान, १६४; —१८७
प्रशस्तपाद, २२८
प्रश्न उपनिषद्, ५३
प्रसन्नता, ३२७
प्रसन्नपदा, १६७
प्राकृत तत्त्व, ४२३
प्राकृतिक वन्धन, ३४१
प्रागभाव, २१७
प्राचीनन्याय, १८२
प्राज्ञ, ३६०
प्राण, —भौतिक है, ८८; —मयकोष, ३६३
प्राणात्मवाद, ९४
प्रातिभ, —चक्षु का उन्मीलन, १४०; —ज्ञान, २३५-३६, २६१, (मीमासा) २५६
प्रान्तभूमि प्रज्ञा, ३३१
प्रामाण्यवाद, २१६-१७, २४३, २६१-६४
प्रारब्ध कर्म (द्वैत), ४४१
प्रेत्यभाव, १८७
प्रेयस्, ३

फ

फल (न्याय का एक प्रमेय), १८७

ब

वकुल (रामानुजमत), ४१९
वद्धपुरुष की सिद्धि (साख्य), ३०३; —अनेक है, ३००
वहिरग, समाधि के, ३३२
वहिर्दृष्टि, ४४९
वादरायण, २४१
वादरि, २४१
वाधितविषय (हेत्वाभास), २२१
वार्हस्पत्यसूत्र, ८३, —दर्शन, ८३
वालराम उदासीन की टीका (साख्य), २७९
वाह्य जगत् की स्वातन्त्र्य-सत्ता, अनुमेय-सत्ता, निराकार एवं विज्ञानस्वरूप होना, १५०, —की सत्ता का निराकरण, १६१
वाह्यार्थ की अनुमेयता, १६२
वुद्ध का जन्मकाल, ५६
वुद्ध के उपदेश, १४१; —उपनिषदो के आधार पर, १४७; —का प्रभाव, १७८, —से समाज मे हानि, १४२
वुद्ध के ज्ञान की पूजा, १४८
वुद्ध के वचनो के विभाग, १४३-४४
वुद्ध को व्यावहारिक जगत् का पूर्ण ज्ञान, १३६
वुद्ध का निर्वाण, १४२

बुद्ध के प्रधान शिष्य, १४२
बुद्धदेव, १६२
बुद्धपालित, १६७
बुद्धि, की इयत्ता नही, १०, –प्रकृति का सात्त्विक विकार, २२; –से तत्त्व-ज्ञान, २२
बुद्धि के पर्याय शब्द (न्याय), १८६, २३४
बुद्धि, भोग-साधन है, २८७; –के धर्म, २७५; –'द्वारि' है, इन्द्रियो के मार्ग से बाहर जाती है, ३०७; –चित्त-प्रतिबिंबित, ३०७
बुद्धितत्त्व, ३८५; –द्वैतमत, ४३३
बुद्धिवृत्ति दर्शन है, २७४
बृहत्सहिता, ८५
बृहट्टीका, २४२
बृहती, २४३
बृहदारण्यक, ५० टिप्पणी, ५५
बृहस्पति, चार्वाकमत प्रवर्त्तक, ८३
बोधायन, २४१
बोधिचर्यावतार, १६७
बोधिसत्त्व, १४१
बौद्ध, वेद की निन्दा करते थे, १४८, –वेद को नही मानते थे, १४८; –ईश्वर का निराकरण करते थे, १४८
बौद्ध लोगो में द्वेषभाव, १४८
बौद्ध-सस्कृति कपोलकल्पित और कलह का मूल, १४८, –भारतीय सस्कृति से भिन्न नही, १७२
बौद्धो की साम्प्रदायिकता, १७१
बौद्धो का अपने लक्ष्य से भटकना, १७८
बौद्धो के भारतवर्ष मे तिरस्कार का कारण, १४८-४९
बौद्ध-दर्शन आदि मे आचार शास्त्र था, १३४, –का बीज कर्मकाण्ड है, १३४, –नि स्वभाव, अलक्षण और अनिर्वचनीय है, १५१
ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु ऋषि लोग, ५३; –का उपदेश, ५४; –पहले क्षत्रियो मे था, ५८
ब्रह्मतत्त्व, ४००
ब्रह्मदत्त, ३४९
ब्रह्मनन्दी, ३४९
ब्रह्मपरिणामवादी, ३४९
ब्रह्मबोध, ३८९
ब्रह्मशक्ति, ३८९
ब्रह्मविद्या, ५५
ब्रह्मविद्या के ग्रहण के अधिकारी, ४९
ब्रह्मसाक्षात्कार, ३६९
ब्रह्मसम्प्रदाय, ३९६
ब्रह्मसूत्र, १०
ब्रह्म, की महिमा, शक्ति, ५२, ४०२; –के दो रूप, ५९
ब्रह्म ही एक मात्र प्रमेय (मुरारि मिश्र, २४७, शुद्धाद्वैत), ४५१
ब्रह्ममीमासा (मुरारिमत), २४७
ब्रह्मन्, अथर्ववेद के पुरोहित, ३१
ब्रह्माण्डतत्त्व (द्वैत), ४३५-३६
ब्रह्माद्वैतवाद, ३८०
ब्रह्मप्रत्यक्ष के भेद, १९३

भ

भक्ति, ३; —ज्ञान और कर्म का सामञ्जस्य, २६, २८;—का महत्त्व, ३९४, —के अधिकारी, ४०९; गीता मे, ६५
भक्तिशास्त्र के आचार्य, ३९५
भगवतीसूत्र, १२१
भगवद्गीता का उपदेश, १२-१३, ३३
भगवान्, मे पूर्ण श्रद्धा, आत्मसमर्पण, ७३, —समयमापक है, ७०; —का अनुग्रह ६;—का अन्तकाल मे स्मरण, ७३; —भक्तो के अपराध को क्षमा करता है, ७८; —वर्णाश्रम धर्म के पालक, ८१; —की शक्तियाँ, ४५२
भगीरथ ठक्कुर, १८२
भद्रबाहु, १०२
भरद्वाज की वृत्ति, २२८
भवचक्र, ८, १३८
भवदास, २४१
भवप्रत्यय, ३२५-२६
भर्तृप्रपञ्च, ३४९
भर्तृमित्र, ३४९
भर्तृहरि, १०
भागवत-सम्प्रदाय (प्राचीन), ८१
भामती, ८५, ९०, २७३-७५; —प्रस्थान, ३५२
भाट्टकौस्तुभ, २४४
भाट्टदीपिका, २४४
भाट्टरहस्य, २४४
भाट्टमत का जगत् से सम्बन्ध, २६६
भारुचि, ३४९
भावनाविवेक, २४३
भाषापरिच्छेद, १९८, २२९
भासर्वज्ञ, १८१
भास्कर, ३८१, ३९९; —ब्रह्मपरिणाम-वादी, ३५१
भिक्षुसूत्र, ३४८
भिक्षुको का जगल में जाना, १४१
भूतकोटि, १६८
भूतविद्या, ५५
भूतस्वरूप (द्वैत), ४३५
भूतो मे परिणाम, ३३४
भूमि, दश (योग), १४६-४७
भेद, का कारण, ९; —निम्नस्तर में, १३२; —अभेद मे, १३२
भेदाभेदवाद, ३४९, ३९६, ४०२
भोक्तृशक्ति, ४०२
भोग से कर्म का नाश, १३५
भौतिकवाद, ८३, ९५
भ्रम भी यथार्थ ज्ञान है (विशिष्टाद्वैत), ४१७
भ्रान्तिज्ञान (प्रभाकर), २६४; —कुमारिल,२६५;—पक्षधर मिश्र,२६५-६६

म

मज्झिमनिकाय, १४३
मण्डन मिश्र, ३५१
मथुरानाथ, १८२
मधुभूमिक, ३३०
मधुसूदन सरस्वती, १७
मध्यटीका, २४२
मध्यम मार्ग और बुद्ध, १६७
मध्यान्तविभग, १६४

मध्वसम्प्रदाय, ३९६
मनन, ९–१३; –की आवश्यकता, १७६-७७
मनस्, भौतिक, ८८, २४८ (भाट्ट) इन्द्रिय नही (विज्ञानवाद), १६५,–(अद्वैत), ३७२; –का लक्षण और गुण, १८६-८७; –मोक्ष मे, १८७; –तत्त्व, ३८५; –द्वैत, ४३४; –इन्द्रिय है (द्वैत), ४३४; –के भेद (द्वैत), ४३४, –विभु (कुमारिल) २४६; –परमाणुरूप (प्रभाकर), २४८;-के गुण (शुद्धाद्वैत), ४६८; –संकल्प-विकल्पात्मक, २८९; –उभयात्मक, २८९
मनुसहिता, ८५
मनोमय कोष, ३६३
मनोरथ और स्वप्न (द्वैत), ४३८
मनोविज्ञान, १५६
ममतारूप ज्ञान (द्वैत), ४४७
मरने पर कुछ नही रहता, ५०, ९०
मरणकाल का स्वरूप, ६०
महत्तत्त्व का स्वरूप (द्वैत), ४३३
महापरिनिब्बानसुत्त, १३८ टिप्पणी
महाप्रलय (द्वैत), ४४६–४७
महाभारत, २९ टिप्पणी, ५६, –के युद्ध का समय, ५६; –पञ्चम वेद, ६७
महायान, सम्प्रदाय की चरम अवस्था, १४१, –शब्द का अर्थ, १४५; –की दस भूमियाँ, १४६
महायान उत्तरतन्त्र, १६४
महायानसग्रह, १६४
महायानसूत्रालङ्कार, १६४
महावाक्यो का बोध, ६२
महासाघिक, १४४; –के भेद, १४५
महेश ठक्कुर, १८२
मजूपा, २२९
माठरवृत्ति, २७७
माण्डूक्य उपनिषद्, ५३; –मे आत्मा, २५; –कारिका, २७७
माधवाचार्य, १७
माध्यमिकमत मे बौद्ध का परम लक्ष्य की प्राप्ति, १६६
माध्यमिक शब्द का अर्थ, १६७
माध्यमिककारिका, १६६-६७, ३७७
माध्यमिकावतार, १६७
माध्यमिकालंकारकारिका, १६८
मानसिक प्रत्यक्ष, १९२
माया २३; ५६-५७, विशुद्धसत्त्वप्रधाना, अनिर्वचनीया, २३;–के पंचकञ्चुक, २३-२४;–शक्ति परमात्मा की, ३५, ७८; –भगवान् की अपरा प्रकृति से भिन्न; ७७;–तत्त्व, ३८४;–शक्ति, ३८४, –विष्णु की, ४५१
माहेश्वर-दर्शन, ३८०
मिथ्यासवृति, १६८
मिश्रसत्त्व, ४११-१२, ४१९
मीमासासूत्र की रचना, १६
मीमांसा, दर्शनशास्त्र है, २३९-४०; –शास्त्र की उत्पत्ति मिथिला मे, २४०, –न्यायशास्त्र भी कहा जाता है, २४०, –के विषय, २४१-४२
मीमासानुक्रमणी, २४३

रामानन्द-सम्प्रदाय, ३९६-९७
रावण, २२८; –भाष्य, २२८
राशिविद्या, ५५
रुचिदत्त मिश्र, १८२
रुद्रसम्प्रदाय, ३९६

ल

लक्षणपरिणाम, २८२, ३३४-३५
लक्षणा, जहत् और अजहत् ६२, ३६८
लक्ष्मी, ४२९-३०
लघ्वी, २४३
लङ्कावतारसूत्र, १६४
लावुकायन, २४१
लिंगपरामर्श, १९९
लिंगशरीर, २८७
लुप्तकारिका (सांख्य की), २९८,३०१
लोकाकाश, १११ टिप्पणी
लोकायतिक दर्शन, ८३
लौकिक वाक्य, २१६

व

वज्रच्छेदिका, १६४
वरदराज मिश्र, ८४
वर्गीकरण, दर्शनो का, १४; –की आवश्यकता, १५-१६; –का कारण, १६, –उपनिषदो के पूर्व का, १६; –परवर्ती काल में, १६
वर्णतत्त्व (द्वैत), ४३७
वर्तमान (सौत्रान्तिक), १६२
वर्द्धमान उपाध्याय, १८२
वर्द्धमान, २२८
वल्लभसम्प्रदाय, ३९६
वल्लभाचार्य, २२८
वसुगुप्त, ३८१
वसुवन्धु, १५१
वाक्य के भेद, २५७
वाक्यपदीय, १०, २९, टिप्पणी, १७७,
वाक्यार्थबोध, २१४
वाकोवाक्य, ५५, १७८
वाचस्पति मिश्र (वृद्ध), १८०
वात्स्यायन, १७५, १८०
वाद, १९०; –विद्या, १७८; –आदि पदार्थो का गौतमसूत्र मे समावेश, १७९
वायुपुराण, २९ टिप्पणी
वायुकाय जीव, १११
वायुप्रत्यक्ष, २४५
वार्तिकामृत, ९२ टिप्पणी
वाल्मीकीय रामायण, ८५
वार्षगण्य, २७६
वासना, के कारण, ३३९; –तत्त्व (द्वैत) ४३८
वासुदेव, परम तत्त्व गीता मे, ८०
वासुदेव मिश्र, १८२
विकल्प (योग), ३२२-२३
विकास, ज्ञान का, ५
विक्षिप्त, ३१९-२०
विक्षिप्तता, ३३४
विक्षेपशक्ति, ३५७-५८
विग्रहव्यावर्तनी, १६७
विघ्न (योग), ३२७
विचारानुगत, ३२४
विजातीय परमाणु से सृष्टि, २३३

स्वरूप, २९, —परावाक्स्वरूप, २९; —एक, स्थूल रूप मे व्यवहार के लिए चार, २८-२९, ५१, —का साक्षात्कार, २९; —ऋषियो की स्तुतियाँ, २९, का नामकरण, २९-३०; —अनादि, ३१; —की अभिव्यक्ति, ३१, —मे कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, ३१; —की परम्परा, ५१; —के उपनिषद्, ५२; —दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत, ३२, —मे सृष्टि-विचार, ३४-३६; —वाक्य, २१६; —स्वप्रकाश, २५७; —मन्त्र का अर्थ अपने प्रकरण मे करना उचित, २५७; —मन्त्र तैजस् रूप मे ऋषियो को आविर्भूत हुआ, २५७
वेदान्त शब्द का अर्थ, ३४७
वेदान्तपरिभाषा, ३७२
वेदार्थविचार (मीमासा), २३९
वैकारिक-वन्धन, ३४१
वैखरी वाक्, २८, २९
वैखानस, ३९६
वैदिक धर्म के विरुद्ध उपदेश, १६
वैदिक सहिताओं मे लौकिक ज्ञान की वाते, ३३
वैराग्य (समाधि के लिए) आवश्यक, १६९
वैशेषिक-दर्शन का नामकरण, २२९
वैष्णवागम, ८१
वोढु, २७६
व्यक्त के धर्म, २९३-९४; —और अव्यक्त के साधर्म्य, २९७
व्यतिरेकअनुमान, १९९-२०१ भा० द० ३२ भा० द० ३२
व्यवसाय, २६२
व्यवहारभूमि, ३५०
व्यष्टि अज्ञान, ३६०
व्याप्ति, १९३
व्यामोहिका माया, ४५२
व्यावहारिक जगत्, ५
व्यावहारिकी सत्ता, ३५४
व्यास, २१८
व्युत्क्रमसृष्टि, ३८६
व्युत्थान अवस्था, ३३२
व्योमशिवाचार्य, २२८
व्योमवती, २२८

श

शक्ति, तत्त्व, २४, ३८२; —पदार्थ, २४४; —द्वैत, ४४२; —के भेद (द्वैत), ४४२-४३
शक्तिसगमतन्त्र, ३९६
शक्त्यावेश, ४१४
शब्द की चार अवस्थाएँ, २८
शब्द की स्थिति (सौत्रान्तिक), १६२
शब्दप्रमाण, २१४; —मीमांसा, २५६; —के भेद, २५६-५७; —प्रभाकर, २५८
शब्द के भेद (द्वैत), ४४५
शब्द स्पर्शवान् है (शुद्धाद्वैत), ४६१
शमथ, चित्त की एकाग्रतारूप समाधि, १६९-७०; —से प्रज्ञा का उदय, १६९
शरीर, तीन गुण से वना है, ७४; —का लक्षण, १८५; —के तीन भेद (प्रभाकर), २४५-४८; —पाचभौतिक नही, (प्रभाकर), २४७
शवरभाष्य, २४२

शवर स्वामी, २४२
शकर भट्ट, २४४
शंकर मिश्र, २२८-२९
शकराचार्य, ९, १७, ५३, ३४९; —के ग्रन्थ, १०, ३५१;—के अनुकूल दर्शनो की सख्या, १७
शाकर वेदान्त, २३; —भूमि, २३, ३४७
शान्तप्रत्यय, ३३४
शान्तरक्षित, १६८
शान्तिदेव, १६७
शालिकनाथ मिश्र, २४३
शास्त्रदीपिका, २४३
शास्त्रवश्य, ४०८
शुक्ल कर्म, ३३७-३८;—कृष्ण कर्म, ३३७-३८
शुद्ध विद्या, २४, ३८२, ३८४
शुद्ध सत्त्व, २३, ३१४, ४११-१२
शुद्धाद्वैतवाद, ३९६, ४५१
शून्य, महानिर्वाणपद, परम तत्त्व, अनिर्वचनीय, अलक्षण, अभावस्वरूप नही, नि स्वभाव, १५०, १६३;—वाद अद्वैत है, १६६
शून्यता ही प्रतीत्यसमुत्पाद है, १६६
शून्यतासप्तति, १६७
शिक्षा के दस नियम, १४१
शिक्षासमुच्चय, १६७
शिवतत्त्व, ३८२
शिवमहिम्न स्तोत्र, १७; —मे दर्शनो की संख्या, १७
शिवादित्य मिश्र, २२९
शिष्य, की परीक्षा, ५२, ७०; —दुर्लभ, ७०
शेपवत् अनुमान, २००-२०१
श्रद्धा से परम पद की प्राप्ति, ९
श्रद्धा, दैवी शक्ति मे, ३; —की आवश्कता, ६२, ३२६
श्रवण, ९, १०, १३
श्रावको का सावन, १४०
श्रेयस्, ३
श्रीवराचार्य, २२८
श्रीलाभ, १६२
श्रीहर्ष, २२
श्रीरावावल्लभी, ३९६
'श्री' शव्द का अभिप्राय, ४०५ टिप्पणी
श्रीसम्प्रदाय, ३९६; —की गुरुपरम्परा, ४०५
श्रुतियो का लिपिवद्ध होना, ५६-५७
श्लोकवार्तिक, २४२; —की रचना नास्तिको से वचने के लिए, २४२
श्वेताम्वर, ९९

ष

षड्दर्शन, १६-१८, —शब्द नवीन है, असगत तथा अनियत सख्या वाला है, १७
षड्दर्शनसमुच्चय, १७, ८१; —प्रकाश, २७०
षष्टितन्त्र, २७६
षाट्कौशिकशरीर, ३२५
षाड्गुण्यविग्रह, ४१४ टिप्पणी
षोढा सन्निकर्ष, १९३-९५

स

सकृदागामी, १४०
सत्कार्यवाद, २८४-८६, (शुद्धाद्वैत) ४६७
सत्कार्यवादी, ४००
सत्, –चित् और आनन्द का सामरस्य तथा सामञ्जस्य, २५, –का विचार, १२९; –कूटस्थ और क्षणिक है (जैन), १२९
सत्ता, –बाह्य का निराकरण, १५०; –चित्तनिरपेक्ष, १५०; –चित्तसापेक्ष, १५०; –अनुमेय, १५०; –अन्तर्मुखी, १५०; –निरपेक्ष, १६१; –बाह्य और अन्त. समान है, १६१; –का सर्वथा निराकरण, १६६; –(शून्यवाद), १६८, –(वेदान्त), ३५४-५५
सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास, २१०
सत्प्रत्ययकर्म, २३६
सत्य,–त्रैकालिक, ५६, –प्रियता, १
सत्त्वशून्य, ४११-१२
सदाविशुद्धि, २७४
सदाशिवतत्त्व, २४, ३८२, ३८३-८४
सदृशप्रवाहिता, ३३४
सद्भाववाद, ११०
सद्योमुक्ति, ७६
सनत्सुजातवचन, –२९ टिप्पणी, ३०
सन्निकर्ष के भेद, १९३
सन्निधि, २१५
सन्मार्ग, –मे फिसलना, ४; –पर चलने से भविष्य उज्ज्वल होता है, १२
सपक्षवृत्तित्व, २०२
सप्तभगीनय, १३०-३१
सप्रपच ब्रह्म का निरूपण, ५२
सबीज समाधि, ३२४
समनन्तरप्रत्यय, १५६ टिप्पणी
समन्तभद्र, ३५०
समन्वय, दर्शनों में, १५
समवाय, –सम्बन्ध, २१९-२१, –का लक्षण, २३२
समवायिकारण, २१९
समय और काल, ११४
समष्टि अज्ञान, ३५९
समस्या, उलझी हुई, ३
समाधि, –के भेद, ३२३; –परिणाम, ३३४, –सम्प्रज्ञात, ३२३-२४
समानतन्त्र, २२७, २३६
सम्प्रदाय का प्रवर्तक, २२५
सम्प्रज्ञातसमाधि, ३२३-२४
सम्बन्ध का लक्षण (मीमांसा), १९६
सम्भवप्रमाण, २६०
सम्मा –कम्मन्त, –दिट्ठि, –वाचा, –सकप्प, –समाधि, –आजीव, –वायाम, –सत्ति, १३९
सम्यग्ज्ञान, १५६
सर्पदेवयजनविद्या, ५५
सर्वज्ञात्ममुनि, ३५१
सर्वदर्शनसग्रह, १७
सर्वदृष्टि, ४४९
सर्वमतसग्रह, १७
सर्वसिद्धान्तसग्रह, १७, ९१, १६२
सर्वार्थिता, ३३४
सविकल्पक ज्ञान (जैन), १२०–प्रत्यक्ष (न्याय), १९३

सहकारी प्रत्यय, १५६ टिप्पणी
सहज शक्ति (द्वैत), ४४३
साक्षिगोचर, (द्वैत), ४३५
साक्षी, –(द्वैत), ४३५
सादृश्यपदार्थ, २४४
सादृश्यनिरूपण (द्वैत), ४४३
साधना, यौगिक, ७४
सामरस्य, शिवशक्ति का, ३८७
सामवेद, गाने के योग्य मन्त्र, ३०
सामान्य, –लक्षण-प्रत्यासत्ति (न्याय), १९७; –तो दृष्ट २००; –का लक्षण २३१; –के भेद २३१; –(द्वैत), ४४१-४२; –निरूपण (द्वैत), ४४१
साम्यावस्था, २८३
सायणाचार्य, ३१, ३५
साहसतुंग, ३५०
सिद्धशिला, १२०
सिद्धान्त के लिए आगम, तर्क और अनुभव की आवश्यकता, १७६
सिद्धान्तविन्दु, १७, ८८, ९४
सिद्धार्थक वाक्य, २५७
सुत्तपिटक मे बुद्धका साक्षात् उपदेश है, १६१
सुन्दरपाण्ड्य, ३४९
सुरेश्वराचार्य, –३५०-५१; –के ग्रन्थ, ३५१
सुवर्णसप्तति, –२७६, –शास्त्र, २७९
सुषुप्ति, –दशा में मन, १९६, –और मोह (द्वैत), ४४६; –स्वप्न का अवान्तर भेद है (शुद्धाद्वैत), ४७१
सूक्ष्म, –दृष्टिवाले दर्शन, ६; –तत्त्व ६, –नेत्र, ६; –शरीर (साख्य), ३११; –(अद्वैत), ३६४
सूत्रसमुच्चय, १६७
सूत्रात्मा, ३६४
सृष्टि का आरम्भ ३, ६१; –सुख-दुःख का अनुभव करना ही है, २७; –के विभिन्न मत, ३४-३६; –ईश्वरेच्छा से, ८९; –सत् से, असत् से, १८६; –तीन सख्या से, २३३, –प्रक्रिया, २३३; –के कारण, २८३; –क्रम (द्वैत), ४४५-४६; –पुरुष की मुक्ति के लिए, ३१०, –प्रकार, ४५३; –के भेद (शुद्धाद्वैत), ४५३
सैद्धान्तिक रूप, चरम तत्त्व का, ४
सोपधिशेष निर्वाण, धातु, १५६
सोमानन्द, ३८१
सौत्रान्तिकमत, –१६१, –का वैभाषिक से पृथक् होना, १६१
सकल्पात्मिका इच्छा, ४५२
सकर्षणकाण्ड, ३४८
सक्षेपशारीरक, ३५१
सख्या, पदार्थ, २४४; –सम्यक् विचार २६८
सगीतिशास्त्र, १६४
संघ, के नियम, १४१; –का संघटन, १४१; –मे विभाजन, १४२
सयोगसम्बन्ध, २१९
सविद्रूपा शक्ति, ३८७
सवृतिसत्य, –१६८, –के भेद, १६८ –की आवश्यकता, १६९
सशय, –से तर्क की प्रवृत्ति, १७५;

१८८-८९
र,को मिथ्या समझना, ३;–दु खमय, ६;–के विषय प्रत्यक्ष और परिवर्तन-शील है, १६१, –भोग के लिए, २३४
त-धर्म के भेद, १५४-५५
र, –की प्रक्रिया (वैशेपिक), (न्याय), २३४; –का स्वरूप(द्वैत), ४४७
ताएँ, –एक ही समय की है, ३१; –सभी एक ही ग्रन्थ हैं, ३१
ख्य, –मे यथार्थ ज्ञान है, २६९; –शास्त्र मे मतभेद, २७०; –दर्शन मनोवैज्ञानिक दर्शन है, २७०;–सूत्र, २७१;- –परम्परा नष्ट है, २७१, –दर्शन व्यापक है, २७१; –भूमि, २७२, –जगत् सूक्ष्म है, २७२; –सार, २७६;–प्रवचनभाष्य, २७६, –कारिका, २७६; –के तत्त्व सूक्ष्म है, २८०
त्वो के भेद, १५२
विरवाद, १४४; –के भेद, १४४
स्थूलतल, ६
स्थूल दृष्टि वाले दर्शन, ६
स्थूलनेत्र, ६
स्थूल शरीर, ३६५
स्थूलभद्र, १०२, १०४
स्थिरमति, १६४
स्पर्श के गुण (शुद्धाद्वैत), ४६३
'स्फुटार्था' यशोमित्र की टीका, १६२
स्फोटविचार, ४६२
स्मरणरूप ज्ञान, १९१
स्मृति (योग), ३२२-२३
स्याद्वाद-दर्शन, १३१
स्रोतापन्न, १४०
स्वातन्त्र्यबोध, ३९१
स्वत परिणामिनी,२८३
स्वत प्रमाण (जैन), १२०; –स्वत प्रामाण्यवादी (सौत्रान्तिक), १६२; स्वत प्रामाण्य,२१७,२६२;–(द्वैत), ४४५
स्वप्न, –विषयो को देखने के लिए दूसरे शरीर का निर्माण करना, ५९; –अवस्था मे दोनो लोको का ज्ञान, ५९; –ज्ञान (वैशेपिक)२३५; –के भेद,२३८;–ज्ञान सत्य है (विशिष्टाद्वैत), ४१७, –विचार (द्वैत), ४३८, –और मनोरथ (द्वैत),४३८; –की उत्पत्ति (द्वैत), ४३८
स्वभाववाद, –८३-८४, –के भेद ८५
स्वभाव (अनुमान) १५८, १५९
स्वरूप,–योग्यता, २२६;–आवेश,४१४, –कोटि, ४५४
स्वर्ग, –चार्वाक-मत में, ९१, –प्राप्ति मीमासा का ध्येय, २४०; साधारण लोगो का लक्ष्य, २४०, –सुख की पराकाष्ठा है, २४७
स्वलक्षण, प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय,१५७, परमार्थ सत् है, १५७
स्वार्थानुमान, –(जैन), १२४, –१८९

ह

हससम्प्रदाय, ३९६